एम.ए. उत्तरार्द्ध

इतिहास, षष्ठम् प्रश्नपत्र

भारत का इतिहास

(1858 से 1964 तक)

(HISTORY OF INDIA FROM 1858 TO 1964)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Anjali Chourey
   Associate Professor
   Atal Bihari Vajpai Hindi Vishvavidhyalay, Bhopal (M.P.)
2. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt.MLB College, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Ajay Khare
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (MP)

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
3. Dr L.P. Jharia
   Director DME
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
4. Dr. Anjali Chourey
   Associate Professor
   Atal Bihari Vajpai Hindi Vishvavidhyalay,
   Bhopal (M.P.)
5. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt.MLB College, Bhopal (M.P.)
6. Dr. Ajay Khare
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (MP)

COURSE WRITERS

Prof. Brajesh Kumar Shrivastava, Head, Department of History, In-charge Head,Deptt of Adult Education, Dr Hari Singh Gour Vishwavidyalaya Sagar, (Madhya Pradesh)
Units (1.0-1.1, 1.2-1.4, 1.5, 1.6-1.10, 3.0-3.1, 3.6-3.10, 4.0-4.1, 4.5, 4.11-.415, 5.0-5.1, 5.2-5.3, 5.7, 5.9-5.13)

Prof. Meenu Agrawal, Principal, GDM Girls PG College Modinagar, Ghaziabad
Dr Suman Lata, Lecturer, GDM Girls PG College Modinagar, Ghaziabad
Units (2.0-2.1, 2.2.2, 2.3.2, 2.5-2.9, 3.2-3.2.1, 3.2.2)

Dr. Aruna Sharma, Reader & Head, Department of History, Ginni Devi Modi Girls (PG) College, Modinagar, Ghaziabad
Dr Anjali Thapliyal Kaul, Assistant Prof., Subharti Law College, Meerut
Units (3.4-3.5, 4.2, 4.3, 4.6, 4.8-4.9, 4.10)

Rajeev Garg, Former Faculty, Deptt of History, Ray Academy, New Delhi
Units (2.2-2.21, 2.2.3, 2.3-2.3.1, 2.3.3, 2.4, 3.2.3, 3.2.4, 3.3, 4.4, 4.7, 5.4-5.6, 5.8)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारत का इतिहास (1858 से 1964 तक)

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1	
ब्रिटिश साम्राज्य और उसका भारत के केंद्रीय, प्रांतीय और जिला प्रशासन पर नियंत्रण केंद्रीय प्रशासन पर नियंत्रण, प्रांतीय प्रशासन पर नियंत्रण, जिला प्रशासन पर नियंत्रण रियासतों के साथ संबंध विदेशी संबंधों को संचालित करने वाले सिद्धांत एवं नीतियां भारत सरकार अधिनियम 1919 व 1935 के विशेष उल्लेख के साथ 1947 तक संवैधानिक विकास भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई., भारत सरकार अधिनियम 1935 ई., स्वतंत्रता और भारत विभाजन के प्रमुख कारक : 1947 तक संवैधानिक विकास	**इकाई 1** : साम्राज्य संबंधी नियंत्रण की रणनीतियां **(पृष्ठ 3–76)**
इकाई–2	
साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत : पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा एवं संरचना, भुगतान संतुलन, निकास एवं मुद्रा की समस्या पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा और संरचना, भुगतान संतुलन, निकास और मुद्रा की समस्या कृषि संबंध : क्षेत्रीय विविधताएं एवं उनका प्रशासन वाणिज्यीकरण की सामाजिक एवं आर्थिक उत्पत्ति और उसके प्रभाव कृषक एवं जमींदारों के संबंध में स्तरीकरण की प्रकृति एवं विस्तार कृषि श्रमिक एवं राज्य घरेलू और शिल्प उद्योग आधुनिक उद्योगों का उदय, पूंजीवादी वर्ग का उदय, श्रमिक वर्ग का उदय	**इकाई 2** : अर्थव्यवस्था **(पृष्ठ 77–136)**
इकाई–3	
सामाजिक संरचना : जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग एवं समुदाय जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग, समुदाय औपनिवेशिक हस्तक्षेप और सामाजिक परिवर्तन : सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, मध्य वर्ग का उदय एवं जातीय आंदोलन सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, मध्य वर्ग का उदय, जातीय आंदोलन महिलाओं की स्थिति : संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून एवं राजनीतिक भागीदारी संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून, राजनीतिक भागीदारी, परंपरा और आधुनिकता	**इकाई 3** : समाज **(पृष्ठ 137–220)**
इकाई–4	
भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण : वैचारिक बहस संगठित राष्ट्रवाद का उदय भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण, भारत में राष्ट्रवाद का विकास 1919 तक की स्थिति; गांधीवादी आंदोलन क्रांतिकारी और वामपंथी आंदोलन क्रांतिकारी आंदोलन, वामपंथी आंदोलन राज्य के लोगों के आंदोलन; सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन सुभाषचंद्र बोस और आई.एन.ए. तेलंगाना आंदोलन	**इकाई 4** : राष्ट्रीय आंदोलन **(पृष्ठ 221–314)**

इकाई–5

नए भारत का सपना
रियासतों का एकीकरण
नियोजित अर्थव्यवस्था का प्रारंभ
भूमि अधिग्रहण और औद्योगिक नीति
  भूमि अधिग्रहण, औद्योगिक नीति
शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
  शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
विदेश नीति : गुटनिरपेक्षता
  विदेश नीति, गुटनिरपेक्षता
महिलाएं : हिंदू कोड बिल

इकाई 5 : स्वतंत्र भारत
(पृष्ठ 315–386)

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 साम्राज्य संबंधी नियंत्रण की रणनीतियां **3–76**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 ब्रिटिश साम्राज्य और उसका भारत के केंद्रीय, प्रांतीय और जिला प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.1 केंद्रीय प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.2 प्रांतीय प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.3 जिला प्रशासन पर नियंत्रण
1.3 रियासतों के साथ संबंध
1.4 विदेशी संबंधों को संचालित करने वाले सिद्धांत एवं नीतियां
1.5 भारत सरकार अधिनियम 1919 व 1935 के विशेष उल्लेख के साथ 1947 तक संवैधानिक विकास
  1.5.1 भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई.
  1.5.2 भारत सरकार अधिनियम 1935 ई.
  1.5.3 स्वतंत्रता और भारत विभाजन के प्रमुख कारक : 1947 तक संवैधानिक विकास
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 अर्थव्यवस्था **77–136**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत : पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा एवं संरचना, भुगतान संतुलन, निकास एवं मुद्रा की समस्या
  2.2.1 पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा और संरचना
  2.2.2 भुगतान संतुलन
  2.2.3 निकास और मुद्रा की समस्या
2.3 कृषि संबंध : क्षेत्रीय विविधताएं एवं उनका प्रशासन
  2.3.1 वाणिज्यीकरण की सामाजिक एवं आर्थिक उत्पत्ति और उसके प्रभाव
  2.3.2 कृषक एवं जमींदारों के संबंध में स्तरीकरण की प्रकृति एवं विस्तार
  2.3.3 कृषि श्रमिक एवं राज्य
2.4 घरेलू और शिल्प उद्योग
  2.4.1 आधुनिक उद्योगों का उदय
  2.4.2 पूंजीवादी वर्ग का उदय
  2.4.3 श्रमिक वर्ग का उदय
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 समाज **137–220**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 सामाजिक संरचना : जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग एवं समुदाय
  3.2.1 जातीय समूह
  3.2.2 जनजातियां
  3.2.3 वर्ग
  3.2.4 समुदाय
3.3 औपनिवेशिक हस्तक्षेप और सामाजिक परिवर्तन : सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, मध्य वर्ग का उदय एवं जातीय आंदोलन
  3.3.1 सुधार आंदोलन
  3.3.2 आधुनिक शिक्षा
  3.3.3 मध्य वर्ग का उदय
  3.3.4 जातीय आंदोलन
3.4 महिलाओं की स्थिति : संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून एवं राजनीतिक भागीदारी
  3.4.1 संपत्ति का अधिकार
  3.4.2 सुधार कानून
  3.4.3 राजनीतिक भागीदारी
3.5 परंपरा और आधुनिकता
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 राष्ट्रीय आंदोलन **221–314**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण : वैचारिक बहस
4.3 संगठित राष्ट्रवाद का उदय
  4.3.1 भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण
  4.3.2 भारत में राष्ट्रवाद का विकास
4.4 1919 तक की स्थिति
4.5 गांधीवादी आंदोलन
4.6 क्रांतिकारी और वामपंथी आंदोलन
  4.6.1 क्रांतिकारी आंदोलन
  4.6.2 वामपंथी आंदोलन
4.7 राज्य के लोगों के आंदोलन
4.8 सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन
4.9 सुभाषचंद्र बोस और आई.एन.ए.
4.10 तेलंगाना आंदोलन
4.11 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.12 सारांश
4.13 मुख्य शब्दावली
4.14 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.15 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 स्वतंत्र भारत **315–386**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 नए भारत का सपना
5.3 रियासतों का एकीकरण
5.4 नियोजित अर्थव्यवस्था का प्रारंभ
5.5 भूमि अधिग्रहण और औद्योगिक नीति
  5.5.1 भूमि अधिग्रहण
  5.5.2 औद्योगिक नीति
5.6 शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
  5.6.1 शिक्षा
  5.6.2 स्वास्थ्य
  5.6.3 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
5.7 विदेश नीति : गुटनिरपेक्षता
  5.7.1 विदेश नीति
  5.7.2 गुटनिरपेक्षता
5.8 महिलाएं : हिंदू कोड बिल
5.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.10 सारांश
5.11 मुख्य शब्दावली
5.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.13 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारत का इतिहास (1858–1964)' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. (उत्तरार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि उन्हें अपने देश के इतिहास के विकासक्रम की जानकारी हो।

प्लासी के युद्ध में विजय के पश्चात ब्रिटिश इंडिया कंपनी के शासन ने भारत में अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। भारतीय जनता का कंपनी के शासन के विरुद्ध रोष 1857 की क्रांति के रूप में प्रकट हुआ। ब्रिटिश शासन के प्रति असहयोग एवं आक्रोश निरंतर बढ़ता ही गया। अंततः ब्रिटिश राज्य ने 15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतंत्र घोषित कर दिया। पंडित जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधान मंत्री बने और सरदार पटेल गृह मंत्री। सरदार पटेल के अथक परिश्रम से ही भारतीय रियासतों का भारत में विलय संभव हो सका। भारत की स्वतंत्रता के समय विश्व दो खेमों में बंटा हुआ था– एक खेमा पूंजीवादी देशों का था, जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था। दूसरा खेमा साम्यवादी देशों का था, जिसकी बागडोर रूस के हाथ में थी। ऐसी विषम स्थिति में भारत ने किसी खेमे में जुड़ने की अपेक्षा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई।

प्रस्तुत पुस्तक में 1858 से 1964 तक के भारत के इतिहास के विभिन्न पक्षों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। पाठ्य सामग्री तैयार करते समय विषय में विद्यार्थियों की रुचि जगाने तथा रोचकता लाने का भरपूर प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई साम्राज्य संबंधी नियंत्रण की रणनीतियों पर आधारित है, जिसमें केंद्रीय, प्रांतीय व जिला स्तर पर प्रशासन, रियासतों के साथ संबंध, विदेशी संबंधों को संचलित करने वाले सिद्धांत तथा भारत सरकार के अधिनियम–1919, 1935 के उल्लेख के साथ 1947 तक के संवैधानिक विकास पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी इकाई अर्थव्यवस्था पर आधारित है। इसमें साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत की स्थिति, कृषि संबंधी प्रतिक्रिया, घरेलू और शिल्प उद्योगों की जानकारी दी गई है।

तीसरी इकाई समाज की संरचना पर आधारित है। इसमें जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग व समुदाय, सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत सुधार व जातीय आंदोलन, महिलाओं की स्थिति, संपत्ति का अधिकार, राजनीतिक भागीदारी, परंपरा और आधुनिकता आदि तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।

चौथी इकाई राष्ट्रीय आंदोलन पर आधारित है। इसमें भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण, राष्ट्रवाद का उदय, 1919 तक की स्थिति, गांधीवादी, क्रांतिकारी व वामपंथी आंदोलन, सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन आदि तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

पांचवीं और अंतिम इकाई स्वतंत्र भारत पर आधारित है। इसमें नए भारत का सपना, रियासतों का एकीकरण, नियोजित अर्थव्यवस्था, औद्योगिक व विदेश नीति, गुटनिरपेक्षता तथा महिला संबंधित हिंदू कोड बिल की विस्तृत विवेचना की गई है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में 1858 से 1964 तक के इतिहास को सरल भाषा में लिखकर रुचिकर बनाने का प्रयास किया गया है जिससे विद्यार्थी ब्रिटिश परतंत्रता से लेकर स्वतंत्रता तक के इतिहास को आज के परिप्रेक्ष्य में समझ सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी एवं मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

इकाई 1 साम्राज्य संबंधी नियंत्रण की रणनीतियां

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 ब्रिटिश साम्राज्य और उसका भारत के केंद्रीय, प्रांतीय और जिला प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.1 केंद्रीय प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.2 प्रांतीय प्रशासन पर नियंत्रण
  1.2.3 जिला प्रशासन पर नियंत्रण
1.3 रियासतों के साथ संबंध
1.4 विदेशी संबंधों को संचालित करने वाले सिद्धांत एवं नीतियां
1.5 भारत सरकार अधिनियम 1919 व 1935 के विशेष उल्लेख के साथ 1947 तक संवैधानिक विकास
  1.5.1 भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई.
  1.5.2 भारत सरकार अधिनियम 1935 ई.
  1.5.3 स्वतंत्रता और भारत विभाजन के प्रमुख कारक : 1947 तक संवैधानिक विकास
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

प्लासी के युद्ध के पश्चात भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन आरंभ हुआ। 1857 की क्रांति के पश्चात भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का अंत हुआ। 1 नवंबर, 1858 ई. को इलाहाबाद में शाही दरबार का आयोजन किया गया जिसमें ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि भारत को अब सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन किया जा रहा है। भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त प्रशासक गवर्नर जनरल को वायसराय का पदनाम दिया गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा समय–समय पर विभिन्न अधिनियमों द्वारा भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था का विकास किया गया। भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा केंद्रीय, प्रांतीय एवं जिला प्रशासन का सूत्रपात किया गया।

मुगलों के पतन के साथ देश में अनेक स्वतंत्र राज्यों की एक श्रृंखला सामने आई साथ ही अनेक यूरोपीय कंपनियां भारत में स्थापित हो चुकी थीं। इन कंपनियों ने व्यापार के साथ–साथ भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया और उनका यह प्रयास सफल रहा। इस कार्य में अंग्रेज विशेष रूप से सफल रहे। अंग्रेजों ने फ्रांसीसी गर्वनर डूप्ले की नीति का अनुकरण करते हुए प्लासी (1757) तथा बक्सर (1764) के युद्धों में सफलता प्राप्त की। 1765 की इलाहाबाद की संधि के माध्यम से अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल व बिहार की दीवानी प्राप्त की एवं उसे प्रभावशील एवं उपयोगी बनाने का प्रयास किया। 1757 से ही अंग्रेजों ने भारतीय रियासतों के प्रति जो विभिन्न नीतियां अपनाईं उनकी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत इकाई में की गई है।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- औपनिवेशिक भारत की प्रशासनिक संरचना की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- भारत में ब्रिटिश सरकार के केंद्रीय प्रशासन से अवगत हो पाएंगे;
- ब्रिटिश सरकार के अधीन न्यायिक, नागरिक एवं वित्तीय प्रशासन की जानकारी से परिचित हो पाएंगे;
- भारत के प्रांतीय प्रशासन की जानकारी का ज्ञान अर्जित कर पाएंगे;
- औपनिवेशिक शासन के अधीन जिला प्रशासन से परिचय प्राप्त कर पाएंगे;
- औपनिवेशिक शासन के अधीन पुलिस सेना एवं कानून व्यवस्था की जानकारी से अवगत हो पाएंगे;
- भारत में ब्रिटिश शासन व्यवस्था से परिचित हो पाएंगे;
- ब्रिटिश शासन काल में भारतीय रियासतों एवं अंग्रेजों के मध्य संबंधों से अवगत हो पाएंगे;
- अंग्रेजों की रियासतों के प्रति नीति तथा उद्देश्यों को समझ पाएंगे;
- भारत सरकार के अधिनियमों (1919 व 1935) को समझ पाएंगे।

1.2 ब्रिटिश साम्राज्य और उसका भारत के केंद्रीय, प्रांतीय और जिला प्रशासन पर नियंत्रण

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इग्लैंड में था तो दूसरा भाग भारत में। इंग्लैंड में कार्यरत भाग गृह सरकार कहलाता था। गृह सरकार के 5 प्रमुख अंग थे। सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव एवं उसकी परिषद्। इनमें भारत सचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत सचिव का विधि संबंधी प्रशासनिक एवं आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायतार्थ एक परिषद् थी। भारत सचिव भारत संबंधी मामलों में ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद् के सदस्यों की संख्या कम की गई। 1935 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद् का अंत कर दिया गया। भारत मामलों में अंतिम निर्णय गृह सरकार के हाथ था। गृह सरकार का सम्पूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था।

शासन का जो भाग भारत में कार्यरत था उसे भारत सरकार का नाम दिया गया। 1833 के अधिनियम द्वारा सम्पूर्ण विधायी शक्तियां गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद् में संकेंद्रित थीं। 1919 के अधिनियम द्वारा केंद्रीय विधानसभा को द्विसदनात्मक बनाया गया। ये दो सदन विधानसभा एवं राज्य सभा कहलाते थे। द्वितीय सदन राज्य सभा 1919 ई. में प्रथम बार स्थापित किया गया। 1919 के अधिनियम द्वारा केंद्रीय विधान सभा की सदस्य संख्या 145 एवं राज्य सभा की सदस्य संख्या 60 निर्धारित की गई।

1.2.1 केंद्रीय प्रशासन पर नियंत्रण

टिप्पणी

केन्द्रीय प्रशासन के अंतर्गत 1858 से लेकर 1947 के मध्य (अंग्रेजों के अधीन) के केंद्रीय प्रशासन का विवेचन किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में 1858 से लेकर 1892 तक तथा द्वितीय भाग में 1909 से लेकर 1947 तक के केंद्रीय प्रशासन पर प्रकाश डाला गया है।

1858 से लेकर 1892 तक की स्थिति– 1857 के कथित विद्रोह से अंग्रेजी सरकार भयभीत थी। उसने इसके लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियों को उत्तरदायी माना। भविष्य में इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति से बचने के लिए अंग्रेजी सरकार ने कंपनी के शासन को समाप्त कर भारतीय प्रशासन को ब्रिटिश क्राउन के अधीन लाने का निर्णय लिया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश संसद ने 1858 का अधिनियम पारित किया। इसके प्रावधानों के अनुसार भारत से कंपनी का शासन समाप्त कर ब्रिटिश संसद के अधीन लाया गया। अब समस्त भारतीय प्रशासन साम्राज्ञी की ओर से तथा उसके नाम से होना था। गवर्नर जनरल अब साम्राज्ञी का प्रतिनिधि था। उसे वायसराय कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं था और न ही अंग्रेजी संसद ने कभी इस उपाधि का प्रयोग किया, परंतु जनसाधारण इसका प्रायः प्रयोग करते थे।

इस अधिनियम के द्वारा नियंत्रण मंडल बोर्ड ऑफ कंट्रोल तथा संचालक मंडल Court of Directors को समाप्त कर दिया गया तथा इसके समस्त अधिकार भारत मंत्री तथा उसकी परिषद् को सौंप दिए गए। इस प्रकार उस दोहरी सरकार प्रणाली का अंत हो गया जो पिट्स इंडिया एक्ट के द्वारा प्रारंभ की गई थी। भारत मंत्री को भारत सरकार के समस्त कार्यों की व्यवस्था, नियंत्रण निर्देशन का कार्य सौंपा गया। भारत मंत्री को ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य बनाया गया तथा इसके वेतन भत्ते की व्यवस्था भारतीय राजस्व से की गई। भारत मंत्री भारतीय मामलों में उसी प्रकार ब्रिटिश संसद के लिए उत्तरदायी था जिस तरह ब्रिटिश मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य उत्तरदायी थे।

इस अधिनियम के तहत भारत मंत्री की सहायतार्थ 15 सदस्यीय इंडिया कौंसिल की व्यवस्था की गई। यह आवश्यक नहीं था कि भारत मंत्री भारतीय मामलों का जानकार हो इसलिए इंडिया कौंसिल में उसकी सहायता के लिए भारतीय मामलों के विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता था। परिषद् में कम से कम 9 ऐसे सदस्यों की नियुक्ति की जाती थी जो 10 अथवा 10 से अधिक वर्षों तक भारत में रहे हो तथा उन्हें भारत छोड़े हुए 10 वर्ष से अधिक न हुआ हो। सदस्य अपने पद पर अच्छे व्यवहार पर्यन्त ही कार्य कर सकते थे। उन्हें क्राउन द्वारा संसद के दोनों सदनों की सिफारिश पर ही हटाया जा सकता था।

भारत मंत्री को बहुमत के विरुद्ध कार्य करने का विशेषाधिकार दिया गया था। केवल वह अनुदान संबंधी अथवा भारतीय राजस्व के विनियोग के संबंध में परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता था। कौंसिल एक महत्वपूर्ण संस्था थी और इसने भारत सरकार के प्रत्येक निर्णय पर नजर रखी। भारत परिषद् की बैठक की अध्यक्षता भारत मंत्री करता था। उसे प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत सरकार के आय–व्यय का लेखा–जोखा प्रस्तुत करना पड़ता था। इस अधिनियम में इसका भी प्रावधान किया गया था कि गृह सरकार के संचालन में जो भी खर्च होता था उसे भारत सरकार से वसूल किया जाता था।

टिप्पणी

भारत मंत्री को प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद में भारत की नैतिक एवं भौतिक प्रगति का कार्यविवरण प्रस्तुत करना होता था। इसके अतिरिक्त भारत में तथा भारत मंत्री द्वारा बनाए गए नियमों को भी ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत करना होता था। गवर्नर जनरल तथा प्रेसिडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति गवर्नर जनरल सम्राट की स्वीकृति के आधार पर करता था। विभिन्न कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति कौंसिल स्थित भारत मंत्री को करनी पड़ती थी। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् के सदस्यों की संख्या चार निश्चित की गई। 1861 में पांचवें, 1874 में छठे सदस्य की नियुक्ति की गई। इसके अतिरिक्त अन्य सभी नियुक्तियों के विषय में यह निश्चय किया गया कि मनोनयन के स्थान पर योग्यता के आधार पर अधिकारियों का चयन हो। कंपनी की सेना को भारत सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया तथा कंपनी के द्वारा की गई संधियों तथा ऋणों के भुगतान की जिम्मेदारी भी भारत सरकार ने ले ली।

विद्वानों का ऐसा मानना है कि ब्रिटिश संसद ने भारत पर अपना नियंत्रण उसी क्षण रखना समाप्त कर दिया, जिस क्षण उसे वह अधिकार प्राप्त हुआ था। 1857 के कथित विद्रोह के पश्चात सम्पूर्ण शक्ति भारत मंत्री के हाथों में आ गई और वह ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। अतः संसद इससे संतुष्ट हो गई। यह संतुष्टि इसलिए भी हुई कि जो कुछ उसे प्राप्त करने की इच्छा थी वह उसे प्राप्त हो गया था। इसलिए उसने लगातार भारतीय प्रशासन को नियंत्रण करने तथा उसकी आलोचना के अधिकारों के प्रयोग की उपेक्षा की। इन सभी कारणों के फलस्वरूप भारत के उच्च प्रशासनिक अधिकारी निरंकुश होते चले गए। इस संबंध में रैम्जे मैक्डोनल्ड ने लिखा है कि ब्रिटिश संसद भारतीय प्रशासन के प्रति जागरूक नहीं रही। यह भारतीय मामलों पर कोई भी महत्वपूर्ण विचार विमर्श नहीं करती। भारतीय बजट पर जब विचार किया जाता है तो ब्रिटिश संसद की अधिकतर सीटें खाली रहती हैं। इस प्रकार ब्रिटिश संसद सरकार के हाथों में भारतीय उपनिवेश की सत्ता सौंपकर ब्रिटिश संसद उदासीन हो गई।

1858 का महारानी का घोषणा–पत्र 1 नवंबर, 1858 को लॉर्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में महारानी द्वारा भारत सरकार के उत्तरदायित्व की घोषणा करने के लिए दरबार का आयोजन किया। इस घोषणा के द्वारा भारतीय जनता एवं नरेशों को बताया गया कि उनके प्रदेशों को अंग्रेजी सरकार अपने राज्य में नहीं मिलाएगी तथा उन्हें गोद लेने का अधिकार प्राप्त होगा। ब्रिटिश सरकार ने अपने भारत स्थित कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे भारतीयों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। भारत में कानून आदि बनाने में भारतीय प्रथाओं, पुरानी रीतियों तथा अन्य बातों का ध्यान रखा जाए। साम्राज्य के भारतीय प्रजाजनों को साम्राज्य के अन्य भागों में रहने वाले ब्रिटिश लोगों के समान बराबर का अधिकार दिया गया। अन्य ब्रिटिश प्रजाजनों के समान भारतीयों को समान अधिकारों एवं अवसरों का आश्वासन प्रदान किया गया। उन सभी भारतीयों को क्षमा एवं मुक्त करने का वचन दिया गया जो उस समय भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र धारण किए हुए थे तथा जिनके विरुद्ध ब्रिटिश प्रजाजनों की हत्या के आरोप नहीं थे कंपनी की संधियों को मान लिया गया।

भारत के वैधानिक इतिहास में महारानी का यह घोषणा पत्र (1858) महान एवं उल्लेखनीय घटना थी। नीतिगत यह घोषणा 1917 तक भारतीय प्रशासन का आधार रही।

टिप्पणी

1858 के अधिनियम में अधूरापन था। अतः इसे समाप्त करने के लिए ब्रिटिश संसद को पुनः एक अधिनियम पारित करने की आवश्यकता महसूस हुई। 1858 के अधिनियम से भारत सरकार का कार्य ब्रिटिश संसद के अंतर्गत आ तो गया, परंतु भारतीय प्रशासन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। यह परिवर्तन 1861 के अधिनियम के द्वारा किया गया। इस अधिनियम के महत्त्व की चर्चा करते हुए गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है – "1861 के अधिनियम का आधारभूत महत्त्व था। इसके द्वारा भारतीय प्रशासन का ऐसा ढांचा तैयार हो गया जो भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक चलता रहा, हालांकि बाद के पारित अधिनियमों द्वारा राजशासन पद्धति में कई सैद्धांतिक और संगठनात्मक परिवर्तन किए गए।" 1861 के अधिनियम के पारित किए जाने के लिए पृष्ठभूमि का अवलोकन करने पर हमारे सामने यह तस्वीर आती है जो बताती है कि 1861 का अधिनियम इन कारणों से पारित किया गया।

प्रथम, 1858 के अधिनियम से भारतीय प्रशासन प्रभावशाली नहीं बन सका था, इसी कमी को दूर करने के लिए यह अधिनियम प्रस्तुत किया गया।

द्वितीय, 1857 के कथित राष्ट्रीय विद्रोह ने साम्राज्यवादी शासकों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि वे अपने शासन को मजबूत बनाने के लिए किस तरह के प्रशासनिक परिवर्तन करें कि भविष्य में 1857 जैसी चुनौतियों से बच सकें। एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने की आवश्यकता थी जिसके द्वारा शासन नीति और शासन विधि के प्रति भारतीय जनता की प्रतिक्रिया का ज्ञान ब्रिटिश शासकों को हो सके।

तृतीय भारत मंत्री तथा गवर्नर जनरल भारतीय विधानपरिषद् की कार्य पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। परिषद् के सदस्य ब्रिटिश संसद की कार्य पद्धति अपनाने का प्रयत्न करते थे, जिससे कार्यों में बाधा उत्पन्न होती थी। अतः एक नए अधिनियम द्वारा विधानपरिषद् के अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या आवश्यक थी।

चतुर्थ, प्रांतीय सरकारों द्वारा यह मांग की जाने लगी थी कि उन्हें अपने–अपने प्रांतों की आवश्यकता के अनुसार कानून निर्माण करने के अधिकार दिए जाएं।

पंचम, सरकारी कामकाज में भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, इसे पूर्ण करने के लिए एक नवीन अधिनियम की आवश्यकता थी।

1861 के अधिनियम में केंद्रीय शासन में कुछ सुधार किए गए थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में सदस्यों की संख्या बढ़ा कर पांच कर दी गई। इन सदस्यों की नियुक्ति भारत सचिव करता था। इन पांच सदस्यों में से कम से कम तीन सदस्य भारत सरकार की सेवा में दस वर्ष से लगे हुए होने चाहिए। एक विधि शास्त्री और एक वित्त विशेषज्ञ को भी नियुक्त किया जाने लगा। प्रधान सेनापति भी विशेष सदस्य के रूप में परिषद् का सदस्य नियुक्त किया जा सकता था। अधिनियम के द्वारा गवर्नन जनरल परिषद् के लिए नियम बनाता था। गवर्नर जनरल ने इसी धारा का प्रयोग करके विभागीय पद्धति का पोर्टफोलियो सिस्टम अपनाया। इस अधिनियम के द्वारा जो नियम बनाए गए उनके द्वारा प्रत्येक सदस्य को गृह, वित्त, विधि, सुरक्षा आदि विभागों की जिम्मेदारी सौंप दी गई। 1861 के अधिनियम द्वारा पहली बार भारतीयों को केंद्रीय परिषद् का सदस्य बनाने की व्यवस्था की गई। भारतीय सदस्य अधिकतर गैर सरकारी ही होते थे। 1861 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल ने देशी राज्यों के दीवानों, राजा–महाराजाओं और बड़े जमींदारों को ही सदस्य बनाया। परिषद् का

टिप्पणी

कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था। विधि निर्माण के अतिरिक्त परिषद् को और किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे। गवर्नर जनरल का परिषद् पर पूर्ण नियंत्रण था। गवर्नर जनरल को केंद्रीय परिषद् द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूरा अधिकार था। पहली बार गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का असाधारण अधिकार दिया गया। संकटकालीन परिस्थितियों और जब गवर्नर जनरल आवश्यक समझे तब स्वविवेक से इस शक्ति का उपयोग कर सकता था। यह अध्यादेश 6 माह तक लागू रह सकता था।

इस प्रकार 1861 के अधिनियम ने गवर्नर जनरल को सर्वशक्ति संपन्न कर दिया। सभी प्रांत गवर्नर जनरल की अधीनता में आ गए। इसके अतिरिक्त 1861 के अधिनियम के तहत जो भी विधान सभाएं स्थापित की गईं, उनका कार्य केवल कानून बनाना ही था। वे कार्यपालिका के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकती थीं। इन सबके बावजूद भी 1861 का अधिनियम कई प्रकार से प्रशंसनीय था। इस अधिनियम ने पहली बार एक ऐसा ढांचा प्रदान किया जो काफी समय तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम ने भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के कार्यों में लगाया, हालांकि इसके पूर्व लॉर्ड डलहौजी ने भारतीयों को कौंसिल का सदस्य बनाने का प्रयास किया था जो कि सफल नहीं हो पाया था।

1861 के अधिनियम के पश्चात 31 वर्षों तक अंग्रेजी सरकार ने भारत में कोई सुधार करना आवश्यक नहीं समझा, यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। 1892 में पारित अधिनियम के कुछ कारण थे, जिनमें प्रमुख पहला, 1861 के अधिनियम के अंतर्गत गठित केंद्रीय तथा प्रांतीय परिषदों का कार्य एकदम निष्प्रभावी था। दूसरा, इसके अतिरिक्त भारत में शिक्षा का विकास होने तथा राजनीतिक जागृति का प्रारंभ होने के कारण भारतवासी प्रतिनिधि प्रणाली की मांग करने लगे थे। तीसरा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हो जाने से अधिनियम पारित किया जाना आवश्यक हो गया था, क्योंकि कांग्रेस भी लगातार सुधारों की मांग कर रही थी। चौथा, तत्कालीन गर्वनर जनरल लॉर्ड डफरिन भी परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में था।

1892 के अधिनियम ने व्यवस्थापिका कौंसिलों के कार्यों में वृद्धि कर दी। उन्हें अधिकार दिया गया कि वह कुछ विशेष अवस्थाओं तथा सीमाओं के अधीन वार्षिक आर्थिक ब्यौरे के संबंध में चर्चा कर सकेगी। परिषद् के सदस्यों को सार्वजनिक हितों के विषय पर प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया, किंतु उन्हें प्रश्न पूछने की सूचना 6 दिन पूर्व देनी होती थी। इस अधिनियम के द्वारा केंद्रीय परिषद् का सीमित विस्तार किया गया। केंद्रीय परिषद् की सदस्य संख्या कम से कम 10 तथा अधिकतम 16 निश्चित की गई। परिषद् के कम से कम 40 प्रतिशत सदस्य गैर सरकारी हो सकते थे। सरकारी सदस्य गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के द्वारा मनोनीत होते थे, जबकि गैर सरकारी सदस्यों के लिए सिफारिश के बाद मनोनयन का सिद्धांत अपनाया गया।

कांग्रेस के दबाव के फलस्वरूप चुनावों की पद्धति को स्वीकार कर लिया गया था। हालांकि यह चुनाव पद्धति अस्पष्ट थी। जो व्यक्ति व्यवस्थापिका सभाओं के लिए इस पद्धति से चुने जाते थे, वे वास्तविक अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे।

यद्यपि 1892 का अधिनियम भारी आंदोलनों तथा धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा का परिणाम था तथापि इससे भारतीयों को कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस अधिनियम पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए फिरोजशाह मेहता ने कहा – सरकारी बिल को उचित रूप में

एक अत्यंत उन्नत प्रकार के स्टीम इंजन के रूप में वर्णित किया जा सकता है, जिसमें से भाप उत्पन्न करने वाली आवश्यक सामग्री निकालकर अलग कर दी गई हो और उसके स्थान पर नकली रंग–बिरंगे पदार्थ लगा दिए गए हो, जो वैसे ही दिखाई दें।

टिप्पणी

1909 से 1947 तक की स्थिति– 1892 के अधिनियम से कांग्रेस की मांगों की पूर्ति नहीं हुई थी। शिक्षित भारतीयों को भी सरकारी सेवाओं तथा शासन में कोई भाग नहीं मिला। लॉर्ड कर्जन की साम्राज्यवादी तथा कठोर नीतियों ने आग में घी का काम किया जिससे बुद्धिजीवियों में विदेशी सरकार के प्रति विरोध उत्पन्न होने लगा। कलकत्ता नगर निगम को पूर्णरूपेण सरकारी प्रभाव के अधीन बना दिया गया, ऐसी ही नीति भारतीय विश्वविद्यालयों में लागू की गई। सबसे बड़ी चोट बंगाल विभाजन से लगी जिसे बंगाल की उभरती हुई राष्ट्रीयता पर बड़ा प्रहार माना गया। असंतोष के अन्य कारण भी थे, समुद्रपार भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा था जिससे लोगों के मन में यह भावना जागी कि जब तक वे स्वतंत्र नहीं हो जाते उन्हें उचित व्यवहार की आशा नहीं करनी चाहिए और इससे राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिला।

19वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में भयानक अकाल तथा प्लेग का प्रकोप हुआ, जिससे लोगों का दुःख तथा विपत्तियां बढ़ गईं। लोगों ने इसके लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी ठहराया तथा प्लेग के संक्रमण को रोकने के लिए किए गए प्रयासों को अपर्याप्त माना। समाचार पत्रों ने भी इन सभी घटनाओं पर उचित रूप से टीका की और अंग्रेजी प्रशासन की कटु आलोचना की। ऐसी अवस्था को यद्यपि सरकार ने दबाने का भरसक प्रयास किया किंतु फिर भी अतिवाद का प्रसार हुआ।

1909 का अधिनियम– उपर्युक्त सभी कारणों से एक सुधार अधिनियम पारित करना आवश्यक हो गया। अंग्रेजी नौकरशाहों ने राष्ट्रीय भावना को खंडित करने के लिए बांटो और राज करो की नीति का पालन करते हुए मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया और 1909 का मार्ले मिंटो अधिनियम पारित किया।

इस अधिनियम के द्वारा केंद्रीय परिषद् के सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई। 9 पदेन सदस्य थे। इस प्रकार केंद्रीय परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या 69 हो गई। केंद्रीय परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत था, इस कारण केंद्र सरकार के कार्यों में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती थी।

केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानपरिषद्ों के कार्यों का विस्तार किया गया। अब सदस्यों को वाद–विवाद का अधिकार दिया गया और वे पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। केंद्रीय विधानमंडल में बजट की विवेचना के लिए विस्तारपूर्वक नियम बना दिए गए। सदस्यों को मत देने का अधिकार नहीं दिया गया, परंतु वे स्थानीय निकायों के लिए धन की मांग रख सकते थे। करों में संशोधन, नए ऋण आदि के लिए भी प्रस्ताव रख सकते थे। जनसाधारण के हितों से संबंधित मामलों की विवेचना के लिए निश्चित नियम बनाए गए। सदस्य इन मामलों की विवेचना कर सकते थे, उन पर मत दे सकते थे, परंतु सरकार इन प्रस्तावों को मानने के लिए बाध्य नहीं थी, चाहे वे प्रस्ताव जनता के लिए हों अथवा वित्तविवरण के लिए हों। कुछ ऐसे भी मामले भी थे जिन पर सदस्य विवेचना नहीं कर सकते थे। वे विदेशी संबंधों तथा देशी राजाओं से संबंधों, कानून के सामने निर्णय के लिए आए प्रश्नों, राज्य रेलवे पर व्यय तथा ऋण पर ब्याज इत्यादि प्रश्न नहीं उठा सकते थे।

टिप्पणी

इस अधिनियम में विधायी परिषद्ों के सदस्य संख्या में वृद्धि के साथ–साथ भारत मंत्री तथा गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में भारतीयों की नियुक्ति का भी प्रावधान किया गया। इस अधिनियम ने साम्प्रदायिक आधार पर मताधिकार का सिद्धांत लागू करते हुए मुस्लिम सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार मुस्लिम मतदाताओं को ही दिया गया।

1909 का अधिनियम भारतीयों की आशाओं के अनुरूप नहीं रहा। इस अधिनियम के बारे में कहा गया कि भारतीयों ने 1000 पौण्ड का चेक प्रस्तुत किया था और उन्हें केवल एक पौण्ड दिया गया। सीमित मताधिकार, अध्यक्ष चुनाव, विधानपरिषद् की सीमित शक्तियों ने प्रतिनिधि सरकार को खिचड़ी जैसा बना दिया। वास्तविक शक्ति सरकार के पास रही ओर परिषद्ों को केवल आलोचना के अधिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

सुधारों को कार्यान्वित करते हुए बहुत सी गड़बड़ियां भी उत्पन्न हुईं। संसदीय कार्य प्रणाली तो दे दी गई, परंतु उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था जिससे सरकार की विवेकहीनता तथा अनुत्तरदायी प्रवृत्ति की आलोचना की जाने लगी। भारतीय नेताओं ने विधान मंडलों को सरकार की कटु आलोचना करने का मंच बना लिया। इस विचार से कि उन्हें उत्तरदायित्व नहीं निभाना पड़ेगा, वे केवल आलोचक तथा और भी अनुत्तरदायी बन गए।

इन सुधारों से भारतीय राजनीति में कुछ समस्यायें भी उत्पन्न हुई। एक ऐसी ही समस्या मुसलमानों के लिए पृथक मताधिकार तथा निर्वाचन क्षेत्रों की थी। सरकार ने अपने राजनीतिक महत्व के लिए मुसलमानों को न केवल पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व दिया अपितु उनकी साम्राज्य सेवा के लिए, उन्हें अपनी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया। बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। 1919 में सिखों को तथा 1935 में हरिजनों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपियनों तथा एंग्लो इंडियनों को भी प्रतिनिधित्व देने का रास्ता बन गया। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सांप्रदायिक प्रतनिधित्व का एक परिणाम 1947 का भारत विभाजन था। इसलिए इस अधिनियम के बारे में गांधीजी ने कहा कि मार्ले मिंटो सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया।

मार्ले मिंटो सुधारों पर आलोचना करते हुए डॉ. जकारिया ने लिखा कि – ''इन सुधारों का सार उस बात को ग्रहण करने में था, जो एक समय सर्वधा अर्थहीन था। इस प्रकार प्रजातंत्र का चुना गया सिद्धांत ग्रहण किया गया तथा उसी समय प्रजातंत्र विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया गया। सरकारी बहुमत समाप्त कर दिया गया, किंतु निर्वाचित सदस्य अल्पमत में बने रहे। सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई, किंतु तत्काल ही एक जोरदार चेतावनी प्रकाशित कर दी गई कि नई परिषद्ों का किसी भी प्रकार यह अभिप्राय नहीं था कि संसदीय प्रणाली को आरंभ किया जाए। भारतीय परिषद् तथा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में केवल कुछ चुने हुए भारतीयों को ही प्रवेश मिल सका, किंतु भारतीयों को सरकारी क्षेत्र में प्रविष्ट करने का उदार दृष्टिकोण इस तथ्य को न छिपा सका कि वास्तविक शक्ति ब्रिटिश हाथों में सुरक्षित रही।

मार्ले मिंटो सुधार अधिनियम का उद्देश्य केवल नौकरशाहों की स्थिति अधिक सुदृढ़ करना और मुसलमानों तथा संयतमार्गी लोगों को संतुष्ट कर अपनी ओर मिलाना था, परंतु वास्तव में इन सुधारों से कोई भी वर्ग प्रसन्न नहीं हुआ।

टिप्पणी

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस बात से अप्रसन्न थी कि (1) एक विशेष धर्म के लोगों को अपनी संख्या से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया था। (2) मुस्लिम तथा गैरमुस्लिम चुनाव मंडलों में मताधिकारों तथा उम्मीदवारों की योग्यताओं में बहुत ही लज्जाजनक तथा द्वेषपूर्ण भेदभाव बरता गया था। (3) परिषद्ों के लिए उम्मीदवारों पर मनमानी और अनुचित अयोग्यताएं तथा प्रतिबंध लगा दिए गए। (4) शिक्षित वर्ग के प्रति साधारण अविश्वास था। (5) प्रांतीय परिषद्ों की अशासकीय बहुसंख्यक परंतु असंतोषजनक रचना और उनका एक प्रकार से निरर्थक होना।

मुसलमानों में भी कुछ आंतरिक एवं बाह्य कारणों से असंतोष बढ़ रहा था। एक ओर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की शर्तें मुसलमानों एवं अंग्रेजी सरकार के मध्य तय नहीं हो पाने तथा 1911 में बंगाल विभाजन रद्द किए जाने से मुसलमान अप्रसन्न थे, वहीं दूसरी ओर बल्कान युद्ध में ईसाई शक्तियां मुस्लिम क्षेत्रों को अपने में सम्मिलित कर रही थीं। इस कारण मुसलमान भड़के हुए थे। इस प्रकार मुसलमानों तथा अंग्रेजों के बीच वैमनस्यता ने हिन्दुओं और मुसलमानों को करीब आने का अवसर दिया जिसके फलस्वरूप 1916 का लखनऊ पैक्ट संपन्न हुआ।

अतिवादी भी अंग्रेजों को बाहर निकालने के लिए देश एवं विदेशों में अपना कार्य क्षेत्र बढ़ा रहे थे। पंजाब में गदर तथा बंगाल में कामागाटामारू कांड, दिल्ली में हार्डिंग पर बम फेंकना इनके कुछ उदाहरण थे। मार्ले मिंटो सुधारों के प्रति भारत में इतना व्यापक असंतोष था कि सरकार को इसे दबाने के लिए 1910 में भारत समाचार पत्र अधिनियम, 1913 का विद्रोही सभा एक्ट, 1913 का फौजदारी कानून तथा 1915 का भारतीय रक्षा अधिनियम लागू करने पड़े।

असंतोष से भरे इस वातावरण में 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया, किंतु इन सब के बावजूद भारतीयों ने उक्त युद्ध में उदारता से सहयोग दिया। ज्यों–ज्यों युद्ध चलता गया, मित्र राष्ट्रों ने युद्ध के समर्थन में नैतिक मूल्यों पर बल दिया और आत्म–निर्णय का सिद्धांत (Self determination) उभर कर सामने आया जिससे भारतीय लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। यदि युद्ध प्रजातंत्र की रक्षा के लिए है तो भारत कम से कम स्वशासन के मार्ग पर तो चलेगा ही। यदि आत्मनिर्णय का सिद्धांत अरबों तथा तुर्कों पर लागू हो सकता है तो भारत पर क्यों नहीं। ऐसी स्थिति में सुधारों की एक किस्त आवश्यक थी।

जन जागृति का एक और प्रमाण यह था कि भारतीयों ने स्वयं ही संवैधानिक सुधारों की रूपरेखाएं प्रस्तुत कीं और सरकार से उसे लागू करने को कहा। जिन लोगों ने ये भिन्न–भिन्न योजनाएं प्रस्तुत कीं वे केंद्रीय विधान मंडल के सदस्य थे जिनमें जिन्ना, श्रीनिवास शास्त्री, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी इत्यादि थे।

1919 का अधिनियम–उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप भावी सुधार अधिनियम पारित किया जाना अवश्यंभावी हो गया। 1919 में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड नाम से इस अधिनियम को प्रस्तुत किया गया। इसके कुछ अंश 1947 तक प्रभावी रहे। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन में अनेक परिवर्तन किए गए। पहले भारत मंत्री का वेतन भारतीय राजस्व से मिलता था, परंतु अब ब्रिटिश राजस्व से प्राप्त होना था। भारतीय उच्चायुक्त (Indian High Commissioner) नामक नए पद पर सृजन किया गया। इसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती थी। वह कौंसिल में गवर्नर जनरल

टिप्पणी

के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। इसे वेतन भत्ते आदि भारतीय राजस्व से प्राप्त होते थे। भारत मंत्री का केंद्रीय भारत सरकार पर नियंत्रण पूर्ववत बना रहा।

केंद्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का कोई प्रयास नहीं किया गया किंतु इस अधिनियम द्वारा भारतीयों को अधिक प्रभावशाली भूमिका दी गई। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में 8 सदस्यों में से 3 भारतीय नियुक्त किए गए और उन्हें शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग आदि दिए गए, परंतु उन्हें कोई भी महत्वपूर्ण विभाग नहीं सौंपे गए। ये सदस्य विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। जिस स्थिति में वे थे वह केवल गवर्नर की हां में हां मिलाने वाली थी। प्रमुख कार्यकारी शक्तियां अभी भी गवर्नर जनरल के पास ही रहीं। उसकी शक्तियों में किसी भी प्रकार की कमी नहीं की गई, वह केवल ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था। केंद्रीय विधानपरिषद् का भी उस पर कोई नियंत्रण नहीं था। गवर्नर जनरल की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा गया कि, ''इग्लैंड का सम्राट राज्य करता है पर शासन नहीं, अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है राज्य नहीं। फ्रांस का राष्ट्रपति न राज्य करता है और न ही शासन परंतु भारत का गवर्नर जनरल राज्य भी करता है और शासन भी।''

अभी तक केंद्र का सभी विषयों पर अधिकार था परंतु इस अधिनियम के द्वारा विषयों को केंद्र तथा प्रांतों में बांट दिया गया। केंद्रीय विषयों पर गवर्नर जनरल का अधिकार था। केंद्रीय विषयों में वे सभी विषय सम्मिलित थे जो राष्ट्रीय महत्व के थे, जैसे– विदेश मामले, रक्षा, राजनीतिक संबंध, डाक और तार, सर्वजनिक ऋण संचार, व्यवस्था, दीवानी तथा फौजदारी कानून तथा कार्यप्रणाली आदि। प्रांतीय विषयों में स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, प्रशासन, भूमिकर, जल संरक्षण, अकाल, सहायता, शांति व्यवस्था, कृषि इत्यादि सम्मिलित थे।

इस अधिनियम द्वारा केंद्र में पहली बार द्विसदनात्मक व्यवस्था लागू की गई। पहला सदन राज्य परिषद् (Council of state) तथा दूसरा सदन केंद्रीय विधान सभा (Central Legistative Assembly) था। केंद्र का उच्च सदन राज्य परिषद् था। इसके सदस्यों की संख्या 60 थी जिनमें से 27 सदस्य मनोनीत तथा 33 सदस्य निर्वाचित होते थे। स्त्रियों को सदस्यता के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया। राज्य परिषद् का प्रधान गर्वनर जनरल द्वारा नियुक्त होता था। राज्य परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष था। प्रतिवर्ष इसका आंशिक नवीनीकरण होता था। इसके लिए मताधिकार बहुत ही सीमित था, केवल उन्हीं लोगों को जिनकी वार्षिक आय दस हजार थी अथवा जो 750 रु. प्रतिवर्ष भूमिकर के रूप में देते थे, मताधिकार प्राप्त था। 1920 तक केवल 17364 लोगों को मताधिकार प्राप्त था।

केंद्रीय विधान सभा में 145 सदस्य थे जिसमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत होते थे। सभा का कार्यकाल 3 वर्ष था, परंतु गर्वनर जनरल की इच्छा पर इसे बढ़ाया भी जा सकता था। यहां पर भी मताधिकार सीमित था। वे जो 15रू. मासिक किराया देते हों अथवा 15 रु. वार्षिक नगरपालिका का कर देते हों अथवा न्यूनतम 2000 रु. वार्षिक आय पर कर देते हों अथवा 50 रु. भूमिकर देते हों। 1920 तक ऐसे लोगों की संख्या 9 लाख थी।

द्विसदनीय विधान मंडल को पर्याप्त शक्तियां दी गई थीं। यही समस्त भारत के लिए कानून बना सकती थी, किसी भी विद्यमान कानून में बदलाव या रद्द कर सकती

टिप्पणी

थी। सदस्यों को प्रश्न एवं पूरक प्रश्न, अल्पकालिक प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने अथवा स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति थी, परंतु विधान मंडल पर कुछ नियंत्रण भी थे। कुछ विषयों पर विधेयक रखने के पूर्व गर्वनर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। ये विषय थे– 1. विद्यमान कानून अथवा गर्वनर जनरल के अध्यादेश को रद्द करना या संशोधन करना। 2. विदेशी तथा देशी रियासतों से संबंध 3. स्थल, नौ तथा वायु सेना का अनुशासन 4. सर्वजानिक ऋण तथा कर 5. जनता के धर्म एवं धार्मिक रीतिरिवाज आदि।

विधान मंडल यदि गर्वनर जनरल के आदेश पर किसी विधेयक को पारित नहीं करता था तो गर्वनर जनरल क्राउन की अनुमति से उसे पारित कर सकता था। गर्वनर जनरल की अनुमति किसी भी कानून के लिए आवश्यक थी। वह अध्यादेश जारी कर सकता था, जो 6 माह के लिए वैध होता था।

1919 के अधिनियम पर कूपलैंड के विचार उल्लेखनीय हैं– 1919 का अधिनियम बहुत महत्वपूर्ण था। इसके पूर्व अधिनियमों ने भारतीयों के हाथों में विधान सभाओं को नियंत्रित करने का अधिकार दिया था, किंतु कार्यपालिका को नहीं। नए विधान में भारतीयों को शासन करने का अवसर भी दिया गया। उनके हाथों में सरकार के अनेक विभाग सौंप दिए गए और उसके लिए उनकों उत्तरदायी ठहराया गया। यद्यपि उनके अधिकार सीमित कर दिए गए तथापि थोड़ी बहुत सत्ता अंग्रेजों के हाथों में से निकलकर उनके हाथों में आ गई।

1919 के अधिनियम को कांग्रेस ने अपर्याप्त, असंतोषजनक तथा निराशापूर्ण बताते हुए 1921 में असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया, जिसमें केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानपरिषद्ों का बहिष्कार भी सम्मिलित था। कालांतर में उक्त एक्ट का विरोध अधिक दृढ़ एवं प्रभावशाली होता चला गया। उदारवादी दल जो सरकार का सहयोगी था, ने भी इन सुधारों को अपर्याप्त एवं असंतोषजनक माना।

1923 में स्थापित स्वराज पार्टी ने भी विधान मंडलों में जा कर संविधान में कमी निकालने की नीति अपनाते हुए सरकार के ढोंग एवं पाखंड को उजागर किया।

1919 के अधिनियम पारित करते समय ब्रिटिश सरकार ने उक्त अधिनियम की 10 वर्ष पश्चात समीक्षा करने की घोषणा की थी, परंतु नबम्बर 1927 में ही एक आयोग सर साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त कर दिया गया। इससे उक्त अधिनियम के असफल होने का संदेश प्रसारित हुआ। जबकि वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन भारत मंत्री लॉर्ड बिरकैन हेड का रूढ़िवादी दल (Conservative Party) यह नहीं चाहता था कि यह आयोग उदारवादी दल की सरकार जो संभवतः नए चुनाव में सत्तारूढ़ होगी, बनाए।

साइमन कमीशन एवं उसके प्रस्तावों का भारत में व्यापक विरोध किया गया क्योंकि इसके प्रस्तावों में ब्रिटिश हितों को प्राथमिकता दी गई थी। भारतीयों का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। साइमन कमीशन के प्रयुत्तर में नेहरू रिपोर्ट को प्रस्तुत किया गया जिसे सरकार ने अस्वीकार कर दिया।

भारतीय संविधान के भविष्य को निश्चित करने के उद्देश्य से लन्दन में 1930 से 1931 के मध्य तीन गोलमेज सम्मेलनों का आयोजन किया गया। 1932 में रैम्जे मैकडोनल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय को घोषित किया, जिनके अनुसार प्रांतीय एवं केंद्रीय विधान मंडलों में सीटों का विभाजन सांप्रदायिक अनुपात से किया गया था।

सबसे प्रमुख बात यह थी कि अनुसूचित जातियों को भी भिन्न संप्रदाय मान कर आरक्षित स्थान दिया गया था, परंतु गांधीजी के प्रयासों के फलस्वरूप इसको थोड़ा बहुत परिवर्तित कर दिया गया।

टिप्पणी

1935 का अधिनियम : 1935 का अधिनियम एक विस्तृत एवं विशाल अधिनियम था। इसमें 14 खंड, 10 अनुसूचियां तथा 451 धाराएं थीं। इसे निर्मित करने के लिए निम्न मसविदों की सहायता ली गई– 1. साइमन आयोग की रिपोर्ट 2. नेहरू रिपोर्ट 3. तीनों गोलमेज सम्मेलनों में हुए वाद–विवाद 4. श्वेत पत्र 1934 5. संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट 6. लोथिया रिपोर्ट आदि।

1935 के अधिनियम के द्वारा द्वैध शासन को प्रातों में समाप्त कर केंद्र में लागू किया गया। कुछ संघीय विषयों को गर्वनर जनरल के हाथों में सुरक्षित कर दिया गया। ये विषय थे रक्षा–विदेश मामले, धार्मिक मामले तथा जनजातीय क्षेत्र। अन्य संघीय विषयों की व्यवस्था के संबंध में गवर्नर जनरल को सहायता एवं परामर्श के लिए 10 मंत्रियों के मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गई जो संघीय विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थे।

संघीय विधान मंडल में दो सदन रखे गए, एक संघीय विधान सभा तथा दूसरा राज्य परिषद्। संघीय परिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष था। गवर्नर जनरल को उसका कार्यकाल बढ़ाने का अधिकार था। राज्य परिषद् एक स्थायी परिषद् थी, इसके एक तिहाई सदस्यों को प्रति तीन वर्ष पश्चात अवकाश प्राप्त करना होता था।

भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार अत्यंत सीमित थे। कुछ ऐसे विषय थे जिन पर न तो संघीय तथा न ही प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाएं कानून बना सकती थीं। ये विषय थे– राजपरिवार अथवा राजगद्दी के उत्तराधिकार अथवा सरकार अथवा भारत के किसी भाग के आधिपत्य के प्रश्न पर फौजी अधिनियम, हवाई फौज अधिनियम, पुरस्कार, आंदोलनों की शर्तों आदि को प्रभावित करने वाले कानून, 1935 के अधिनियम की किसी धारा अथवा इसके अधीन स्वीकृत किसी आज्ञा अथवा भारत मंत्री, गवर्नर जनरल अथवा गर्वनर के द्वारा इसके अधीन दी गई किसी व्यक्तिगत आज्ञा में संशोधन पर, सम्राट के असाधारण अधिकार पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डालने वाले आदि। इसके अतिरिक्त अत्यंत महत्व के बहुत से ऐसे विषय भी थे जिनके संबंध में संघीय धारा सभा में किसी भी प्रकार का विचार आदि करने के पूर्व गर्वनर जनरल की अनुमति आवश्यक थी।

बजट में भी ऐसी कई मदें थीं, जिन पर मत नहीं लिया जा सकता था तथा उन पर संघीय धारा सभाओ को किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं दिया गया था। ऐसी मदें संघीय बजट का 80 प्रतिशत थीं।

दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत या बिलों के विरुद्ध गर्वनर जनरल को वीटों का अधिकार प्राप्त था अर्थात् वह किसी भी स्वीकृत बिल को अस्वीकृत तथा अस्वीकृत बिल को स्वीकृत कर सकता था।

इस अधिनियम के द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गई जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अपर न्यायाधीश थे। इसका अधिकार क्षेत्र रियासतों तथा प्रांतों तक व्यापक था। संविधान की व्याख्या करना संघीय न्यायालय का मुख्य कर्तव्य था। इस अधिनियम द्वारा भारत मंत्री की भारतीय कौंसिल को तोड़ कर कुछ

टिप्पणी

परामर्शदाता मनोनीत किए गए जिसकी सलाह लेना या न लेना अथवा मानना या न मानना उसकी इच्छा पर निर्भर था।

1935 के संविधान में परिवर्तन का अधिकार केवल ब्रिटिश सरकार को ही था। एस.एम. बोस. ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि भारतीय धारा सभाओं को केवल ये अधिकार दिए गए हैं कि वे प्रस्ताव के द्वारा सम्राट की सरकार के प्रति इस अनुभाग में वर्णित विषयों के संबंध में वैधानिक परिवर्तन की भावना को प्रकट कर सकें, किंतु अधिनियम में परिवर्तन करने का वास्तविक अधिकार सम्राट की सरकार को दिया गया।

इस अधिनियम की विशेषता प्रांतीय स्वयत्तता की धारा थी, किंतु इनका अभिप्राय यह नहीं था कि प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायित्व वाली सरकार स्थापित हो गई ऐसा संभव ही नहीं था क्योंकि गवर्नर को बहुत से अधिकार दिए गए थे जिन्हें वह अपनी स्वेच्छा से प्रयोग कर सकता था।

पंडित नेहरू ने उक्त अधिनियम पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि– ''नया संविधान एक ऐसा यंत्र था जिसकी ब्रैकें तो दृढ़ थीं किंतु जिसका कोई इंजन नहीं था।'' इस अधिनियम की आलोचना इन बिंदुओं पर की गई – गवर्नर के स्वेच्छापूर्ण व्यवहार, प्रांतीय विधान मंडलों के सीमित अधिकार, साम्प्रदायिक आधार पर धारा सभाओं के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति, सुरक्षा को सुरक्षित विषय में सम्मिलित करने, भारतीयों को उक्त संविधान में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का अधिकार न होने इत्यादि।

इस अधिनियम की और अधिक व्याख्या करते हुए पं. मदन मोहन मालवीय ने कहा कि–"नया अधिनियम हम पर लादा गया है। बाह्य रूप से यह कुछ प्रजातंत्रात्मक प्रतीत होता है, किंतु आंतरिक रूप से यह पूर्ण रूप से खोखला है।"

1935 के अधिनियम को पूर्ण रूप से लागू नहीं किया गया केवल प्रांतीय स्वायत्तता से संबंधित भाग को 1937 में लागू किया गया जो 1947 तक लागू रहा। केंद्रीय प्रशासन 1919 के अधिनियम की धाराओं के तहत 1947 तक संचालित होता रहा। कांग्रेस ने इन चुनावों में भाग लिया और 7 प्रांतों में सरकार बनाई, शेष 4 प्रांतों में अन्य दलों ने सरकार बनाई किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप 1939 में समस्त कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिया। संपूर्ण युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयास किए। 1940 में लिनलिथगो ने अगस्त प्रस्ताव पेश किया जिसे कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार 1942 में क्रिप्स प्रस्तावों को पेश किया गया लेकिन विभिन्न कारणों से, कांग्रेस, लीग, हिंदू महासभा आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया।

मार्च 1944 में राजगोपालाचारी ने अपनी योजना प्रस्तुत की। जनवरी 1946 में जिन्ना ने भी देसाई–लियाकत फार्मूला प्रस्तुत किया, किंतु इनका कोई परिणाम नहीं निकला। जून 1945 में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वैवेल ने ''वैवेल योजना'' प्रस्तुत की, किंतु इसे भी स्वीकार नहीं किया गया।

1945 में इग्लैंड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। उसने मार्च 1946 में कैबिनेट मिशन लॉर्ड पैथिक लारेंस, स्टेंफर्ड क्रिप्स एवं ए.वी. एजेब्जेंडर के नेतृत्व में भारत भेजा। वैधानिक संकट को दूर करने के लिए इसने पाकिस्तान की मांग को अव्यावहारिक ठहराते हुए निम्न लिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए–

टिप्पणी

(1) भारत में अंग्रेजी भारत और रियासतों का मिला–जुला संघ होना चाहिए जो विदेशी मामले, रक्षा और संचार साधनों की देखभाल करे और इनके लिए कर लगा सके।

(2) इस संघ की कार्यकारिणी और विधान मंडल में ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि होने चाहिए। किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक पक्ष पर यह आवश्यक हो कि विधान मंडल में दोनों मुख्य सम्प्रदायों के विधायक अलग–अलग मत देकर उसका समर्थन करें।

(3) प्रांतों को केंद्रीय विषयों को छोड़कर शेष सभी मामलों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त हो और शेष शक्तियां उन्हीं के पास हों।

(4) प्रांतों को छोटे अथवा बड़े गुट बनाने का अधिकार हो और इन गुटों को क्या–क्या अधिकार होंगे, इसका निर्णय वे स्वयं करेंगे।

(5) मद्रास, बंबई, मध्यप्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा के छह हिंदू बहुसंख्यक प्रांत गुट (अ) में होंगे और उत्तर पश्चिम के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत पंजाब, सीमा प्रांत और सिंध गुट (ब) में होंगे और बंगाल तथा असम गुट (स) में। मुख्य आयुक्त के प्रांत दिल्ली अजमेर–मारवाड़ और कुर्ग गुट (अ) में और बलूचिस्तान गुट (ब) में सम्मिलित होंगे।

कैबिनेट मिशन का मुख्य कार्य संविधान सभा अर्थात भारतीयों द्वारा अपना संविधान बनाने के कार्य को आरंभ करना था। यह संविधान सभा प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा चुनी जानी थी क्योंकि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाती तो समय बहुत लग जाता।

बहुत ही अनिच्छा के साथ (कांग्रेस प्रांतों के गुट बनाने पर अप्रसन्न थी तथा लीग पाकिस्तान की मांग न मानने पर) कैबिनेट मिशन को स्वीकार कर लिया गया परंतु संविधान सभा के चुनावों के परिणामों को देखकर (कांग्रेस 205 तथा लीग 73) जिन्ना ने कैबिनेट मिशन को अस्वीकार कर प्रत्यक्ष कार्यवाही को अंजाम दिया।

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने जून 1948 तक भारत छोड़ने की घोषणा कर दी तथा भारत बंटवारे की बात जिसे कैबिनेट मिशन ने अस्वीकार कर दिया था मान लिया गया। इस घोषणा के होते ही लीग ने भारत विभाजन के लिए प्रयास तीव्र कर दिए जिससे भारत में स्थिति बहुत बिगड़ गई। भारत के नए वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने उक्त परिस्थितियों को देखते हुए घोषणा की कि कुछ ही मास में भारतीयों को सत्ता सौंप देंगे।

3 जून को माउंटबेटन ने अपनी योजना प्रस्तुत की जिसमें पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गई। इस योजना को सभी दलों ने स्वीकार कर लिया। 4 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन की संसद में एक विधेयक रखा गया (जिसे भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम कहा गया)। वह 18 जुलाई, 1947 को पारित हो गया। इस अधिनियम में कोई नया संविधान नहीं बनाया गया। इसमें केवल भारत तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपने संविधान निर्मित करने की अनुमति दी गई थी। इस अधिनियम के द्वारा 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हुई।

1.2.2 प्रांतीय प्रशासन पर नियंत्रण

टिप्पणी

प्रांतीय प्रशासन को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है–

1858 से 1892 तक की स्थिति– 1858 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल तथा प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती थी। गवर्नरों की कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार कौंसिल स्थित, भारत मंत्री के पास था। इसके अतिरिक्त अन्य नियुक्ति के संदर्भ में यह निश्चत किया गया कि मनोनयन के स्थान पर योग्यता को आधार मानकार अधिकारियों का चयन किया जाएगा। 1861 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषद्ों को कानून और नियम बनाने की शक्ति दी गई। इसके पूर्व यह शक्ति केवल केंद्रीय परिषद् के पास थी। प्रांतीय परिषद्ों का गठन केंद्रीय परिषद्ों के आधार पर किया गया। प्रांतीय प्ररिषद में गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के सदस्य ओर अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित होते थे। अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 4 से लेकर 8 तक हो सकती थी, इनमें आधे गैर सरकारी होते थे। प्रांतीय परिषद् को कुछ विषयों पर जैसे टंकण, डाकतार, समुद्री तथा सैनिक मामले पर कानून बनाने से पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी पड़ती थी। प्रांतीय परिषद् द्वारा पारित कानून गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बाद ही वैध होता था। अधिनियम ने अन्य प्रांतों में भी विधानपरिषद् स्थापित करने का प्रावधान किया था। 1861 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषद्ों के सदस्यों के अधिकारों में भी वृद्धि कर दी गई।

1892 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषद्ों की सदस्य संख्या में बढ़ोतरी की गई।

मद्रास और बंबई की परिषद्ों की सदस्य संख्या कम से कम 8 और अधिकतम 20 थी। बंगाल और उत्तरी पश्चिमी प्रांत के सदस्यों की अधिकतम सीमा 20 और 15 थी। जून 1892 में भारत सरकार ने प्रांतीय परिषद्ों के चुनाव के लिए चुनाव तंत्र की स्थापना संबंधी नियमों की रचना की। 1892 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतीय परिषदें गवर्नर जनरल की परिषद् के लिए 5 सदस्य चुन सकती थीं। बंबई, मद्रास, बंगाल और उत्तर पश्चिम प्रांत की विधानपरिषद्ों तथा कलकत्ता वाणिज्य मंडल से ये 5 सदस्य चुने जाते थे।

1909 से 1947 तक की स्थिति– प्रांतीय धारासभाओं के सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गई। बड़े प्रांतों जैसे मद्रास, बंबई, बंगाल और संयुक्त प्रांत की विधानपरिषद्ों की अधिकतम सदस्य संख्या 50 कर दी गई। अपेक्षा कृत छोटे प्रांतों जैसे पंजाब, वर्मा, पूर्वी बंगाल और असम की अधिकतम सीमा 30 कर दी गई। (बंगाल के पुनर्निर्माण के बाद बिहार और उड़ीसा की 45, सेंट्रल प्रॉविंसेज की 25 तथा असम परिषद् की अधिकतम सीमा 27 निश्चित की गई) 1909 के सुधारों में प्रांतीय परिषद्ों में अब तक लागू सरकारी बहुमत के सिद्धांत का परित्याग कर दिया गया, परंतु फिर भी सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार की गई कि मनोनीत सदस्यों (इसमें सरकारी सदस्य, मनोनीत और गैर सरकारी सदस्य दोनों ही सम्मिलित थे) की संख्या प्रांतीय परिषद्ों के चुने हुए सदस्यों से अधिक थी। केवल बंगाल ही एक ऐसा अपवाद था जहां चुने हुए सदस्यों की संख्या मनोनीत किए गए सदस्यों से अधिक थी।

1919 के अधिनियम के द्वारा पहली बार केंद्र तथा प्रांतीय सरकारों के बीच प्रशासन के समस्त विषयों का बंटवारा किया गया। प्रांतीय सूची में स्थानीय महत्व के विषय रखे

टिप्पणी

गए जैसे शिक्षा, स्वशासन, कृषि, सिंचाई आदि। प्रांतीय सरकारों को स्वायत्तता देने के लिए उनके आय के साधन भी निर्धारित कर दिए गए ताकि प्रांतीय सरकारें विभिन्न विभागों के विकास के लिए केंद्र सरकार पर आश्रित न रहें। 1919 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषदों की संख्या को बढ़ाया गया तथा इन परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया। प्रांतीय विधानपरिषदों के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की गई। कानून निर्माण की प्रक्रिया में सभी सदस्य भाग ले सकते थे। वे पूरक प्रश्न पूछ सकते थे तथा बजट को अस्वीकृत भी कर सकते थे, किंतु आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर बजट को पुनः बहाल कर सकता था। प्रांतीय विधानपरिषद् का कार्यकाल वैसे तो तीन वर्ष ही था परंतु गवर्नर इसे घटा बढ़ा सकता था। गवर्नर प्रांतीय परिषद् का अध्यक्ष नहीं होता था। परिषदों को अपना सभापति चुनने का अधिकार था। प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था प्रारंभ होने के कारण परिषदों के सदस्यों को प्रांतीय शासन पर दृष्टि रखने का अवसर मिला। हस्तांतरित विषयों के संबंध में प्रांतीय परिषद् प्रभावशाली बनी।

1919 के अधिनियम के द्वारा प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गई जो कि महत्वपूर्ण कदम था, क्योंकि यह उत्तरदायी सरकार की स्थापना का आरंभिक कदम था। केंद्र की बजाय प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया, लेकिन अधिनियम का निर्माण करने वाले सदस्य प्रांतों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तैयार नहीं थे। इसका कारण यह था कि भारतीयों को संवैधानिक अनुभव नहीं था और इससे प्रशासन में कठिनाइयां आ सकती थीं। ब्रिटिश सरकार प्रांतीय शासन के एक भाग पर नौकरशाही का अधिकार बनाए रखना चाहती थी और द्वितीय भाग जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंपने के लिए तैयार थी। ऐसी स्थिति में दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक प्रयोग किया गया जो द्वैध शासन कहलाया।

प्रांतों में द्वैध शासन की प्रक्रिया को संचालित करने के लिए प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया। पहला हस्तांतरित विषय तथा दूसरा आरक्षित विषय। हस्तांतरित विषयों में शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, स्थानीय स्वायत्त प्रशासन, चिकित्सा, सहायता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मत्स्य पालन, सार्वजनिक निर्माण विभाग, आबकारी उद्योग, मापतौल इत्यादि सम्मिलित थे। आरक्षित विषयों में वित्त, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय, पुलिस, छापेखाने, समाचार पत्र, खाने, बिजली, कारखाने, गैस, सार्वजनिक सेवाएं, सिंचाई इत्यादि थे। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर अपने द्वारा मनोनीत सदस्यों की सहायता से (जो कि विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे) करता था। हस्तांतरित विषयों का प्रशासन गवर्नर उन मंत्रियों की सहायता से करता था जिन्हें वह निर्वाचित सदस्यों में से (ये लोग सदन के प्रति उत्तरदायी थे तथा गवर्नर की इच्छा पर्यन्त अपने पद पर रह सकते थे) नियुक्त करता था। इस प्रकार निर्वाचित मंत्रियों को नियुक्त करके और हस्तांतरित विषयों का दायित्व देकर प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया गया। सपरिषद् राज्य सचिव एवं सपरिषद् गवर्नर जनरल को इनके विषयों में हस्तक्षेप के सीमित अधिकार थे, परंतु आरक्षित विषयों में हस्तक्षेप के उनके अधिकार पूर्ववत बने रहे।

1935 के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसके द्वारा प्रांतों को पहली बार एक स्वतंत्र संवैधानिक और कानूनी रूप प्राप्त हुआ था। संघीय एवं प्रांतीय क्षेत्रों के शासनाधिकारों एवं विषयों को स्पष्ट करने हेतु विधायी शक्तियों को

टिप्पणी

सातवीं अनुसूची के अंतर्गत संघीय, प्रांतीय एवं समवर्ती सूची में विभाजित कर दिया गया था। संघीय सूची में 59, प्रांतीय सूची में 45 तथा समवर्ती सूची में 36 विषय रखे गए थे। प्रांतों को अब केंद्र के साथ समवर्ती सूची के कुछ विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार था। समवर्ती क्षेत्र में केंद्र एवं प्रांतों के कानून में विवाद होने पर केंद्र के दृष्टिकोण को प्रधानता प्राप्त थी। यह ध्यातव्य है कि ये सूचियां 1919 में केंद्र और प्रांतों के मध्य, विषयों के वितरण से भिन्न थीं। जहां 1919 में यह वितरण सत्ता के विकेंद्रीकरण से प्राप्त हुआ था वहां 1935 में केंद्र और प्रांत के अधिकार उनकी मूलभूत शक्ति थी, जो उन्हें संविधान से प्राप्त थी।

प्रांतों को केंद्र से स्वतंत्र बनाने के लिए उसे वित्तीय शक्तियां भी दी गई थीं। प्रांत अब विदेशों से भी अपने लिए ऋण ले सकते थे, इसके लिए उन्हें भारत मंत्री की अनुमति की आवश्यकता भी नहीं थी। प्रांत अब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर केंद्र और भारत मंत्री के निरीक्षण निर्देशन से पूर्णतः मुक्त थे।

इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से पृथक कर दिया गया। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासकीय आदेशों (ऑर्डर्स इन कौंसिल) से सिंध एवं उड़ीसा को नए प्रांत के रूप में मान्यता दी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत 11 प्रांतों (बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रांत, पंजाब, सिंध, उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत, असम) में विभक्त हो गया। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासकीय आदेश से वर्तमान प्रांतों की सीमा में परिवर्तन तथा नए प्रांतों का गठन सम्भव हुआ।

मद्रास, बंबई, बिहार, बंगाल, संयुक्त प्रांत में द्विसदनात्मक विधायिकाओं का प्रावधान किया गया तथा अन्य प्रांतों में एक सदन वाली विधायिकाओं की व्यवस्था रही। मताधिकार पूर्व की भांति सम्पत्ति पर आधारित था। अनुसूची 10 में उसके विस्तृत प्रावधानों का उल्लेख था। 1919 की अपेक्षा मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई अब 3 करोड़ मतदाता थे।

विधायिका के उच्च सदन को विधानपरिषद् कहा जाता था। विधानपरिषद् के सदस्यों की संख्या विभिन्न प्रांतों में भिन्न–भिन्न थी। इन परिषद्ों में स्थानों का वितरण विभिन्न समुदायों ओर सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक निर्णय और उसके परिवर्द्धित रूप पूना समझौते की धाराओं के अनुसार किया गया था।

प्रांतीय स्वायत्तता के कार्यान्वयन के दो प्रमुख स्रोत थे। पहला, 1935 के अधिनियम की धाराएं तथा दूसरा, गवर्नर जनरल को दिया गया निर्देशपत्र (इंस्ट्रूमेंट ऑफ इंस्ट्रक्शंस)। अधिनियम के अनुसार प्रांतों के गवर्नर की सहायता और सलाह के लिए मंत्रिमंडल का प्रावधान था, परंतु कुछ विषयों के शासन के लिए गवर्नर अपने विवेक का प्रयोग तथा कुछ अन्य विषयों में अपने व्यक्तिगत 'विचारों' (जजमेंट) का प्रयोग कर सकता था।

विवेकाधिकार का प्रयोग करते समय गवर्नर के पास सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही प्रकार की विधायी शक्तियां थीं। एक ओर वह किसी विधेयक पर अपनी सहमति देने से मना कर सकता था तो दूसरी ओर वह उन्हें गवर्नर जनरल के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता था। आपातकाल की स्थिति में वह अध्यादेश जारी कर सकता था जिसकी अवधि 6 माह होती थी। इसके अतिरिक्त उसे ऐसे अधिनियम को भी पारित करने का अधिकार था जिन्हें गवर्नर अधिनियम (गवर्नर एक्ट) कहा जाता था।

टिप्पणी

इनकी वही मान्यता और स्थायित्व था जो विधायिका से पारित किसी अधिनियम का होता था।

गवर्नर के व्यक्तिगत विवेक से कार्य करने का अभिप्राय था कि वह उन्हें अपनी विशेष जिम्मेदारी को पूर्ण करने के लिए करता था। ये जिम्मेदारियां थीं – (1) प्रांत अथवा उसके किसी भाग में शांति और व्यवस्था के लिए अभूतपूर्व संकट के निवारण (2) अल्पसंख्यक वर्गो के समूचित हितों की रक्षा (3) सरकारी कर्मचारियों की अधिनियम के अंतर्गत रक्षा (4) ब्रिटिश व्यावसायिक हितों की प्रशासनिक विभेद की नीति से रक्षा (5) प्रांतों के सामान्य शासन की परिधि से वर्जित क्षेत्रों में शांति व्यवस्था (6) देशी रियासतों और उसके शासकों के अधिकारों की रक्षा (7) गवर्नर जनरल द्वारा संघीय हितों की रक्षा के लिए दिए गए निर्देशों का पालन करना। व्यक्तिगत विचार के अंतर्गत आने वाले विषयों पर मंत्री सलाह तो दे सकते थे, परंतु गवर्नर उक्त सलाह को मानने या न मानने के लिए स्वतंत्र था।

जब गवर्नर अपने विवेक या अपने व्यक्तिगत विचार से कार्य करता था तो वह गवर्नर जनरल, भारत मंत्री और उसके माध्यम से ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में रहता था। गवर्नर के ये दो प्रकार के अधिकार सुरक्षा के प्रावधान (सेफगार्ड) कहे गये थे। इनके द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अतिरिक्त प्रांतों में पूर्ण स्वायत्तता थी। प्रांतों में द्वैधशासन समाप्त कर सम्पूर्ण शासन मंत्रिमंडलीय पद्धति पर चलाया जाने लगा। इसी के साथ प्रांतों में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के विभाजन भी समाप्त करते हुए सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मंत्रिमंडल को सौंप दिए गए। मंत्रिमंडल विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार पहली बार प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायी शासन स्थापित करने का प्रयास किया गया। सामान्य परिस्थितियों में गवर्नर मंत्रियों के विभागों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, परंतु उसे बहुत से विशेषाधिकार भी दे दिए गए थे, जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता था। इसी कारण भारतीयों द्वारा इस अधिनियम की आलोचना की गई।

1.2.3 जिला प्रशासन पर नियंत्रण

केंद्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन के पश्चात जिला प्रशासन का स्थान आता था। प्रांत जिलों में विभक्त था। जिले का प्रमुख अधिकारी प्रारंभ में सुपरिन्टेडेन्ट एवं बाद में डिप्टी कमिश्नर कहा जाता था। जिले को परगना (तहसील) में विभाजित किया गया था। परगना अथवा तहसील का प्रमुख अधिकारी तहसीलदार कहलाता था। पुलिस व्यवस्था की देखभाल भी जिलाधिकारी करता था। नगर पुलिस की व्यवस्था कोतवाल को करनी होती थी। जिलाधिकारी को न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त थी वह दो वर्ष के कारावास तक का दंड दे सकता था।

दीवानी न्याय प्रशासन हेतु जिले में एक न्यायाधीश की नियुक्ति की गई थी। उसके अधीन प्रधान सदर अमीन, सदर अमीन एवं मुंसिफ होते थे। कई जिलों को मिलाकर वर्तमान की भांति संभाग बनता था। संभाग का दायित्व कमिश्नर को सौंपा गया था। कमिश्नर सत्रन्यायाधीश (सेशन जज) एवं अपीलीय व्यवहार न्यायाधीश (सिविल जज ऑफ अपील) भी होता था।

जिले में अन्य विभाग– भूअभिलेख, जेल, शिक्षा, पुलिस, वन, चिकित्सा, लोक निर्माण, लोक स्वास्थ्य, उत्पाद शुल्क, पंजीयन आदि होते थे। इनके मुखिया यद्यपि अलग–अलग होते थे मगर उन पर नियंत्रण जिलाधिकारी का होता था।

टिप्पणी

जिलों में जिला पुलिस अधीक्षक की नियुक्ति की गई थी जो पुलिस महानिरीक्षक के प्रति उत्तरदायी था, इसके बावजूद जिला मजिस्ट्रेट (दंडाधिकारी) की भी हैसियत से जिलाधिकारी (डिप्टी कमिश्नर) जिला पुलिस का अध्यक्ष कहलाता था।

जिले के सामान्य और राजस्व प्रशासन में डिप्टी कमिश्नर की सहायतार्थ सहायक कमिश्नर (असिस्टेंट कमिश्नर) एवं अतिरिक्त सहायक कमिश्नर (एडीशनल असिस्टेंट कमिश्नर) होते थे। तहसील का प्रशासक तहसीलदार होता था जिसे सबकलेक्टर कहा जाता था। जिलाधिकारी की भांति तहसील में वह सिविल एवं क्रिमिनल न्यायी एवं राजस्व शक्तियों का प्रयोग करता था। तहसीलदार के सहयोगार्थ नायब तहसीलदार होते थे। ग्राम स्तर पर राजस्व का काम पटवारी (ग्राम लेखापाल) देखता था। जिले में जब 30 वर्षीय बंदोबस्त प्रणाली लागू की गई उस समय पटवारी को मालगुजारी का एजेंट कहा गया था। भू–राजस्व अधिनियम 1861 के तहत पटवारी को धीरे–धीरे सरकारी नियंत्रण में लाया गया। 1911–16 में पटवारी को सरकार की ओर से वेतन की व्यवस्था की गई। पटवारियों के कार्यों की देखभाल हेतु राजस्व निरीक्षकों की नियुक्ति की गई थी। इनके ऊपर अधीक्षक भूअभिलेख होता था। अधीक्षक भूअभिलेख तहसीलदार के समकक्ष होता था। अधीक्षक भूअभिलेख की सहायतार्थ सहायक अधीक्षक भू–अभिलेख होते थे।

1877–78 में यह व्यवस्था की गई कि डिप्टी कमिश्नर को सभी विभागों में जिला प्रशासन का प्रमुख समझा जाना चाहिए। पहले तो जिलाधिकारी न्यायिक दायित्वों का निर्वहन भी करता था मगर, बाद में सरकार ने कार्यपालिका को न्याय पालिका से पृथक रखने पर ध्यान दिया। इस दिशा में कार्य करते हुए 1887 में व्यवहार न्यायाधीश एवं मुंसिफों की नियुक्तियां की गई। इनके द्वारा काफी हद तक डिप्टीकमिश्नर एवं तहसीलदारों को न्यायकार्य से मुक्त किया गया। कालांतर में चार संभागीय सत्र न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई। इस व्यवस्था द्वारा डिप्टी कमिश्नर को दीवानी एवं फौजदारी न्यायकार्य से मुक्त कर दिया गया। 1904 तक जिला प्रशासन की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इस समय जिलों में उपसंभागीय व्यवस्था लागू की गई। इसके तहत सहायक एवं अतिरिक्त सहायक कमिश्नरों को एक या अधिक तहसीलों का प्रभारी नियुक्त किया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस अधिनियम के द्वारा संपूर्ण विधायी शक्तियां गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद् में संकेंद्रित थीं?

   (क) अधिनियम 1833 (ख) अधिनियम 1861

   (ग) अधिनियम 1892 (घ) अधिनियम 1919

2. 1919 के अधिनियम को किसके नाम से जाना जाता है?

   (क) मार्ले मिंटो (ख) मांटेग्यू चेम्सफोर्ड

   (ग) रैम्जे मैकडोनल्ड (घ) स्टेंफर्ड किप्स

टिप्पणी

1.3 रियासतों के साथ संबंध

अंग्रेजों एवं भारतीय रियासतों के मध्य संबंधों का अध्ययन निम्नलिखित दो बातों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। पहली तो यह कि सभी रियासतों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इतिहासकार के.एम. पणिक्कर ने उन्हें तीन विशिष्ट वर्गों में रखा है। (1) वे राज्य जो संधि के आधार पर स्वतंत्र थे। (2) वे राज्य जो संधि के आधार पर अपने अधिकारों का प्रयोग ब्रिटिश सरकार की देख–रेख में करते थे। (3) वे राज्य जिनके अधिकार सनद या घोषणा पत्रों पर आधारित थे। द्वितीय, भारतीय रियासतों में परिवर्तन कुछ परिस्थितिवश हुए। रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का विकास कुछ तो ईस्ट इंडिया कंपनी के सरकारी स्वरूप के कारण हुआ और कुछ गर्वनर जनरल के विचारों और महत्वाकांक्षाओं के कारण। इस नीति के विकास के पीछे मुख्यतः विश्वास की भावना थी, जिसमें वैलेजली के काल में बढोत्तरी हुई जो स्वतंत्रता प्राप्ति के काल तक जारी रही।

कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता के लिए संघर्ष

सन् 1740 ई. के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी और राजनीतिक महत्वाकांक्षा से यह दूर थी। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने जब भारतीय रियासतों में राजनीतिक सत्ता (व्यापारिक हितों के लिए) स्थापित करने का प्रयत्न किया तो ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी अपने व्यापारिक हितों के रक्षार्थ डूप्ले की नीति का अनुसरण किया। 1751 का अरकाट का घेरा, 1757 का प्लासी का युद्ध एवं 1764 का बक्सर का युद्ध इसी नीति का अंग था। मुगल सम्राट शाहआलम ने (इलाहाबाद की संधि) 1765 में कंपनी को बंगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। इससे कंपनी को अन्य भारतीय रियासतों के समान दर्जा प्राप्त हो गया।

अंग्रेजों की रियासतों के प्रति नीति

भारतीय रियासतों के अंग्रेजों के साथ संबंध को सर विलियम ली बार्नर ने अपनी पुस्तक "The Native of India" में तीन भागों में बांटा है –

(1) घेरे की नीति (The Ring fence policy) 1757–1813

(2) अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (Subordinate Isolation Policy) 1813–1858

(3) अधीनस्थ एकीकरण की नीति (Subordinate Union Policy) 1858–1919

ली बार्नर की यह पुस्तक 1910 में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात ब्रिटिश रियासतों के संबंधों को इतिहासकारों ने दो और भागों में विभक्त किया जो इस प्रकार है।

(4) अधीनस्थ संघ की नीति – नरेंद्र मंडल (Policy of Subordinate Union The chamber of Princes) 1919–1935

(5) समानता संघात्मक नीति (Policy of Equal Federation 1935–1947)

घेरे की नीति (1757–1813)

परिस्थितियों को देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस काल में अहस्तक्षेप और सीमित उत्तरदायित्व की नीति का पालन किया और यह नीति अंग्रेजों के लिए लाभकारी सिद्ध

टिप्पणी

हुई। इस काल में अंग्रेज बहुत शक्तिशाली नहीं थे इसलिए भारतीय राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। वे इस समय मराठा, फ्रांसीसी, निजाम, मैसूर के सुल्तान के समान ही थे। इसलिए उन्होंने जब भी भारतीय राज्यों के साथ समझौता किया तो वह समानता तथा पारस्परिकता के आधार पर किया। यह नीति नैतिकता के आधार पर नहीं थी। यह लचीली थी जो विभिन्न गवर्नर जनरलों के अधीन बदली जाने वाली व्यवस्था थी।

कंपनी ने अनेक अवसरों पर भारतीय राज्यों के आतंरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। वारेन् हेस्टिग्स के द्वारा प्रथम मराठा युद्ध तथा द्वितीय मैसूर युद्ध, कॉर्नवालिस के समय का तृतीय मैसूर युद्ध वैलेजली के समय का चौथा युद्ध एवं द्वितीय मराठा युद्ध हैदराबाद को सहायक संधि मानने को बाध्य करना लॉर्ड मिंटों द्वारा 1809 की रणजीत सिंह से अमश्तसर की संधि आदि इसके प्रमुख उदाहरण है।

इतिहासकार के.एम. पणिक्कर ने ''ब्रिटिश पॉलिसी टुवर्ड्स इंडियन स्टेट'' (भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति) में स्पष्ट करते हुए इस काल की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। पहली समस्त संधियां (मैसूर की संधि को छोड़कर) समानता के आधार पर की गई। कंपनी ने अपनी प्रमुखता स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। दूसरी इन संधियों के द्वारा इस बात पर ध्यान दिया गया कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार बना रहे तथा उसके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए।

जब लॉर्ड वैलेजली गवर्नर जनरल बनकर 1798 ई. में भारत आया उस समय कंपनी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय एवं डांवांडोल थी। वैलेजली ने आते ही हस्तक्षेप की नीति का अनुकरण करने का निश्चय कर कंपनी की सर्वोच्चता स्थापित करने का संकल्प लिया। उसने अपनी नीति के दो प्रमुख लक्ष्य बनाए। पहला, भारत में कंपनी की सत्ता को सर्वोपरि बनाना और अन्य देशी राज्यों को कंपनी का संरक्षण स्वीकार कर लेने पर बाध्य करना तथा दूसरा, भारत को फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त करना।

वैलेजली ने अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु एक नई नीति का अनुकरण किया जिसे सहायक संधि कहा गया। इस संधि के तहत कंपनी देशी राज्यों को आंतरिक विद्रोह और बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सैनिक सहायता देने का वचन देती थी और उसके बदले में उनसे एक निश्चित आर्थिक सहायता प्राप्त करती थी। इस संधि को स्वीकार करने वाली रियासत कंपनी का आधिपत्य स्वीकार करती थीं तथा कंपनी की अनुमति के बिना दूसरी शक्ति से युद्ध या संधि नहीं कर सकती थीं। इसके अतिरिक्त देशी रियासतें कंपनी की अनुमति के बिना अंग्रेजों को छोड़कर किसी यूरोपीय को अपने यहां नौकरी पर नहीं रख सकती थीं। इस शर्त का उद्देश्य देशी रियासतों में फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त करना था।

सहायक संधि के तहत रियासतों के नरेशों को अपने यहां अंग्रेजी फौज रखनी पड़ती थी तथा उसका खर्च भी वहन करना पड़ता था। साथ ही एक रेजीडेण्ट रखना पड़ता था। इस प्रकार कंपनी का एक आदमी सदैव ही रियासत में उपस्थित रहता था जो उनकी गतिविधियों पर नजर रखता था।

इस संधि में हैदराबाद, मैसूर, अवध मराठा आदि छोटी–छोटी रियासतें सम्मिलित थीं। वेलेजली भारत से जाने के पहले ही लगभग सभी राज्यों में सहायक संधि लागू करने में सफल रहा। उक्त नीति को घेरे की नीति कहा जाता है।

टिप्पणी

अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813–1858)

अंग्रेजी सत्ता को भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने में लॉर्ड वेलेजली का महत्वपूर्ण योगदान रहा। वेलेजली के कुछ कार्यों को बाद में हेस्टिंग्स ने पूरा किया। लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813–23) ने अग्रगामी तथा साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुए कंपनी और भारतीय रियासतों के सम्बन्धों को एक नया मोड़ दिया। उसने सहायक संधि द्वारा मध्यभारत के 145 राज्यों में से 20 राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने भारतीय नरेशों से जो संधियां कीं उनके अनुसार भारतीय नरेशों ने अपनी विदेश नीति पूर्णतः अंग्रेजों के हाथ में सौंप दी। आंतरिक नीति के विषय में यद्यपि यह स्वीकार किया गया कि अंग्रेज कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे परंतु वास्तविकता में अंग्रेजों का हस्तक्षेप निरंतर बढ़ता ही गया। अवध, मैसूर, नागपुर, उदयपुर, जयपुर आदि राज्यों में किये गये हस्तक्षेप इस बात के प्रमाण थे।

लॉर्ड हेस्टिंग्स से लेकर 1857 की क्रांति के मध्य के समय में अंग्रेजों और भारतीय शासकों के संबंधों पर दृष्टि डालने पर दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली भारतीय नरेशों के आंतरिक मामलों में अंग्रेज रेजीडेन्टों का हस्तक्षेप निरंतर बढ़ता ही गया। दूसरी, इस समय के साम्राज्यवादी गर्वनर जनरल अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करते गए।

अंग्रेजों की साम्राज्य विस्तार की नीति का अगला चरण भारतीय नरेशों पर कुशासन का आरोप लगाकर उनके राज्य को हथियाना था। कंपनी की यह नीति विलियम वैटिंग के समय शुरू हुई जो लॉर्ड ऑर्कलैंड के समय और भी दृढ़ हुई एवं लॉर्ड डलहौजी के काल में कंपनी की यह नीति अपने चरम पर पहुंच गई।

लॉर्ड डलहौजी ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के कार्यान्वयन के लिए तीन उपायों का सहारा लिया। पहला उसने आक्रमण के द्वारा पंजाब और बर्मा को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया दूसरे उसने कुशासन और भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर कुछ राज्यों को (अवध–बरार) कंपनी में मिला लिया। कंपनी के राज्य का विस्तार का तीसरा साधन विलय की नीति थी। (गोद लेने की प्रथा को निषिद्ध घोषित करना) इस प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने इन नीतियों के द्वारा कई राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में बांट दिया प्रथम वे राज्य जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये गए थे। द्वितीय वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीनस्थ थे। तृतीय वे राज्य जो स्वतंत्र थे। डलहौजी ने यह आदेश निकाला कि प्रथम श्रेणी के नरेशों को बच्चा गोद लेने का अधिकार नहीं रहेगा। द्वितीय श्रेणी के नरेशों के लिए यह आवश्यक था कि वे बच्चा गोद लेने से पहले अंग्रेजों की स्वीकृति प्राप्त करें और तीसरी श्रेणी के नरेश बच्चों को गोद लेने में स्वतंत्र थे। डलहौजी ने विभिन्न हथकंडों से जिन राज्यों को कंपनी राज्य में मिला लिया वे राज्य थे सतारा, संभलपुर, उदयपुर, बाघात, जैतपुर, नागपुर, झांसी इत्यादि।

भारत में ऐसे भी कुछ राज्य थे जिन्हें कंपनी ने अपने राज्य में मिला लिया था लेकिन उनके शासकों को पेंशन मिलती थी। डलहौजी ने इसको भी समाप्त कर दिया। उसने कहा कि पद अथवा पेंशन परंपरागत नहीं होते तथा पेंशनभोक्ता के उत्तराधिकारियों को वे सब नहीं मिलने चाहिए। अतः इस प्रकार उसने पदों तथा पेंशनों को भी समाप्त कर दिया।

टिप्पणी

कंपनी ने पेशवा बाजीराव द्वितीय के लिए एक पेंशन निश्चित कर दी थी। 1852 में उसकी मृत्यु हो गई। डलहौजी ने उसके दत्तक पुत्र नानासाहब की पेंशन बंद कर दी। 1853 में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पद भी समाप्त कर दिया गया। 1855 में तंजौर का राजा की मृत्यु हो गई। उसके वंशजों को भी राजा की पदवी से वंचित कर दिया। मुगल बादशाह के साथ भी बुरा बर्ताव किया गया। उसकी पेंशन भी कम कर दी गई और उसको किला खाली करने को बाध्य किया गया। यह नीति अधीनस्थ पार्थक्य की नीति कहलाती है।

अधीनस्थ एकीकरण की नीति (1858–1919)

1857 की क्रांति के पश्चात अंग्रेजी ताज ने 1857 ई. में भारत का सीधे उत्तरदायित्व संभाल लिया। इससे ब्रिटिश सरकार और देशी रियासतों के मध्य संबंधों में बहुत परिवर्तन हुआ। इस नीति को ली वार्नर ने ''अधीनस्थ एकीकरण'' का नाम दिया। इस काल की दो प्रमुख विशेषताएं थीं। पहली यह कि देशी रियासतों की अधीन अवस्था के विषय में अब कोई शंका नहीं थी। दूसरे 1857 से पहले देशी रियासतों को तुच्छ समझा जाता था तथा उन्हें पृथक रखा जाता था परंतु क्रांति ने ब्रिटिश शासन को यह विश्वास दिला दिया कि यदि वह आंदोलन की बाढ़ को रोकने में देशी रियासतों का बांध के रूप में प्रयोग न कर सके तो भारत में उनके शासन का अंत निश्चित समझा जाना चाहिए। इस कारण भारतीय रियासतों के प्रति अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन आने लगा। 1858 के पश्चात भारतीय रियासतों को अब ब्रिटिश सत्ता का स्तम्भ बनाया जाने लगा।

1857 की क्रांति के कारणों के विश्लेषण से अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया था कि क्रांति का कारण बहुत हद तक उनकी विलय नीति थी। अतः अब वे इस नीति का पालन नहीं करना चाहते थे। इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार उन भारतीय रियासतों के प्रति कृतज्ञ भी थी जिन्होंने उन्हें इस संकट की घड़ी में पूरा सहयोग दिया था। परिणाम स्वरूप 1858 में एक नवीन नीति की घोषणा की गई। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि 'भविष्य में ब्रिटिश सरकार भारतीय देशी रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाएगी और कंपनी के साथ उनके जो भी समझौते पहले से चले आ रहे है उनका सम्मान भी वह करती रहेगी। इस घोषणा के द्वारा राज्यों की विलय नीति का परित्याग कर दिया गया। भारतीय नरेशों के अनेक अधिकार उन्हें वापस लौटा दिए गए और उन्हें ब्रिटिश सरकार की ओर से सनद भी दी गई जिसके द्वारा उनके गोद लेने के अधिकार को स्वीकार किया गया। ब्रिटिश सरकार ने 160 सनदें जारी की इन सनदों द्वारा उन्हें आश्वासन दिया जाता था कि उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचाई जाएगी जब तक कि वे ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त रहें और संधियों का पालन करते रहें।

1862 ई. में कैनिंग ने इन सनदों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया कि ''इग्लैंड का ताज'' (Crown) ही भारत की निर्विवादित सर्वोच्च सत्ता है। अंग्रेज सरकार भारत की सर्वोच्च शक्ति है और अंग्रेजी सरकार भारतीय राज्यों में अव्यवस्था, अराजकता के समय हस्तक्षेप करने से नहीं चूकेगी और यदि ऐसी दशा में किसी भारतीय राज्य के शासन को स्थाई रूप से सम्भालने की आवश्यकता हुई तो अंग्रेज सरकार ऐसा करने से भी नहीं चूकेगी। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बना लिया गया। और अंग्रेजी सरकार को उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने और राज्य के शासन को संभालने का अधिकार प्राप्त हो गया। नई नीति के कारण भारतीय राज्य अंग्रेजी राज्य में विलीन होने से तो बच गए, परंतु उनके शासन

टिप्पणी

में विदेशी अधिकारियों, अंग्रेज सरकार द्वारा मनोनीत दीवानों का हस्तक्षेप बढ़ गया। वे अंग्रेजी रेजिडेंट के कठोर नियंत्रण में आ गए। अंग्रेजों की सत्ता को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो गए। विभिन्न उपायों और कारणों द्वारा अंग्रेज सरकार का अधिकार दिनोंदिन भारतीय राज्यों पर बढ़ता ही गया।

गर्वनर जनरलों ने ब्रिटिश ताज की सर्वोच्चता को कायम रखने के लिए नए–नए तरीके अपनाए जिससे अंग्रेजी सरकार का अधिकार भारतीय राज्यों पर बढ़ता ही गया। 1875 में प्रिन्स ऑफ वेल्स इसी उद्देश्य से भारत आए और देशी नरेशों द्वारा उसका भव्य स्वागत किया गया। 1876 में महारानी विक्टोरिया ने ''कैसर–ए–हिंद'' की उपाधि ग्रहण की। इस उपलक्ष्य में लिटन ने 1876 में दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया जिसमें भारतीय नरेश शामिल हुए और साम्राज्ञी के प्रति अपनी स्वामीभक्ति प्रकट की। इस तरह के दरबार बाद में कई गर्वनर जनरलों ने भी आयोजित किये। भारतीय नरेशों को ब्रिटिश सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार की उपाधियां दी गईं। राज्य की विशालता और आय के आधार पर उनके सम्मान के लिए निश्चित तोपों की सलामी निर्धारित की गई।

लॉर्ड कर्जन के समय देशी रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण बढ़ता ही चला गया कर्जन ने संधियों की नई व्याख्या कर यह कहना प्रारंभ किया कि भारतीय राजाओं को जनता के सेवक के रूप में गर्वनर जनरल के साथ मिलकर भारत सरकार की योजनाओं में भाग लेना चाहिए। उसने संरक्षण और अधिकार निरीक्षण की नीति आरंभ की। उसने राजाओं को एक परिपत्र भेजा जिसमें राजाओं को ऐश्वर्य के पीछे भागने के स्थान पर प्रजा की भलाई और प्रशासन में संलग्न होने की प्रेरणा दी गई। कर्जन ने देशी नरेशों के यूरोप पर्यटन पर रोक लगा दी और भारत से अधिक समय के लिए बाहर रहना उनकी कर्त्तव्य विमुखता समझी जाने लगी।

कर्जन के अधीन भारतीय राज्यों के साथ अंग्रेजों के संबंध बहुत बिगड़ गए परंतु कर्जन के पश्चात पुनः उनके संबंधों में बहुत कुछ सुधार होना आरंभ हो गया। संभवतः इसके पीछे यह कारण था कि ब्रिटिश सरकार भारतीय राज्यों की सेना का प्रयोग अपने साम्राज्यवादी हितों की सुरक्षा तथा उन्नति के लिए करना चाहती थी। इसके अतिरिक्त 1905 के पश्चात राष्ट्रीय आन्दोलन काफी शक्ति ग्रहण कर चुका था, अतः सरकार ने भारतीय नरेशों से राष्ट्रीयता के विरुद्ध सहयोग प्राप्त करने का विचार बनाया।

भारतीय शासकों के भय को दूर करने की चेष्टा की तथा ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण को कम किया। यह नीति बहुत ही लाभदायक रही क्योकि भारतीय शासकों के सहयोग से ही देश की अव्यवस्था को दूर किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध में भी भारतीय शासकों में बड़ी उदारता से अंग्रेजों को अपना सहयोग दिया। गवर्नर जनरल ने भारतीय नरेशों को साम्राज्यवादी प्रशासन में सहायक तथा सहयोगी बताया।

अधीनस्थ संघ की नीति – नरेंद्र मंडल (1919–1935)

1905 (कर्जन के शासन काल से) से ही ब्रिटिश सरकार का प्रशासन तंत्र बढ़ता ही गया। भारतीय शासकों को कार्य करने का कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। इन शासकों पर सरकार द्वारा नियुक्त रेजीडेंटों का पूर्ण नियंत्रण होता था। उनकी मर्जी के बिना रियासतों के कोई महत्वपूर्ण काम नहीं होते थे। वे रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करते रहते थे। देशी नरेशों में इस कारण धीरे–धीरे असंतोष की

टिप्पणी

भावना बढ़ने लगी वे सरकारी नीतियों की आलोचना करने लगे। उनकी इस भावना को देश में बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन से काफी बल मिला। इन हालातों में सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी। मांटेग्यू चेम्सफोर्ट रिपोर्ट में देशी नरेशों की शिकायतों पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया गया और उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दिए गए। छोटी बड़ी रियासतो के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। इस विषय में बहुत से शासक असंतुष्ट थे। मांटेग्यू चेन्सफोर्ड रिपोर्ट के सुझाव के अनुसार भारतीय रियासतों को इस प्रकार विभाजित किया गया – (1) वे रियासतें जिन्हें अपने आंतरिक प्रशासन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। (2) वे रियासतें जिन्हें उनकी संधि के अनुसार इस प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। भारतीय नरेशों की इस मांग को कि सर्वोच्चता की पुरानी संधियों का ठीक ठीक पालन करना चाहिए, स्वीकार नहीं किया गया। उनकी एक यह भी शिकायत थी कि रियासतों के आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए कोई व्यवस्था होनी चाहिए, इसका भी कोई प्रबंध नहीं किया गया। मांटेग्यू चेम्सफोर्ट रिपोर्ट में एक स्थायी ''काउंसिल ऑफ प्रिन्सेज'' (भारतीय नरेशों की परिषद्) की व्यवस्था की गई।

चेंबर ऑफ प्रिंसेस (नरेंद्र मंडल)

1919 के अधिनियम के तहत (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट) ब्रिटिश सरकार ने चेंबर ऑफ प्रिंसेस (नरेंद्र मंडल) की स्थापना की घोषणा की जो फरवरी 1921 में अस्तित्व में आया। नरेंद्र मंडल में प्रतिनिधित्व के लिए रियासतों को तीन श्रेणियों में बांटा गया।

1. 109 रियासतें जो पूर्ण वैधानिक और क्षेत्राधिकार रखती थीं उन्हें सीधा प्रतिनिधित्व दिया गया।
2. 127 रियासतें जिनके वैधानिक और क्षेत्राधिकार सीमित थे, उनको आपस में चुने हुए 12 प्रतिनिधि मिले।
3. शेष 326 रियासतों को जागीरों अथवा सामंतशाही जागीरों के मालिकों की श्रेणी में रखा गया।

नरेंद्र मंडल की सदस्यता अनिवार्य नहीं थी अतः हैदराबाद और मैसूर जैसे राज्य इसके सदस्य नहीं थे। नरेंद्र मंडल का प्रेसीडेंट वॉयसराय होता था। इसके अतिरिक्त एक चांसलर और एक उपचांसलर तथा सात सदस्यों की एक समिति होती थी। इसका अधिवेशन प्रतिवर्ष होता था और वॉयसराय उसका सभापति होता था। वॉयसराय की अनुपस्थिति में चासंलर उसकी जगह सभापति होता था। चांसलर नरेंद्रमंडल की स्थायी समिति का प्रधान होता था। स्थायी समिति का अधिवेशन नई दिल्ली में वर्ष में दो बार अथवा तीन बार होता था जिसमें भारतीय रियासतों के आवश्यक प्रश्नों पर विचार'–विमर्श किया जाता था। प्रतिवर्ष स्थायी समिति नरेंद्र मंडल को अपनी रिपोर्ट पेश करती थी। इस संस्था में यद्यपि बहुत से अवगुण थे फिर भी यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई क्योंकि इसके माध्यम से भारतीय शासक एक दूसरे के साथ मिल बैठकर सार्वजनिक विषयों पर वाद विवाद किया करते थे।

बटलर कमेटी

नरेंद्र मंडल के माध्यम से भारतीय नरेशों ने रियासतों और अंग्रेजी सरकार के मध्य संबंधों के पुनः परीक्षण तथा फिर से परिभाषित किए जाने की मांग की। सरकार ने उक्त

टिप्पणी

मांग को स्वीकार करते हुए दिसम्बर 1927 में सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में इंडियन स्टेट कमेटी का गठन किया इस कमेटी ने 1920 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

इसने भारतीय राजाओं को पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं किया परंतु फिर भी उनकी बहुत सी शिकायतों को दूर किया गया। इस समिति द्वारा प्रस्तुत की गई प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं –

(1) राज्यों के साथ बरतने के लिए वॉयसराय ब्रिटिश राजा का ऐजेंट बने, काउंसिल सहित गर्वनर जनरल नही।

(2) राजा की राय के बिना ब्रिटिश राजा और देशी राजाओं के बीच का संबंध एक नई सरकार के साथ (जो व्यवस्थापिका के सामने उत्तरदायी है) न किया जाए।

(3) छह व्यक्तियों की स्टेट काउंसिल, जिसमें तीन राजा होने का विधान था, रद्द कर दी गई।

(4) राज्य के शासन में हस्तक्षेप वायसराय के निर्णय पर छोड़ दिया जाए।

(5) राज्यों और ब्रिटिश भारत के बीच जो झगड़े उठ खड़े हों उनकी जांच करने के लिए विशेष समितियां नियुक्त हों।

(6) ब्रिटिश भारत और भारतीय राज्यों के बीच आर्थिक संबंधों की जांच करने के लिए एक समिति नियुक्त की जाए।

(7) राजनीतिक अफसरों की भर्ती और शिक्षा का प्रबंध अलग से हो।

भारत में बटलर कमेटी की बहुत आलोचना की गई। मैसूर के भूतपूर्व दीवान सर एम. विश्वेश्वरैया ने कमेटी की आलोचना करते हुए लिखा है कि – भारतीय राज्यों की जनता के लिए भविष्य का कोई संकेत नहीं है। उनके प्रस्ताव सहानुभूतिहीन, अनैतिहासिक तो हैं हीं वैधानिक अथवा कानूनी भी शायद ही हों। उनकी दृष्टि में आधुनिक विचारों का अभाव है और उसमें निश्चित ही ऐसी चीजों की कमी है जो विश्वास अथवा आशा जगा सकती हों। दूसरी ओर सी.वाई. चिन्तामणि ने आलोचना करते हुए कहा – ''बटलर कमेटी अपने प्रादुर्भाव में बुरी थी, इसकी नियुक्ति का समय बुरा था। इसकी जांच पड़ताल की शर्तें बुरी थीं। इसमें कामकाज करने वाले लोग बुरे थे। इसका जांच का ढंग बुरा और इस रिर्पोट की शर्तें बुरी हैं और इसके निष्कर्ष बुरे हैं।

नेहरू रिपोर्ट में भी लिखा है कि बटलर कमेटी ने भारत में रियासतों को आयरलैंड के रूप में खड़ा करने की कोशिश की है। उस रिपोर्ट में यह भी चेतावनी दी गई कि रियासतों के लोग कभी भी वर्तमान स्थिति को नहीं मानेंगे और ब्रिटिश भारत के साथ मिलकर स्वतंत्रता के लिए लड़ेंगे।

समानता संघात्मक नीति (1935–1947)

लंदन में 1930–32 में आयोजित गोलमेज सम्मेलनों में भारतीय नरेशों को आमंत्रित किया गया। नरेशों ने एक अखिल भारतीय संघ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जिसमें भारतीय प्रांतों तथा भारतीय रियासतों को मिला देने की व्यवस्था की गई। 1935 के अधिनियम के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी। उक्त अधिनियम के अधीन भारतीय रियासतों को संघीय विधान मंडल में 375 में से 125 स्थान दिए गये

टिप्पणी

और राज्य विधानपरिषद् में 260 में से 104 स्थान दिए गए। इस अधिनियम में भारतीय रियासतों को संघ में शामिल होने के लिए अनेक सुविधाएं प्रदान की गई थीं। उन्हें संघ विधान सभा के लिए अपने प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार था। भारतीय संघ में ब्रिटिश सत्ता के अधीन सभी प्रांतों का मिलना आवश्यक था। परंतु रियासतों का उसमें सम्मिलित होना या न होना उनके शासकों की इच्छाओं पर निर्भर था अर्थात संघ की सदस्यता उनके लिए अनिवार्य नहीं थी। इसके अतिरिक्त प्रस्तावित संघीय सरकार का नियंत्रण ब्रिटिश प्रांतों पर एक समान था, परंतु भारतीय रियासतों के संबंध में उक्त नियंत्रण विभिन्न भारतीय रियासतों के संघ में सम्मिलित होते समय तथा सम्राट के द्वारा स्वीकृत होने पर विभिन्न शासकों के द्वारा की गई संधियों की शर्तो के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के होने की व्यवस्था थी।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय रियासतों को संघ में सम्मिलित किया जाना उनके अपने स्वार्थ पर आधारित था। रियासतों के संघ में शामिल होने से सरकार का पक्ष और अधिक शक्तिशाली हो जाता तथा रियासतों के नरेशों से अपनी इच्छानुसार कार्य करवाने में अंग्रेजों को कोई कठिनाई नहीं होती। 1935 के अधिनियम की संघीय व्यवस्था को मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अस्वीकृत कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने भी उसे जबर्दस्ती लागू करने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किए साथ ही द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ हो जाने के कारण सम्पूर्ण योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। युद्ध की अवधि में भारतीय रियासतों के संबंध में कुछ भी नहीं किया गया तथापि समय–समय पर उन्हें आश्वासन दिए जाते रहे कि उनकी इच्छा के विपरीत कांग्रेस के साथ किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया जाएगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत में अनेक तीव्र राजनीतिक घटनाएं हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस समय असहयोग की नीति अपनाए हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने इस गतिरोध को समाप्त करने के अनेक प्रयास किये। क्रिप्स प्रस्ताव 1942, बेवेल योजना, 1945, कैबिनेट मिशन योजना 1946 और अंत में 20 फरवरी 1947 को प्रधानमंत्री एटली की घोषणा इसी श्रृंखला की प्रमुख कड़ियां थीं। इन सभी प्रस्तावों में भारतीय रियासतों के भविष्य पर न्यूनाधिक विचार किया गया।

भारतीय रियासतों के लिए कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव में निम्नलिखित प्रावधान किये गए–

(1) ब्रिटिश भारत और रियासतों को मिलाकर भारतीय संघ का गठन किया जाएगा। संघ के पास विदेश, रक्षा व संचार विभाग होंगे।

(2) संघ की एक कार्यपालिका तथा विधायिका होगी। जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधि होगें।

(3) देश की संविधान सभा का गठन किया जाएगा जिसमें रियासतों के सदस्यों को पर्याप्त स्थान दिया जाएगा।

(4) संघ के अंतर्गत सभी विषयों तथा अधिकारों के अतिरिक्त शेष सभी विषय तथा अधिकार रियासतों के अधीन रहेंगे।

(5) देशी रियासतों को यह अधिकार दिया गया कि वे भारत की संघीय सरकार के साथ समझौता कर संबंध स्थापित करें या अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखें।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. अंग्रेजी सत्ता को भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने में किसका महत्वपूर्ण योगदान रहा?

(क) लॉर्ड हेस्टिंग्स (ख) लॉर्ड डलहौजी

(ग) लॉर्ड वेलेजली (घ) लॉर्ड कर्जन

4. बटलर की अध्यक्षता में 'इंडियन स्टेट कमेटी' का गठन कब किया गया था?

(क) दिसम्बर 1918 (ख) जनवरी 1919

(ग) फरवरी 1921 (घ) दिसम्बर 1927

1.4 विदेशी संबंधों को संचालित करने वाले सिद्धांत एवं नीतियां

साम्राज्य के विस्तार के पश्चात भारत की ब्रिटिश सरकार को उत्तर–पश्चिमी सीमा नीति पर ध्यान देना पड़ा। फ्रांस एवं रूस के आक्रमण के खतरे से अंग्रेज सशंकित थे। अंग्रेज सीमा पर ऐसा मित्र शासक चाहते थे जो किसी भी प्रकार के बाह्य आक्रमण में उनकी मदद करे। सीमा सुरक्षा के चलते ही अंग्रेजों को प्रथम अफगान युद्ध में न केवल उलझना पड़ा अपितु कई प्रकार की परेशानी का भी सामना करना पड़ा। द्वितीय अफगान युद्ध के पश्चात गंडमक की संधि से अवश्य कुछ लाभ मिला। लॉर्ड कर्जन अपने विदेश संबंधों के लिये जाना जाता है। उसने तिब्बत में यंग हसबैंड मिशन भेजा था। फारस की खाड़ी के मामले में भी कर्जन ने एक स्पष्ट नीति का सहारा लिया।

अफगान नीति : आंग्ल–अफगान संबंध

लॉर्ड वेलेजली (1798–1805 ई.) भारत में बंगाल का गवर्नर जनरल बना। यह वह समय था जबकि फ्रांस में नेपोलियन बोनापार्ट सत्तासीन था। फ्रांस के भारत पर आक्रमण के भय ने अंग्रेजों को अफगानिस्तान के प्रति रुचि पैदा की। भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर स्थित अफगानिस्तान सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण अंग्रेजों के फ्रांस से संबंध बिगड़ गए। अफगानिस्तान एवं भारत के ब्रिटिश साम्राज्य के मध्य पंजाब स्थित था। अतः गवर्नर जनरल मिंटो (1807–13 ई.) ने पंजाब के राजा रणजीत सिंह के साथ 25 अप्रैल, 1809 ई. में अमृतसर की संधि की।

1812 ई. के पश्चात यूरोप में नेपोलियन की स्थिति बिगड़ने लगी, अतः अंग्रेजों के मन से फ्रांस के भारत पर आक्रमण का भय समाप्त हो गया मगर अब अंग्रेजों में रूस के भारत पर आक्रमण का भय समा गया। इंग्लैंड रूस की बढ़ती हुई स्थिति से चिन्तित था। रसैल ने कहा था "If we do not stop Russia on the Danube, we shall have to stop him on Indus" अर्थात यदि हम डेन्यूब नदी पर रूस को नहीं रोकेंगे तो हमें उसे सिन्धु नदी पर रोकना पड़ेगा। रसैल का यह कथन सच निकला अब वह समय आ गया जबकि अंग्रेजों को रूस के खतरे का सामना करने के लिये अफगानिस्तान

टिप्पणी

में एक मित्र शासक रखने की आवश्यकता महसूस हुई। 19वीं सदी में ब्रिटेन एवं रूस की प्रतिद्वन्द्विता विश्व राजनीति का एक केंद्रीय तत्व था। ब्रिटेन की आभारभूत नीति रूस के विस्तार को बाल्कन, मध्य एशिया एवं सुदूर पूर्व में रोकना था। यही नीति आंग्ल–अफगान युद्ध का एक अप्रत्यक्ष कारण बनी।

अफगानिस्तान की स्थिति

अफगानिस्तान, भारत, ईरान और मध्य एशिया के बीच स्थित है। ईरान के बादशाह नादिरशाह की 1747 ई. में विद्रोही अफगानों द्वारा हत्या कर दी गई तत्पश्चात ही अफगानिस्तान एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। अफगानों के सदोजई कबीले ने अहमदशाह अब्दाली को अपना शासक चुना। उसने ही अफगान राज्य को शक्तिशाली बनाया। अब्दाली की 1773 ई. में मृत्यु हो गई। उसका राज्य भारत में सतलज नदी की सीमाएं स्पर्श करता था। उसने कंधार को अफगानिस्तान की राजधानी बनाया। अब्दाली के 8 पुत्र थे। उसने अपने द्वितीय पुत्र तैमूर मिर्जा को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। तैमूर मिर्जा ने काबुल को अपनी राजधानी बनाया। तैमूर की कमजोरी का लाभ उठाकर 1789 ई. में अमीर फतेह खां ने सिंध की स्वतंत्रता घोषित कर दी। 1793 ई. में तैमूर मिर्जा की मृत्यु हो गई। इस समय तक भारतीय क्षेत्र काश्मीर, लाहौर, पेशावर एवं मुल्तान पर उसका दावा बना रहा।

तैमूर मिर्जा के कई पुत्र थे जो विभिन्न प्रांतों के गवर्नर थे –

(1) कंधार में हुमायूं मिर्जा

(2) हेरात में महमूद मिर्जा

(3) पेशावर में अब्बास मिर्जा

(4) गजनी में शुजा

तैमूर की मृत्युपरांत उसका एक अन्य पुत्र जमान शाह 1793 ई. में शासक बना। वह एक कमजोर शासक था। 1799 ई. में उसने लाहौर पंजाब नरेश रणजीत सिंह को सौंप दिया। 1800 ई. में उसके भाई महमूद मिर्जा ने विद्रोह कर दिया। बरकजई आदि कबीलों की मदद से उसने जमान शाह को हटा कर सत्ता प्राप्त की। जमान शाह को अन्धा कर दिया गया और वह शरणार्थी बन कर भारत चला गया।

1802 ई. में तैमूर के एक अन्य पुत्र शाहशुजा ने महमूद मिर्जा को परास्त कर सत्ता प्राप्त कर ली। बरकजई कबीले के मुखिया फतेह खां ने जमान शाह के पुत्र को अमीर बनाने हेतु विद्रोह किया। शाहशुजा ने इस विद्रोह का दमन किया। फतेह खां के भाई दोस्त मुहम्मद ने भी शाहशुजा के खिलाफ विद्रोह किया। 1809 ई. में महमूद मिर्जा एवं फतेह खां ने गंडमक युद्ध में शाहशुजा को परास्त कर लाहौर भागने के लिए मजबूर किया। इस प्रकार महमूद मिर्जा एक बार पुनः काबुल का अमीर बन गया। इस बीच शाहशुजा काबुल का अमीर बनने के प्रयासों में लगा रहा। 1826 में दोस्त मुहम्मद काबुल का अमीर बना और आगामी 12 वर्ष (1826–1838) तक सफलतापूर्वक अफगानिस्तान की सत्ता संभाली।

रूस का मध्य एशिया में विस्तार

लिपजिग के युद्ध 1812 ई. में नेपोलियन की पराजय ने भारत के ब्रिटिश साम्राज्य को राहत प्रदान की। अब उनके मन से फ्रांस के भारत पर आक्रमण का भय समाप्त हो

गया। मगर अंग्रेजों की परेशानियां समाप्त नहीं हुईं, अब उन्हें रूस के भारत पर आक्रमण का भय सताने लगा। यह भय अकारण नहीं था, क्योंकि रूस इस समय बाल्कन, मध्य एशिया एवं सुदूर पूर्व में विस्तार की नीति अपना रहा था।

टिप्पणी

1841 ई. में रूस के जार एलेक्जेंडर प्रथम ने फारस के शाह पर आक्रमण किया। 1809 ई. की तेहरान संधि की वचनबद्धता के कारण इंग्लैंड ने फारस की मदद नहीं की। दूसरी ओर इंग्लैंड को यूरोप में फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहायता की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप 1813 ई. में फारस को रूस के साथ संधि हेतु बाध्य होना पड़ा एवं केस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेश रूस को प्राप्त हो गए।

नेपोलियन के पतन के उपरान्त 1814 ई. के पश्चात इंग्लैंड की नीति रूस के विस्तार को रोकने की हो गई। इंग्लैंड ने फारस को रूस के प्रभाव से मुक्त रखने के उद्देश्य से 1814 में फारस के साथ तेहरान की संधि की। इस संधि के तहत यह निश्चित किया गया कि रूस के फारस पर आक्रमण की स्थिति में इंग्लैंड या तो सैन्य मदद देगा या धन की व्यवस्था करेगा। फारस के शाह ने आश्वासन दिया कि वह अफगानों को भारत पर आक्रमण से रोकेगा।

1826 में रूस ने फारस पर आक्रमण किया। इंग्लैंड चाह कर भी मदद हेतु आगे न आ सका। उस समय रूस मैटरनिख की चतुर्मुखी संधि का सदस्य था और इंग्लैंड उससे टकराना नहीं चाहता था फलतः फारस का इंग्लैंड पर से विश्वास उठ गया। मजबूरीवश फारस को रूस के साथ 1828 में तुर्कमचाई संधि करने हेतु बाध्य होना पड़ा एवं इरीबान एवं तबरिज क्षेत्र रूस को देने पड़े।

इंग्लैंड, बाल्कन, अफगानिस्तान, इरान सहित मध्य एशिया में रूस का प्रसार रोकना चाहता था। रूस फारस को उकसा रहा था कि वह अफगानिस्तान पर कब्जा कर ले। अफगानिस्तान इस समय तीन भागों में विभाजित था–

(1) काबुल में दोस्त मुहम्मद (बरकजई कबीले) का शासन था।

(2) कंधार में उसके भाई कोहुनदिल खां का शासन था।

(3) हेरात में सदोजई कबीले के शाह कामरान का शासन था।

इन तीनों में एकता नहीं थी, अतः अंग्रेज अफगानिस्तान की इस दुर्बलता से चिंतित थे। अंग्रेजों ने लुधियाना में पेंशनर के रूप में रह रहे सदोजई कबीले के शाहशुजा को मदद दी। बरकजई एवं सदोजई कबीले एक–दूसरे के कट्टर शत्रु थे।

अफगानिस्तान के प्रति ब्रिटिश नीति (1828–1838 ई.)

रूस एवं फारस के मध्य 1828 में संपन्न तुर्कमंचाई की संधि ने इंग्लैंड की चिंताएं बढ़ा दीं। उन्हें अपना भारतीय साम्राज्य संकट में दिखाई देने लगा। भारत पर कोई भी आक्रमण दर्रो (खैबर दर्रा, कोहाद दर्रा या बोलन दर्रा) द्वारा हो सकता था, अतः अंग्रेजों ने इन दर्रों पर कब्जा जमा कर भारतीय सीमा की सुरक्षा के विषय में सोचा। इससे वैधानिक सीमा की अवधारणा अस्तित्व में आयी।

अंग्रेज अफगानिस्तान में मित्र शासक शाहशुजा को बिठाना चाहते थे। 1833–34 में पंजाब नरेश रणजीत सिंह की सहायता से शाहशुजा ने काबुल जीतने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने कई वर्षों की इकट्ठी पेंशन शाहशुजा को देकर उसकी मदद की।

दोस्त मुहम्मद ने शाहशुजा को परास्त कर भगा दिया। इससे अंग्रेजों की चिन्ता और बढ़ गई।

टिप्पणी

अफगानिस्तान के प्रति अंग्रेजों की नीति को लेकर ब्रिटेन में दो गुट थे–

(1) **अग्रगामी नीति** : इस नीति के समर्थक चाहते थे कि अफगानिस्तान पर आधिपत्य स्थापित किया जाए।

(2) **अकर्मण्यता की नीति** : अफगानिस्तान पर अधिकार न कर वहां मित्र शासक बिठाया जाए। अफगानिस्तान को भारत व रूस के मध्य बफर राज्य की तरह रखा जाए। रूस का सामना करने अफगानिस्तान के मित्र शासक को अस्त्र–शस्त्र व धन देकर मदद की जाए।

अग्रगामी नीति के प्रबल समर्थक लॉर्ड ऑकलैंड एवं लॉर्ड लिटन थे जबकि अकर्मण्यता की नीति के समर्थक लॉरेंस एवं नॉर्थब्रुक थे।

लॉर्ड ऑकलैंड ने अग्रगामी नीति अपनाई परिणामस्वरूप प्रथम आंग्ल–अफगान युद्ध हुआ।

प्रथम आंग्ल–अफगान युद्ध (1839–42 ई.)

1836 ई. में लॉर्ड ऑकलैंड गवर्नर जनरल बन कर भारत आया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री पार्मस्टन के मंत्रिमंडल में ऑकलैंड मंत्री रह चुका था। पार्मस्टन रूस का कट्टर विरोधी था, इसीलिये ऑकलैंड अफगानिस्तान के मामले में अग्रगामी नीति अपनाना चाहता था। इसी के चलते प्रथम आंग्ल–अफगान युद्ध हुआ।

कारण : 19वीं शताब्दी में रूस–इंग्लैंड की शत्रुता विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। युद्ध के नेपथ्य में यह एक प्रमुख कारण था।

1764 ई. में बक्सर के युद्ध द्वारा अंग्रेजों ने भारत में अपनी स्थिति तो मजबूत की, मगर उन्हें अफगान अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण का खतरा बना रहा। 1773 में अब्दाली की मृत्युपरान्त ही यह खतरा समाप्त हुआ। 1793 में जमान शाह अफगान शासक बना और वह भी भारत पर विजय का इच्छुक था। 1802 में शाहशुजा अफगान शासक बना। शाहशुजा को सफलता नहीं मिली उसे वहां से भगा दिया गया। 1826 में दोस्त मोहम्मद अफगान शासक बना।

दोस्त मोहम्मद सत्ता पाकर भी बेचैन था। 1834 में उसने शाहशुजा के आक्रमण को विफल किया। परंतु पेशावर पर सिक्खों का अधिकार हो गया। पश्चिम की ओर से रूस एवं फारस के संयुक्त आक्रमण का खतरा था। 1836 ई. में ऑकलैंड के गवर्नर बनने पर दोस्त मुहम्मद ने उसे बधाई संदेश भेजा एवं रणजीत सिंह व फारस के विरुद्ध सहायता मांगी। ऑकलैंड ने दूसरों के मामले में हस्तक्षेप करने से साफ इन्कार कर दिया। दोस्त मुहम्मद ने अब अंग्रेजों पर दबाव बनाने हेतु रूस के साथ मित्रता के प्रयास आरंभ किए।

1833 में फारस की गद्दी पर मुहम्मद मिर्जा बैठा। मिर्जा रूस का मित्र था। 1837 में फारस ने अफगानिस्तान के हेरात नगर पर आक्रमण कर दिया। इन परिस्थितियों में दोस्त मुहम्मद ने रूस से संधिवार्ता की। ब्रिटेन स्थित कंपनी के डायरेक्टरों की चिंता बढ़ गई और उन्होंने लॉर्ड ऑकलैंड को आदेश दिया कि वह किसी भी तरह अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप को रोके।

टिप्पणी

इस समय इंग्लैंड में मेलबोर्न का विहंग मंत्रिमंडल था, जिसका विदेश मंत्री पार्मस्टन था। उनका निर्देश था कि किसी भी कीमत पर अफगानिस्तान रूस के प्रभाव में न आ पाए।

वस्तुतः ब्रिटेन का यह काल्पनिक भय था कि रूस भारत पर अधिकार करेगा। रूस के लिये अफगानिस्तान के दुर्गम पठारों को पार करना और फिर पंजाब की प्रशिक्षित सेना को परास्त कर भारत पर आक्रमण करना कदापि आसान नहीं था। इतनी सी बात ब्रिटेन की समझ में नहीं आयी और उन्हें रूसी आक्रमण के भय का भूत सताने लगा।

ऑकलैंड के कार्य

अकारण भय के वशीभूत ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की सलाह पर ऑकलैंड ने अफगानिस्तान पर नियंत्रण का मन बना लिया। उसने यह तीन कार्य किए –

- फारस के शाह पर हेरात का घेरा उठाने का दबाब बनाने के लिये फारस की खाड़ी में ब्रिटिश सेना भेज कर द्वीप पर अधिकार कर लिया।
- ब्रिटिश इंजीनियर पोटिंजर को हेरात की सुरक्षा हेतु भेजा। पोटिंजर फकीर के वेश में हेरात गया एवं किले को शाह के आक्रमण से बचा लिया।
- सुरक्षा संधि पर वार्ता हेतु एलेक्जेण्डर बर्न्स को दोस्त मुहम्मद के पास काबुल भेजा।

दोस्त मुहम्मद की नीति

दोस्त मुहम्मद अंग्रेजों के अकारण भय को भांप गया था अतः उसने एलेक्जेंडर बर्न्स से कहा कि यदि वह रणजीत सिंह से पेशावर वापस दिला दे तो वह अंग्रेजों से संधि कर सकता है। बर्न्स ने ऑकलैंड से चर्चा की। ऑकलैंड का सोचना था कि रणजीत सिंह से अकारण बैर मोल लेना समझदारी नहीं है। दोस्त मुहम्मद ने एक नयी चाल चली उसने बर्न्स के पश्चात आये रूसी राजदूत का न केवल जिन्दादिली से स्वागत किया अपितु उसके साथ सुरक्षा वार्ता भी आरंभ की। अतः ऑकलैंड ने बर्न्स को वापस बुला लिया। अब उसके सामने दो विकल्प थे–

- अफगानिस्तान के मामले से ध्यान हटा कर सिन्धु नदी पर रक्षा पंक्ति बनाना।
- अफगानिस्तान की गद्दी पर मित्र शासक शाहशुजा को बिठाना। मेकनॉटन द्वितीय विकल्प के पक्ष में था। ऑकलैंड ने भी यही विकल्प चुना।

त्रिपक्षीय संधि 1838 ई.

शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर बिठाने के लिये अंग्रेजों की ओर से ऑकलैंड ने महाराजा रणजीत सिंह एवं शाहशुजा के साथ त्रिपक्षीय संधि संपन्न की। इस संधि की शर्तें निम्नानुसार थीं–

- अंग्रेज एवं रणजीत सिंह मिलकर शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर बिठाएंगे।
- शाहशुजा ने आश्वासन दिया कि वह इन दोनों सहयोगी शक्तियों की स्वीकृति के बिना किसी भी अन्य विदेशी शक्ति से संबंध नहीं रखेगा।
- शाहशुजा ने काबुल में अंग्रेज रेजीडेंट रखना स्वीकार किया।
- सिंध पर से शाहशुजा ने अपने समस्त अधिकार त्याग दिए।

टिप्पणी

- यह तय हुआ कि शाहशुजा प्रतिवर्ष रणजीत सिंह को दो लाख रुपये देगा एवं सिंध में रणजीत सिंह की विजय को स्वीकार करेगा।

इस संधि का प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश राजदूत की धमकी के कारण फारस के शाह ने हेरात का घेरा उठा लिया। रूस ने भी अपना राजदूत काबुल से वापस बुला लिया। अतः युद्ध की संभावना समाप्त हो गई।

युद्ध की घटनाएं

ऑकलैंड एवं पार्मस्टन अफगानिस्तान पर मित्र शासक का राज्य चाहते थे। उनका विचार था कि शाहशुजा को अमीर बना कर वहां सहायक संधि प्रथा लागू की जाए। अंग्रेज सेनापति फेन ने अफगानिस्तान की दुर्गम भौगोलिक स्थिति के कारण युद्ध का विरोध किया। एलफिन्सटन का भी मानना था कि शाहशुजा को गद्दी पर बिठाए रखना आसान नहीं है। वेलिंगटन का भी कहना था कि अफगानिस्तान आक्रमण अंग्रेजों के लिये कष्टदायक रहेगा। मगर युद्ध हेतु प्रतिबद्ध ऑकलैंड ने इनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

सतलज नदी के तट पर स्थित फिरोजपुर में सिंधु की सेना एकत्रित की गई। जनरल कीन को सेनापति नियुक्त किया गया। मेकनॉटन को राजनीतिक परामर्शदाता नियुक्त किया गया।

रणजीत सिंह द्वारा उनके राज्य से गुजरकर इस सेना को अफगानिस्तान पर आक्रमण की अनुमति नहीं दी गई अतः इस सेना को पंजाब राज्य के नीचे स्थित वोलन दर्रे द्वारा भेजा गया। सिक्ख सेना को खैबर दर्रे द्वारा जाना था। 1839 ई. में अंग्रेजों ने कांधार पर कब्जा कर लिया। गजनी का भी जुलाई में विनाश कर दिया गया। 3 अगस्त, 1839 को काबुल पर भी कब्जा कर लिया गया। दोस्त अली काबुल छोड़ कर भाग गया। 7 अगस्त को शाहशुजा ने काबुल में प्रवेश किया। दोस्त मुहम्मद ने नवंबर में आत्मसमर्पण कर दिया एवं उसे बंदी बना कर कलकत्ता भेज दिया गया। प्रथम चरण में ऑकलैंड को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

ऑकलैंड की परेशानियां

ऑकलैंड द्वारा अफगानिस्तान की विजय एक बाहरी दिखावा मात्र थी। इस विजय को स्थायित्व प्राप्त नहीं था। ऑकलैंड के समक्ष कतिपय जटिल स्थितियां निम्नवत थीं–

- शाहशुजा को अंग्रेजों एवं सिक्खों ने मिल कर शासक बनाया था। यह स्वतंत्रता प्रिय अफगानों को रास न आई। शाहशुजा अफगानों के बीच लोकप्रिय नहीं था।
- ऑकलैंड को शाहशुजा की रक्षार्थ 10,000 की सैन्य शक्ति वाली ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान में रखनी पड़ी। इससे व्यय बढ़ा। इस व्यय की भरपाई हेतु ऑकलैंड ने कबीलों को धन देना बंद कर दिया। ये कबीले भारत और काबुल के मध्य सुरक्षित मार्ग की व्यवस्था करते थे। इससे कबीले असंतुष्ट हो गए, मार्ग की सुरक्षा समाप्त हो गई। इसका खामियाजा कालांतर में अंग्रेजों को भुगतना पड़ा।
- ऑकलैंड ने काबुल की सेना का नया सेनापति एलफिंस्टन को नियुक्त किया जो वृद्ध एवं अक्षम था, इससे वहां की व्यवस्था संभालने में परेशानी स्वाभाविक थी।

टिप्पणी

युद्ध का पुनः आरंभ

अफगान हारे अवश्य थे मगर, झुके नहीं थे, वे युद्ध के पुनः आरंभ हेतु प्रयासरत थे। अंग्रेज सैनिकों के दुर्व्यव्हार से अफगानों का क्रोध बढ़ता जा रहा था। इसी बीच मेकनॉटन को बम्बई का गवर्नर बनाया गया एवं बर्न्स को काबुल का रेजीडेंट नियुक्त किया गया। इसी बीच अंग्रेजों के लिये एक दुःखद घटना सामने आयी, उनके सहयोगी रणजीत सिंह का 27 जून 1739 को देहांत हो गया। यह एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था, जो अंग्रेजों को विषम परिस्थितियों में बचा सकता था।

अफगानों के क्रोध का शिकार बर्न्स हुआ। 2 नवंबर, 1741 को अफगानों ने बर्न्स को टुकड़े–टुकड़े कर काट डाला। बर्न्स के भाई चार्ल्स एवं लेफ्टिनेंट ब्रॉडफुट की भी हत्या कर दी। सेनापति एलफिन्स्टन ने तुरंत कार्यवाही न कर कांधार से जनरल नॉट एवं जलालाबाद से जनरल सेल के आने की प्रतीक्षा की। अत्यधिक सर्दी एवं अरक्षित मार्गों के कारण ये दोनों काबुल न आ सके। इससे विद्रोही अफगानों का साहस अत्यधिक बढ़ गया। दोस्त मुहम्मद के पुत्र अकबर खां ने तुर्किस्तान से काबुल आकर अफगान विद्रोहियों का नेतृत्व संभाला।

11 दिसम्बर 1841 को मेकनॉटन को अकबर खां के साथ अपमानजनक संधि करने पर बाध्य होना पड़ा। इस संधि की शर्तें निम्न थीं –

1. अंग्रेज काबुल खाली कर देंगे।
2. कलकत्ता में बंदी दोस्त मुहम्मद को अफगान वापस भेजा जाएगा।
3. शाहशुजा अंग्रेजों की पेंशन पर वापस भारत चला जाएगा।

इसी दौरान कुछ ऐसी परिस्थितियां बनीं कि अफगानों को मेकनॉटन पर विश्वासघात का संदेह हो गया अतः उन्होंने मेकनॉटन को भी मार डाला। इन अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में वश्द्ध सेनापति एलफिंस्टन ने अकबर खां को सारी बंदूकें एवं गोदाम सौंप दिए और बदले में अकबर खां ने उसे सुरक्षित जलालाबाद पहुंचाने का आश्वासन दिया मगर यह आश्वासन पूरा नहीं किया। वापस लौटती 1600 की अंग्रेज सेना पर अफगानों ने पहाड़ों पर से गोलियां चलाईं, इससे प्रायः सभी सैनिक मारे गए। केरल का एक डॉक्टर ब्राइडन छुपता हुआ बड़ी मुश्किल से जलालाबाद पहुंच पाया।

अफगान प्रतिरोध बड़ा ही जबरदस्त था। जनरल नॉट ने कांधार एवं सेल ने जलालाबाद में बड़ी मुश्किल से अपनी–अपनी रक्षा की। अफगानों द्वारा अंग्रेजों के नरसंहार के लिये अकबर खां एवं अफगानों को दोषी ठहराया गया। वस्तुतः समझौते के अनुसार काबुल के साथ–साथ कंधार एवं जलालाबाद से भी अंग्रेज सेनाओं को वापस जाना था मगर जब कंधार एवं जलालाबाद से सेनाएं वापस नहीं गईं तो अफगानों ने इसे अंग्रेजों का विश्वासघात माना। इसी विश्वासघात का बदला अफगानों ने अंग्रेजों का नरसंहार करके लिया।

ऑकलैंड की वापसी

लॉर्ड ऑकलैंड एवं उसकी अफगान नीति की यह शर्मनाक असफलता थी। ऑकलैंड इस दुर्दशा को देख कर स्तब्ध रह गया। स्थिति पर नियंत्रण लाने के उद्देश्य से उसने दो कार्य किए–

1. कंधार में जनरल नॉट की सहायतार्थ ब्रिगेडियर इंग्लैंड को भेजा।
2. जलालाबाद में जनरल सेल की सहायतार्थ जनरल पोलक को भेजा।

टिप्पणी

ऑकलैंड द्वारा अपनी इज्जत बचाने के यह प्रयास निरर्थक साबित हुए। इंग्लैंड में ऑकलैंड को वापस बुलाने की मांग जोर पकड़ रही थी। गृह सरकार को ऑकलैंड को वापस बुलाना पड़ा। उसके स्थान पर 28 फरवरी 1842 को लॉर्ड एलनबरो ने पदभार ग्रहण किया।

एलनबरो की अफगान नीति

एलनबरो (1842–44) ने पदभार संभालने के उपरान्त अपनी अफगान नीति के दो उद्देश्य निश्चित किए –

1. अंग्रेज सेनाओं को अफगानिस्तान से सुरक्षित निकाला जाना।
2. इंग्लैंड की प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना हेतु अफगानों को दंडित करना।

12 मार्च, 1842 को एलनबरो ने घोषणा की, कि अंग्रेज जून 1838 की, त्रिदलीय संधि (Tri partite) का समर्थन नहीं करेंगे एवं अफगानों को उनकी ज्यादती का सबक सिखाएंगे। उधर अफगानिस्तान की परिस्थितियां अंग्रेजों के विपरीत थीं। 5 अप्रैल, 1842 को अफगानों ने शाहशुजा की हत्या कर दी। कंधार में जनरल नॉट की सहायतार्थ भेजा गया जनरल इंग्लैंड परास्त हो गया। जनरल पामर को बाध्य होकर गजनी का समर्पण करना पड़ा। इन परिस्थितियों में एलनबरो ने अंग्रेजों को अफगानिस्तान से वापस आने की आज्ञा दी। जनरल नॉट एवं जनरल पोलक ने आज्ञापालन में रुचि नहीं ली। वे अफगानिस्तान में ही रहे। अगस्त 1842 में पोलक ने दो युद्धों में अफगानों को परास्त कर दिया। सितंबर में काबुल पहुंच कर पोलक ने काला हिसार में यूनियन जैक फहराया। उधर जनरल नॉट ने गजनी पर विजय प्राप्त कर उसका पूर्ण विनाश कर दिया। वह भी सितंबर में काबुल पहुंचकर पोलक से मिल गया।

नॉट गजनी से महमूद गजनबी के मकबरे के फाटक उखाड़ लाया, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्हें गजनबी सोमनाथ मंदिर से ले गया था। पोलक एवं नॉट दोनों ने मिलकर काबुल के बाजार को बारूद से उड़ा दिया एवं नगर को निर्दयतापूर्वक लूटा।

इस प्रकार अंग्रेजी प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना कर दोनों सेनापति भारत आये। एलनबरो का उद्देश्य सफल हुआ। उसने दोनों सेनापतियों का भव्य स्वागत किया। दोस्त मुहम्मद को मुक्त कर दिया गया जो काबुल पहुंच कर अमीर बन गया। एलनबरो ने घोषणा की कि वह अफगानिस्तान में ऐसी सरकार को मान्यता देगा जो पड़ोसी देशों से अच्छे संबंध रखे। बाद में जब मालूम चला कि गजनी से लाये गए फाटक सोमनाथ के नहीं थे तो उन्हें आगरा गोदाम में रख दिया गया।

ऑकलैंड की अफगान नीति की आलोचनात्मक समीक्षा

जे.जे.एम. इन्नस का मानना था कि 'भारत के ब्रिटिश इतिहास में यह अफगान युद्ध सबसे भयंकर भूल थी।' इन्नस के साथ–साथ के. विन्सेंट स्मिथ इत्यादि कई इतिहासकारों ने ऑकलैंड की नीति की कटु आलोचना की है। ऑकलैंड की अफगान नीति की आलोचना के प्रमुख बिंदु निम्न हैं –

- **रूसी खतरे का अनावश्यक भय** : रूस भारतीय सीमा से लगभग एक हजार मील की दूरी पर था। दुर्गम भौगोलिक स्थिति के कारण रूस भारत पर आक्रमण कर खतरा मोल नहीं लेता और यदि लेता भी तो उसे रणजीत सिंह से पहले युद्ध करना पड़ता। जब शाह ने हेरात का घेरा उठा लिया था और रूसी राजदूत

भी वापस चला गया था तो रूसी आक्रमण के खतरे की कोई संभावना नहीं थी। वस्तुतः ऑकलैंड का रूसी खतरे के भय के मद्देनजर अफगान आक्रमण एक नादानी थी।

टिप्पणी

- **अनैतिकता** : दोस्त मोहम्मद एक स्वतंत्र शासक था एवं उसे अधिकार था कि वह किसी भी पड़ोसी से संबंध रखे अतः एक स्वतंत्र शासक के मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप कर ऑकलैंड ने अनैतिकता का परिचय दिया।
- **राजनीतिक दृष्टि से गलत** : दोस्त मुहम्मद अफगानों के बीच लोकप्रिय था एवं उसका शासन सुव्यवस्थित था। वह स्वयं अंग्रेजों का मित्र था एवं रूसी विस्तार से भयभीत भी। इसके बावजूद भी अफगानों के बीच अलोकप्रिय शाहशुजा को अफगान गद्दी पर जबरदस्ती थोपना राजनीतिक दृष्टि से गलत था।
- **जानमाल की हानि** : अफगान युद्ध में 20,000 व्यक्तियों की जान गयी एवं 150 लाख स्टर्लिंग का व्यय हुआ। इस जान–माल की हानि के पश्चात भी परिणाम कुछ न निकला। दोस्त मोहम्मद पुनः अफगान अमीर बन गया।
- **मुस्लिमों की नाराजी** : गजनी के मकबरे से फाटक इसलिये लाये गए थे कि हिंदु खुश हों। जब यह साबित हो गया कि ये फाटक सोमनाथ मंदिर के नहीं थे, तब इससे हिंदू तो खुश नहीं हुये उलटे मुसलमान नाराज अवश्य हो गए।
- **अंग्रेज अपराजेयता का मिथक समाप्त** : अफगान युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि इससे यह मिथक टूट गया कि अंग्रेज अपराजेय हैं। अंग्रेजों का अफगानियों ने पूर्ण विनाश कर दिया इससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी।
- **बुंदेला विद्रोह** : चूंकि अंग्रेजों की एक बड़ी सेना अफगानिस्तान में परेशानी में जूझ रही थी इस मौके का फायदा बुन्देलखण्ड के बुंदेला विद्रोहियों ने उठाया। 1842 में सागर, नरसिंहपुर एवं जैतपुर में अत्यधिक तीव्र बुंदेला विद्रोह हो गया। इसे अंग्रेज बड़ी मुश्किल से दबा पाये।

उक्त कारणों के चलते वैटिक, एलफिन्स्टन एवं वेलेजली आदि ने ऑकलैंड की अफगान नीति को अनुचित बताया। मेरियट महोदय ने ऑकलैंड की नीति के बारे में कहा कि 'यह नीति मूर्खता, अज्ञान एवं अहंकार का सम्मिश्रण थी'।

ऑकलैंड चूंकि असफल हुआ इसलिये उसकी आलोचना हुई। यदि वह सफल होता तो ये तीखी प्रतिक्रियाएं न आतीं। वस्तुतः ऑकलैंड ने अफगानिस्तान पर आधिपत्य भारतीय सुरक्षा के लिये आवश्यक माना। उसने निम्न मूलभूत गलतियां कीं, जिनके कारण वह असफल हुआ–

- शाहशुजा की सुरक्षा के लिये अंग्रेज सेना रखने से अफगानों को संदेह हो गया कि वे शाहशुजा की आड़ में अफगानिस्तान पर कब्जा करना चाहते हैं।
- इतनी दुर्गम एवं संवेदनशील जगह पर बुजुर्ग एलफिंस्टन के स्थान पर किसी युवा सेनापति को अफगानिस्तान भेजना उचित था।
- कबीलाई मुखियाओं को मार्ग सुरक्षा बाबत धन देना बंद करना एक बड़ी भूल थी, जिसका नकारात्मक परिणाम भुगतना पड़ा।

टिप्पणी

प्रथम आंग्ल–अफगान युद्ध में अंग्रेजों को लाभ तो कुछ न मिला परंतु उनके 20,000 व्यक्ति मारे गए एवं एक करोड़ पचास लाख रुपये की क्षति हुई। विश्व इतिहास में यह एक घोर असफलता थी। अफगानों ने अंग्रेजों के साथ जैसे को तैसा की नीति अपनाई।

प्रथम एवं द्वितीय युद्ध के बीच आंग्ल–अफगान संबंध

लॉर्ड लॉरेंस 1864 ई. से 1869 ई. तक भारत का गवर्नर जनरल रहा। उसने 'कुशल तटस्थता' की नीति अपनाई। उसने अफगान मामलों में तटस्थता की नीति अपनाई। 1863 ई. में दोस्त मुहम्मद की मृत्युपरांत उसके 16 पुत्रों में हुए उत्तराधिकार युद्धों में वह तटस्थ रहा। जिस समय जो शासक बना उसे स्वीकार किया गया। 1864 में शेर अली, 1866 में अफजल खां, 1867 में आजिम खां, एवं 1868 में पुनः शेर अली को अफगान अमीर स्वीकार किया। शेर अली की सत्ता अफगानिस्तान में स्थापित होने के पश्चात लॉर्ड लॉरेंस ने उसे 60,000 पौंड की धनराशि एवं 3,500 हथियार भेंट स्वरूप दिए। इस तरह लॉरेंस ने सावधानीपूर्वक एक अल्पव्ययी नीति अपनाई। 1869 से 1872 के मध्य लॉर्ड मेयो ने भी लॉरेंस की नीति का ही अनुसरण किया। शेर अली ने मेयो से अम्बाला में भेंट की एवं रूसी आक्रमण के खतरे के विरुद्ध अफगानिस्तान की रक्षा का आश्वासन मांगा। मेयो ने उससे कोई निश्चित संधि न कर मात्र सदभावना एवं सहायता का आश्वासन दिया। मेयो के पश्चात लॉर्ड नार्थब्रुक (1872–76) गवर्नर जनरल बना। उसके समय शेर अली ने अपना एक प्रतिनिधि उससे भेंट करने शिमला भेजा और रूस के विरुद्ध पूर्ण सहायता का आश्वासन मांगा। पुख्ता आश्वासन न मिलने पर शेर अली ने रूस से अच्छे संबंध बनाने के प्रयास किए। एक रूसी प्रतिनिधि का काबुल में स्वागत किया।

1874 में लॉर्ड डिजरैली, लॉर्ड ग्लैडस्ट के स्थान पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री बना। वह अग्रगामी एवं साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। उसने नार्थब्रुक को कहा कि वह अफगानिस्तान में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखने की मांग करे। नार्थब्रुक ने ऐसा न कर त्यागपत्र दे दिया। अब लॉर्ड लिटन (1876–1880) भारत का गवर्नर जनरल बना जो कि अग्रगामी नीति का पोषक था। परिणामतः द्वितीय आंग्ल–अफगान युद्ध हुआ।

द्वितीय आंग्ल–अफगान युद्ध (1878–1880 ई.)

प्रथम युद्ध की भांति इस युद्ध का मूल कारण भी रूस का खतरा ही था। पूर्वी समस्या को लेकर ब्रिटेन एवं रूस के स्वार्थ टकरा रहे थे। यूरोप के बीमार (Sickman of Europe) टर्की को छिन्न–भिन्न कर, रूस साम्राज्य विस्तार चाहता था। इंग्लैंड टर्की की सुरक्षा हेतु तत्पर था। जब इंग्लैंड ने टर्की की ओर रूस की प्रगति बाधित की तो उसने अफगाानिस्तान की ओर बढ़ना आरंभ किया। रूस ने 1868 में ताशकंद बुखारा जीतकर 'रूसी ताशकंद' की स्थापना की।

अफगान अमीर शेरअली ने चिन्तित हो क्रमशः लॉरेन्स, मेयो एवं नार्थब्रुक से संधि वार्ता की। ये कुशल–कार्यहीनता की नीति पर चल रहे थे अतः इन्होंने तटस्थता की नीति अपनाई। अंग्रेजों पर दबाव डालने शेर अली ने रूसी ताशकंद के गवर्नर जनरल काफमैन से पत्र व्यवहार किया। अंग्रेज सशंकित हो गए।

इसी समय इंग्लैंड में अग्रगामी नीति का पोषक डिजरैली प्रधानमंत्री बना। उसने अफगान अमीर से स्थायी संधि हेतु लॉर्ड लिटन (1876–80) को भारत भेजा। लिटन

टिप्पणी

एवं भारत सचिव लॉर्ड सैल्सबरी ने काबुल में एक अंग्रेज राजदूत रखने हेतु अफगान पर दबाब डाला। अमीर इसके लिये तैयार न था। लिटन ने कहा – A Tool in the hands of Russia, I will never allow him to become such a tool. It would be my duty to break before it could be used. 'वह अमीर को रूस के हाथ की कठपुतली (औजार) नहीं बनने देगा। यदि वह रूस का औजार बनेगा तो यह उसका कर्तव्य होगा कि वह औजार को ही नष्ट कर दे।'

अपने वक्तव्य के अनुरूप लिटन ने अफगानिस्तान के सीमावर्ती इलाकों में अपना प्रभाव स्थापित किया। इसी बीच यूरोप में रूस ने टर्की को परास्त कर उसे 3 मार्च 1878 के सेन स्टीफनो की अपमानजनक संधि करने के लिए विवश किया। इंग्लैंड ने इस संधि को समाप्त करने हेतु 13 जून–13 जुलाई 1878 को बर्लिन सम्मेलन आयोजित कराया। एफ.वी. वेन्स ने कहा है कि सेन स्टीफनो में जो प्रतिष्ठा रूस को मिली उसे बर्लिन सम्मेलन ने धो दिया। अब रूस ने अपने राजदूत स्टोलेटोफ को काबुल भेजा और अमीर को आश्वासन दिलाया कि रूस विदेशी आक्रमणों से अफगानिस्तान की रक्षा करेगा।

रूसी राजदूत के काबुल पहुंचने से लिटन तिलमिला गया। उसने चेम्बरलेन को काबुल में अंग्रेज राजदूत नियुक्त किया। बर्लिन की संधि पश्चात रूस ने अपना राजदूत वापस बुला लिया। मगर लिटन ने चेम्बरलेन को वापस नहीं बुलाया। 2 नवंबर 1878 को लिटन ने अमीर से कहा कि वह 20 नवंबर 1878 तक काबुल में अंग्रेज राजदूत को रखने की स्वीकृति दे। स्वीकृति न मिलने पर 21 नवंबर 1878 को लिटन ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध – युद्ध की घोषणा के साथ ही ब्रिटिश सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया –

1. खैबर दर्रे से सर सेमुअल ब्रॉउन ने
2. खुर्रम घाटी से मेजर जनरल रॉबर्टसन ने
3. बोलन दर्रे से जनरल स्टुअर्ट ने।

अफगानिस्तान भला इनका क्या प्रतिरोध करता, कन्धार पर आसानी से अधिकार हो गया। शेर अली तुर्किस्तान भाग गया जहां 1879 में उसकी मृत्यु हो गई।

गंडमक संधि– शेर अली के पुत्र याकूब खां ने अंग्रेजों के साथ 26 मई 1879 को गंडमक (Gandmak) संधि की। इस संधि के अनुसार –

1. याकूब खां को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार किया गया।
2. काबुल में अंग्रेज राजदूत रखना स्वीकार किया गया।
3. अमीर ने विदेश नीति का संचालन अंग्रेजों की सलाह से करना स्वीकार किया।
4. अंग्रेजों ने अमीर को विदेशी आक्रमण से सुरक्षा का आश्वासन दिया एवं उसकी सहायता हेतु उसे प्रति वर्ष 6 लाख रुपया देने का आश्वासन दिया।
5. खैबर एवं मिशनी दर्रे अंग्रेजों को मिले। पिशीन तथा सीबी जिले भी अंग्रेजों को प्राप्त हुए।

इस संधि के तहत कवागनरी ब्रिटिश राजदूत नियुक्त हुआ। पूर्व की भांति असंतुष्ट अफगानों ने 3 सितम्बर 1879 को उसे मार डाला। अंग्रेजों ने तुरंत स्थिति पर

टिप्पणी

नियंत्रण कर काबुल–कंधार पर अधिकार कर लिया। याकूब खां ने अंग्रेजों के पास शरण ली। अफगानों ने उसके पुत्र मुहम्मद जान को अमीर बना दिया। अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद के बड़े पुत्र अफजल खां के पुत्र अब्दुल रहमान से संधि कर उसे अफगान अमीर बना दिया।

अंग्रेजों को लाभ (Benefits to British)

1. अफगानिस्तान में अंग्रेजों का मित्र अमीर शासक बन गया।
2. कोलार की खान अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गई।
3. क्वेटा पर अधिकार हो जाने से बोलन दर्रा भी अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया।

इस प्रकार आंग्ल–अफगान संबंधों को विराम मिला। 1885 में एक बार पुनः रूस ने पंजदेह पर अधिकार कर समस्या उत्पन्न की। 1895 एवं 1907 में ब्रिटेन–रूस समझौतों द्वारा अब भारत पर रूसी आक्रमण का खतरा समाप्त हो गया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तृतीय आंग्ल–अफगान युद्ध की नौबत आई। जर्मनी द्वारा भड़काये जाने पर अफगान अमीर हबीबुल्ला ने भारत की सीमा पर असफल आक्रमण किया। 1921 में अंग्रेजों ने पुनः अफगानिस्तान के साथ संधि कर पूर्ववत मित्रता स्थापित कर ली। इसके बाद कभी भी अफगानिस्तान की ओर से कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई।

पर्शिया एवं पर्शियन गल्फ नीति

17वीं शताब्दी से अंग्रेजों की विशेष रुचि फारस की खाड़ी में जागृत हुई। इस समय तक फारस की खाड़ी में अंग्रेजों ने महत्वपूर्ण क्षेत्र जीत लिये थे। अरब तट पर स्थित विभिन्न सरदारों के मध्य के झगड़ों की मध्यस्थता खाड़ी स्थित अंग्रेज रेजीडेंट करते थे। अंग्रेज चाहते थे कि फारस की खाड़ी क्षेत्र में और कोई शक्ति हस्तक्षेप न करे। अफगानिस्तान के मामले में भी अंग्रेजों ने फारस के शाह का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं किया था। फारस की खाड़ी में अंग्रेजों को रूसी हस्तक्षेप का भय था। 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में रूस दक्षिण की ओर फारस की खाड़ी में कोई बंदरगाह प्राप्त करना चाहता था। अंग्रेजों का एक अन्य प्रतिद्वंद्वी फ्रांस भी फारस की खाड़ी में अपने जहाजों के लिए कोयला स्टेशन प्राप्त करना चाहता था। उधर जर्मनी भी बर्लिन से बगदाद तक रेलवे लाइन डालने की योजना बना रहा था। तुर्की कुवैत पर पुनः अधिकार करना चाहता था।

फ्रांस के मस्यू डेलोंकल ने 1892 में सदन के भाषण में कहा था कि – 'इंग्लैंड द्वारा अकेले ही फारस की खाड़ी में शांति बनाये रखने के दावे को एवं वहां के अमीरों के मध्य के झगड़ों के बीच मध्यस्थता करने के अधिकार को हम स्वीकार नहीं करते।'

मस्कट से 5 मील दूरी पर बंदर जिस्साह नामक स्थान था। 1898 ई. में मस्कट स्थित फ्रांसीसी कौंसिल ने ओमान के सुल्तान से कोयला स्टेशन के रूप में बंदर जिस्साह प्राप्त कर लिया।

यह बात भला अंग्रेजों को कैसे बर्दाश्त हो सकती थी? कर्जन ने एक युद्ध पोत भेज कर ओमान के सुल्तान को धमकी दी कि वह फ्रांस को प्रदत्त रियायतें वापस ले। अंग्रेजों ने रूस, जर्मनी एवं तुर्की द्वारा फारस की खाड़ी में सुविधा प्राप्त करने के सभी प्रयत्नों को विफल कर दिया। इस तारतम्य में विदेश सचिव लॉर्ड लैंसडाउन ने 5 मई 1903 को लॉर्ड्स सभा में कहा था कि हम किसी और शक्ति को फारस की खाड़ी में

टिप्पणी

न तो कोई सैनिक अड्डा स्थापित करने देंगे और न ही किलेबंदी करने का स्थान प्राप्त करने देंगे। हम पूरी शक्ति लगाकर इसका विरोध करेंगे। नवंबर–दिसंबर 1903 में कर्जन स्वयं जलपोतों के साथ फारस की खाड़ी पहुंचा और कहा कि – 'यदि फारस की खाड़ी में रूस को कोई भी अड्डा दिया गया तो हम इसे अपना अपमान मानेंगे। यदि कोई विदेश मंत्री इस रियायत से सहमत होगा तो हम उसे देशद्रोही मानेंगे।'

सीसतान के मामले में फारस एवं अफगानिस्तान के बीच झगड़ा चल रहा था। 1857 में एक संधि हुई थी उसके अनुसार फारस एवं अफगानिस्तान ने स्वीकार किया था कि वे आपसी झगड़े अंग्रेजों की सहायता से सुलझाएंगे। 20वीं सदी के आरंभ में अब सीसतान को लेकर इनके मध्य झगड़ा हुआ तो रूस इसमें मध्यस्थता कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता था। शीघ्र ही कर्जन ने हेनरी मैकमोहन को भेजा जिसने फारस एवं अफगानिस्तान के बीच मध्यस्थता कर दोनों दलों के मध्य मामले का संतोषजनक समाधान करा दिया। इस प्रकार रूसी हस्तक्षेप की आशंका समाप्त कर दी।

इस तरह अंग्रेजों ने जहां फारस पर अपना वर्चस्व स्थापित किया वहीं फारस की खाड़ी में अन्य देशों के वर्चस्व की संभावनाओं को भी समाप्त कर दिया।

उत्तर पश्चिम सीमानीति

अफगानिस्तान एवं सिंध नदी का बंजर प्रदेश जो उत्तर में पामीर के पठार से अरब सागर के तट तक फैला है वह भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा कहलाता है। यह सीमा लगभग 1200 मील लंबी है। यह बाह्य आक्रांताओं के लिये मात्र 5 दर्रों को छोड़कर अभेद्य है। ये पांच दर्रे – खैबर, कुर्रम, टोची, गोमल, एवं बोलान हैं। अत्यधिक सर्दी के कारण यहां के लोगों का जीवन कठिन था। ये कट्टर मुसलमान थे। ये थोड़ा बहुत व्यापार करते थे अन्यथा सीमावर्ती क्षेत्रों में लूटमार पर आश्रित थे।

सीमा समस्या का स्वरूप

मौर्यकाल से ही यह उत्तर–पश्चिमी सीमा आंतरिक सुरक्षा के लिये समस्या बनी रही। यहां विभिन्न कबीले एवं जनजातियां निवासरत थीं। इनके मध्य परस्पर बैर एवं वैमनस्य चलता रहता था। यहां बलोच एवं पठान जातियां रहती थीं। पंजाब एवं सिंध के ब्रिटिश साम्राज्य में विलय के पश्चात अंग्रेजों की सीमा इनसे जा मिली।

रूस के अफगानिस्तान पर वर्चस्व के भय ने लॉर्ड लिटन, लेन्सडाउन, एवं कर्जन को इस क्षेत्र में सामरिक महत्व की सड़कें, एवं रेलवे लाइन डालने हेतु प्रेरित किया।

आरंभिक उत्तर पश्चिम सीमानीति

सिंध विलय के पश्चात चार्ल्स नेपियर ने सिंध की 150 मील लम्बी सीमा पर बसे बुग्ती, डोम्बली, जकरानी और बलोची कबाइलियों से रक्षार्थ स्थान–स्थान पर दुर्ग बनाए और वहां सेना तैनात की। यही नहीं यहां के निवासियों को उनकी रक्षा हेतु हथियार भी दिए। नेपियर की यह नीति कारगार सिद्ध नहीं हुई क्योंकि ये सीमावासी स्वयं इन लुटेरों से मिल कर लूटपाट करने लगे।

नेपियर के उत्तराधिकारी जेकब ने दुर्ग तोड़ दिए एवं सीमावासियों से हथियार वापस ले लिये। कबाइलियों को नियंत्रित करने हेतु अनियमित घुड़सवारों की दो

टिप्पणी

रेजीमेंट तैयार कीं। चौकसी में सुविधा हेतु सड़कें एवं नहरें बनवाईं। कालात खान को सभी बलोची कबीलों का सरदार स्वीकार कर लिया। यह व्यवस्था काफी हद तक सफल रही।

सिंध की तुलना में पंजाब की सीमा की समस्या जटिल थी। सीमा पहाड़ीदार एवं लम्बी थी। डिप्टी कमिश्नरों ने कबाइलियों को बताया कि सरकार हर हाल में शांति चाहती है। सीमा पार के आक्रमणों को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। इससे 25 वर्ष तक शांति रही। यह शांति उस समय नष्ट हुई जबकि इन कबाइलियों को सभ्य बनाने की चेष्टा की गई। कबाइली प्रदेशों में अस्पताल खोले गए। कृषि योग्य भूमि शांतिप्रिय कबाइली लोगों को दी गई। सेना एवं पुलिस में इन्हें नियुक्ति के अवसर दिए गए। सीमा पर व्यापार मेले आयोजित किए गए। उपद्रवी एवं दोषी कबाइलियों को कठोर दंड दिए गए। उनके खिलाफ बधिक एवं वज्र की नीति (Policy of butcher - bolt) अपनाई गई। इस नीति के तहत उपद्रवियों की फसलें नष्ट कर दी जाती थीं, गांव जला दिए जाते थे, लूटे माल के एवज में सामूहिक जुर्माने वसूले जाते थे। यह जैसे को तैसा की नीति कारगार सिद्ध नहीं हुई। कबाइली, उपद्रव करते ही रहे।

1876 में लॉर्ड लिटन ने उत्तर–पश्चिमी सीमा की रक्षार्थ अग्रगामी नीति अपनाई। गवर्नर जनरल के एजेंट के रूप में बलोचिस्तान में मेजर संडेमन (Major Sandeman) को नियुक्त किया गया। 1876 में कालात खान से क्वेटा प्राप्त कर लिया गया। हजारा, कोहार एवं पेशावर को पेशावर की कमिश्नरी के रूप में संगठित किया गया। 1876 में ही बन्नू, डेरा इस्माइल खां एवं डेरा गाजी खां – इन तीन जिलों की एक कमिश्नरी बनाई गई। 1877 में बलोचिस्तान को भी एक पोलिटिकल एजेंसी के रूप में गठित किया गया।

लिटन के पश्चात आये गवर्नर जनरल लॉर्ड लेंसडाउन (1888–1893 ई.) ने लिटन की नीति का और विस्तार किया। उसने काश्मीर के महाराजा को अपदस्थ कर नया महाराजा नियुक्त किया। 1892 में उपद्रवों के सूत्रधार कालात खान को त्यागपत्र देने पर बाध्य किया गया।

ब्रिटिश सरकार की इस अग्रगामी नीति ने अफगान शासक अब्दुर्रहमान को सशंकित कर दिया। उसकी शंका समाधान हेतु 1891 ई. में लेंसडाउन ने सर मर्तिमर डूरंड के अधीन एक शिष्ट मंडल काबुल भेजा। भारत व अफगानिस्तान के मध्य डूरंड रेखा सीमा मानी गई। अमीर की सहायता राशि 12 लाख से बढ़ाकर 18 लाख कर दी गई।

डूरंड रेखा शांति नहीं स्थापित कर सकी। समस्त कबाइली और अधिक उत्तेजित हो गए। उन्होंने ब्रिटिश एजेंट को चितराल दुर्ग में घेर लिया। ओरकजई एवं अफरीदी कबीलों ने विद्रोह कर दिया। अफगानिस्तान के अमीर ने भी अपने तेवर बदलते हुये 'जिया–उल–मिल्लत–व–उद्दीन' (दीन दुखी एवं मिल्लत का रक्षक) की उपाधि धारण कर ली। यही नहीं अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद (धर्म युद्ध) की घोषणा भी कर दी। 1895 में लॉर्ड रोजवरी ने स्वात एवं वजीर को खाली कर दिया। 1898–99 में अंग्रेजों ने मोहमन्दों एवं अफरीदियों के विरुद्ध अभियान भेजा। इसमें 40,000 सैनिक शामिल थे। इस अभियान में अंग्रेजों को भारी क्षति पहुंची।

टिप्पणी

कर्जन की सीमानीति

लॉर्ड कर्जन गवर्नर जनरल बन कर 1899 ई. में भारत आया। उसने कबाइलियों के प्रति एक व्यावहारिक नीति का अवलम्बन किया। उसकी नीति के दो आधार थे– 1. सैनिक विकेंद्रीकरण के स्थान पर उसका केंद्रीकरण एवं 2. कबाइली उत्तेजना के स्थान पर उनसे समझौता। कर्जन की सीमा नीति के मूलभूत बिंदु इस प्रकार थे –

1. कर्जन ने कबाइली प्रदेश स्थित चौकियों से नियमित सेना को हटा लिया। गिलगित की सुरक्षा जम्मू–कश्मीर की सरकार के अधीन कर दी।
2. कबाइली प्रदेशों की रक्षा का भार कबाइली सेना को सौंप दिया।
3. कबाइली सेना की सहायतार्थ सामरिक महत्व की छावनियों में अंग्रेजी सेना नियुक्त कर दी।
4. कबाइली क्षेत्र में संचार साधनों का विकास किया। नौशहरा से दरगई तक रेलवे लाइन बिछायी गई। पेशावर को रेल द्वारा जमरूद से जोड़ा गया।
5. अप्रैल 1902 में एक विशाल दरबार का आयोजन किया गया। कर्जन के इस दरबार में कबाइली सरदार भी उपस्थित हुए। कर्जन ने इन्हें अंग्रेजों की शांति नीति एवं अनाक्रामक उद्देश्य से अवगत कराया। साथ ही किसी भी आक्रान्ता कार्यवाही का जवाब कठोरता से देने की धमकी भी दी।
6. बलोची सरदारों को कहा कि प्रदेश में कानून व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदारी उन्हीं की है।
7. मार्गों एवं दर्रों को सुरक्षित रखने एवं वहां शांति बनाए रखने हेतु कबीलों को भत्ते दिए गए।
8. लॉर्ड कर्जन ने पांच जिलों – हजारा, पेशावर, कोहाट, बन्नू, एवं डेरा इस्माइल खां एवं वे प्रदेश जो प्रशासनिक सीमा एवं डूरण्ड लाइन के बीच थे, उनको मिला कर 1901 ई. में एक नवीन प्रांत उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत का गठन किया। इसे एक मुख्य आयुक्त के अधीन रखा गया। पुराने उत्तर–पश्चिम प्रांत का नाम 'आगरा और अवध का संयुक्त प्रांत' रखा गया।

उत्तर–पश्चिमी सीमा संबंधी अपनी नीति की 5 वर्ष की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए 30 मार्च 1904 को कर्जन ने कहा था कि – 'इन वर्षों में हमें उत्तर–पश्चिमी सीमा पर एक भी अभियान नहीं करना पड़ा और शांति स्थापना के कार्य में लगे केवल 109 व्यक्तियों की मृत्यु हुई है।'

कर्जन से पूर्व 4 वर्ष में 45,84,000 पौंड खर्च हुए थे जबकि कर्जन कालीन 7 वर्ष के काल में मात्र 2,48,000 पौण्ड खर्च हुए।

मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (1919 ई.) में यह सुझाव दिया गया कि मुख्य आयुक्त की सहायता के लिये एक सलाहकार परिषद् होनी चाहिए। 1932 में उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत को गवर्नर के प्रांत की स्थिति दे दी गई एवं सर रेल्फ ग्रिफिथ को यहां का प्रथम गवर्नर नियुक्त किया गया।

तिब्बत नीति

गवर्नर जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स ने तिब्बत से व्यापार संबंध बढ़ाने के उद्देश्य से 1774–75 में जार्ज बॉग्ले को तिब्बत भेजा। इसके पश्चात 1783 में एक बार पुनः यह

टिप्पणी

प्रयास दोहराया गया। ये दोनों प्रयास असफल रहे। चीन तिब्बत पर अपना अधिकार मानता था। 1886 में चीन से भी अंग्रेजों ने इस संबंध में अनुमति लेने का प्रयास किया, परंतु यह योजना भी सफल न हो सकी। इसी दौरान सिक्किम तिब्बत सीमाविवाद ने एक झगड़े का रूप ले लिया। 1890 में चीन–ब्रिटिश सम्मेलन हुआ जिसमें सीमा निश्चित कर दी गई। चूंकि तिब्बत के लोग चीन के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते थे अतः सम्मेलन के निर्णय प्रभावी न हो सके।

1899 में कर्जन गवर्नर जनरल बन कर भारत आया। इस समय तिब्बत का गतिरोध बरकरार था। वायसराय द्वारा दलाई लामा को भेजे गए पत्र बिना खोले ही लौटा दिए जाते थे। एक रूसी व्यक्ति दोर्जीफ दलाई लामा का करीबी बन गया था। रूस का तिब्बत में प्रभाव बढ़ रहा था। रूस का यह तिब्बत में बढ़ता प्रभाव अंग्रेजों के लिये चिन्ता का विषय था।

कर्जन तिब्बत से समझौता करने हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ था। उसने कर्नल यंग हसबैंड के नेतृत्व में एक विशिष्ट शिष्ट मंडल (Special Mission) तिब्बत भेजा। इस मिशन के साथ एक छोटी सी गोरखा सेना की टुकड़ी भी थी। तिब्बत के लोगों ने इस मिशन का शांतिपूर्वक विरोध किया। 11 अप्रैल, 1903 को यंग हसबैंड ज्ञानत्से पहुंचा एवं 3 अगस्त को ल्हासा पहुंचा। दलाई लामा प्रशासन वरिष्ठ अधिकारियों को सौंप कर राजधानी ल्हासा से बाहर चला गया। अंततः 7 सितंबर, 1903 को यंग हसबैंड ने अपनी शर्तें मनवा लीं। इसके अनुसार –

1. तिब्बत को 1 लाख रुपया वार्षिक दर से 75 लाख रुपये युद्धक्षति के रूप में देने थे और इसकी जमानत स्वरूप भारत सरकार का 75 वर्ष के लिए चुंबी घाटी जो सिक्किम एवं भूटान के मध्य स्थित है पर अधिकार तय किया गया।
2. व्यापार के लिए व्यापारिक हाट खोलने हेतु यातुंग, ज्ञानत्से एवं एक गरटॉक को चुना गया।
3. तिब्बत इंग्लैंड के अतिरिक्त किसी भी अन्य देश को रेलवे, सड़कें, तथा तार आदि स्थापित करने के लिये रियायतें नहीं देगा।
4. इंग्लैंड को तिब्बत के विदेशी मामलों पर आंशिक अधिकार मिला।

भारत सचिव मिस्टर ब्रॉडरिक इस संधि से खुश नहीं हुए। लॉर्ड लेंसडाउन ने रूस को आश्वासन दिया कि इंग्लैंड का तिब्बत पर संरक्षण स्थापित करने का कोई इरादा नहीं है, न ही वह तिब्बत के आंतरिक मामलों में दखलंदाजी चाहता है। भारत सचिव के कहने पर एवं रूस को दिए गए आश्वासन के अनुसार तिब्बत के साथ की गई संधि में संशोधन किया गया।

क्षतिपूर्ति की राशि 75 लाख से घटाकर 25 लाख कर दी गई एवं चुम्बी घाटी 3 वर्ष पश्चात लौटाने का आश्वासन दिया गया। जनवरी 1908 में चुंबी घाटी खाली कर दी गई।

भले ही कर्जन की आलोचना हुई हो, भले ही संधि की शर्तों में संशोधन किया गया हो, मगर वास्तविकता यह थी कि कर्जन ने तिब्बत में रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. लॉर्ड लॉरेंस कब से कब तक भारत का गवर्नर जनरल रहा?

(क) 1857–1862 (ख) 1864–1869

(ग) 1870–1875 (घ) 1877–1882

6. मार्ले मिंटो ने पंजाब के राजा रणजीत सिंह से संधि कब व कहां की थी?

(क) 25 अप्रैल, 1809 – अमृतसर (ख) 12 मार्च, 1810 – लाहौर

(ग) 17 मई, 1812 – जालंधर (घ) 19 फरवरी, 1815 – लुधियाना

1.5 भारत सरकार अधिनियम 1919 व 1935 के विशेष उल्लेख के साथ 1947 तक संवैधानिक विकास

1857 के विफल विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार की नीतियों में काफी परिवर्तन किया। ब्रिटिश की कपटपूर्ण नीतियों ने सुधार के छदम रूप में अपने हितसाधक अधिनियमों को पारित किया। भारतीयों ने उनका मकसद अच्छी तरह भांप लिया था। स्वाधीनता के विद्रोही स्वर तीव्रता ग्रहण करने लगे थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संवैधानिक सुधार के प्रति दृष्टिकोण

भारत में 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके पश्चात भारत का राष्ट्रीय आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में ही चला। कांग्रेस के नेता निरंतर सुधारों की मांग करते रहे। कांग्रेस की मांग एवं उन मांगों को मनवाने के लिए चलाए गए आंदोलन के परिणाम स्वरूप समय–समय पर ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न अधिनियम पारित किए। कांग्रेस की स्थापना के पश्चात सबसे पहला पारित होने वाला अधिनियम 1892 ई. का 'सुधार अधिनियम' था। 1892 ई. का यह अधिनियम कांग्रेस को बिल्कुल भी संतुष्ट न कर सका। इससे उत्पन्न असंतोष ने कांग्रेस में चरमपंथी या उग्रवादी दल के उदय का मार्ग प्रशस्त किया। 1905 ई. में बंगाल के विभाजन उपरांत चरमपंथियों या उग्रवादियों ने 'स्वदेशी आंदोलन' चलाया। कांग्रेस में बढ़ता हुआ असंतोष 1907 ई. में कांग्रेस विभाजन के रूप में सामने आया। 1906 ई. में सरकार ने कांग्रेस का विरोध करने हेतु मुस्लिम लीग की स्थापना की। 1907 ई. में कांग्रेस की फूट ने भी परिस्थितियां अंग्रेजों के हित में कर दीं। इसका फायदा उठाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने '1909 ई. का भारत परिषद् अधिनियम' पारित किया। इसे मार्ले–मिंटो सुधार भी कहा जाता है।

मार्ले–मिंटो सुधार (1909 ई.)

1982 ई. का अधिनियम भारतीय जनता की आकांक्षाओं को संतुष्ट नहीं कर सका। 1905 ई. में लॉर्ड कर्जन द्वारा किए बंगाल विभाजन के साथ ही भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों एवं अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम ने भारतीय जनता के आक्रोश को बढ़ाया। अतः शासन ने वैधानिक सुधारों की व्यवस्था का अनुभव किया। मार्ले–मिंटो सुधार अधिनियम, 1909 ई. इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। मार्ले ने मिंटो को लिखा था– ''सुधार संभवतः राज्य की रक्षा न कर सके, तो अन्य कोई नहीं

करेगा।'' लॉर्ड मिंटो ने उत्तर दिया– ''निश्चयपूर्वक ये नहीं करेंगे– यद्यपि इन्हें ध्यानपूर्वक समाविष्ट किया गया तो संभवतः इससे शासन प्रसन्न हो जाएगा।'' '1909 ई. में मार्ले–मिंटो सुधार' को ही '1909 ई. का भारत परिषद् अधिनियम' भी कहा गया।

टिप्पणी

1909 ई. के भारत परिषद् अधिनियम के लिए उत्तरदायी परिस्थितियां

1909 ई. के मार्ले–मिंटो सुधार या भारत परिषद् अधिनियम के लिए उत्तरदायी परिस्थितियां निम्नवत थीं–

1. **1892 ई. के भारत परिषद् अधिनियम से असंतोष**– इस अधिनियम से कांग्रेस की मांगों की पूर्ति नहीं हुई। भारतीय शिक्षित वर्ग को, उचित मांग की तो बात ही क्या, उन्हें सरकारी सेवाओं तथा शासन में कोई भाग नहीं मिल रहा था।
2. **कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियां**– कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों से बुद्धिजीवी लोगों में विदेशी शासन के प्रति अधिक विरोध पैदा हुआ। कर्जन के मन में भारतीयों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। बंग–भंग को राष्ट्रीयता पर भारी प्रहार माना गया, जिसे बंगाल के लोगों ने अपने प्रति 'मानहानि, तिरस्कार तथा धोखे की संज्ञा दी।' इसे समाप्त करने के लिए व्यापक रूप से आंदोलन भी किए गए। इस अंसतोष को दूर करने के लिए सरकार सुधार लाना चाहती थी।
3. **अकाल**– 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में भारत में एक व्यापक तथा भयानक अकाल पड़ा साथ ही प्लेग फैलने से जनता की विपत्ति बढ़ गई। सरकार ने अकाल के दिनों में भी अनाज निर्यात किया। सरकार की नीतियों तथा अव्यवस्था के कारण ही जनता को कष्ट हुआ। बाद में सरकार को एहसास हुआ कि सुधारों द्वारा जनता के घावों पर मरहम लगाया जा सकता है।
4. **एशिया में जागरण**– 1904–05 ई. में एक छोटे पूर्वी देश जापान ने, पश्चिमी देश रूस को परास्त किया। इटली को इथोपिया ने हराया था। इन घटनाओं ने एशिया में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न की। लोगों को विश्वास हो गया कि कोई भी यूरोपीय देश अजेय नहीं है। संगठित होकर बड़े देश को भी हराया जा सकता है।
5. **समाचार–पत्र**– 1882 ई. से स्वतंत्र रूप से लिखे जा रहे समाचार–पत्रों ने घटित हो रही सभी घटनाओं पर उचित ढंग से टिप्पणी की और अंग्रेजी प्रशासन की कड़े शब्दों में आलोचना की।
6. **मुसलमानों का कांग्रेस से दूर होना**– सुदृढ़ होती कांग्रेस की दिन–प्रतिदिन स्वतंत्रता की मांग तेज होती जा रही थी, लेकिन मुसलमान इस आंदोलन में अलग होते जा रहे थे। कांगेस के बढ़ते राष्ट्रवादी प्रचार से भयभीत होकर अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति आरंभ की जिससे मुस्लिम सांप्रदायिकता का जन्म हुआ। इस अधिनियम की अत्यधिक दोष पूर्ण बात 'सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली' और मुसलमानों के लिए भारात्मक प्रतिनिधित्व व्यवस्था थी।
7. **उदारवादियों को सरकार द्वारा अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न**– 1909 ई. का अधिनियम कांग्रेस के संयतमार्गियों तथा मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिए और अंग्रेज नौकरशाही की शक्ति को बढ़ाने के लिए पारित किया गया।

टिप्पणी

8. **मिंटो–मार्ले के विचार–विमर्श**– लॉर्ड मार्ले तथा लॉर्ड मिंटो दोनों ही इस विचार से सहमत थे कि अब कुछ राजनीतिक सुधार लाए जाने चाहिए। लंबे विचार–विमर्श के पश्चात मंत्रिमंडल की स्वीकृति के उपरांत ये सुधार ब्रिटिश संसद के सम्मुख रखे गए और फरवरी, 1909 ई. में भारतीय अधिनियम पारित किया गया।

1909 ई. के भारत परिषद् अधिनियम की मुख्य धाराएं

1909 ई. के भारतीय परिषद अधिनियम में केवल 8 धाराएं थीं, जिनमें परिषदों की बाह्य रूप–रेखा दी गई थी। इसमें मुख्य रूप से प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान मंडलों के आकार तथा उनकी शक्तियों में विस्तार कर दिया गया था।

1. **केंद्रीय विधान मंडल का विस्तार**– 1909 ई. के संविधान में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। गवर्नर जनरल की परिषद की सदस्य संख्या 25 से बढ़ाकर 60 निश्चित की गई। वास्तविक संख्या कुल मिलाकर 69 बनी, जिसमें से 37 शासकीय वर्ग तथा शेष 32 अशासकीय वर्ग से थे। शासकीय वर्ग में 9 पदेन सदस्य थे। निर्वाचित सदस्यों के विषय में यह कहा गया कि क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक प्रतिनिधित्व भारत में तो उपयुक्त नहीं है अतएव देश में वर्गों तथा विशेष हितों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इन वर्ग विशेष के प्रतिनिधियों में से बंबई, मद्रास, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत तथा मध्य प्रांत को 6 सदस्य भेजने का अधिकार मिला।

   इस बारे में पंजाब की उपेक्षा की गई। यहां की जनसंख्या में मुसलमानों का गुरुत्व था। अतः इसी त्रुटि को पूरा करने के लिए यह निश्चय किया कि वायसराय द्वारा पंजाबी मुसलमान भूमिपतियों में से तथा अन्य मुस्लिम वर्ग में से कुल 2 सदस्य मनोनीत किए जा सकते थे, क्योंकि वाणिज्य मंडलों के सदस्य केवल यूरोपीय ही बन सकते थे भारतीय नहीं, लेकिन भारतीय कुछ कहें उससे बचने के लिए उन्होंने यह निश्चित किया कि भारतीय व्यापार मंडल का एक सदस्य वायसराय द्वारा मनोनीत किया जाना चाहिए जो पारसी, हिंदू अथवा मुसलमान कोई भी हो सकता था।

2. **प्रांतीय परिषद्ों का विस्तार**– 1909 ई. के इस अधिनियम में अलग–अलग प्रांतों में विधान परिषदों की संख्या बढ़ा दी गई जो इस प्रकार थी– पूर्वी बंगाल तथा आसाम के लिए 41, मद्रास, बंबई तथा संयुक्त प्रांत, प्रत्येक के लिए 47, बर्मा के लिए 16, बंगाल के लिए 52, पंजाब के लिए 25। इस प्रकार प्रांतों में अशासकीय सदस्यों का बहुमत हो गया। इनमें से कुछ अशासकीय सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करता था। अतः इस तरह इन प्रांतीय विधान परिषदों पर सरकार का नियंत्रण बना रहा। मनोनीत सदस्य सरकार के भक्त थे, जो सदा सरकार का ही पक्ष लेते थे, इनके अलावा मुस्लिम सदस्य भी प्रायः सरकार का ही पक्ष लेते थे।

3. **प्रांतीय कार्यकारिणी परिषद्ें**– इस अधिनियम द्वारा बंगाल, मद्रास तथा बंबई के कार्यकारी पार्षदों की संख्या बढ़ाकर 4 की गई। मार्ले की यह आशा रही कि इन 4 कार्यकारी पार्षदों में से एक भारतीय हो, लेकिन इस विषय पर कोई वैधानिक प्रावधान नहीं किया और इसे गवर्नरों की इच्छा पर छोड़ दिया गया।

4. **मतदाताओं तथा प्रत्याशियों की अहर्ताएं**– भारत राज्य सचिव की स्वीकृति से सपरिषद गवर्नर जनरल ने मतदाताओं और प्रत्याशियों के लिए कुछ अहर्ताएं निश्चित की थीं। इस अधिनियम में मनोनीत करने की प्रथा को समाप्त कर सीधे चुनाव प्रणाली अपनाई गई तथा प्रत्याशियों के लिए कुछ अहर्ताएं निश्चित की गईं।

   अतः उपनियम 4 के अनुसार यह निश्चित हुआ कि कोई व्यक्ति चुनाव के लिए तब तक प्रत्याशी नहीं हो सकता, जब तक उसमें निम्न अहर्ताएं न हों–

   - वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो।
   - उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो।
   - भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अंतर्गत वह कोई लाभ के पद पर न हो।
   - वह पागल तथा दिवालिया न हो।

5. **विधान परिषद्ों के कार्य**– 1909 ई. के इस अधिनियम द्वारा केंद्रीय तथा प्रांतीय दोनों की ही विधान परिषदों के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया। अब सदस्यों को वाद–विवाद का अवसर मिला। केंद्रीय विधान मंडल में बजट की विवेचना के लिए विस्तृत नियम भी बनाए गए। लेकिन इन सदस्यों को मत देने का अधिकार नहीं दिया गया, लेकिन वे स्थानीय निकायों के लिए धन की मांग कर सकते थे।

जनसाधारण के हितों से संबंधित विषयों की विवेचना के लिए निश्चित नियम बनाए गए। सदस्य इन विषयों की विवेचना कर सकते थे, उस पर अपना मत प्रकट कर सकते थे, लेकिन कुछ ऐसे विषय भी थे, जिनकी विवेचना सदस्य नहीं कर सकते थे। वे देशी राजाओं, विदेशी संबंधों, कानून के सम्मुख निर्णय के लिए प्रश्नों, राज्य, रेलवे आदि पर व्यय तथा ऋण पर ब्याज इत्यादि प्रश्नों को भी नहीं उठा सकते थे।

1909 ई. के भारतीय परिषद् अधिनियम का मूल्यांकन

के.एम. मुंशी के अनुसार, ''इन्होंने उभरते हुए प्रजातंत्र को जान से मार डाला।'' 1909 ई. के सुधारों से भारतीय राजनीतिक प्रश्न का कोई हल नहीं हुआ और न ही वे इसे हल कर सकते थे। लॉर्ड मार्ले ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उपनिवेशों का स्वशासन भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। इसी कारण वह भारत में संसदीय अथवा उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के पूर्णतया विरुद्ध था। लॉर्ड मार्ले ने मिंटो को सच ही लिखा था कि ''पृथक निर्वाचन मंडल स्थापित करके हम नाग के दंत (Dragan Teeth) बो रहे हैं, जिसका परिणाम भीषण सुधारों को कार्यान्वित करते समय बहुत–सी गड़बड़ी उत्पन्न करेगा।''

महात्मा गांधी ने कहा कि ''मार्ले–मिंटो सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया।''

1909 ई. के सुधार भारत के लिए केवल छाया मात्र ही रहे, क्योंकि वास्तविकता में वे कुछ नहीं थे। इससे प्रभाव मिला, लेकिन शक्ति नहीं मिली। लोगों ने उत्तरदायी सरकार की मांग की थी, लेकिन मिला केवल 'हितकारी निरंकुशवाद'। अंग्रेजी साम्राज्य की बेड़ियां उसी प्रकार सख्त बनी रहीं जिस प्रकार पहले थीं। इस अधिनियम में मताधिकार बहुत अधिक सीमित तथा भेदभाव पर आधारित था तथा उम्मीदवारों के लिए

टिप्पणी

अनावश्यक रूप से कठोर योग्यताएं निर्धारित की गई थीं। अधिनियम की दोषपूर्ण बात सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली व्यवस्था थी, जिसने भारतीय राजनीति में विष भरे 'सांपों की पिटारी' का ही कार्य किया था। मूल बात यह है कि भारतीय जनता तो उत्तरदायी शासन मांग रही थी, लेकिन इस अधिनियम का उद्देश्य ''संवैधानिक एकतंत्र'' की स्थापना करना था। वास्तविकता में शासन की सारी शक्ति ब्रिटिश सरकार के हाथों में सुरक्षित थी। ऐसी स्थिति में 1909 ई. का अधिनियम भारतीय जनता को संतुष्ट नहीं कर सकता था और न ही वह कर सका।

मुसलमानों को पृथक एवं विशेष प्रतिनिधित्व देना नुकसानदायक साबित हुआ। सिखों ने भी यही मांग की जो 1919 ई. में पूरी हुई। हरिजन, भारतीय ईसाई, यूरोपीयों को भी 1935 ई. के अधिनियम के द्वारा पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। निष्कर्षतः 1909 ई. के अधिनियम द्वारा प्रतिरोपित आरक्षण का परिणाम भारत को आगामी समय में भुगतना पड़ा।

प्रथम विश्वयुद्ध काल

प्रथम विश्वयुद्ध के काल (1914–19 ई.) में ब्रिटिश सरकार ने कुछ विशेष कानून सुरक्षा की दृष्टि से लागू किए थे। इनके तहत राजविरोधी कार्यों में संलग्न लोगों को मात्र शक के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता था। युद्ध की समाप्ति पर ये कानून समाप्त हो जाने चाहिए थे, मगर ब्रिटिश सरकार निहित स्वार्थवश इन्हें लागू रखना चाहती थी। रॉलेट एक्ट में प्रावधान था कि युद्धकालीन शासन के विशेषाधिकार युद्ध पश्चात भी जारी रहें। भारत में इसका जबर्दस्त विरोध हुआ। इसे काले कानून की संज्ञा देकर इसके विरुद्ध हड़तालें हुईं। 13 अप्रैल, 1919 ई. को जलियांवाला बाग में एक सभा के दौरान जनरल डायर ने वहां अंधाधुंध गोलियां चलवाईं। इस हत्याकांड में काफी लोग मारे गए।

इस घटनाक्रम से महात्मा गांधी अत्यंत दुखी हुए। वे अब अंग्रेजों के सहयोगी से असहयोगी की भूमिका में आ गए। भारत में निरंतर बढ़ते अंसतोष के कारण ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को रियायत देने के उद्देश्य से भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई. लागू किया। इसे मॉन्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार भी कहा जाता है।

रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग हत्याकांड एवं भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई. की विस्तृत तथ्यपरक विवेचना निम्न प्रकार है–

रौलेट एक्ट

नवंबर, 1917 ई. की रूसी क्रांति के तुरंत बाद ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैंड के हाईकोर्ट के एक जज रौलेट की अध्यक्षता में सिडीशन कमेटी नियुक्त की। उसने विभिन्न राजद्रोहात्मक कार्यों की जांच करके अप्रैल, 1918 ई. में अपनी रिपोर्ट पेश की। उसके सुझावों के अनुसार भारत सरकार ने 21 मार्च, 1919 ई. में एक कानून पास किया जो रौलेट एक्ट कहलाता है।

कारण

मॉन्टफोर्ड सुधारों में व्याप्त असंतोष के कारण राष्ट्रीय आंदोलन अधिक तीव्र हो गया और राजनीतिक अधिकारों की मांगें पुनः अधिक तेजी से प्रारंभ हो गईं। सरकार ने इनका दमन करने के लिए तथा राष्ट्रवादियों, आतंकवादियों और क्रांतिकारियों को नृशंसता से कुचलने के लिए रौलेट एक्ट पास किया।

टिप्पणी

प्रावधान : रौलेट एक्ट के प्रावधानों को निम्न पंक्तियों में वर्णित किया गया है–

(1) सरकार ने युद्ध काल में जो विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे उन्हें युद्ध के बाद भी जारी रखने का प्रावधान इस कानून में था।

(2) राजद्रोहात्मक कार्यों के संदेह पर किसी भी व्यक्ति को सरकार बिना मुकदमा चलाए जेल में अथवा किसी भी स्थान पर नजरबंद रख सकती थी।

(3) एक्ट ने सरकार को यह भी अधिकार दिया कि वह बंदी प्रत्यक्षीकरण के अधिकार को स्थगित कर दे।

रौलेट एक्ट की समीक्षा–सत्याग्रह आंदोलन

इस आंदोलन के दौरान एक नए नेता गांधी जी का प्रादुर्भाव हुआ। गांधी जी ने देश का नेतृत्व संभाला। भारतीय राष्ट्रवाद का निर्णायक दौर प्रारंभ हो गया। गांधी युग का सूत्रपात हुआ और गांधी जी अंग्रेजों के सहयोगी से असहयोगी बने। रवींद्रनाथ टैगोर ने सर की उपाधि वापस कर दी। उन्होंने 30 मई, 1919 ई. को नाइट हुड की उपाधि भी वापस लौटा दी। महात्मा गांधी ने भी केसर–ए–हिंद की उपाधि वापस कर दी।

जलियांवाला बाग हत्याकांड (13 अप्रैल, 1919 ई.)

13 अप्रैल को बैशाखी का दिन था। जलियांवाला बाग में एक सभा आयोजित की गई। इसमें ज्यादातर ऐसे लोग सम्मिलित थे जो गांव व कस्बों में बैशाखी के मेले में भाग लेने आए थे। करीब 20,000 की संख्या में लोग एकत्रित थे।

चूंकि जनरल डायर ने किसी भी प्रकार की सभा को प्रतिबंधित कर रखा था। अतः उसे ऐसा लगा कि उसके आदेश की अवहेलना करके यह सभा आयोजित की गई है।

13 अप्रैल, 1919 ई. को शाम 5 बजे के करीब डायर सभा स्थल पहुंचा और बिना चेतावनी दिए निहत्थी जनता पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। चूंकि सभा स्थल के चारों ओर ऊंची दीवारें थीं एवं सिर्फ एक दरवाजा था, अतः वहां से तुरंत भागना संभव न था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 379 व्यक्ति मारे गए, जबकि वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा थी। पंजाब में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। महात्मा गांधी ने जब इस समय दिल्ली व पंजाब जाना चाहा तो उन्हें वापस बंबई भेज दिया गया।

इस घटना से सारा देश स्तब्ध रह गया। इस घटना से अंग्रेज और भारतीयों के बीच वैमनस्यता और अधिक बढ़ गई। इस घटना का असर संपूर्ण भारत पर पड़ा।

गांधी जी ने जब देखा कि पूरा माहौल हिंसा की लपेट में है तो 21 जुलाई, 1919 ई. को उन्हें अपना आंदोलन वापस लेना पड़ा।

जलियांवाला बाग हत्याकांड की समीक्षा

जनरल डायर के आदेश पर 13 अप्रैल, 1919 ई. को जलियांवाला बाग में 10 मिनट में 1650 गोलियां चलीं। वेलेंटाइन शिरोल ने लिखा है– ''चूहेदानी में फंसे चूहों की तरह, उबलते हुए इस मानव समूह पर 1650 गोलियां चलाई गईं। वे लोग निकलने के लिए संकरे मार्ग की ओर व्यर्थ ही दौड़ते या गोलियों की बौछार से बचने पर केवल लेट जाते। जनरल डायर ने स्वयं अपने निर्देश पर ऐसे स्थानों पर गोलियां चलवाईं, जहां सर्वाधिक भीड़ थी। जगह–जगह शवों के ढेर पड़े हुए थे। एक हजार से अधिक लोग मारे गए।''

टिप्पणी

दीनबंधु एंड्रूज ने इस हत्याकांड की निंदा करते हुए इसे कत्लेआम कहा। इस बर्बरतापूर्ण घटना के विरोध स्वरूप वायसराय की कार्यकारिणी के एकमात्र भारतीय सदस्य शंकरन नायर ने त्याग पत्र दे दिया।

पंजाब के गवर्नर माइकल ओ' डायर ने हत्याकांडकर्ता जनरल डायर की प्रशंसा की। ब्रिटिश व्यापारी वर्ग ने जनरल डायर को पराक्रमी वीर की उपाधि दी एवं 30 हजार पौंड की थैली भेंट की। हंटर कमेटी ने हत्याकांड को निर्णय की भूल कह कर टाल दिया।

महात्मा गांधी जो कि अंग्रेजों के साथ सहयोगपूर्ण रवैया अपनाए हुए थे, वे अब असहयोगी की भूमिका में आ गए।

1.5.1 भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई.

भारत के राज्य सचिव मॉन्टेग्यू ने कॉमन्स सभा में 20 अगस्त, 1917 ई. को घोषणा की। मॉन्टेग्यू घोषणा को क्रियान्वित करने की दिशा में 1919 ई. का भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ। इसने बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। भारत में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास का एक नया युग प्रारंभ किया। 1909 ई. के सुधारों से भारतीय जनता की आकांक्षाएं संतुष्ट नहीं हो सकीं, जिसके परिणामस्वरूप भारत में राजनैतिक असंतोष दिनों–दिन बढ़ता ही गया और देश में क्रांतिकारी और आतंकवादी आंदोलन तीव्र हो गए। शासन सुधार की मांग तेज हो गई। विवश होकर भारत सचिव मॉन्टेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 ई. को ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना ही सरकार का चरम लक्ष्य है।

श्री एन. श्रीनिवासन के अनुसार, ''यह नौकरशाही शासन की पद्धति का प्रथम उल्लंघन और प्रतिनिध्यात्मक शासन का वास्तविक प्रारंभ था।''

अधिनियम की प्रस्तावना

अधिनियम की प्रस्तावना में ही सुधारों के उद्देश्य का उल्लेख व्यापक रूप से कर दिया गया। सर तेजबहादुर सप्रू द्वारा अधिनियम की प्रस्तावना का विश्लेषण इस प्रकार किया गया था–

(1) ब्रिटिश भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अखंड भाग रहेगा।

(2) उत्तरदायी शासन धीरे–धीरे ही दिया जा सकता है।

(3) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन संसद की घोषित नीति का लक्ष्य है।

(4) उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आवश्यक है कि दो बात की जाएं– प्रशासन की हर शाखा से भारतीयों का अधिकाधिक प्रतिनिधित्व हो और स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास हो।

प्रस्तावना में यह बात स्पष्ट थी कि ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत को सदैव अपने प्रभुत्व में बनाए रखना चाहती है, लेकिन यह बात भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों की आशाओं के अनुकूल नहीं थी। अतः 1919 ई. के अधिनियम की प्रस्तावना बहुत दोषपूर्ण थी जो भारतीयों में उत्साह उत्पन्न करने में असमर्थ रही।

भारत सरकार अधिनियम, 1919 ई. के प्रावधान

टिप्पणी

1919 ई. के अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्नानुसार थे–

(1) **केंद्र में अनुत्तरदायी शासन**– इस अधिनियम द्वारा केंद्रीय शासन पहले की तरह केंद्रीय विधानमंडल के प्रभाव से मुक्त अर्थात अनुत्तरदायी रखा गया। व्यवस्थापिका सभा का विस्तार भी इस उद्देश्य से किया गया कि वह शासन को प्रभावित कर सके।

(2) **प्रांतों में आंशिक उत्तरदायी शासन**– प्रांतों में एक विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था की स्थापना की गई, जिसे द्वैध शासन प्रणाली कहते हैं। द्वैध शासन का अर्थ है– दोहरा शासन। इसे दो भागों में बांटा गया था– रक्षित विषय और हस्तांतरित विषय। रक्षित विषय पहले की तरह गवर्नर के प्रति उत्तरदायी कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों के अधीन थे, जिन पर व्यवस्थापिका का कोई नियंत्रण नहीं होता था। हस्तांतरित विषयों को लोकप्रिय मंत्रियों को सौंपा गया, जो कि व्यवस्थापिका के निर्वाचित बहुमत में से चुने जाते थे तथा उन्हीं के प्रति उत्तरदायी होते थे।

(3) **प्रांतीय कार्यकारिणी परिषद् में अधिक संख्या में भारतीयों को जोड़ना**– प्रांतों की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीय की संख्या पहले से बढ़ा दी गई। बंबई, मद्रास और बंगाल की सरकारों के रक्षित भाग के 4 में से 2 भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था की गई।

(4) **प्रांतीय विधान परिषद्ों का पुनर्गठन**– प्रांतीय विधान परिषदों का पुनर्गठन किया गया। विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। प्रत्येक प्रांत में इनके सदस्यों की संख्या अलग–अलग थी। विधान परिषद में कम–से–कम 20 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित करने की व्यवस्था भी की गईं तथा 20 प्रतिशत से अधिक सरकारी अधिकारी नहीं होंगे। परिषद का कार्यकाल 3 वर्ष निर्धारित किया गया। विशेष परिस्थिति में अवधि एक वर्ष के लिए बढ़ाई भी जा सकती थी।

(5) **केंद्रीय क्षेत्र में द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका**– इन दोनों, केंद्रीय विधानसभा तथा राज्य परिषद में 143 और 103 सदस्य मनोनीत किए गए थे, जिसमें 25 सरकारी तथा 15 गैर–सरकारी होते थे।

(6) **नरेश मंडल की स्थापना**– 8 फरवरी, 1921 ई. को दिल्ली में 'नरेश मंडल' की स्थापना की गई। इसकी कुल सदस्य संख्या 121 थी, जिसमें 109 महत्वपूर्ण देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। इसका प्रधान वायसराय था। यह मंडल एक परामर्शदात्री सभा के ही समान था।

(7) **भारत परिषद् के गठन में परिवर्तन**– भारत परिषद में कम–से–कम 8 और अधिक–से–अधिक 12 सदस्यों को नियुक्त करना निश्चित किया गया। परिषद का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष किया गया। प्रत्येक सदस्य की आय बढ़ाकर 1,000 पौंड से 1,200 पौंड कर दी गई। इसके कार्य संचालन के नियमों में भी परिवर्तन किए गए।

(8) **प्रशासन तथा राजस्व के कुछ विषयों का विकेंद्रीकरण**– प्रशासन एवं राजस्व संबंधी कुछ विषयों का विकेंद्रीकरण किया गया, अर्थात उन्हें केंद्रीय

सरकार के नियंत्रण से हटाकर प्रांतीय सरकार में दे दिया गया। पहली बार प्रांतों को कर लगाने, ऋण लेने का अधिकार प्रदान किया गया था।

टिप्पणी

(9) **केंद्र तथा प्रांतीय सरकार में शक्ति विभाजन**– इस अधिनियम के द्वारा केंद्र तथा प्रांतीय सरकारों के बीच शक्ति विभाजन किया गया– केंद्रीय सूची और प्रांतीय सूची। जो विषय दोनों सूचियों में शामिल होने से रह गए वे केंद्रीय सरकार में आ जाते थे। प्रांतीय हित के विषय प्रांतीय सूची में रखे गए। केंद्रीय सूची में 47 विषय थे। प्रांतीय सूची में 50 विषय रखे गए। केंद्र के अधिकार में वैदेशिक विषय, सेना, रेल, डाक व तार, आयकर, मुद्रा टंकण, व्यापार, जहाजरानी, दीवानी, फौजदारी कानून रखे गए। प्रांतीय क्षेत्र के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक कार्य, शिक्षा, जनस्वास्थ्य तथा चिकित्सा, अकाल पीड़ित सहायता, राजस्व कर, कृषि, जंगल, जेल व पुलिस को सौंप दिया गया।

(10) **प्रत्यक्ष निर्वाचन का सूत्रपात**– इस अधिनियम ने प्रत्यक्ष मताधिकार के सूत्रपात के साथ ही मताधिकार को बढ़ाया। भारत की लगभग 10 प्रतिशत जनता को मताधिकार मिला, जबकि मॉन्टफोर्ट रिपोर्ट में सांप्रदायिक निर्वाचनों की निंदा की गई थी।

(11) **संक्रमणकालीन उपाय होना**– इस अधिनियम की संक्रमणकालीनता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि इसके द्वारा 10 वर्ष बाद एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति का विधान था जो कि इस योजना के अधीन की गई। उन्नति का अध्ययन कर पूर्ण उत्तरदायी शासन की ओर आगे बढ़ने के लिए उचित कदमों का निर्देश दिया गया।

प्रांतीय शासन

मॉन्टफोर्ड ज्वाइंट रिपोर्ट में कहा गया कि ''प्रांत ही वह क्षेत्र है जहां उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक प्रयोग किए जाएंगे।'' इस अधिनियम में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रांतीय शासन में किया गया। प्रांतों में एक विचित्र प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित की गई, जिसे द्वैध शासन प्रणाली कहते हैं, जिसका अर्थ है– दो शासकों का शासन या दोहरा शासन। इस अधिनियम द्वारा प्रांतों में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि संपूर्ण प्रशासनिक विषयों को केंद्रीय सूची और प्रांतीय सूची में विभाजित किया गया। इस व्यवस्था द्वारा प्रांतीय विषयों का विभाजन दो श्रेणियों–रक्षित और हस्तांतरित–में कर दिया गया।

द्वैध शासन प्रणाली

भारतीय जनता प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग करती आ रही थी। जब यह मांग जोर पकड़ने लगी तो सरकार ज्यादा दिनों तक इसकी अवहेलना न कर सकी और 20 अगस्त, 1917 ई. की घोषणा में भारतीयों को शनैः शनैः उत्तरदायित्व प्रदान करने की बात की।

द्वैध शासन प्रणाली का उद्देश्य और व्याख्या

इस प्रणाली का एक मात्र उद्देश्य यह था कि भारतीयों को प्रांतीय क्षेत्र में कुछ विषयों में उत्तरदायी शासन प्रदान किया जाए। द्वैध शासन का आंग्ल पर्यायवाची शब्द

टिप्पणी

'डायार्की' (Dyarchy) दो ग्रीक शब्दों 'डाइ' (di) और 'आर्की' (archie) से बना था, जिसका तात्पर्य दोहरे शासन से था, अतः द्वैध शासन का अर्थ था 'दोहरा शासन'। 1919 ई. अधिनियम की पृष्ठभूमि में ''द्वैध शासन'' का अर्थ था कि ''प्रांतीय शासन दो क्षेत्रों में विभाजित हो और इन दोनों क्षेत्रों का प्रशासन दो ऐसे पदाधिकारियों द्वारा किया जाए, जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्वों में विभिन्नता हो।''

इस प्रकार भारतीय जनता को उत्तरदायी शासन और ब्रिटिश सरकार के शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार देने के निश्चय को द्वैध शासन प्रणाली द्वारा ही साकार रूप प्रदान किया गया।

क्रियान्वयन– 1 अप्रैल, 1921 ई. से ही भारत के बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत और पंजाब इन सभी आठ प्रांतों में द्वैध शासन लागू किया गया। आगे चलकर 1937 ई. में उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में भी इसे लागू किया और इस प्रकार 16 वर्ष तक यह लागू रहा।

द्वैध शासन की असफलता के कारण

प्रांतों में लागू इस द्वैध शासन का शुरू से विरोध किया गया। इससे वांछित सफलता प्राप्त नहीं हुई। 16 वर्षों के इस प्रयोग ने यह साफ कर दिया कि इसमें कुछ अंतर्निहित दोष हैं–

(1) **विषयों का अव्यावहारिक विभाजन**– इस अधिनियम में दो सत्ताओं के बीच विभाजन इतना अव्यावहारिक था, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसकी अपंगता का वर्णन करते हुए भूतपूर्व मंत्री सर के.वी. रेड्डी ने कहा था– ''मैं वन के बिना विकास मंत्री था। मैं सिंचाई के बिना कृषि मंत्री था। अकाल पीड़ितों की सहायता से भी कोई संबंध नहीं था।'' इसमें उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में कम–से–कम शक्ति दी गई।

(2) **सैद्धांतिक दोष**– शासन में एक आंगिक एकता होती है। इसके सभी अंग पारस्परिक एकता और सहयोग द्वारा ही अपने कार्य करते हैं, लेकिन इस द्वैध शासन की जो योजना थी वह राजनैतिक सिद्धांत और व्यवहार के इस मूल विचार से अलग थी। एक ही प्रांत की शासन व्यवस्था को दो भिन्न तथा अलग–अलग प्रकृति की शक्तियों के अधीन दे देने से शासन में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

(3) **गवर्नर में निहित स्वेच्छाचारी शक्तियां**– 1919 ई. के अधिनियम ने गवर्नरों को मंत्रियों को नियंत्रित करने और उनके प्रस्तावों को अस्वीकार करने की शक्ति प्रदान की, जिससे गवर्नरों ने मंत्रियों के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप प्रारंभ कर दिया। चिंतामणि ने कहा था कि– ''शक्ति गवर्नर के पास है, मंत्रियों के पास नहीं।'' कीथ ने कहा था– ''अब मंत्रियों को कोष के ऊपर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार ही नहीं था तो उत्तरदायी शासन की बात कहना निरर्थक था।''

(4) **सेवाओं पर मंत्रियों का नियंत्रण नहीं**– नागरिक सेवा के सदस्य मंत्रियों की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियों की सहायता से अपनी बात रखवा सकते थे, जिससे मंत्रियों की स्थिति उपहास योग्य हो जाती थी। पुन्निया के शब्दों में, ''मंत्री के लिए इससे दुखदायी और अपमानजनक बात और क्या हो

टिप्पणी

सकती थी कि उसका अधीनस्थ उसके निर्णय के विरुद्ध गवर्नर से अपील कर उसे परिवर्तित करा ले।''

(5) **विधान परिषदों की दोषपूर्ण रचना**– प्रांतों में जो विधान परिषदें बनाई गईं, उनका ढांचा अत्यंत दोषपूर्ण था। उसमें 80 प्रतिशत सरकारी या सरकार द्वारा नामजद गैर–सरकारी सदस्य थे। इसकी दोषपूर्ण रचना के ही कारण विधान परिषदों में मंत्रियों की अपेक्षा गवर्नरों को ही अधिक प्रभाव प्राप्त होता था, जिससे मंत्री अपने अस्तित्व के लिए गवर्नरों पर ही निर्भर हो जाते थे।

एन. श्रीनिवासन के शब्दों में, ''ऐसी कोई स्वस्थ दलीय पद्धति नहीं थी कि जो ब्रिटिश ढंग से उत्तरदायी शासन व्यवस्था का संचालन कर सकती।''

अन्य कारण

द्वैध शासन की असफलता का मूल कारण उसमें अंतर्निहित दोष ही थे, लेकिन कुछ बाहरी परिस्थितियां भी थीं, जिन्होंने द्वैध शासन को असफल बनाने में सहयोग दिया।

(1) **राजनैतिक वातावरण ठीक न होना**– इस समय जलियांवाला बाग हत्याकांड, खिलाफत आंदोलन और साथ ही सरकार द्वारा लागू कठोर दमनात्मक कानूनों के कारण भारतीयों के मन में सरकार के प्रति संदेह, अविश्वास और कटुता उत्पन्न हो गई थी।

(2) **आर्थिक दुर्दशा एवं मैस्टन पंचाट**– 1920 ई. में वर्षा न होने से भारतीयों के दुर्भाग्य में वृद्धि हुई। ऐसे समय पर मैस्टन पंचाट आया, जिससे स्थिति और अधिक खराब हो गई।

(3) **कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की असहयोग नीति**– द्वैध शासन के इन 16 वर्षों में कांग्रेस तथा लीग ने अपनी शक्ति देश की स्वतंत्रता और देश के अनेक वर्गों के पारस्परिक समन्वय में एवं अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में लगा रखी थी। कूपलैंड के शब्दों में, ''यदि कांग्रेस द्वारा द्वैध शासन के प्रति सहयोगात्मक रुख अपनाया जाता तो परिणाम दूसरा ही हो सकता था।''

(4) **नौकरशाही का गलत दृष्टिकोण**– नौकरशाही ने सही भावना से कार्य नहीं किया। चिंतामणि के अनुसार, ''उचित परिस्थितियों में इसके अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते थे, लेकिन उच्च अनुदारवादी नौकरशाही और अत्यधिक प्रगतिवादी अर्द्ध क्रांतिकारी कांग्रेस की सामूहिक अबुद्धिमत्ता के कारण द्वैध शासन असफल रहा।''

(5) **ब्रिटिश सरकार का परिवर्तित दृष्टिकोण**– इंग्लैंड में अनुदार दल की सरकार बन जाने से सरकार का दृष्टिकोण ही बदल गया।

द्वैध शासन प्रणाली का महत्व

द्वैध शासन अपने दोषों के बावजूद निम्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण था–

(1) भारतीयों को बड़े पैमाने पर मताधिकार प्रदान किया।

(2) सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण को प्रोत्साहन मिला।

(3) बहुमूल्य शासकीय अनुभव प्राप्त हुए।

(4) सामाजिक कुरीतियां दूर करने में सहयोग मिला।

टिप्पणी

1.5.2 भारत सरकार अधिनियम 1935 ई.

1919 ई. के भारत सरकार अधिनियम से भारत में कोई भी संतुष्ट नहीं था। आगामी सुधारों की रूपरेखा के लिए साइमन कमीशन नियुक्त हुआ। चूंकि इसमें कोई भारतीय सदस्य नहीं था, अतः इसका तीव्र विरोध हुआ। कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट प्रस्तुत की। जिन्ना ने इसके विरोध में 14 सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया। गतिरोध दूर करने के लिए इंग्लैंड में तीन गोलमेज सम्मेलन आयोजित हुए। अंततः उक्त सभी को सामने रखकर '1935 ई. का भारत सरकार अधिनियम' पारित किया गया। इस अधिनियम में प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान की गई। भारत सरकार अधिनियम, 1935 ई. एवं प्रांतीय स्वायत्तता का विस्तारपूर्वक वर्णन निम्न प्रकार से है–

1935 ई. के अधिनियम के पारित होने के कारण

1935 ई. के अधिनियम के पारित होने के निम्नवत कारण थे–

1. **1919 ई. के अधिनियम से व्याप्त असंतोष**– 1919 ई. के अधिनियम से भारत में कोई भी दल संतुष्ट नहीं था तथा और अधिक सुधारों की मांग की जा रही थी।
2. **साइमन कमीशन**– 1928 ई. में साइमन कमीशन भारत आया। इसकी रिपोर्ट में सुधार प्रस्तुत किए गए थे। इसकी रिपोर्ट के आधार पर सुधार करने के लिए गोलमेज सम्मेलन आयोजित किए गए।
3. **गोलमेज सम्मेलन**– भारत में सुधारों पर विचार–विमर्श हेतु इंग्लैंड में तीन गोलमेज सम्मेलन आयोजित हुए।
4. **सांप्रदायिक निर्णय**– 16 अगस्त, 1932 ई. को ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्से मैकडोनाल्ड ने सांप्रदायिक पंचाट की घोषणा की। यह 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अनुसार सुधारों की दिशा में कदम था।
5. **नेहरू रिपोर्ट**– साइमन कमीशन के बहिष्कार के उपरांत आगामी सुधारों हेतु मोतीलाल नेहरू ने नेहरू रिपोर्ट प्रस्तुत की।
6. **श्वेत–पत्र**– मार्च 1933 ई. में श्वेत–पत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक प्रस्तावों को प्रकाशित किया। श्वेत–पत्र में मुख्य बातें थीं– केंद्र में द्वैध शासन एवं प्रांतों में उत्तरदायी शासन।

इस तरह 1935 ई. के अधिनियम के पारित होने के प्रमुख आधार निम्न थे–

1. साइमन कमीशन रिपोर्ट, 2. नेहरू रिपोर्ट, 3. गोलमेज सम्मेलनों का विचार–विमर्श, 4. श्वेत–पत्र, 5. संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट, 6. लोथियां रिपोर्ट (निर्वाचन संबंधी प्रावधानों पर)।

1933 ई. में संसदीय संयुक्त समिति स्थापित की गई। उसमें 16 सदस्य लॉर्डस सभा के एवं 16 सदस्य कॉमन सभा के थे। अध्यक्ष लॉर्ड लिनलिथिगो थे। नवंबर, 1934 ई. में इसने रिपोर्ट प्रस्तुत की। फरवरी, 1935 ई. में सुधार बिल प्रस्तुत किया। 4 अगस्त, 1935 ई. को बिल कॉमन सभा में पारित हो गया। इस तरह भारत सरकार अधिनियम, 1935 ई. का निर्माण हुआ। इस अधिनियम में 451 धाराएं एवं 15 परिशिष्ट थे।

टिप्पणी

भारत सरकार अधिनियम, 1935 ई. के प्रावधान

1919 ई. के सुधारों ने भारतीयों की आशाओं को पूरा नहीं किया, क्योंकि इन सुधारों में 'स्वतंत्रता' का अंश भी नहीं था, इसलिए कांग्रेस ने उन्हें अपर्याप्त, असंतोषजनक और निराशापूर्ण घोषित किया। 1930, 1931 और 1932 ई. के गोलमेज सम्मेलनों में हुए, विचार–विमर्श के आधार पर मार्च, 1933 ई. में भावी सुधार योजना के संबंध में एक 'श्वेत–पत्र' प्रकाशित किया गया। श्वेत–पत्र के प्रस्तावों के आधार पर 3 अगस्त, 1935 ई. को ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम, 1935 ई. पारित किया, जिसके प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित थे–

1. **अखिल भारतीय संघ की स्थापना**– इस अधिनियम के अंतर्गत एक अखिल भारतीय संघ स्थापित करने की व्यवस्था की गई, जो 11 ब्रिटिश प्रांतों, 6 चीफ कमिश्नरों के क्षेत्रों और उन देशी रियासतों से बनना था, जो स्वेच्छा से संघ में सम्मिलित हों। अधिनियम के अनुसार प्रांतों का संघ में शामिल होना अनिवार्य था, लेकिन देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक था। प्रत्येक रियासत को जो संघ में शामिल होना चाहती थी, उसे एक प्रवेश–पत्र या स्वीकृति लेख पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे। इसमें शर्तें थीं, जिनके आधार पर वे संघ में शामिल होतीं। संघ की इकाइयों को अपने आंतरिक मामलों में स्वराज्य प्राप्त था।

   अतः इस अधिनियम में प्रस्तावित भारतीय संघ की स्थापना नहीं हो सकी, क्योंकि देशी रियासतों की निर्धारित संख्या ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया।

2. **गृह सरकार के नियंत्रण में कमी**– प्रांतीय स्वायत्तता तथा केंद्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई, जिससे गृह सरकार के अधिकारों में कमी हो गई।

3. **प्रांतीय स्वायत्तता**– यह अधिनियम की एक अन्य महत्वपूर्ण और संभवतया एकमात्र संतोषजनक व्यवस्था थी, क्योंकि प्रांतों में स्वतंत्र और स्वशासित संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। संपूर्ण प्रांतीय शासन लोकप्रिय मंत्रियों के नियंत्रण में कर दिया गया और गवर्नर से यह आशा की, कि उसके द्वारा मंत्रियों की सलाह के आधार पर प्रशासन का संचालन किया जाएगा। मंत्रियों को भी प्रांतीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया।

4. **केंद्र में द्वैध शासन की स्थापना**– इस अधिनियम द्वारा केंद्र में द्वैध शासन की स्थापना कर दी गई। संघीय विषयों को दो भागों में बांटा गया– रक्षित विषय तथा हस्तांतरित विषय। प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, चर्च संबंधी मामले और कबाइली क्षेत्र के मामले रक्षित विषय में थे जो गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार चला सकता था। इन विषयों के प्रशासन में गवर्नर जनरल एक कार्यकारिणी परिषद की सहायता लेता था, जिनकी सदस्य संख्या तीन से अधिक नहीं हो सकती थी।

   हस्तांतरित विषयों का शासन चलाने के लिए एक मंत्रिपरिषद थी जो संघीय विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थी। इसमें गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार दिए

टिप्पणी

गए थे। अतः उचित व्यवस्था के नाम पर वह मंत्रियों के कार्य में हस्तक्षेप या उनके आदेश को निरस्त कर सकता था। वह संप्रभु था।

1919 ई. के द्वैध शासन के कटु अनुभव के बाद इसे केंद्र में स्थापित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को कोई वास्तविक अधिकार नहीं देना चाहती थी।

5. **शक्ति विभाजन**– संघीय शासन की स्थापना की दृष्टि से केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के क्षेत्रों को स्पष्ट किया गया, जिसके संबंध में तीन विस्तृत सूचियों की व्यवस्था की गई। संघीय सूची, प्रांतीय सूची और समवर्ती सूची। संघीय सूची में 59 विषय थे– जल, स्थल तथा वायु सेना, वैदेशिक विभाग, डाक, तार, मुद्रा तथा अंकण, संघीय लोक सेवाएं, संचार, बीमा तथा बैंक आदि। प्रांतीय सूची में स्थानीय महत्व के 54 विषय थे– शांति, न्याय, न्यायालय, प्रांतीय लोक सेवाएं, स्थानीय स्वशासन, अस्पताल तथा जन स्वास्थ्य, नहरें, कृषि, जंगल, शिक्षा और सड़क आदि, समवर्ती सूची में 36 विषय थे, जिसमें दीवानी तथा फौजदारी विधि, विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, ट्रस्ट, कारखाने तथा श्रम कल्याण आदि प्रमुख थे। गवर्नर जनरल को ये अधिकार था कि किसी भी सूची में उल्लेख न किए गए विषय पर संघीय या प्रांतीय किसी भी व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार दे सकता था।
6. **संघीय न्यायालय**– इसमें संघीय न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था भी की गई, जिसका अधिकार क्षेत्र प्रांतों तथा रियासतों तक फैला था, जिसमें मुख्य न्यायाधीश तथा दो अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था थी। इस न्यायालय का कर्तव्य था कि एक–दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण न करे। इस संबंध में अंतिम शक्ति लंदन स्थित प्रिवी कौंसिल को प्राप्त थी।
7. **प्रस्तावना का अभाव**– इसकी कोई अपनी प्रस्तावना नहीं थी, जिससे कि अधिनियम के निर्दिष्ट ध्येय के उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त हो सके।
8. **सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार**– अंग्रेजों ने अपनी नीति 'फूट डालो राज करो' के आधार पर संघीय और प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में विभिन्न संप्रदायों और विशेष हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए इस पद्धति को जारी रखा। आंग्ल भारतीय, ईसाइयों, यूरोपियन और हरिजनों के लिए भी विस्तार कर दिया। मुसलमानों को एक तिहाई स्थान दिए गए।
9. **भारत परिषद् का अंत**– भारत परिषद का दृष्टिकोण भारत विरोधी रहा, जिसके लिए जनता इसके अंत की मांग कर रही थी, अतः 1935 ई. के अधिनियम में इस परिषद का अंत कर दिया गया। अधिनियम द्वारा केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों में जो परिवर्तन हुए, उससे भारतीय शासन पर भारत मंत्री की शक्ति में कुछ कमी हो गई।
10. **ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता**– इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता में कोई अंतर नहीं आया। अधिनियम में परिवर्तन का अधिकार प्रांतीय विधान मंडलों और संघीय व्यवस्थापिका को नहीं दिया। इस संबंध में शक्ति ब्रिटिश संसद के पास ही रही। इस प्रकार भारतीय भाग्य के निर्णय की अंतिम सत्ता ब्रिटिश संसद के पास ही बनी रही।

टिप्पणी

11. **संरक्षण और आरक्षण**– ब्रिटिश शासन के अनुसार भारतीयों द्वारा उत्तरदायी शासन संचालन में गंभीर त्रुटियां हो सकती थीं, इसके अलावा वे अल्प वर्गों के हितों की पहले से समुचित व्यवस्था कर लेना चाहते थे, इसलिए इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को केंद्र एवं प्रांत के उत्तरदायी शासन में हस्तक्षेप के व्यापक अधिकार दिए गए। यह अधिकार ही अधिनियम के संरक्षण एवं आरक्षण थे।

12. **विधान मंडलों तथा मताधिकार का विस्तार**– अधिनियम द्वारा संघीय व्यवस्थापिका के दो सदनों की व्यवस्था की गई– एक संघीय विधान सभा और दूसरी राज्य परिषद। केंद्र में विधान सभा सदस्यों की संख्या 375 और राज्य परिषद में 260 निर्धारित हुई। प्रांतों में 6 विधान मंडलों को दो सदनों वाला बनाया गया। मताधिकार का विस्तार कर प्रांतों के लिए 10 प्रतिशत से कुछ अधिक जनता को मताधिकार प्रदान किया गया।

13. **बर्मा, बरार और अदन**– इसके द्वारा बर्मा को भारत से अलग किया। अदन को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त करके एक अप्रैल, 1937 ई. को इंग्लैंड के औपनिवेशिक कार्यालय के अधीन किया और बरार के अपर निजाम हैदराबाद की नाममात्र की सत्ता स्वीकार की गई, लेकिन शासन की दृष्टि से उसे मध्य प्रांत का अंग बना दिया गया।

1935 ई. के भारत परिषद् अधिनियम का मूल्यांकन

मदन मोहन मालवीय ने इस अधिनियम के संबंध में कहा है कि ''नया अधिनियम हम पर थोपा गया है, बाहर से यह कुछ जनतंत्रीय शासन व्यवस्था से मिला है, परंतु भीतर से बिल्कुल खोखला है।'' जबकि प्रो. कूपलैंड ने 1935 ई. के अधिनियम को– 'रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान सफलता' बतलाया, लेकिन इनके विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के अनुसार, ''नया संविधान द्वैध शासन से भी बुरा है।'' मि. जिन्ना के अनुसार, ''1935 ई. की योजना पूर्णरूप से सड़ी हुई, मौलिक रूप से खराब तथा पूर्णरूप से अस्वीकृति के योग्य थी।'' जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा था– ''यह अधिनियम तो दासता का घोषणा पत्र है।''

इस अधिनियम द्वारा प्रांतीय स्वायत्तता की स्थापना की गई थी तथा केंद्र में भी आंशिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था थी, लेकिन फिर भी यह एक ऐसा प्रतिगामी कानून था, जिसमें गवर्नर और गवर्नरों की शक्तियों में कमी नहीं हुई थी। भारतीय नेताओं तथा निष्पक्ष अंग्रेजों तक ने अधिनियम की आलोचना की थी। अधिनियम पर विभिन्न भारतीय नेताओं और मि. एटली द्वारा जो प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गईं उनकी निम्न आधारों पर पुष्टि की जा सकती है–

1. **दोषपूर्ण संघ**– श्री चिंतामणि और मसानी– ''हमें सभी अवांछित लक्षणों से पूर्ण एक लंगड़ा संघ प्रदान किया जा रहा है।''

2. **आत्म–निर्णय का अधिकार नहीं**– मि. एटली– ''अधिनियम में भारत के भाग्य की राजनीतिक प्रगति का कोई कार्य नहीं है।'' भारतीयों को अपने भाग्य का निर्णय करने का कोई प्रबंध नहीं था।

3. **प्रांतीय स्वशासन एक भ्रम**– ये शासन मंत्रियों की अपेक्षा गवर्नर को ही अधिक शक्तियां प्रदान करता था।

4. **संरक्षण और आरक्षण की व्यवस्था**– इसमें संरक्षण और आरक्षण की व्यवस्था प्रतिक्रियावादी थी, जो कि भारत में उत्तरदायी शासन को असफल करने की अनोखी योजना थी।

5. **सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार**– सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली भारत के लिए अहितकर थी। सभी ने इसकी निंदा की।

ब्रिटिश सरकार प्रशासनिक संरचनाओं में माहिर थी। लागू किए गए सुधारों एवं अधिनियमों के प्रति जन–प्रतिक्रियाओं पर हमेशा उनकी पैनी नजर रहती थी। हालांकि 1909 ई. के भारत परिषद् अधिनियम से कोई भी भारतीय संतुष्ट नहीं था, फिर भी वे पुराने कानूनों में हेर–फेर कर एक नया कानून बना देते थे। इसी क्रम में 1919 ई. का 'भारत सरकार अधिनियम' पेश किया गया।

1.5.3 स्वतंत्रता और भारत विभाजन के प्रमुख कारक : 1947 तक संवैधानिक विकास

भारत की स्वतंत्रता उस ऐतिहासिक बलिदान का परिणाम था जिसके लिए लाखों भारतवासियों ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन कमजोर हो गया था। उसमें अब अपने उपनिवेश पर बलपूर्वक अपनी सत्ता बनाए रखने की शक्ति नहीं रह गई थी।

अगस्त प्रस्ताव

फ्रांस ने जर्मनी के समक्ष घुटने टेक दिए थे। जर्मनी की सफलताओं के चलते इंग्लैंड में विंस्टन चर्चिल के नेतृत्व में नयी सरकार बनी और एमरी भारत मंत्री बनाए गए। फलतः एक बार पुनः जर्मनी के विरुद्ध भारत का सक्रिय सहयोग पाने के लिए और कांग्रेस कार्यसमिति के पूना प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में वायसराय लिनलिथगो ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसे अगस्त प्रस्ताव कहा जाता है। यह 8 अगस्त, 1940 ई. को प्रस्तुत हुआ।

प्रावधान

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक निश्चित संख्या में भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल किया जाएगा।

एक युद्ध परामर्शदात्री समिति की स्थापना की जाएगी। इसमें देशी रियासतों एवं भारतीय जनजीवन के विभिन्न हितों के अन्य प्रतिनिधि भी होंगे।

ब्रिटिश सरकार किसी ऐसी सरकार को शक्तियां हस्तांतरित नहीं करेगी जिसकी सत्ता भारतीय जनजीवन के एक बड़े एवं व्यापक वर्ग को स्वीकार न हो। दूसरे शब्दों में, अल्पसंख्यकों की स्वीकृति के बिना सरकार किसी भी संवैधानिक परिवर्तन को लागू नहीं करेगी। यह वास्तव में, मुस्लिम लीग को दिया गया आश्वासन था।

भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का ब्रिटिश शासन का लक्ष्य अधिक स्पष्ट शब्दों में दोहराया गया कि 'युद्ध समाप्ति पर सरकार अविलंब ही भारतीय राष्ट्रीय

जीवन के प्रमुख तत्वों के प्रतिनिधियों की सभा की स्थापना के लिए तत्पर रहेगी, ताकि नवीन संविधान की संरचना की खोज की जा सके।'

टिप्पणी

समीक्षा

इस प्रस्ताव की मुख्य विशेषता यह थी कि युद्ध के पश्चात औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का स्पष्ट शब्दों में आश्वासन दिया गया और प्रथम बार संविधान निर्माण मुख्यतः भारतीयों का उत्तरदायित्व माना गया।

लेकिन अल्पसंख्यकों को वीटो का अधिकार देकर प्रथम बार अल्पसंख्यकों की समस्या को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मार्ग में एक बड़ी बाधा के रूप में लाकर खड़ा कर दिया।

कांग्रेस की राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की बात भी स्वीकार नहीं की गई फलतः कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया।

मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव के महत्वपूर्ण भाग कार्यकारिणी के विस्तार को स्वीकार कर लिया एवं वह भाग जिसमें कहा गया था ''भावी संविधान उनकी अनुमति से ही बनेगा'' का स्वागत किया गया।

फिर भी इन दलों के प्रतिनिधियों के बगैर ही कार्यकारिणी समिति का जुलाई, 1941 ई. में विस्तार किया गया तथा एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना की गई।

एल.एस. एमरी ने कहा कि ''आज मुख्य झगड़ा ब्रिटिश सरकार और स्वतंत्रता मांगने वाले तत्वों में नहीं है, अपितु भारत के राष्ट्रीय जीवन के भिन्न–भिन्न तत्वों में है।''

क्रिप्स मिशन : क्रिप्स योजना

अगस्त प्रस्ताव की असफलता के बाद 1942 ई. के आते–आते परिस्थितियां ऐसी हो गईं कि इस गतिरोध को समाप्त करना ब्रिटिश सरकार के लिए आवश्यक हो गया और 11 मार्च, 1942 ई. को विंस्टन चर्चिल ने इस कार्य के लिए एक सदस्यीय क्रिप्स मिशन को भेजने की घोषणा की।

प्रावधान

क्रिप्स मिशन 22 मार्च, 1942 ई. को भारत पहुंचा और वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्यों तथा राजनीतिक दलों के नेताओं से विचार–विमर्श के बाद 29 मार्च, 1942 ई. को उसने एक प्रारूप जारी किया। इस प्रस्ताव घोषणा–पत्र में कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य एक भारतीय संघ की स्थापना करना है जो कि ब्रिटेन तथा उसके दूसरे डोमोनियनों के साथ सम्राट के प्रति निष्ठा के कारण संबंधित रहेगा, किंतु वह सभी क्षेत्रों में समान रहेगा एवं अपनी गृह और विदेश नीति में स्वतंत्र होगा।

तात्कालिक प्रावधान

इसमें कहा गया कि देश की सुरक्षा का सारा उत्तरदायित्व सरकार का है, लेकिन बिना भारतीय नेताओं के सहयोग के भारतीय जन–धन की पूरी सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती थी, इसलिए उन्हें देश की सलाहकार समितियों व कॉमनवेल्थ में भाग लेने तथा विभिन्न स्तरों पर सहयोग हेतु आमंत्रित किया।

टिप्पणी

युद्धोपरांत संबंधी प्रावधान

1. युद्धोपरांत, संविधान निर्माण हेतु एक संविधान सभा निर्वाचित की जाएगी।
2. नये भारतीय संघ को अधिराज्य का दर्जा दिया जाएगा।
3. ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रांत या किसी भी देशी रियासत को संघ से अलग रहने का अधिकार होगा।
4. जातीय एवं धार्मिक मामलों का संरक्षण होगा।

क्रिप्स मिशन आने के उत्तरदायी कारण

क्रिप्स मिशन आने के उत्तरदायी कारण निम्नवत हैं–

1. जापान बहुत तेजी से आगे बढ़ा। उसने शीघ्र ही फिलीपीन्स, इंडोचीन, मलाया को रौंदते हुए मार्च, 1942 ई. में रंगून पर कब्जा कर लिया। अब विश्वयुद्ध स्पष्टतः हिंदुस्तान के द्वार पर दस्तक दे रहा था। अब ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सक्रिय भारतीय सहयोग की आवश्यकता महसूस हुई।
2. अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इंग्लैंड की सरकार पर भारतीयों से समझौता करने हेतु दबाव डाला।
3. भारत की सुरक्षा के साथ चीन की सुरक्षा का भी मुद्दा जुड़ा था। अतएव च्यांग काई शेक ने भी भारतीयों से समझौता करने का दबाव डाला। इस उद्देश्य से फरवरी, 1942 ई. में च्यांग काई शेक ने भारत की यात्रा की।
4. ऑस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री ने भी पार्लियामेंट में कहा कि ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के साथ समझौता कर लेना चाहिए।
5. हालांकि व्यक्तिगत सत्याग्रह समाप्त हो गया था, फिर भी कांग्रेस ने अपना रवैया स्पष्ट कर दिया था।

दलों की प्रतिक्रियाएं

क्रिप्स प्रस्ताव पर अलग–अलग दलों की प्रतिक्रियाएं निम्न रूप में थीं–

1. उपर्युक्त कारणों से कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया।
2. मुस्लिम लीग, प्रांतों के संघ से अलग रहने के प्रावधान से खुश थी, लेकिन संविधान पद्वति के अस्पष्ट और जटिल होने से उसने इसे अस्वीकार कर दिया।
3. सिख पंजाब के पृथक हो जाने से आशंकित थे।
4. हिंदू महासभा ने इसे पाकिस्तान निर्माण का कदम बताकर अस्वीकार कर दिया।
5. अंबेडकर, सप्रू व जयकर ने भी इसे अस्वीकार कर दिया।

अतएव यह पूर्णतः असफल रहा।

प्रभाव

क्रिप्स प्रस्ताव के निम्नांकित प्रभाव पड़े–

1. भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ हुआ, अतः नेता गिरफ्तार हुए।
2. ब्रिटेन, अमेरिका आदि मित्र राष्ट्रों को यह आश्वासन देने में सफल रहा कि क्रिप्स मिशन की असफलता का कारण कांग्रेस ही है।

टिप्पणी

3. सरकार ने अब जन सहयोग को प्राप्त करने के लिए अन्य दलों की ओर सहयोग का हाथ बढ़ाया। इसमें सर्वाधिक लाभ मुस्लिम लीग को हुआ।

अंततः क्रिप्स प्रस्ताव को असफल होता देख 11 अप्रैल, 1942 ई. को सरकार ने क्रिप्स मिशन वापस ले लिया।

गुण

ये प्रस्ताव अगस्त प्रस्ताव की तुलना में ठोस थे, क्योंकि–

1. इसमें राष्ट्रमंडल से अलग रहने का अधिकार दिया गया था।
2. संविधान निर्माण का कार्य 'मुख्यतः नहीं अपितु पूर्णतया' भारतीयों का कार्य माना गया।

दोष

क्रिप्स प्रस्ताव भी दोषों से अछूता नहीं था इसमें निम्नवत थे–

1. इसमें स्वतंत्रता की मांग को युद्ध समाप्ति तक के लिए स्थगित कर दिया गया था। इस कारण गांधी जी ने इसे "टूटते बैंक का उत्तरतिथि चैक" (Post dated cheque of crashing bank) कहा।
2. प्रांतों के पृथक होने का अधिकार था। इससे एकीकृत भारत के निर्माण में बाधा पड़ती।
3. भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि मनोनीत होने थे। इससे लोकतंत्र और आत्मनिर्भरता दोनों के सिद्धांतों की उपेक्षा हुई। दूसरे वे भारत संघ से अलग रहने की घोषणा भी कर सकते थे।
4. भारतीय सुरक्षा विषय पूर्णतया ब्रिटिश नियंत्रण में बना रहा।

भारत छोड़ो आंदोलन, 1942 ई.

अगस्त प्रस्ताव एवं क्रिप्स प्रस्ताव में अनेक दोष होने के कारण कांग्रेस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया था। क्रिप्स ने भी कांग्रेस को संकेत दे दिया था कि अगर इसके प्रस्ताव पर कांग्रेस विचार नहीं करती है तो भविष्य में ब्रिटिश सरकार भारत में राजनैतिक गतिरोधों को समाप्त करने के लिए कोई बातचीत नहीं करेगी। अतः क्रिप्स की असफलता के बाद आंदोलन ही एकमात्र रास्ता था, जिससे राजनैतिक गतिरोध समाप्त किया जा सकता था।

अतः विवश होकर 14 जुलाई, 1942 ई. को वर्धा में कांग्रेस की कार्यसमिति ने प्रस्ताव पारित किया, जिसका शीर्षक था 'भारत छोड़ो प्रस्ताव'। इस प्रस्ताव में कहा गया कि यदि अंग्रेज भारत पर से अपना नियंत्रण हटा लें तो भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपना योगदान देने को तैयार है।

मुंबई में ऐतिहासिक ग्वालिया टैंक मैदान में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा 7 अगस्त, 1942 ई. को इस प्रस्ताव की पुष्टि की गई एवं घोषणा की कि यदि ब्रिटिश सरकार तत्काल भारत छोड़ने से मना करती है तब गांधी जी के नेतृत्व में सामूहिक आंदोलन आरंभ किया जाएगा। कार्यकारिणी ने गांधी जी को सर्वाधिक व्यापक स्तर पर अहिंसात्मक साधनों से सामूहिक आंदोलन आरंभ करने के लिए अधिकृत किया।

उसी दिन सायंकाल मुंबई के ग्वालिया टैंक मैदान में जनसमूह को संबोधित करते हुए गांधी जी ने कहा– ''इसी क्षण आप में से प्रत्येक को स्वयं को स्वतंत्र समझना

चाहिए और ऐसे व्यवहार करो कि जैसे तुम स्वतंत्र हो। मैं पूर्ण स्वतंत्रता से कम किसी चीज से संतुष्ट होने वाला नहीं हूं।"

टिप्पणी

जनसमुदाय का आह्वान करते हुए गांधी जी ने कहा कि "जेल भरने से ही काम नहीं चलेगा, वरन् 'करो या मरो' के मूल मंत्र को कार्यान्वित करो। हम स्वतंत्र होंगे अथवा इस प्रयास में मर जाएंगे।"

ब्रिटिश सरकार बहुत अधिक घबरा गई। सुबह होने से पहले ही (8–9 अगस्त की रात) कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी सदस्यों को ऑपरेशन जीरो आवर के तहत गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया।

अधिकांश नेता अहमदनगर के किले में बंद कर दिए गए। गांधी जी और सरोजिनी नायडू को पूना के आगा खां पैलेस में नजरबंद किया गया। राजेंद्र प्रसाद को पटना में कैद किया।

घटनाक्रम

1. इन गिरफ्तारियों की खबर ने देश को भौंचक्का कर दिया और हर जगह विरोध आंदोलन व्यापक तौर पर शुरू हो गए।
2. नेताओं और संगठन के अभाव में जनता ने अपनी प्रतिक्रिया जिस रूप में चाही उस रूप में व्यक्त की।
3. जनता ने सरकारी दमनकारी नीति से उत्तेजित होकर ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों– थानों, डाकघरों, रेलवे स्टेशनों आदि पर हमले किए। उन्होंने टेलीग्राफ तथा टेलीफोनों के तार काट दिए, रेलवे लाइन उखाड़ दी, तथा सरकारी इमारतों को जला दिया। इस दृष्टि से मद्रास व बंगाल काफी प्रभावित हुए।
4. उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और महाराष्ट्र के कई हिस्सों में ब्रिटिश सत्ता लुप्त हो गई। कुछ क्षेत्रों में क्रांतिकारियों ने समानांतर सरकार बनाई।
   (क) बलिया में चित्तू पांडे के नेतृत्व में।
   (ख) बंगाल–मिदनापुर जिले में जातीय सरकार गठित हुई।
   (ग) 72 घंटे तक नागपुर निवासियों ने नागपुर पर राज किया।
   (घ) सतारा की समानांतर सरकार सर्वाधिक दीर्घजीवी रही।
5. सरकार का दमन–चक्र भी इतना भीषण था कि 10,000 से अधिक लोग मारे गए। 1857 ई. के बाद इतना घोर दमन नहीं हुआ था।
6. आमतौर पर छात्र, छात्राएं, महिलाएं, मजदूर और किसान विद्रोह के मुख्य आधार थे, जबकि उच्च वर्ग और अफसरशाही सरकार के प्रति निष्ठावान रहे।
7. भूमिगत आंदोलन भी हुए जिनकी बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, राममनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका, जयप्रकाश नारायण आदि ने संभाली। उनका काम चोरी छिपे, हथियार, बारूद आदि का वितरण करना था।
8. सुमति मोरारजी ने (उद्योगपति) अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ्तार होने से बचाया।

टिप्पणी

9. राममनोहर लोहिया ने गुप्त रूप से रेडियो का संचालन कर सूचनाओं का प्रसार किया।
10. ब्रिटिश दमन से नाराज होकर गांधी जी ने 10 फरवरी, 1943 ई. को जेल में उपवास प्रारंभ कर दिया और घोषणा की कि यह 21 दिन तक चलेगा। इससे आंदोलन में और तेजी आई। ब्रिटिश सरकार पर गांधी जी से समझौते के लिए दबाव पड़ने लगा।

6 मई, 1944 ई. को गांधी जी को गंभीर अस्वस्थता के कारण मुक्त कर दिया गया। जून, 1945 ई. में आयोजित शिमला सम्मेलन से पूर्व कांग्रेस के समस्त प्रमुख नेताओं को मुक्त किया जा चुका था। इस प्रकार यह आंदोलन समाप्त हो गया।

परिणाम एवं महत्व

1942 ई. के आंदोलन की निम्न उपलब्धियां स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं–

1. इस विद्रोह में साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत के आक्रोश और स्वतंत्र होने के संकल्प को प्रभावशाली और सुनिश्चित ढंग से व्यक्त किया गया था।
2. इस विद्रोह के पश्चात शासकों ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के सिर्फ गिने–चुने दिन ही शेष रह गए हैं।
3. इस आंदोलन ने 1947 ई. में भारत की स्वतंत्रता की दिशा में एक प्रमुख कदम उठाया।
4. अब स्वशासन की मांग पूर्णतः समाप्त हो गई। आंदोलनकारियों का एकमात्र ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता हो गया।
5. गांधी जी जैसे अहिंसावादी व्यक्ति द्वारा 'करो या मरो' का नारा देना यह संकेत देता है कि गांधी जी अब किसी भी कीमत पर भारत की स्वतंत्रता चाहते थे।

डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा था– "यह अगस्त क्रांति निरंकुशता तथा दमनात्मक अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह था। इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बास्टील के पतन से की जा सकती है।"

ब्रिटिश सरकार ने सांप्रदायिक नीति का पालन कर भारत को विभाजन के कगार पर धकेल दिया। जिन्ना राष्ट्रवादी से सांप्रदायिक राष्ट्रवादी बन गए थे।

मुस्लिम लीग : मुक्ति दिवस 22 दिसंबर, 1939 ई.

लीग व जिन्ना ने बार–बार यह कहा कि कांग्रेस मंत्रिपरिषद के काल में मुसलमानों पर अत्याचार हो रहा है, जो असत्य था। फिर भी लीग ने यह घोषणा की कि कांग्रेस के त्यागपत्र से मुसलमानों को उनके अत्याचारों से मुक्ति मिलेगी। अतः ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति व समर्थन प्राप्त करने के लिए मुस्लिम लीग ने 22 दिसंबर, 1939 ई. को 'मुक्ति दिवस' मनाया और मुसलमानों की मांगों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खूब प्रचार किया।

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की मांग

23 मार्च, 1940 ई. को लाहौर में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अवसर पर प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें पाकिस्तान बनाने की मांग की गई थी। इसके अनुसार–

टिप्पणी

"इस देश में कोई भी संवैधानिक योजना उस समय तक मुसलमानों को स्वीकृत नहीं होगी, जब तक कि वह इस आधार पर न बनी हो कि उत्तर–पश्चिमी और पूर्वी भारत में मुसलमानों के बहुसंख्यक भौगोलिक दृष्टि से संलग्न क्षेत्रों को स्वायत्त संपन्न स्वतंत्र राज्यों में प्रांत न बना दिया जाए।"

मुस्लिम लीग और जिन्ना ने 1940–46 ई. की अवधि में पंजाब, सिंधु, बलूचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और पूर्वी बंगाल को मिलाकर पाकिस्तान बनाने की मांग को अधिकाधिक बलवती किया।

1940 ई. में जिन्ना द्वारा पाकिस्तान की मांग पर अड़ने से गतिरोध बढ़ रहा था। इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए 1944 ई. में राजा जी फार्मूला प्रस्तुत किया गया। जिन्ना ने इसे अस्वीकार कर दिया। 14 जून, 1945 ई. में वेवेल ने भारत के राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए वेवेल योजना प्रस्तुत की। वेवेल योजना पर विचार–विमर्श हेतु 25 जून, 1945 ई. को शिमला में सम्मेलन आयोजित किया गया। वेवेल योजना को भी लीग ने अस्वीकार कर दिया। 19 फरवरी, 1946 ई. को ब्रिटिश सरकार ने तीन सदस्यीय कैबिनेट मिशन भारत भेजा। इसके सदस्य सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, पैथिक लॉरेंस तथा ए.बी. एलेक्जेंडर थे। यह मिशन 24 मार्च, 1946 ई. को दिल्ली पहुंचा। मुस्लिम लीग व कांग्रेस में समझौते के उद्देश्य से शिमला में त्रिदलीय बैठक बुलाई गई। यह बैठक भी असफल रही।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (सी.आर.) फॉर्मूला

मार्च, 1940 ई. में जिन्ना की पाकिस्तान बनाने की मांग के साथ सांप्रदायिक गतिरोध बढ़ता जा रहा था। इस गतिरोध को समाप्त करने के उद्देश्य से चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने एक नया फॉर्मूला तैयार किया। फरवरी, 1943 ई. में गांधी जी ने इस पर सहमति प्रदान की। 10 जुलाई, 1944 ई. को राजा जी ने इस फॉर्मूला को प्रकाशित कराया।

प्रावधान

1. मुस्लिम लीग स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करे और संक्रमण काल में कांग्रेस व लीग मिलकर अस्थायी शासन का निर्माण करें।
2. युद्ध समाप्ति के पश्चात एक आयोग की स्थापना की जाएगी जो उत्तर–पश्चिमी तथा उत्तर–पूर्वी मुस्लिम बहुल क्षेत्र को पृथक करने के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराएगा।
3. पृथक होने की दशा में सुरक्षा, व्यापार एवं यातायात और अन्य आवश्यक मामलों के संरक्षण के लिए समझौता होगा।
4. यह योजना ब्रिटेन द्वारा भारत को पूर्ण सत्ता हस्तांतरण के बाद ही लागू होगी।

आजाद हिंद फौज की भूमिका

नेताजी सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिंद फौज की स्वतंत्रता संग्राम में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस द्वारा दिए गए 'दिल्ली चलो' और 'जय हिंद' (राष्ट्रीय नारा) नारों ने राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित किया तथा स्वतंत्रता की अलख जगाई। महात्मा गांधी ने भी नेताजी को देशभक्तों का देशभक्त कहा था।

टिप्पणी

आजाद हिंद फौज ने सुभाष, गांधी, नेहरू के नाम से और महिलाओं के लिए रानी लक्ष्मीबाई ब्रिगेड स्थापित किए थे। देश एवं विदेश से अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध चलाई गई उनकी क्रांतिकारी नीति एवं उद्घोषणाओं ने अंग्रेजों को हिलाकर रख दिया व भागने के लिए विवश किया था।

गांधी–जिन्ना वार्ता

सितंबर, 1944 ई. में जिन्ना द्वारा फॉर्मूले को अस्वीकार करने के बावजूद सितंबर, 1944 ई. में गांधी–जिन्ना वार्ता हुई। दो सप्ताह से अधिक चलने के बाद भी यह वार्ता असफल रही। जिन्ना ने राजा जी की योजना को सड़े, अंग–भंग एवं दीमक लगे पाकिस्तान की संज्ञा दी।

देसाई–लियाकत संधि

भूलाभाई देसाई केंद्रीय विधानसभा में कांग्रेस संसदीय दल के नेता और मुस्लिम लीग के उपनेता नवाबजार लियाकत अली खान जो कि बाद में 1937 ई. में देसाई–लियाकत अली लीग के महासचिव भी थे के बीच विचार–विमर्श की एक श्रृंखला वार्ता आयोजित की गई। इन वार्ताओं ने मुस्लिम लीग और कांग्रेस में सहयोग संधि गुप्त रूप से स्थापित की।

वेवेल योजना 14 जून, 1945 ई.

1943 ई. में लॉर्ड वेवेल को भारत का वायसराय नियुक्त किया गया। मार्च, 1945 ई. में लंदन में विचार–विमर्श के बाद 14 जून, 1945 ई. को वेवल ने भारत के राजनैतिक गतिरोध को समाप्त करने के उद्देश्य से एक योजना प्रस्तुत की जो वेवेल योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई।

वेवेल योजना के कारण

वेवेल योजना के निम्नलिखित कारण हैं–

1. 1943–44 ई. का आर्थिक संकट, बंगाल का भीषण दुर्भिक्ष था।
2. जापान अभी पराजित नहीं हुआ था, इसलिए भारत का सहयोग आवश्यक था।
3. मित्र राष्ट्र (अमेरिका) भारत में राजनैतिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए भारत पर बराबर दबाव डाल रहे थे।
4. ब्रिटेन के आम चुनाव में चर्चिल यह दिखाना चाहते थे कि टोरी दल भी भारतीय समस्या के प्रति जागरूक है।
5. भारत में भी असंतोष तीव्रतम होता जा रहा था।

वेवेल योजना के प्रावधान

वेवेल योजना के प्रावधान निम्न प्रकार से हैं–

1. एक नयी कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना की जाएगी जिसमें वायसराय तथा सेनाध्यक्ष को छोड़कर सभी भारतीय होंगे तथा रक्षा, सीमांत व कबाइली मामलों को छोड़कर गृह तथा विदेश विभाग सहित शेष सभी विभाग भारतीयों के पास रहेंगे। इसमें वर्ण हिंदुओं तथा मुसलमानों को समान स्थान प्राप्त होंगे।

टिप्पणी

2. गवर्नर जनरल कार्यकारिणी का अध्यक्ष होगा और उसे इस निर्णय का विशेषाधिकार प्राप्त होगा, जिसका वह अकेला प्रयोग नहीं करेगा।
3. यह प्रस्ताव केवल ब्रिटिश भारत के लिए होगा, देशी राज्य इससे अछूते रहेंगे।

वेवेल योजना में भारतीयों के केंद्रीय सरकार में भाग लेने के अलावा कोई और दूसरा महत्वपूर्ण प्रस्ताव नहीं था।

शिमला कॉन्फ्रेंस

इस योजना पर विचार–विमर्श के लिए शिमला में 25 जून, 1945 ई. में एक बैठक आयोजित की गई। इसमें 21 नेता बुलाए गए जिसमें अबुल कलाम आजाद (कांग्रेस), जिन्ना (मुस्लिम लीग), सिख नेता, यूरोपियन, अनुसूचित जाति के नेता और प्रांतों के कुछ वर्तमान एवं भूतपूर्व गवर्नर शामिल थे। गांधी जी इसमें शामिल नहीं हुए और हिंदू महासभा को आमंत्रित नहीं किया गया। यह सभा वायसराय की अध्यक्षता में हुई।

वीटो के अधिकार को कांग्रेस समाप्त करना चाहती थी, जबकि मुस्लिम लीग बनाए रखना चाहती थी। जहां तक कार्यकारिणी के गठन का प्रश्न था, तो कांग्रेस ने एक सूची दी जिसमें दो हिंदू, एक पारसी, एक मुस्लिम और एक भारतीय ईसाई शामिल थे। लेकिन लीग चाहती थी कि मुस्लिमों को नियुक्त करने का अधिकार सिर्फ उसे ही हो। उसके बाद वायसराय ने एक सूची जारी की जिसमें कुल 14 सदस्यों में से 6 मुस्लिम थे। इसे कांग्रेस तथा लीग दोनों ने अस्वीकार कर दिया।

इस प्रकार जहां क्रिप्स मिशन कांग्रेस तथा लीग दोनों के अस्वीकार किए जाने पर असफल हुआ वहीं वेवेल योजना लीग के अस्वीकार किए जाने पर असफल हुई। अर्थात शिमला सम्मेलन का असफल होना एक तरह से मुस्लिम लीग की विजय थी।

कैबिनेट मिशन

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात ब्रिटेन के प्रथम आम चुनावों में लेबर दल सत्ता में आया। क्लीमेंट एटली प्रधानमंत्री बने। भारत की विषम परिस्थितियों के मद्देनजर ब्रिटिश शासकों ने यह जान लिया था कि सैनिक बलों के माध्यम से भी राष्ट्रीय आंदोलन को दबाया या खत्म करना खतरे से खाली नहीं होगा। तब 19 फरवरी, 1946 ई. को ब्रिटिश सरकार ने एक तीन सदस्यीय मिशन भेजने की घोषणा की। इस मिशन में ब्रिटिश कैबिनेट के तीन सदस्य भारत आए, इसीलिए इसे कैबिनेट मिशन कहा गया।

1. भारत मंत्री लॉर्ड पैथिक लॉरेंस
2. व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष सर स्टैफोर्ड क्रिप्स
3. नौसेना मंत्री सर ए.बी. अलेक्जेंडर

कैबिनेट मिशन, 1946 ई. और सांप्रदायिक उलझन

मार्च, 1946 ई. में मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल जिसमें लॉर्ड पैथिक लॉरेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और ए.बी. अलेक्जेंडर थे, भारत पहुंचा। इसी बीच प्रधानमंत्री एटली ने यह स्पष्ट कर दिया कि अल्पसंख्यक दल को बहुसंख्या की प्रगति के मामले में बाधा नहीं बनने दिया जाएगा। मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल ने पाकिस्तान की मांग अस्वीकार कर दी और सुझाव दिया कि एक ऐसी केंद्रीय सरकार हो जिसके अधीन विदेशी मामले, रक्षा और

टिप्पणी

संचार साधन हों। परंतु इसने लीग की मांग आंशिक रूप से स्वीकार कर ली और प्रांतों को तीन भागों में बांटने का सुझाव दिया अर्थात मद्रास, बंबई, सी.पी., यू.पी., बिहार और उड़ीसा के हिंदू बहुसंख्यक प्रांतों को समूह 'अ' में, पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत समूह 'ब' में और बंगाल और आसाम को समूह 'स' बनाना स्वीकार किया परंतु प्रांतों के पूर्ण स्वशासन और उनकी समूह रचना से पाकिस्तान का सार लीग को मिल गया।

इसके अतिरिक्त संविधान बनाने वाली सभा के गठन की विधि भी निश्चित की और उसके चुनाव में कांग्रेस को 210 सामान्य स्थानों में से 199 मिले और लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 मिले। जिन्ना ने देखा कि कांग्रेस को कुल 296 स्थानों में से 211 का समर्थन मिलेगा और इस प्रकार मुस्लिम दल अल्प हो जाएगा, अतएव उसने दो संविधान सभाएं मांगी– एक भारत के लिए और एक पाकिस्तान के लोगों के लिए।

सीधी कार्यवाही दिवस

मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन की योजना से अपनी स्वीकृति वापस ले ली और 16 अगस्त, 1946 ई. को 'सीधी कार्यवाही दिवस' मनाया। यह सीधी कार्यवाही अंग्रेजों के विरुद्ध पाकिस्तान लेने के लिए नहीं की गई, अपितु हिंदुओं के विरुद्ध इसी उद्देश्य से की गई। लीग ने बंगाल, यू.पी., बंबई, पंजाब, सिंध और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में सांप्रदायिक दंगे भड़काए। पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में 2 सितंबर, 1946 ई. को अंतरिम सरकार बनाई गई। उसमें पहले तो मुस्लिम लीग ने सम्मिलित होना अस्वीकार कर दिया परंतु फिर 26 अक्टूबर, 1946 ई. को यह उसमें सम्मिलित हो गई इसलिए नहीं कि उसे सफल बनाया जाए अपितु इसलिए कि उसे अंदर से तोड़ा जाए। परंतु संविधान सभा में वह फिर भी सम्मिलित नहीं हुई।

सत्ता का हस्तांतरण और विभाजन

20 फरवरी, 1947 ई. को हाउस ऑफ कॉमन्स में एटली ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित मत है कि 30 जून, 1948 ई. तक भारतीयों को सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाए। वेवेल को 'युद्धकाल' के समय की नियुक्ति करार देते हुए भार मुक्त कर दिया गया और ब्रिटिश राज के अंतिम गवर्नर जनरल माउंटबेटन 22 मार्च, 1947 ई. को भारत पहुंचे। माउंटबेटन की दृष्टि में भारत की स्थिति अत्यंत निराशाजनक हालत में पहुंच गई थी क्योंकि शासन का मनोबल गिरा हुआ था। सिविल सर्विस और सेना में स्वामिभक्ति की कमी थी। मुस्लिम लीग पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए अंतिम सीमा तक हिंसा पर उतारू थी और कांग्रेस लीग की नीतियों का प्रतिरोध करने के लिए उद्धृत थी। इन परिस्थितियों में 30 जून, 1948 ई. की तिथि भी विनाशकारी हो सकती थी।

अतः 3 जून, 1947 ई. को सत्ता हस्तांतरण की नई योजना प्रकाशित की गई। इसके अनुसार ब्रिटिश भारत को दो स्वतंत्र डोमिनियनों में विभाजित कर दिया गया, जो प्रत्येक दृष्टि से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के देशों के समान होंगे। राष्ट्रमंडल की सदस्यता के निर्णय का अधिकार नए स्वतंत्र देशों को कराना था। इसी योजना के अनुसार पंजाब और बंगाल की विधान सभाओं के हिंदू और मुस्लिम सदस्यों को अपनी अलग–अलग बैठकों में यह निश्चय करना था कि वे विभाजन के पक्ष में हैं या नहीं। उनके निर्णयों की प्राप्ति के बाद एक सीमा आयोग को इन प्रांतों के निश्चित सीमांकन के लिए नियुक्त

टिप्पणी

किया जाना था जैसी कि आशा थी। पंजाब और बंगाल के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के सदस्यों ने पाकिस्तान के पक्ष में और हिंदू बहुल क्षेत्रों के सदस्यों ने भारत में बने रहने के पक्ष में निर्णय किया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और आसाम के सिलहट में जनमत गणना कराई गई और वहां पर पाकिस्तान में सम्मिलित होने के पक्ष में मत पड़ा। 18 जुलाई, 1947 ई. को ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा पारित 'इंडियन इंडिपेंडेंस एक्ट' के द्वारा दो स्वतंत्र प्रभुता संपन्न डोमिनियनों का निर्माण हुआ। वास्तविक सत्ता का हस्तांतरण 14–15 अगस्त, 1947 ई. की मध्य रात्रि को हुआ और उसके साथ ही दो शताब्दियों के ब्रिटिश आधिपत्य का अंत हुआ।

भारतीय गणतंत्र की स्थापना की ओर कदम

1946 ई. में कैबिनेट मिशन भारत आया, मगर वह सफल नहीं रहा। 1946 ई. में जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार का गठन हुआ। 16 अगस्त, 1946 ई. को मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्यवाही' दिवस मनाया। इस तरह कांग्रेस व लीग में गतिरोध बना रहा। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 ई. को घोषणा करते हुए स्पष्ट किया कि जून, 1948 ई. तक अंग्रेज भारत छोड़ देंगे। इस हेतु लॉर्ड माउंटबेटन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया। 3 जून, 1947 ई. को प्रस्तुत माउंटबेटन योजना के तहत भारत का विभाजन कर उसे स्वतंत्र कर दिया गया।

भारत के नवीन संविधान को संविधान सभा द्वारा 26 नवंबर, 1949 ई. को अंतिम रूप दिया गया। भारत का संविधान 26 जनवरी, 1950 ई. को लागू कर दिया गया।

एटली की घोषणा 20 फरवरी, 1947 ई.

दिसंबर, 1946 ई. की स्थिति की गंभीरता को देखते हुए ब्रिटेन के तात्कालीन प्रधानमंत्री एटली ने महसूस किया कि भारत के लिए एक नयी नीति की आवश्यकता है एवं उसे कार्यान्वित करने के लिए एक नये वायसराय की आवश्यकता है। अतएव 20 फरवरी, 1947 ई. को हाउस ऑफ कॉमन्स में एटली ने भारत संबंधी नीति के बारे में घोषणा की– ''महामहिम की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि जून, 1948 ई. के पहले ही जिम्मेदार भारतीयों के हाथ में सत्ता के हस्तांतरण को पूरा करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का उसका निश्चित इरादा है'' और बयान के अंत में वायसराय के पद पर लॉर्ड वेवेल के स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन की नियुक्ति की।

माउंटबेटन योजना (3 जून, 1947 ई.)

22 मार्च, 1947 ई. को दिल्ली आकर ब्रिटिश के अंतिम वायसराय माउंटबेटन ने 24 मार्च, 1947 ई. को कार्यभार संभाला। 2 माह तक विचार–विमर्श करने के बाद एक योजना तैयार की जो कांग्रेसी नेताओं तथा जिन्ना दोनों ने स्वीकार की। 3 जून, 1947 ई. को माउंटबेटन योजना की घोषणा की गई, इसे व्यंग्यात्मक रूप में 'मन बाटन योजना' भी कहते हैं। योजना को यदि देखें, तो हम पाते हैं कि देश का विभाजन धर्म के आधार पर प्रस्तुत किया गया था।

प्रावधान

1. संविधान सभा द्वारा निर्मित हो रहे संविधान को उन क्षेत्रों में लागू नहीं किया जाएगा जिन्हें यह स्वीकार नहीं होगा।

टिप्पणी

2. बंगाल तथा पंजाब प्रांतों में हिंदू तथा मुस्लिम बहुसंख्यक जिलों में प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों की अलग–अलग बैठक बुलाई जाएगी। उनमें से यदि कोई भी पक्ष विभाजन चाहेगा तो उसका विभाजन कर दिया जाएगा।
3. उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में जनमत संग्रह किया जाएगा ताकि यह पता लगाया जा सके कि वह भारत के किस भाग के साथ रहना चाहता है।
4. आसाम में सिलहट जिले में भी जनमत संग्रह कराकर उसकी इच्छा जानी जाएगी।
5. देशी राज्यों को उनकी सर्वोच्च सत्ता वापस दी जाएगी एवं उन्हें अधिकार होगा कि वे स्वतंत्र रहें या भारत या पाकिस्तान में शामिल हो जाएं।
6. यदि आसाम, पंजाब, बंगाल ने पृथक होने का निर्णय किया तो सीमा निर्धारण के लिए एक आयोग की स्थापना की जाएगी।

कांग्रेस ने लाखों लोगों को भ्रातघातक दंगों से बचाने के लिए अनिच्छा से विभाजन की योजना स्वीकार की।

इस योजना को कांग्रेस व मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। फलतः विभाजन की तैयारी आरंभ हो गई और सीमा निर्धारण के लिए रेडक्लिफ की अध्यक्षता में एक सीमा निर्धारण आयोग की स्थापना हुई। ब्रिटिश कॉमन्स सभा में 4 जुलाई, 1947 ई. को एक विधेयक प्रस्तुत किया गया और 18 जुलाई, 1947 ई. को संसद में इस विधेयक को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के रूप में पारित कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार भारत–पाकिस्तान दो स्वतंत्र देशों की स्थापना हुई।

लॉर्ड माउंटबेटन ने 13 अगस्त, 1947 ई. को कराची जाकर पाकिस्तान संविधान सभा को सत्ता सौंप दी। पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल मोहम्मद अली जिन्ना एवं प्रथम प्रधानमंत्री लियाकत अली खां बने।

14 अगस्त, 1947 ई. की मध्य रात्रि को भारत स्वतंत्र हो गया। भारत के प्रथम गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन एवं प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू बने।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली द्वारा भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा पर अमल करते हुए भारतीय स्वाधीनता अधिनियम बनाया गया। 4 जुलाई, 1947 ई. को संसद में विधेयक रखा गया एवं 18 जुलाई, 1947 ई. को यह विधेयक पारित कर दिया गया। इस अधिनियम द्वारा भारत एवं पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपना संविधान बनाने की स्वतंत्र अनुमति प्रदान कर दी गई।

प्रावधान

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 ई. के प्रावधान निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णित हैं–

1. इस अधिनियम द्वारा 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत एवं पाकिस्तान दो इकाइयां स्थापित होनी थीं।
2. नवीन संविधान बनने तक 1935 ई. का अधिनियम प्रभावी रहेगा।
3. ब्रिटिश क्राउन का भारतीय रियासतों पर से प्रभुत्व समाप्त हो गया।

टिप्पणी

4. 15 अगस्त, 1947 ई. से सभी संधियां व समझौते समाप्त माने जाएंगे।
5. भारत राज्य सचिव का पद समाप्त कर उसका कार्य राष्ट्रमंडलीय मामलों के सचिव को दे दिया गया।
6. ब्रिटिश सम्राट के साथ संलग्न 'भारत का सम्राट' पद समाप्त कर दिया गया।

ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 ई. को भारत के लिए अब तक पारित सभी विधेयकों में 'महान एवं उत्तम' कहा। इस अधिनियम द्वारा भारत पर लगभग 200 वर्ष से चल रहा ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया।

अपनी प्रगति जांचिए

7. साइमन कमीशन भारत कब आया था?

(क) 1920 ई. (ख) 1924 ई.

(ग) 1928 ई. (घ) 1930 ई.

8. 1935 ई. के भारत परिषद् अधिनियम के बारे में यह किसने कहा था कि– "यह अधिनियम तो दासता का घोषणा पत्र है।"

(क) मदनमोहन मालवीय (ख) चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

(ग) मि. जिन्ना (घ) जवाहरलाल नेहरू

1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)
5. (ख)
6. (क)
7. (ग)
8. (घ)

1.7 सारांश

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इग्लैंड में था तो दूसरा भाग भारत में। इंग्लैंड में कार्यरत भाग गृह सरकार कहलाता था। गृह सरकार के 5 प्रमुख अंग थे। सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव एवं उसकी परिषद्। इनमें भारत सचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत सचिव का विधि संबंधी प्रशासनिक एवं आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायतार्थ एक परिषद् थी। भारत सचिव भारत संबंधी मामलों में ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद् के सदस्यों की संख्या कम की गई। 1935 के अधिनियम द्वारा

टिप्पणी

भारत सचिव की परिषद् का अंत कर दिया गया। भारत मामलों में अंतिम निर्णय गृह सरकार के हाथ था। गृह सरकार का सम्पूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था।

भारत मंत्री को बहुमत के विरुद्ध कार्य करने का विशेषाधिकार दिया गया था। केवल वह अनुदान संबंधी अथवा भारतीय राजस्व के विनियोग के संबंध में परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता था। कौंसिल एक महत्वपूर्ण संस्था थी और इसने भारत सरकार के प्रत्येक निर्णय पर नजर रखी। भारत परिषद् की बैठक की अध्यक्षता भारत मंत्री करता था। उसे प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत सरकार के आय–व्यय का लेखा–जोखा प्रस्तुत करना पड़ता था। इस अधिनियम में इसका भी प्रावधान किया गया था कि गृह सरकार के संचालन में जो भी खर्च होता था उसे भारत सरकार से वसूल किया जाता था।

सन् 1740 ई. के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी और राजनीतिक महत्वाकांक्षा से यह दूर थी। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने जब भारतीय रियासतों में राजनीतिक सत्ता (व्यापारिक हितों के लिए) स्थापित करने का प्रयत्न किया तो ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी अपने व्यापारिक हितों के रक्षार्थ डूप्ले की नीति का अनुसरण किया। 1751 का अरकाट का घेरा, 1757 का प्लासी का युद्ध एवं 1764 का बक्सर का युद्ध इसी नीति का अंग था। मुगल सम्राट शाहआलम ने (इलाहाबाद की संधि) 1765 में कंपनी को बंगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। इससे कंपनी को अन्य भारतीय रियासतों के समान दर्जा प्राप्त हो गया।

साम्राज्य के विस्तार के पश्चात भारत की ब्रिटिश सरकार को उत्तर–पश्चिमी सीमा नीति पर ध्यान देना पड़ा। फ्रांस एवं रूस के आक्रमण के खतरे से अंग्रेज सशंकित थे। अंग्रेज सीमा पर ऐसा मित्र शासक चाहते थे जो किसी भी प्रकार के बाह्य आक्रमण में उनकी मदद करे। सीमा सुरक्षा के चलते ही अंग्रेजों को प्रथम अफगान युद्ध में न केवल उलझना पड़ा अपितु कई प्रकार की परेशानी का भी सामना करना पड़ा। द्वितीय अफगान युद्ध के पश्चात गंडमक की संधि से अवश्य कुछ लाभ मिला। लॉर्ड कर्जन अपने विदेश संबंधों के लिये जाना जाता है। उसने तिब्बत में यंग हसबैंड मिशन भेजा था। फारस की खाड़ी के मामले में भी कर्जन ने एक स्पष्ट नीति का सहारा लिया।

भारत में 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके पश्चात भारत का राष्ट्रीय आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में ही चला। कांग्रेस के नेता निरंतर सुधारों की मांग करते रहे। कांग्रेस की मांग एवं उन मांगों को मनवाने के लिए चलाए गए आंदोलन के परिणाम स्वरूप समय–समय पर ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न अधिनियम पारित किए। कांग्रेस की स्थापना के पश्चात सबसे पहला पारित होने वाला अधिनियम 1892 ई. का 'सुधार अधिनियम' था। 1892 ई. का यह अधिनियम कांग्रेस को बिल्कुल भी संतुष्ट न कर सका। इससे उत्पन्न असंतोष ने कांग्रेस में चरमपंथी या उग्रवादी दल के उदय का मार्ग प्रशस्त किया। 1905 ई. में बंगाल के विभाजन उपरांत चरमपंथियों या उग्रवादियों ने 'स्वदेशी आंदोलन' चलाया। कांग्रेस में बढ़ता हुआ असंतोष 1907 ई. में कांग्रेस विभाजन के रूप में सामने आया। 1906 ई. में सरकार ने कांग्रेस का विरोध करने हेतु मुस्लिम लीग की स्थापना की। 1907 ई. में कांग्रेस की फूट ने भी परिस्थितियां अंग्रेजों के हित में कर दीं। इसका फायदा उठाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने '1909 ई. का भारत परिषद् अधिनियम' पारित किया। इसे मार्ले–मिंटो सुधार भी कहा जाता है।

टिप्पणी

भारत की स्वतंत्रता उस ऐतिहासिक बलिदान का परिणाम था जिसके लिए लाखों भारतवासियों ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन कमजोर हो गया था। उसमें अब अपने उपनिवेश पर बलपूर्वक अपनी सत्ता बनाए रखने की शक्ति नहीं रह गई थी।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली द्वारा भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा पर अमल करते हुए भारतीय स्वाधीनता अधिनियम बनाया गया। 4 जुलाई, 1947 ई. को संसद में विधेयक रखा गया एवं 18 जुलाई, 1947 ई. को यह विधेयक पारित कर दिया गया। इस अधिनियम द्वारा भारत एवं पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपना संविधान बनाने की स्वतंत्र अनुमति प्रदान कर दी गई।

1.8 मुख्य शब्दावली

- **सत्ता** : शक्ति, शासन।
- **उत्तरदायी** : जिम्मेदार।
- **वायसराय** : गवर्नर जनरल।
- **निरंकुश** : जिस पर कोई नियंत्रण न हो।
- **पारित** : पास होना, लागू होना।
- **कटु** : कड़वा।
- **वैमनस्यता** : शत्रतुता।
- **विद्यमान** : उपस्थित, मौजूद।
- **उजागर** : दिखाना, प्रकट करना।
- **डांवांडोल** : अस्थिर।
- **हस्तक्षेप** : रुकावट।

1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. केंद्रीय प्रशासन के अंतर्गत कब से कब तक का विवेचन किया गया है?
2. ब्रिटिश काल में भारत के जिला प्रशासन पर टिप्पणी कीजिए।
3. 1919 का अधिनियम क्या है? स्पष्ट कीजिए।
4. बटलर कमेटी से आप क्या समझते हैं?
5. रॉलेट एक्ट क्या है? परिभाषित कीजिए।
6. आजाद हिंद फौज की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटिश राज्य में केंद्रीय, प्रांतीय एवं जिला प्रशासन पर नियंत्रण की समीक्षा कीजिए।

टिप्पणी

2. अंग्रेजों का भारतीय सियासतों के साथ कैसा संबंध था? विवेचना कीजिए।
3. विदेशी संबंधों को संचालित करने वाले सिद्धांतों एवं नीतियों का उल्लेख कीजिए।
4. भारत सरकार अधिनियम 1935 की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
5. स्वतंत्रता और भारत विभाजन के प्रमुख कारकों की व्याख्या कीजिए।

1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
3. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
4. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
5. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
6. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 2 अर्थव्यवस्था

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय

2.1 उद्देश्य

2.2 साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत : पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा एवं संरचना, भुगतान संतुलन, निकास एवं मुद्रा की समस्या

- 2.2.1 पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा और संरचना
- 2.2.2 भुगतान संतुलन
- 2.2.3 निकास और मुद्रा की समस्या

2.3 कृषि संबंध : क्षेत्रीय विविधताएं एवं उनका प्रशासन

- 2.3.1 वाणिज्यीकरण की सामाजिक एवं आर्थिक उत्पत्ति और उसके प्रभाव
- 2.3.2 कृषक एवं जमींदारों के संबंध में स्तरीकरण की प्रकृति एवं विस्तार
- 2.3.3 कृषि श्रमिक एवं राज्य

2.4 घरेलू और शिल्प उद्योग

- 2.4.1 आधुनिक उद्योगों का उदय
- 2.4.2 पूंजीवादी वर्ग का उदय
- 2.4.3 श्रमिक वर्ग का उदय

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

2.6 सारांश

2.7 मुख्य शब्दावली

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

किसी भी अर्थव्यवस्था पर सामयिक व्यवस्थाओं का गहन प्रभाव पड़ता है। भारतीय अर्थव्यवस्था भी इससे अछूती नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था को भी विभिन्न सामयिक कारकों ने प्रभावित किया है। पूंजीवाद एवं उद्योग का आपस में गहरा रिश्ता है। पूंजी से उद्योगों की स्थापना होती है तथा पूंजी के बिना उद्योगों का विकास नहीं हो सकता है। उद्योग में औद्योगिक श्रम का भी विशेष महत्व है।

भारत में प्रारंभिक आक्रमणकारी तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों में मुख्य अंतर यह था कि अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रारंभिक आक्रमणकारी ने न ही भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तन किया और न ही धन की निरंतर निकासी का सिद्धांत अपनाया। भारत में ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था, उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित हो गई तथा भारतीय अर्थव्यवस्था की सभी नीतियां एवं कार्यक्रम उपनिवेशी हितों के अनुकूल बनने लगे।

1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत से व्यापार करने की छूट मिल गई, जिसके फलस्वरूप भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीन निर्मित आयातित माल से भर गया। दूसरी ओर, भारतीय उत्पादों के लिये यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 ई. के पश्चात् तो यूरोपीय बाजार भारतीय उत्पादों के लिए

बिलकुल बंद ही हो गए। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

टिप्पणी

प्रस्तुत इकाई में साम्राज्यवादी विश्वव्यवस्था में भारत की स्थिति, कृषि संबंधों में क्षेत्रीय विविधता एवं प्रशासन, घरेलू और शिल्प उद्योग का उदय आदि तथ्यों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत की स्थिति को समझ पाएंगे;
- भुगतान संतुलन, निकास तथा मौद्रिक समस्या को जान पाएंगे;
- कृषक एवं जमींदारों के मध्य संबंधों को समझ पाएंगे;
- घरेलू एवं शिल्प उद्योगों के बारे में जान पाएंगे;
- पूंजीवादी एवं श्रमिक वर्ग के उदय के बारे में जान पाएंगे।

2.2 साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत : पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा एवं संरचना, भुगतान संतुलन, निकास एवं मुद्रा की समस्या

राष्ट्र की भूमिका को औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में कई इतिहासकार महत्व नहीं देते। इनमें से लगभग सभी साम्राज्यवादी इतिहासकार ही हैं, जैसे-वेरा एंसटिंग, सर पी. ग्रिफिथ्स, सर थियोडोर मॉरिसन आदि। इन विद्वानों के अनुसार, सरकारी कर नीति आदि चाहे जैसी भी हो भारत में कुटीर उद्योग की उत्पादन-क्षमता और तकनीक का ज्ञान ब्रिटेन के हाथ में था। भारत के लिए कृषि प्रधान देश होना एक तरह से अनिवार्य था, क्योंकि उत्पादन-क्षमता की दृष्टि से उसमें ही भारत को सुविधा थी और अंतर-वाणिज्य से भारत को आमदनी होती थी। एक बार पुनः इन साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि औपनिवेशिक शासन भारत के हित में था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि रेलमार्ग, सड़क परिवहन और बंदरगाह-निर्माण तथा कला-कौशल का आयात ब्रिटेन की उदारता के कारण हुआ था। अगर ऐसा न होता तो भारत में जो भी आधुनिकीकरण हुआ, वह भी न होता। इन विद्वानों के अनुसार, यदि अंग्रेज व्यापारी वर्ग की पूंजी और प्रबंधन भारत में मौजूद न होते तो 19वीं शताब्दी में भारतीयों का वाणिज्य-कौशल ऐसा नहीं था कि भारत आधुनिक युग में प्रवेश कर पाता। दूसरी ओर विभिन्न राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों, जैसे-महादेव गोविंद रानाडे, जैसे दादाभाई नौरोजी, रमेशचंद्र दत्त आदि ने इन धारणाओं के विपरीत सिद्धांत दिया है। इनके अनुसार, ब्रिटिश सरकार की नीतियों में केवल इंग्लैंड का पक्षपोषण एवं भारत का शोषण ही झलकता है। मार्क्सवादी धारा के अनुसार भी पूंजीवादी साम्राज्यवाद कभी शासित के हित में नहीं होता, अतः भारत में अंग्रेजों का शासन कैसे उपयोगी हो सकता है। इस व्यवस्था के विश्लेषण में मानवेंद्र नाथ राय, रजनीपाम दत्त आदि लेखकों ने तर्कपूर्ण ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस काल में भारत का केवल शोषण हुआ है। राष्ट्रवादी और

मॉर्क्सवादी विश्लेषण-पद्धति में उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में पराधीन देश की अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी राष्ट्रों के आयात को बहुत महत्व दिया जाता है।

2.2.1 पूंजी के शहरी प्रवाह की मात्रा और संरचना

टिप्पणी

ब्रिटिश शासनकाल में मुक्त व्यापार और अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप, अंग्रेज प्रशासनिक व्यवस्था में एक सुनिश्चित नीति के रूप में स्थापित था। एडम स्मिथ (1776 में प्रकाशित पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशंस) से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य में उभरे मैनचेस्टर संप्रदाय (काब्डेन, ब्राइट इत्यादि अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिक प्रवक्ताओं) तक इस नीति पर प्रायः सभी एकमत थे। इस मत के अनुसार, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप का अर्थ था कि पूंजीपतियों को ज्यादा कर देना होगा तथा पूंजी-संचय और विनिमय बाधित होगा। पूंजीवादी विकास का जो यंत्र मांग की आपूर्ति के दबाव में लाभप्रद उत्पादन कर रहा है, वह स्वयमेव गलत सिद्ध हो जाएगा। आयात-निर्यात के ऊपर शुल्क लगाने से प्रत्येक देश के अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का स्वाभाविक विकास बाधित होगा। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के बाद तेजी से विकास करते हुए पूंजीवाद ने इन नीति का मौखिक और व्यावहारिक रूप से अनुपालन प्रारंभ कर दिया था। भारत में अंग्रेजी शासन वैसे तो यह कह रहा था कि वह इस नीति का अनुसरण नहीं कर रहा है लेकिन वास्तविकता इससे कुछ अलग ही थी। प्रत्येक उपनिवेशिक देश में अधिकांशतया इसी नीति का पालन किया जाता है, फिर भारत इससे अछूता कैसे रह सकता था। औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि राष्ट्र द्वारा किसी किसी मामले में ऐसी कानूनी व्यवस्था की शुरुआत की जाए, जिससे अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य चलता रहे; कच्चे माल का उत्पादन बढ़े; यूरोप के औद्योगिक पदार्थ बिना किसी बाधा के बाजार में फैलते रहें; पूंजी के विनियोग के लिए कंपनी कानून आदि तैयार हों आदि। इन सब मामलों में अंग्रेज शासकों ने राष्ट्र के हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस की, क्योंकि अनेक क्षेत्रों में उपनिवेश-पूर्व का ढांचा पूंजीवादी विकास के अनुकूल न था और ढांचे में परिवर्तन करके उसे औपनिवेशिक हितों के अनुकूल बनाना आवश्यक था। इसलिए जहां आवश्यक हो वहां भली प्रकार से विचार करके राष्ट्र के हस्तक्षेप की जरूरत थी। संक्षेप में, उस समय के अंग्रेज सिद्धांतकारों के अनुसार, राष्ट्र के द्वारा आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप बुरी बात थी, पर वह यूरोप में ज्यादा बुरी थी। भारत जैसे उपनिवेश में उतनी बुरी नहीं थी। इन्होंने कहा कि भारत जैसे उपनिवेश में यदि किसी कारण से ऐसा करना पड़े तो यह ज्यादा गलत नहीं होगा।

अंग्रेजों ने भारत के वाणिज्यिक ढांचे को अपने अनुकूल बनाने के लिए सामान्यतया निम्न क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया-

1. उत्पादक के रूप में,
2. सड़कें, रेलमार्ग तथा बंदरगाहों के बुनियादी ढांचे को तैयार करना,
3. बाजार में खरीददार के रूप में सरकार की उपस्थिति,
4. कानून द्वारा व्यवसाय के नियंत्रण में,
5. आयात-निर्यात पर शुल्क के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य के नियंत्रण में,
6. इंग्लैंड को धन भेजने के यंत्र के रूप में भारत में ब्रिटिश सरकार की भूमिका, एवं
7. कर-नीति द्वारा आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय आय के वितरण पर नियंत्रण में।

टिप्पणी

ब्रिटिश सरकार ने भारत की अर्थव्यवस्था के आधारभूत क्षेत्रों, जैसे-सड़क, रेलवे, बंदरगाह आदि को तैयार करने में सबसे पहले रूचि दिखाई। इस क्रम में सबसे पहले रेलमार्ग का विकास किया गया। 1853 में गर्वनर लार्ड डलहौजी ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राजनीतिक और सामरिक कारणों से रेलमार्ग का निर्माण सरकार के लिए सुविधाजनक होगा। 1854 में देश की पहली रेलगाड़ी मुंबई से थाणे के बीच चलाई गई। इसके पीछे अंग्रेज पूंजीपतियों का दबाव भी था।

वास्तव में ब्रिटिश सरकार द्वारा रेलवे के विकास के पीछे निम्न कारण माने गए हैं-

1. रेलमार्ग को विकास-प्रणाली के रूप में इस्तेमाल करके भारत में कच्चा माल, विशेषकर कपास का इंग्लैंड के कारखानों को निर्यात,
2. भारत में रेल कंपनियों में ब्रिटिश पूंजी का विनियोग, एवं
3. रेलमार्ग द्वारा भारत के भातरी बाजारों में ब्रिटिश कारखानों के मालों, विशेषकर सूती कपड़ों की बिक्री करना।

वास्तविकता यह है कि उपरोक्त कारणों से ही देश में रेलवे का विकास किया गया तथा इसके पीछे अंग्रेजों की मंशा देश का आधुनिकीकरण करने की बिल्कुल नहीं थी। इन कारणों के अलावा रेलवे के विकास का एक कारण सामरिक भी था। सीमांत क्षेत्रों में जहां लाभ की संभावना न थी, वहां ब्रिटिश रेल कंपनियां भी नहीं थीं। वहां सरकार ने अपने खर्च पर रेलमार्ग बनाना शुरू किया और 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में करदाताओं के पैसे से सरकारी रेलमार्ग बनाए गए। यह काम ब्रिटिश पूंजीवादी रेल कंपनी के काम के साथ-साथ प्रारंभ हुआ।

रेलवे के विकास का सीधा प्रश्न व्यापार के विकास से था, वह भी इंग्लैंड के हित में लेकिन अंग्रेजों ने अपने इन प्रयासों के पीछे निम्न तर्क दिए-

1. रेलवे के विकास से इस्पात और कल-कारखाने स्थापित हुए, जिससे स्थानीय कारीगरों को नई तकनीक का ज्ञान हुआ। इससे उनके कौशल में वृद्धि हुई।
2. रेलवे से देश का आधुनिकीकरण हुआ।
3. रेलवे के विकास से पूरे देश में एकीकरण हुआ तथा भूतल परिवहन में अत्यधिक सुविधा हो गई, इत्यादि।

फिर भी जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने रेलवे का विकास किया था, वह पूरी तरह सफल नहीं हुए। ब्रिटिश माल की उतनी खपत भारत में नहीं हुई, जितना कि अंग्रेजों ने सोचा था। इसका एक कारण यह था कि अभी भी भारतीय उत्पादक कुछ न कुछ वस्तुओं का उत्पादन अवश्य कर रहे थे तथा लोग स्थानीय वस्तुओं पर ही ज्यादा भरोसा करते थे। इसके अलावा अंग्रेज व्यवसायियों ने जो आशा की थी, वह पूरी नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उस समय औसत राष्ट्रीय आय बहुत ही कम थी। इसके अलावा बंबई तथा अहमदाबाद के व्यापारियों ने सूती मिलें स्थापित करके ब्रिटिश सूती मिलों को टक्कर देना प्रारंभ कर दिया।

रेलमार्गों का भौगोलिक विन्यास और माल ढोने का किराया, जिस दर पर लिया जाता था, ये दोनों ही देश के भीतरी अंचलों से कच्चा माल ढोकर लाने और वहां औद्योगिक पदार्थों को ढोकर पहुंचाने के अनुकूल थे। उपरोक्त भौगोलिक विन्यास इस

टिप्पणी

प्रकार से किया गया था, जिससे कि भीतरी क्षेत्रों से कच्चा माल बंबई, कलकता आदि बड़े बंदरगाहों तक पहुंचने का निकटतम रास्ता मिल सके। दूसरी ओर इसी रेलमार्ग से मैनचेस्टर से सूती कपड़े और बर्मिंघम से लोहा-इस्पात आदि औद्योगिक पदार्थ सुदूर भीतरी अंचलों के बाजारों तक पहुंचाया जा सके। आंतरिक वाणिज्य अथवा औद्योगिक संभावनाओं की ओर देखकर रेलमार्गों का निर्माण नहीं किया गया। कच्चा माल तथा दूसरे कृषि-पदार्थ, जैसे पूर्वी बंगाल का चावल, मध्य प्रदेश और पंजाब का गेहूं एवं दक्षिण भारत का कपास कम किराए पर बंदरगाह शहरों तक लाए जाते थे। इन सब औद्योगिक पदार्थों पर वापसी में रेल किराया ज्यादा था। दूसरी ओर जो तैयार औद्योगिक माल बंदरगाह शहरों से देश के भीतरी हिस्सों में जाता था उसके ऊपर, भीतर से बंदरगाह की ओर जाने वाले औद्योगिक पदार्थों की तुलना में किराया कम था। रेलमार्गों का विन्यास इस प्रकार किया गया था, जिससे अंग्रेजी शासन को हर प्रकार से लाभ पहुंचे। रेलमार्ग की दिशा एवं किराया इस प्रकार निर्धारित किया गया था, जिससे कच्चे माल के निर्यात और औद्योगिक पदार्थों के आयात में सुगमता हो। इसी कारण भारत में औद्योगिक विकास में इन नीतियों से बाधा पड़ी।

रेलमार्ग देश की विकास की धारा से ज्यादा संबद्ध नहीं था। उद्योग और वाणिज्य के विकास के साथ-साथ उसका उद्‌भव देश की आवश्यकताओं के पूर्णतया अनुरूप नहीं था। 19वीं शताब्दी के इंग्लैंड में जो औद्योगिक क्रांति हुई तथा जिस प्रकार के आविष्कार किए गए, वे पूर्णतया देश की जरूरतों के अनुरूप थे लेकिन भारत में ऐसा नहीं था। इसके अलावा यूरोप और उत्तरी अमेरिका के कई अन्य देशों में भी रेलमार्गों का विकास बाजार में परिवर्तन की मांग, देशी पूंजीपतियों के आग्रह, लोहा-इस्पात मशीनरी, उद्योगों का प्रसार और लोहा, कोयला आदि खनिज पदार्थों के उद्योगों में वृद्धि आदि के मद्देनजर किया गया था। इन देशों में रेलवे के विकास के पीछे इंजीनियरी उद्योग, लोहा-इस्पात, खनिज पदार्थों की खुदाई आदि कारकों की प्रभावी भूमिका थी। दूसरी ओर भारत में 1855 से 1910 तक रेलमार्ग, 1940 तक रेल इंजन तथा मशीनरी एवं 1865 तक कोयला भी इंग्लैंड से मंगाया जाता था। इसीलिए रेलमार्ग के उद्‌भव के फलस्वरूप दूसरे भारी उद्योगों का, जो स्वाभाविक विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ।

इसी वजह से तत्कालीन भारतीय राष्ट्रवादियों ने रेलवे को धन के बहिर्गमन का एक तरीका बताया था। इंग्लैंड की पूंजी सुदूर भारत में विनियोग करने की दिशा में ही इसका विकास किया गया था। तथापि इस समय अंग्रेजों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह आई कि वे रेलवे के विकास में लगने वाले धन को भारतीयों से ही चाहते थे। लेकिन किसी भी भारतीय ने इसमें धन नहीं लगाया, फलतः कुछ अंग्रेज व्यवसायियों के दबाव और इंग्लैंड स्थित भारतीय साम्राज्य के अधिकारियों के पक्षपात के कारण भारत में रेल कंपनियों ने एक विशेष व्यवस्था शुरू की। इस व्यवस्था के अंतर्गत, जो लोग इस काम में पूंजी लगा रहे थे, उनके लिए रेल कंपनी के शेयर में निम्नतम पांच प्रतिशत सूद की गारंटी दी गई। अगर रेल कंपनियों को व्यापार में मुनाफा न हो, बल्कि नुकसान हो तो भी वह सूद उन्हें प्राप्त होगा। यह सूद सरकार अर्थात भारतीय करदाता की जेब से निकलेगा। एक गणना के अनुसार, भारत में प्रति मील रेलमार्ग के निर्माण पर उत्तरी अमेरिका में प्रति मील रेलमार्ग के निर्माण पर होने वाला खर्च का प्रायः डेढ़ गुना था। शर्त के अनुसार, जो सूद देना होता था, वह भारतीय रुपए में नही, बल्कि इंग्लैंड के पौंड स्टर्लिंग में देना होता था। समयानुसार इंग्लैंड को भारत सरकार द्वारा जो खर्च देना होता था, उसका एक बड़ा

टिप्पणी

अंश यह सूद हो जाता था-और यह धन के बर्हिगमन के प्रवाह को और तीव्र करता था। 1890 से यह खर्च रुपए के हिसाब में बहुत अधिक बढ़ गया, क्योंकि विश्व-बाजार में चांदी का दाम गिर जाने से भारतीय रुपए के साथ पौंड स्टर्लिंग की विनिमय दर बहुत गिर गई थी।

इन सभी बातों पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थनीतिक राष्ट्रीयतावाद के समर्थक विद्वान, जैसे-रमेशचंद्र दत्त तथा महादेव गोविंद रानाडे आदि ने रेलमार्ग के विस्तार को देश की समृद्धि बढ़ाने वाला नहीं माना। इसी संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि तब तक आधुनिक मार्गों की तैयारी का काम बहुत ही उपेक्षित था। दो-एक मार्गों को छोड़कर, जैसे कलकत्ता से पेशावर तक जाने वाली ग्रांड ट्रंक रोड। सड़कों का निर्माण रेलमार्गों के पूरक के रूप में अथवा सामरिक प्रयोजनों से होता था और वह भी सिपाही विद्रोह के दो-साल पहले लार्ड डलहौजी द्वारा स्थापित पब्लिक वर्क्स डिमार्टमेंट द्वारा शुरू हुआ था।

1951 अर्थात् प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में मिश्रित अर्थव्यवस्था को बल देने के लिए उत्पादक के रूप में सरकार की सक्रियता हमारे लिए प्रमुख है। इसके पहले उत्पादक के रूप में सरकार की भूमिका बहुत नगण्य थी। इसका कारण यह था कि सरकार अर्थनीति में सरकारी हस्तक्षेप की विरोधी नीति का पालन करती थी; फिर भी कई क्षेत्रों में, व्यक्तिगत स्वामित्व द्वारा परिचालित व्यवसाय को बिना हानि पहुंचाए, सरकारी प्रयास प्रारंभ हुए, जिसका उद्देश्य उस प्रकार के व्यवसाय को मदद पहुंचाना था। इस प्रकार के सरकारी उद्योगों का उद्देश्य कभी खर्च को कम करने की कोशिश, कभी सामरिक आपूर्ति को अव्याहत रखना, तो कभी सरकारी उद्योगों द्वारा अंग्रेज पूंजीपतियों के लिए एक नए व्यवसाय का सूत्रपात करना था।

सरकार की इस नीति की कुछ झलक हम तत्कालीन चाय उद्योग में देख सकते हैं। उस समय हमारे देश में जो चाय मिलती थी, वह चीन से आयातित थी और कुछ जंगली पौधों का मिश्रण उपयोग में आता था, जिससे चाय बनाई जाती थी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ के दो-तीन दशकों तक इंग्लैंड भी चीन से चाय का आयात करता था, जिस पर बहुत पैसा खर्च होता था। उस चाय को खरीदने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में होने वाली अपनी आय से पैसे देने पड़ते थे। इस समय कंपनी के कुछ अंग्रेज कर्मचारियों ने यह सोचा कि क्यों न चीनी चाय की खेती भारत में प्रारंभ की जाए। इसके अलावा देशी जंगली पौधों के साथ उनका मिश्रण करके भी चाय का निर्माण किया जाए। 1833 में नियमानुसार, सरकारी स्वामित्व और निर्देशन में असम में चाय के बगीचे शुरू किए गए और बाद में यही 'असम टी कंपनी' के नाम से देश की सबसे बड़ी और सबसे पुरानी चाय कंपनी बनी। यह कंपनी ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेज व्यापारियों को बेच दी। जब यह कंपनी बेची जा रही थी, उस समय द्वारकानाथ टैगोर इसे खरीदना चाहते थे, मगर सरकार ने यह कहा कि किसी 'नेटिव' व्यापारी को चाय कंपनी नहीं बेची जाएगी। चाय उद्योग में अंग्रेजों की इन नीतियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेजों की वास्तविक मंशा यह थी कि चाय के व्यवसाय को स्थापित करने में जो व्यय है, प्रारंभ उसे भारतीय करदाता से पूरा किया जाए तथा जब मुनाफा मिलने लगे तो यह व्यवसाय अंग्रेज व्यापारियों के हाथ में चला जाए और वास्तव में ऐसा ही हुआ। इंग्लैंड में पंजीकृत ब्रिटिश पूंजी से तैयार बहुत सी कंपनियों ने सरकार की विशेष जमीन पर, राजस्व मुक्त भूमि पाकर चाय के बागान स्थापित कर लिए। असम के चाय बागान-मालिकों के लिए मजदूर बाजार में

टिप्पणी

हस्तक्षेप करके अपने पक्षपातपूर्ण रवैये का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया। जिन स्थानों पर चाय के बागान स्थापित किए गए, वहां प्राय: खेती नहीं होती थी और जनसंख्या बहुत कम थी, इसलिए सरकार ने सुदूर प्रदेशों से (सरकारी आदेश द्वारा) दक्षिण बिहार से ओरांव और मुंडा जाति के आदिवासियों तथा मध्य प्रदेश के आदिवासियों को 'कुली' के रूप में वहां विस्थापित किया। ये लोग मौका पाते ही वापस अपने मूल निवास स्थानों पर चले जाते थे। इसकी वजह से इन चाय बागानों का काम प्रभावित होता था। इसको रोकने के लिए सरकार ने 1860 में एक कानून बनाया, जिसके अनुसार यदि कोई मजदूर शर्त तोड़कर चला जाता है तो उनका यह अपराध फौजदारी कानून के अंतर्गत सजा पाने योग्य माना जाएगा। (यद्यपि आमतौर पर शर्त तोड़ना केवल दीवानी अदालत के लिये दंडनीय अपराध होता है)। द्वारकानाथ गांगुली से लेकर प्रफुल्लचंद्र राय तक विभिन्न भारतीय विद्वानों ने अंग्रेज सरकार के इस नियम का तीव्र विरोध किया। उनके अनुसार, हम लोग देश की चाय न पीकर मजदूरों का खून पी रहे हैं। इन्होंने यह बताया कि किस प्रकार जब तक ब्रिटिश पूंजी इस व्यापार में प्रबल थी, तब तक मजदूरों की स्थिति 1825 के पहले के वेस्टइंडीज के चीनी व्यवसाय अथवा 1860 के पहले के अमेरिका के कपास के खेतों में काम करने वाले अश्वेत गुलामों के समान थी। उनकी इस स्थिति के लिए सरकार का समर्थन काफी हद तक उत्तरदायी है।

औपनिवेशिक सरकार की औद्योगिक नीति का दूसरा उद्देश्य था-सामरिक साजो-सामान की आपूर्ति करना, जैसे-गोला बारूद और बंदूक निर्माण आदि। कंपनी के शासन काल में 1830 से 1890 के बीच सरकारी प्रयास व सहयोग से लोहे के कुछ कारखाने चालू करने का प्रयास किया गया। यह प्रयास कुमायूं के पहाड़ों पर, बंगाल के वीरभूमि इलाके में और मद्रास के पोर्टोनोवो क्षेत्रों में किए गए थे। किंतु ये चल नहीं पाए, क्योंकि जल्दी ही लोहे के बाजार में इंग्लैंड से आया हुआ सस्ता माल छा गया। इस लोहे से अस्त्र-शस्त्र बनाना सस्ता हो गया। चूंकि सरकार की सामरिक आवश्यकताएं बहुत अधिक थीं, फलत: 1846 में सरकारी उद्यम से दमदम में 'गन एंड शैल फैक्टरी' की शुरुआत की गई। इसी कारखाने में वह दमदम-बुलेट बनी, जो मनुष्य के शरीर में घुसकर फटती है और बहुत बड़ा घाव बनाती है। आजकल यह बुलेट अंतर्राष्ट्रीय जिनेवा संधि के अनुसार निषिद्ध अस्त्रों की श्रेणी में आती है। 1860 में कानपुर में सामरिक प्रयोजन से चमड़े की बनी जीन, हौदा और बूट आदि बनाने के कारखाने लगाए गए। इसके बाद कानपुर चमड़ा-उद्योग का केंद्र बन गया। 1905 तक की अवधि में सरकारी उद्यम से चलने वाले दमदम के कारखाने जैसे- गोला-बारूद के 13 कारखाने, भारत में शुरू किए गए। भारत में जिस प्रकार के सरकारी उद्योग-धंधे पनप रहे थे, वे न केवल सीमित थे बल्कि भारत के अर्थनीतिक विकास और आवश्यकताओं के साथ उनका कोई संबंध भी नहीं था। उत्पादक के रूप में अथवा उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए अनेक देशों में राज्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जब औद्योगिक क्रांति प्रारंभ हुई तो कई देशों में इसके वे परिणाम नहीं मिले, जो मिलने चाहिए थे लेकिन फिर भी इन देशों में सरकार ने इन्हें पूर्ण समर्थन प्रदान किया, जिससे आगे चलकर यही देश विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों की श्रेणी में आ गए। इन देशों में रूस, अमेरिका और जापान आदि के नाम प्रमुख हैं। ब्रिटिश भारत में औपनिवेशिक सरकार के उद्यम गुलामों की ओर नजर रखकर निर्मित नहीं किए जा सकते थे।

वर्तमान समय के समान तत्कालीन समय में भी बाजार की सबसे बड़ी खरीददार सरकार ही थी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि बाजार में सरकार विभिन्न प्रयोजनों के लिए

टिप्पणी

बड़ी मात्रा में वस्तुओं की खरीददारी करती थी, जैसे-सैनिकों के लिये वर्दी, अन्य सामान इत्यादि। यह खरीददारी भारतीय बाजारों से इंग्लैंड स्थित इंडिया हाउस के निर्देशानुसार की जाती थी। तथापि यह खरीददारी भारतीय बाजार से भारतीय रुपयों से ही की जाती थी। इसका परिणाम यह होता था कि एक ओर भारत के पैसे से इंग्लैंड के व्यापारी संपन्न हो रहे थे, तो दूसरी ओर भारत सरकार का विदेशी मुद्रा का खर्च बढ़ता जाता था। 1876 में यह खर्च इतना अधिक हो गया कि भारत सचिव लॉर्ड सैलिसबरी ने बहुत-सी चीजों को भारत में खरीदने की शुरुआत करने का आदेश दिया, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे चीजें भारतीय व्यवसायियों से खरीदी जानी थीं, बल्कि उन्हें भारत-स्थित ब्रिटिश व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से खरीदा जाना था। इसके बाद भारत में सरकारी खरीद शुरू हुई और 1914 से लेकर द्वितीय विश्व-युद्ध की अवधि में आपूर्ति की कठिनाई के कारण भारत सरकार ने इसी देश में प्रायः सब कुछ खरीदना शुरू किया। इस प्रकार परिस्थितियों के दबाव में और खर्च कम करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने देशी चीजों को धीरे-धीरे खरीदना आरंभ किया।

अंग्रेजी सरकार आयात-निर्यात पर शुल्क लगाकर और बहुत ही सीमित मामलों में निषेधाज्ञा द्वारा, अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर नियंत्रण रखती थी। इस देश में ब्रिटिश औद्योगिक पदार्थों के लिए बाजार का निर्माण करने के मामले में इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के अलावा भी ब्रिटिश भारत की शुल्क-नीति की एक भूमिका थी। एक समय इन वस्तुओं की ज्यादा मांग नहीं थी। 18वीं शताब्दी के बंगाल में विदेशी चीजों का दाम ज्यादा था और उनके खरीददार कम थे। इसीलिए बाजार में ये वस्तुएं बहुसंख्यक मात्रा में पड़ी रहती थीं। देश के उद्योगों के विकास के लिए बाहरी वाणिज्य पर नियंत्रण रखना, स्वाधीन राष्ट्र के अधिकार में होता है। लेकिन भारत के संबंध में यह स्थिति पूर्णतया विपरीत थी। इसे रमेशचंद्र दत्त ने विस्तार से दिखाया है।

1857 की क्रांति के उपरांत सरकारी खर्च और ऋण में वृद्धि हुई, जिसके फलस्वरूप सरकार को बाध्य होकर अपनी आमदनी बढ़ानी पड़ी और उसने आयातित औद्योगिक पदार्थों पर, विशेषकर सूत और कपड़ों पर, शुल्क बढ़ा दिया। यह एक आपातकालीन व्यवस्था थी, जो इंग्लैंड के औद्योगिक हितों के पक्ष में नहीं थी। 1860 में ब्रिटिश भारत के पहले बजट में जेम्स विल्सन ने शुल्क-नीति का निर्धारण किया। उन्होंने कहा कि आयातित औद्योगिक पदार्थों पर जितना जल्दी हो सके और जितना अधिक हो सके, शुल्क कम करना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इससे इंग्लैंड के उद्योगों को नुकसान हो रहा है। दूसरे, निर्यातित कच्चे माल के ऊपर शुल्क न लगाना ही ठीक है, क्योंकि ऐसा न करने पर इंग्लैंड के कारखानों में कच्चे माल का दाम बढ़ जाएगा और उसी परिणाम में भारत के कृषि-उत्पादों से होने वाली विदेशी मुद्रा की आय कम हो जाएगी। इन दोनों नीतियों के पीछे निर्बाध वाणिज्य की विचारधारा काम कर रही थी। इसके अलावा एक प्रश्न यह भी था कि सरकार के आय-व्यय को कम से कम समान रखने की आवश्यकता थी या नहीं। इसीलिए भारत के प्रथम वित्तमंत्री ने जो पहला भारतीय बजट बनाया, उसमें हालांकि उपरोक्त दोनों नीतियों को अकाट्य तर्क के रूप में ग्रहण किया गया था, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि बाद की प्रायः आधी शताब्दी में आय-व्यय के संतुलन को बनाए रखने की असमर्थता को कभी-कभी अपवाद के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इसी कारण 1874 तक आयात शुल्क में उतार-चढ़ाव होता रहा। लेकिन उसे कम रखने के ही प्रयास होते रहे। यह सही है कि इंग्लैंड के उद्योगपति निःशुल्क आयात के

पक्षधर थे, पर ऐसा करने पर सरकार की आमदनी खर्च की तुलना में गिर जाती, इसलिए ऐसा करना संभव नहीं हुआ।

टिप्पणी

1874 से 1882 तक का समय शुल्क नीति के इतिहास का दूसरा चरण माना जा सकता है। 1874 में मैनचेस्टर के सूती मिल-मालिकों ने उनके कपड़ों पर शुल्क लगाए जाने का तीव्र प्रतिरोध किया। उन्होंने कहा कि इससे भारत सरकार परोक्ष रूप में बंबई के भारतीय उद्योगपतियों को संरक्षण दे रही है। गवर्नर जनरल नार्थ ब्रुक ने देखा कि आयात शुल्क हटाने पर खजाना खाली हो जाएगा, लेकिन लिबरल पार्टी के होने के कारण शायद वे भारतीय हितों के प्रति थोड़े नरम थे। उन्होंने 1875 के बजट में आयातित कपड़ों पर से 5 प्रतिशत शुल्क को हटाने में असमर्थता व्यक्त की। यानी कि पहले दौर की लड़ाई में मैनचेस्टर के सूती मिल-मालिकों की बात नहीं मानी गई। दूसरे दौर में ब्रिटेन में सत्ता परिवर्तित हो गई तथा लिबरल भारत-सचिव आर. गाइल की जगह टोरी मंत्री सैलिसबरी आए। टोरी ने मैनचेस्टर के उद्योपतियों की मांग का समर्थन किया। सैलिसबरी ने कहा कि नार्थब्रुक ने भारत-सचिव की मांग पर बिना विचार किए ही अपनी राय देकर गलती की है। नार्थ ब्रुक ने इसका कड़ा विरोध किया। हालांकि इस वाद-विवाद का कोई परिणाम नहीं निकला। तीसरे दौर में भारत सरकार के ऊपरी हलकों में इंग्लैंड ने परिवर्तन किया। इंग्लैंड के नए मंत्रिमंडल के निर्देश से नार्थब्रुक की जगह गवर्नर जनरल पद पर 1876 में लॉर्ड लिटन की नियुक्ति हुई। उनके वित्तमंत्री जॉन स्ट्रेची (1877) थे, जो मुक्त व्यापार के तीव्र समर्थक थे। इसी स्थिति का लाभ उठाकर इंग्लैंड के उद्योगपतियों के दबाव में 'हाउस ऑफ कॉमंस' में भारत में आयात शुल्क खारिज करने के पक्ष में प्रस्ताव पास किया गया। फलस्वरूप 1878 के भारतीय बजट में मध्यम श्रेणी के कपड़ों पर शुल्क समाप्त कर दिया गया जब इस पर भी इंग्लैंड संतुष्ट नहीं हुआ, तो बहुत महीन, उच्च श्रेणी के कीमती कपड़ों के अलावा सभी कपड़े बिना शुल्क के आयातित होने लगे। लेकिन भारतीय एवं इंग्लैंड के सूती वस्त्र निर्माताओं के इस झगड़े में इंग्लैंड के निर्माताओं की ही विजय हुई, जो स्वाभाविक थी।

1882-1894 का काल शुल्क नीति के इतिहास का अगला चरण है। इस समय नाममात्र के आयात शुल्क को भी समाप्त कर दिया गया और ब्रिटिश-भारत मुक्त व्यापार का आश्रय स्थल बन गया। इस समय मात्र नमक और उच्च कोटि की शराब के ऊपर ही शुल्क था। इसके अलावा अन्य सभी व्यापारिक वस्तुएं शुल्क मुक्त थीं। इसका श्रेय 1882 के बजट के निर्माता लॉर्ड बेयरिंग को जाता है। बेयरिंग इंग्लैंड के एक प्रख्यात शासक तथा अर्थशास्त्री थे।

लेकिन भारतीय शुल्क को समाप्त करने का सबसे प्रमुख कारण अंतिम दो चरणों में इंग्लैंड के व्यावसायिक हितों को पूरा करने का प्रयास ही था। 1874-95 के वर्षों में इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था में एक गहरा संकट आया, जैसा कि पूंजीवादी व्यवस्थाओं में बीच-बीच में देखा जाता है। इस संकट के फलस्वरूप इंग्लैंड से उत्पादन कम हुआ, बेकारी बढ़ी, लाभ और विदेशी विनियोग में गिरावट आई। इसीलिए विदेशों में औद्योगिक पदार्थों का निर्यात करके इस संकट से उत्पन्न होने वाले नुकसान की भरपाई करना उनके लिए आवश्यक हो गया। इसी संकट में ब्रिटिश-भारत सरकार ने पूरी तरह मुक्त व्यापार की नीति का पालन किया। लेकिन सरकार के सामने एक बड़ा संकट यह था कि उसे अपने व्यय के लिए धन की जो आवश्यकता थी, वह कहां से आए। इस समय जहां औद्योगिक पदार्थों का आयात रहा था, वहीं आयात शुल्क के अभाव में आय का एक

टिप्पणी

सीधा रास्ता बंद हो रहा था। इसीलिए 1894-95 से दोबारा कई वस्तुओं पर बहुत नीची दर पर आयात शुल्क लगा दिया गया। इन सभी वस्तुओं पर बहुत नीची दर पर आयात शुल्क लागू किया गया। वस्त्र इन वस्तुओं में सबसे आय प्रदान करने वाली वस्तु थी। इसी वजह से एक बार पुनः इंग्लैंड के वस्त्र निर्माता यह मांग करने लगे कि भारत से जो कपड़ा इंग्लैंड आ रहा है, उस पर आयात शुल्क लगाया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही भारत में विर्निमित कपड़ों पर भी उसी दर से विशेष कर लगाया दिया गया। इसका उद्देश्य था-मैनचेस्टर से आयातित कपड़ों और भारत में बने कपड़ों पर समान कर भार डालना, जिससे इस देश में बने कपड़ों को प्रतिद्वंद्विता में कोई सुविधा न हो। इस प्रकार सरकार के पास शुल्क से पैसा भी आया और मुक्त व्यापार भी मूल नीति भी बन रही। इस शुल्क द्वारा देशी शिल्प के संरक्षण की संभावना समाप्त हो गई। यही नीति जिसे समतुल्य कर नीति कहा जाता है, इस शताब्दी के बीस के दशक तक चलती रही, आगे चलकर जिसके विरुद्ध कांग्रेस ने विरोध की नीति अपनाई।

इससे स्पष्ट होता है कि आयात-निर्यात शुल्क-नीति की मूल अवधारणा यह थी कि मुक्त व्यापार-नीति के नाम पर औद्योगीकरण में आगे बढ़े इंग्लैंड के उद्योगपतियों को भारतीय बाजार पर कब्जा करने में सहायता पहुंचाई जाए। रमेशचंद्र दत्त, मदनमोहन मालवीय इत्यादि ने इसी कारण शुल्क नीति पर खूब जोर दिया था, क्योंकि इसके कारण देश का औद्योगीकरण पिछड़ रहा था। ब्रिटिश सरकार ने शुल्क नीति को इतना महत्व क्यों दिया था? इसका उत्तर यह है कि इंग्लैंड के औद्योगिक हितों द्वारा डाले गए राजनैतिक दबाव के कारण; जो पार्लियामेंट से भारत सचिव के माध्यम से भारत के गर्वनर जनरल और भारत सरकार पर पड़ता था। किसी-किसी समय यह दबाव बहुत ज्यादा हो जाता था, जैसे 1874-1895 की ब्रिटिश मंदी तथा आर्थिक संकट के समय। दूसरे, भारत एक ऐसा उपनिवेश था, जहां अंग्रेज प्रायः निरंकुश थे। कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया जैसे श्वेत लोगों के उपनिवेशों ने स्वाधीनता के तुरंत बाद ही अपने देश के औद्योगिक संरक्षण के लिए विदेशी आयातित वस्तुओं पर ऊंचा शुल्क लगा दिया था। तीसरे, भारत का बाहरी वाणिज्य इंग्लैंड के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि 20वीं शताब्दी के शुरुआती दशकों तक भारत 60 प्रतिशत आयात इंग्लैंड से करता था। मात्र इतना ही नहीं, भारत द्वारा अन्य देशों को निर्यात से जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती थी, उससे उन सभी देशों के साथ इंग्लैंड के वाणिज्य का मुद्रा-विनिमय किया जाता था।

औपनिवेशिक शासनकाल की शुल्क नीति का यह जो स्वरूप है, उसमें थोड़ा परिवर्तन ब्रिटिश शासन के अंतिम दो दशकों में दिखाई पड़ता है। जापान और इस समय जर्मनी व्यापार के मामले में इंग्लैंड को कड़ी चुनौती दे रहा था। इस वजह से इंग्लैंड ने सोचा कि उसे अपने उपनिवेशों में अपने वाणिज्यिक हितों की तलाश करनी चाहिये। फलतः उसने अपने औद्योगिक हितों के रक्षा करने के प्रयास में भारत के कुछ उद्योगों को शुल्क-संरक्षण नीति के अंतर्गत ले लिया था।

2.2.2 भुगतान संतुलन

किसी देश के भुगतान संतुलन का अर्थ है- उस देश का विश्व के अन्य देशों के साथ हुए वित्तीय लेन-देन का विवरण। यह एक ऐसा विवरण होता है जिसमें वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा होता है। अन्य शब्दों में, एक देश का व्यापार संतुलन, एक निश्चित अवधि के भीतर आयात-निर्यात मूल्य के बीच के संबंध को

बताता है। व्यापार संतुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अंतर की ओर संकेत करता है। व्यापार संतुलन की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं–

टिप्पणी

1. जब किसी देश में एक निश्चित अवधि में आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है, तो उस देश का व्यापार संतुलन प्रतिकूल या विपरीत कहलाता है।
2. जब एक निश्चित अवधि में एक देश के आयात मूल्य निर्यात मूल्यों की अपेक्षा कम होते हैं तो उस देश का व्यापार संतुलन अनुकूल कहलाता है।
3. जब एक निश्चित अवधि में किसी देश के आयात मूल्य निर्यात मूल्यों के बराबर होते हैं, तो उसे संतुलित व्यापार संतुलन कहते हैं अथवा कहेंगे कि व्यापार संतुलन साम्यावस्था में है।

भुगतान शेष/भुगतान संतुलन के घटक

एक देश का भुगतान शेष लेखा दोहरी प्रविष्टि बहीखाता सिद्धांत के आधार पर बनाया जाता है। प्रत्येक सौदा चिट्ठे के क्रेडिट तथा डेबिट पक्ष में दर्ज किया जाता है। किसी देश का भुगतान शेष उसके संपूर्ण विदेशी लेन-देन का विवरण होता है। भुगतान शेष लेखांकन में क्रेडिट प्रविष्टियां चिट्ठे के बाईं ओर तथा डेबिट प्रविष्टियां दाईं ओर दिखाने की प्रथा है। जब किसी अन्य देश से भुगतान प्राप्त होता है तो यह क्रेडिट सौदा होता है और जब किसी बाहर के देश को भुगतान किया जाता है तो वह डेबिट सौदा कहलाता है।

भुगतान शेष के विवरण में सम्मिलित विभिन्न मदों का वर्गीकरण लीग ऑफ नेशन्स ने दो मुख्य शीर्षकों के अंतर्गत किया था। अधिकांश देश इसी के आधार पर भुगतान शेष का विवरण तैयार करते हैं।

(i) **चालू खाता–** भुगतान शेष का प्रमुख शीर्षक चालू खाता होता है जिसमें दृश्य तथा अदृश्य मदें शामिल रहती हैं। अमौद्रिक उद्देश्यों से विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का आयात-निर्यात तथा अनुमान में भूल-चूक की संभावनाओं को भी चालू खाते में ही सम्मिलित किया जाता है।

देश के चालू खाते में वे सभी लेन-देन आते हैं जो वस्तुओं व सेवाओं के व्यापार तथा एकपक्षीय हस्तांतरणों से संबंध रखते हैं। इसमें भौतिक वस्तुओं के निर्यात एवं आयात दृश्य मदें होती हैं तथा सेवाएं और हस्तांतरण भुगतान एवं प्राप्तियां अदृश्य मदें कहलाती हैं। सेवाओं के लेन-देन में बैंकिंग सेवा, बीमा, विशेषज्ञ शिक्षा-यात्रा तथा परिवहन विदेशी निवेशों पर आय अर्थात लाभांश को शामिल किया जाता है। हस्तांतरण भुगतानों का संबंध उपहारों, पेंशनों, निजी प्रेषणों, दान उपहार आदि से है।

(ii) **पूंजी खाता–** जिस प्रकार वस्तुओं, सेवाओं तथा कुछ अन्य लेन-देनों से चालू खाता बनता है, उसी प्रकार पूंजी खाता विदेशी परिसंपत्तियों से बनता है। देश के पूंजी खाते के अंतर्गत देश की वित्तीय परिसंपत्तियों के लेन-देन आते हैं जो अल्पावधि एवं दीर्घावधि उधार-दान तथा उधार-ग्रहण और निजी तथा सरकारी निवेशों के रूप में पाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, पूंजी लेखा ऋणों और निवेशों के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह को दर्शाता है और देश की परिसंपत्तियों और देयताओं में हुए परिवर्तनों को व्यक्त करता है। दीर्घावधि लेन-देन उन अंतर्राष्ट्रीय पूंजीपतियों से संबंध रखते हैं जिनकी परिपक्वता अवधि एक वर्ष या एक वर्ष से अधिक होती

टिप्पणी

है और उनमें प्रत्यक्ष निवेश जैसे विदेशी प्लांट लगाना, विदेशी बॉण्डों और स्टॉकों का क्रय और अंतर्राष्ट्रीय ऋण शामिल रहते हैं।

(iii) **सरकारी व्यवस्थापन लेखा–** सरकारी व्यवस्थापन लेखा अथवा सरकारी रिजर्व परिसंपत्ति लेखा आजकल इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों के भुगतान शेषों में अलग दिखते हैं। यह लेखा सामान्यत: वर्ष के दौरान देश की विदेशी सरकारी धारकों के पास तरल तथा अतरल देयताओं में परिवर्तन को और राष्ट्र की सरकारी रिजर्व परिसंपत्तियों में परिवर्तन को मापता है। किसी देश की सरकारी रिजर्व परिसंपत्तियों में उसका स्वर्ण का स्टॉक, उसकी परिवर्तनीय विदेशी करेंसियां तथा विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights - SDRs) के धारण और IMF में उसकी निवल स्थिति शामिल हैं।

(iv) **अशुद्धियां एवं भूल चूक–** यह मद प्रत्येक देश के भुगतान संतुलन लेखा में होती है ताकि दोहरी प्रविष्टी बहीखाता नियमों के अनुसार तीनों लेखों के कुल क्रेडिट तथा कुल डेबिट अवश्य ही एक-दूसरे के बराबर हों।

भुगतान शेष में असंतुलन के कारण

एक देश को भुगतान शेष में असंतुलन की स्थिति में या तो घाटा हो सकता है या अतिरेक हो सकता है। संक्षेप में भुगतान शेष में असंतुलन उत्पन्न होने के लिए प्रमुख उत्तरदायी कारक इस प्रकार हैं–

1. **अस्थायी असंतुलन–** व्यापार में आकस्मिक परिवर्तन, मौसमी उतार-चढ़ाव, कृषि उत्पादों पर मौसम का प्रभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो अस्थायी रूप से असंतुलन उत्पन्न कर देते हैं। इस तरह के अस्थायी कारणों से उत्पन्न होने वाले घाटे या अतिरेक थोड़े समय के लिए उत्पन्न होते हैं फिर अपने-आप ही ठीक हो जाते हैं।

2. **मौलिक असंतुलन–** मौलिक असंतुलन से अभिप्राय एक देश के भुगतान शेष में दीर्घकालीन और निरंतर परिवर्तन से है। आई.एम.एफ. के अनुसार यह चिरकालिक घाटा होता है। यह घाटा निम्न कारणों से होता है- (i) देश के भीतर या विदेश में उपभोक्ता रुचियों में परिवर्तन जो आयात-निर्यात में कम या अधिक कर देते हैं। (ii) अर्थव्यवस्था में स्फीति दबाव जो निर्यात को महंगा करते हैं। (iii) विश्व बाजार में नीची प्रतियोगिता शक्ति जो निर्यातों पर बुरा प्रभाव डालती है। (iv) विदेशी मुद्रा रिजर्व में निरंतर कमी होने के कारण पूंजी पदार्थों, कच्चे माल, टेक्नोलॉजी आदि के बड़े आयातों व बाह्य ऋणग्रस्तता के कारण अत्यधिक पूंजी बाह्य प्रवाह के कारण।

3. **संरचनात्मक असंतुलन–** घरेलू उद्योगों या विदेशी उद्योगों में वस्तुओं के उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन, तकनीकी परिवर्तन के कारण वस्तुओं की लागतों-कीमतों व गुणवत्ता में परिवर्तन के कारण, दूसरे देशों द्वारा सभी प्रकार के निर्यात प्रतिबंध तथा विदेशी पूंजी के प्रवाह में अनियमितता और पूर्ति में कमी आादि संरचनात्मक परिवर्तन दीर्घकाल में भुगतान शेष में घाटा लाते हैं।

4. **विनिमय दर में परिवर्तन–** घरेलू करेन्सी के अधिमूल्यन से भुगतान शेष में घाटा होता है क्योंकि इससे विदेशी वस्तुएं सस्ती और विदेशों में निर्यात महंगे

हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है और भुगतान शेष में घाटा उत्पन्न हो जाता है।

टिप्पणी

5. **चक्रीय असंतुलन–** व्यापार चक्रों के कारण किसी देश के भुगतान संतुलन में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब मंदी होती है तो आय स्तर में कमी के कारण विदेशों से आयात घट जाते हैं। मंदी की दशा में दूसरे देशों के साथ निर्यातों व आयातों की मात्राओं में तीव्र गिरावट आती है। परंतु घरेलू उत्पादन में कमी के परिणामस्वरूप आयातों की तुलना में निर्यातों में बहुत अधिक कमी हो जाती है। इससे भुगतान शेष का घाटा होता है और प्रतिकूल हो जाता है।

6. **राष्ट्रीय आय में परिवर्तन–** देश की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के फलस्वरूप भी असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। यदि राष्ट्रीय आय बढ़ेगी तो आयात भी बढ़ेंगे यदि अन्य बातें समान रहें तो भुगतान शेष घाटा उत्पन्न हो जाएगा। यदि देश में पहले से ही पूर्ण रोजगार का स्तर है तो आय में वृद्धि के कारण स्फीतिकारी वृद्धि होगी तो भी देश में आयातों में वृद्धि होगी और भुगतान शेष का घाटा बढ़ जाएगा।

   आय में दीर्घकालीन परिवर्तन आर्थिक विकास पर अपना प्रभाव डालते हैं। विकास के प्रथम चरण में आयातों की अधिकता के कारण भुगतान संतुलन में प्रतिकूलता आती है। धीरे-धीरे उत्पादन व्यवस्था में सुधार होने, साधनों का अनुकूलतम उपयोग होने तथा विदेशी आयातों पर निर्भरता कम होने पर देश का भुगतान संतुलन अनुकूल अवस्था में आ जाएगा।

7. **स्फीति–** स्फीति के कारण भी भुगतान शेष में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। जब देश में स्फीति की स्थिति होती है तो निर्यात की कीमत बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप निर्यात कम हो जाते हैं, साथ ही आयातों में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार निर्यातों में कमी होने तथा आयातों के बढ़ने से भुगतान शेष में घाटा बढ़ जाता है।

8. **आर्थिक विकास की अवस्था–** किसी देश का भुगतान शेष उसके आर्थिक विकास पर भी निर्भर करता है। यदि देश विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है तो उसके भुगतान संतुलन में घाटा होगा क्योंकि वह कच्चे माल, मशीनरी, पूंजी, उपकरण आदि का आयात करता है और प्राथमिक उत्पादन का निर्यात करता है। देश को महंगे आयात के बदले अधिक निर्यात करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप देश का भुगतान शेष असंतुलित हो जाता है।

   तीव्र औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के लिए विकासशील देशों को विकास कार्यक्रमों पर भारी मात्रा में व्यय करना पड़ता है।

9. **जनसंख्या वृद्धि–** विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर अधिक होती है जिसके कारण इन देशों में आयातों की मात्रा बढ़ जाती है और घरेलू उपभोग में वृद्धि होने के कारण निर्यातों में कमी होती है जिसके फलस्वरूप भुगतान शेष में घाटा उत्पन्न हो जाता है।

10. **प्रदर्शन प्रभाव–** विकसित देशों के संपर्क में आने पर विकासशील देशों के लोग उनकी उपभोग आदतों को अपनाने लगते हैं जिससे विदेशी वस्तुओं के आयात बढ़ जाते हैं और भुगतान शेष में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

टिप्पणी

11. **अंतर्राष्ट्रीय ऋण एवं विनियोग–** अपने विकास के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए विकासशील देश विकसित देशों से भारी मात्रा में ऋण लेते हैं जिसके ब्याज एवं मूलधन की वापसी में उन्हें बड़ी मात्रा में विदेशी विनिमय व्यय करना पड़ता है। फलस्वरूप उनके भुगतान शेष में असंतुलन पैदा हो जाता है।
12. **आयात प्रतिबंध–** प्राय: विकसित देश अपने भुगतान शेष को अनुकूल बनाए रखने के लिए आयात प्रतिबंध लगा देते हैं जिससे विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि नहीं हो पाती एवं उनके भुगतान शेष में असंतुलन पैदा हो जाता है।
13. **राजनीतिक स्थितियां–** किसी देश में राजनीतिक अस्थिरता भी भुगतान शेष में असंतुलन का कारण हो सकती है क्योंकि इससे विदेशी निवेशकों में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है जिससे पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है और अंतर्प्रवाह रुक जाता है। युद्ध या युद्ध के भय और देश में उपद्रव और अशांति के कारण भी असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है।

भुगतान असंतुलन को ठीक करने के लिए आर्थिक सुधार

भुगतान शेष में असंतुलन अल्पकालिक हो सकता है और दीर्घकालिक भी। भुगतान शेष की प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनों दीर्घकालिक होने पर विदेशी व्यापार के लिए हानिप्रद हैं। अत: आवश्यक होता है कि असंतुलन को संतुलित करने के लिए समुचित कदम उठाए जाएं। वर्तमान समय में भुगतान शेष में संतुलन प्राप्त करने अथवा उसे बनाए रखने के लिए योजनाबद्ध ढंग से प्रयास करने पड़ते हैं।

आर्थिक सुधार

भुगतान शेष को संतुलित करने के आर्थिक सुधार निम्नलिखित हैं–

1. **मुद्रा का अवमूल्यन–** सरकार द्वारा स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य जानबूझकर घटाना अवमूल्यन कहलाता है। जिस दर पर मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी मुद्राएं खरीदी व बेची जाती हैं उसे ऊंचा करके अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन का प्रभाव मूल्य ह्रास के समान होता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात विदेशों में सस्ते हो जाते हैं क्योंकि विदेशियों को इस देश का माल खरीदने के लिए पहले से कम भुगतान करना पड़ता है। इसके विपरीत आयात महंगे हो जाते हैं क्योंकि इस देश को विदेशियों को पहले से अधिक मात्रा में मुद्रा देनी पड़ती है। निर्यात प्रोत्साहन तथा आयात प्रोत्साहन दोनों के सामूहिक प्रयास से भुगतान शेष की प्रतिकूलता को दूर किया जा सकता है।

   प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए अवमूल्यन की सफलता निम्न बातों पर निर्भर करती है– (i) आयात व निर्यात के लिए मांग लोचपूर्ण होनी चाहिए। (ii) अवमूल्यन करने वाले देश में मुद्रा के आंतरिक मूल्य में स्थिरता रहनी चाहिए। (iii) जब अन्य देश जवाबी प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करें।
2. **विनिमय मूल्य ह्रास–** स्वतंत्र विनिमय बाजार में एक देश की मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में स्वाभाविक परिवर्तनों के फलस्वरूप इसकी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में कम हो जाता है अर्थात् गिर जाता है तो इसे मूल्य ह्रास की स्थिति कहते हैं। इसका प्रभाव अवमूल्यन के समान होता है। मूल्य ह्रास के कारण स्वदेशी मुद्रा विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती है जिससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयात हतोत्साहित होते हैं और भुगतान शेष की प्रतिकूलता में सुधार होने लगता है।

टिप्पणी

3. **मुद्रा संकुचन–** अवमूल्यन तथा मूल्य ह्रास का संबंध मुद्रा के बाहरी मूल्य में कमी से होता है जबकि मुद्रा संकुचन की नीति का उद्देश्य आंतरिक कीमत स्तर में कमी करना होता है। मुद्रा संकुचन के द्वारा सामान्य कीमत स्तर कम किया जाता है। देश में वस्तुओं की कीमतें घट जाती हैं। निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार मुद्रा संकुचन द्वारा भुगतान शेष के घाटे को दूर किया जा सकता है। इस विधि की सफलता इन शर्तों पर निर्भर करती है- (i) यदि देश स्वर्णमान पर आधारित हो अथवा उनके बीच विनिमय दरें स्थिर हों (ii) मुद्रा संकुचन की नीति अपनाते समय आयात-निर्यातों की मांग की लोच को ध्यान में रखना चाहिए।

मुद्रा संकुचन भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने का कोई अच्छा उपाय नहीं है क्योंकि देश में कीमतों को जानबूझकर गिराने से आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न होने का भय रहता है। कीमतों में कमी से उत्पादकों के लाभ कम हो जाते हैं। वे उत्पादन में कमी कर देते हैं तथा बेरोजगारी बढ़ जाती है। इस प्रकार, मुद्रा संकुचन देश में मंदी की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इस रीति का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए।

2.2.3 निकास और मुद्रा की समस्या

औपनिवेशिक शासनकाल में, विशेषकर 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में भारत से धन का तेजी से प्रवाह इंग्लैंड की ओर होने लगा। इस समय अंग्रेजों ने ऐसी नीति बनाई कि भारत को परतंत्र बनाए रखकर विदेशी पूंजीपतियों को यहां से मुनाफा कमाने का अवसर प्रदान किया जाए। प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश भारत सरकार ने विदेशों को धन भेजने की जो मशीनरी तैयार की थी, यहां उसका साफ प्रमाण मिल रहा था। देश के करदाताओं से प्राप्त धन को सरकारी भंडार से इंग्लैंड भेजने के लिए कई स्त्रोत तैयार किए गए थे।

इसमें सबसे पहले भारत सरकार के विदेशी ऋण की मद में देय सूद को भेजा जाने लगा। उस समय ईस्ट इंडिया कंपनी युद्धों पर ढेर सारा धन खर्च करती थी। ये युद्ध अधिकांशत: भारत के विभिन्न भागों को अपने कब्जे में करने के लिए लड़े जाते थे। 1858 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन ताज के हाथों में चला गया तो ताज ने भारत के संबंध में एक बिल्कुल नयी नीति की घोषणा की। इस नीति के प्रशासनिक पक्ष में यह प्रावधान था कि ब्रिटिश सरकार के जो भी ऋण हैं, उसे भारत द्वारा अदा किया जाएगा। हालांकि ऐसा प्रत्यक्ष तौर पर नहीं किया गया था लेकिन प्रशासनिक एवं आर्थिक नीतियों का ताना-बाना ऐसा बुना गया था कि अपने आप इस धन की भरपाई भारत से होनी थी। इसका अर्थ यह था कि इसका सूद भारतीय करदाता को देना होगा। 1857 के सैन्य विद्रोह को कुचलने में कंपनी का काफी धन लग गया, जिसके लिए इंग्लैंड के बाजार से ऋण लिया गया। उस ऋण का भार भी भारतीय करदाताओं पर आ पड़ा।

भारत सरकार के विदेश में होने वाले खर्च का एक और कारण था-रेल में विदेशी पूंजी का विनियोग तथा सड़क, नहर, बंदरगाह आदि के निर्माण और सरकारी तथा सामरिक कामों में आने वाली वस्तुओं की विदेश में खरीद। जैसा कि हम जानते हैं कि रेलवे में निवेश के लिए ऐसा नियम बनाया गया था कि गारंटीशुदा सूद रेल कंपनियों के शेयर-होल्डरों को देना पड़ता था। यह सूद प्राप्त करने वाले लोग लगभग

टिप्पणी

अंग्रेज ही थे। इसकी वजह से भारत के धन का एक बड़ा भाग इन निवेशकर्ताओं की जेब में चला जाता था।

इसके अलावा अन्य सामरिक खर्चों के लिए भी कंपनी को धन की आवश्यकता थी। जो अंग्रेज सैनिक भारतीय सेनाओं में भर्ती हुए थे, उनके लिए पहले ही दिन से इंग्लैंड में उनकी शिक्षा, खाना-पहनना और जहाज-भाड़ा से लेकर अवकाश-प्राप्ति तक का मासिक खर्च भारतीय करदाता को पौंड स्टार्लिंग में देना होता था। ब्रिटिश सेना की जब कोई रेजिमेंट भारत आती थी तो उसे प्रारंभ से ही धन का भुगतान भारतीय पैसे से किया जाता था। यह धन भारतीय करदाता को ब्रिटेन के युद्ध कार्यालय को देना होता था। विदित है कि एक देशी सिपाही पर होने वाले खर्च का प्रायः दोगुना खर्च एक अंग्रेज सिपाही पर होता था। अंग्रेज सिपाही के लिए विशेष प्रकार का खाना, कपड़ा, बैरकों का निर्माण तथा रहा-खर्च आदि देना पड़ता था। ऊपर से सिपाही विद्रोह के बाद सरकार ने यह नीति बनाई कि भारतीय तथा अंग्रेज सिपाहियों का अनुपात भारत में कम से कम 2:1 का होगा। इसके अलावा 1858 और 1914 के बीच ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार एवं अधिग्रहण के लिए अनेक युद्ध हुए, जैसे-बर्मा, अफगानिस्तान, चीन और इथोपिया में। इन सब युद्धों में होने वाले खर्च का एक बड़ा भाग भारत सरकार ने दिया। संक्षेप में, भारत के खर्चे पर भारत और अन्य उपनिवेशों को जीतने और उन पर अधिकार करने का अद्‌भुत उद्यम ब्रिटिश-भारत सरकार ने किया। इसके फलस्वरूप हमारे कर-भंडार से सरकार के हाथों पैसा विदेश भेजा जाता था।

भारत का शासन करने में होने वाले खर्च का एक भाग विभिन्न मदों में इंग्लैंड में होता था। भारत-सचिव ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होता था, पर उसका वेतन भारतीय करदाता को देना होता था। उसी प्रकार उनके सचिवालय तथा परामर्शदाताओं का खर्च, लंदन में भारत कार्यालय का खर्च, बैंक ऑफ इंग्लैंड को कमीशन के रूप में देय धन, यहां तक कि विभिन्न स्थानों पर (जैसे अरब अथवा चीन में) ब्रिटेन के विदेशी दूतावास अथवा वाणिज्य प्रतिनिधियों का खर्च भी भारतीय करदाता को वहन करना पड़ता था। लेकिन ब्रिटिश सरकार की धूर्तता को इस प्रकार समझा जा सकता है कि इंग्लैंड में ब्रिटिश-भारत की सरकार जो ढेर सारा धन व्यय करती थी, उसे 'देशी खर्च' कहा जाता था।

धन निष्कासन की मात्रा

ब्रिटिश काल में यद्यपि भारत से हुए धन के निष्कासन का बिल्कुल सटीक आकलन तो नहीं लगाया जा सकता लेकिन कुछ हद तक इसका आकलन अवश्य किया गया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश क्राउन द्वारा भारत से निकाले गए धन की मात्रा का अनुमान लगाना अत्यंत कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग आंकड़े दिए हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार से हैं-

- भारत को कम्पनी के माध्यम से ब्रिटिश ताज को सत्ता हस्तांतरण से सम्बन्धित व्यय, चीन के साथ हुए युद्धों के व्यय, लंदन में इण्डिया ऑफिस के व्यय, भारतीय सेना की रेजीमेण्टों के प्रशिक्षण व्यय, चीन और फारस में इंग्लैंड के राजनयिक मिशनों के व्यय, इंग्लैंड से भारत तक टेलिग्राफ लाइनों के सम्पूर्ण व्यय आदि विविध व्यय चुकाने पड़ते थे। इस कारण भारत पर वर्ष 1850-51 में 5.50 करोड़ रुपए का ऋण चढ़ गया।

टिप्पणी

- बंगाल प्रांत में प्राप्त होने वाले राजस्व एवं व्यय विवरण के अनुसार कम्पनी ने प्रथम छः वर्षों (1765-1771 ई.) में 1,30,66,991 पौण्ड शुद्ध राजस्व अर्जित किया जिसमें से 90,27,609 पौण्ड खर्च कर दिया। शेष बचे 40,39,152 पौण्ड का सामान इंग्लैंड भेज दिया गया।
- विलियम डिग्बी के अनुसार 1757 ई. से 1815 ई. तक भारत से 50 से 100 करोड़ पौण्ड राशि इंग्लैंड भेजी गई।
- 1757 के प्लासी के युद्ध के उपरांत एक आकलन के अनुसार वस्तुओं एवं सोने के रूप में जो धन इंग्लैंड भेजा गया, वह लगभग 4,94,16,11 पाउंड स्टर्लिंग था। इसी प्रकार के एक अन्य आकलन के अनुसार, केवल वर्ष 1880 में भारत से जो धन इंग्लैंड भेजा गया, वह भारत की कुल राष्ट्रीय आय का 4.14 प्रतिशत था।
- दादाभाई नौरोजी द्वारा किए गए एक आकलन के अनुसार, 1870 में भारत से इंग्लैंड भेजे गए धन की मात्रा 8 करोड़ रुपए थी। इसी प्रकार 1893 में यह बढ़कर 25 करोड़ हो गई। उनके अनुसार, 1883-92 की अवधि में धन की यह मात्रा 359 करोड़ रुपए थी।
- 1828 ई. में मार्टिन मोंटगोमरी ने इस निर्गम का अनुमान 30 हजार मिलियन पौण्ड (3 करोड़ पौण्ड) प्रतिवर्ष की दर से लगाया।
- जॉर्ज विन्सेट द्वारा 1859 ई. में लगाए गए अनुमान के अनुसार 1834 ई. से 1851 ई. तक भारत से 42,21,611 पौण्ड धन का निष्कासन प्रतिवर्ष हुआ।
- कम्पनी के अनुसार 1857 ई. के विद्रोह को दबाने में 47 करोड़ रुपए व्यय हुए। कम्पनी ने इस राशि को भारत पर कर्ज माना।
- दादा भाई नौरोजी तथा आर. सी. दत्त आदि राष्ट्रवादियों ने 1883 ई. से 1892 ई. तक के दस वर्षों में भारत से इंग्लैंड भेजी गई राशि 359 करोड़ पौण्ड बताई है।
- विभिन्न स्थलों से प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण करने पर अर्थशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 1834 से 1924 ई. तक के 90 वर्ष की अवधि में भारत से 394 से 591 मिलियन पौण्ड राशि इंग्लैंड भेजी गई।

धन-निष्कासन का स्वरूप

जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में व्यापार करना आरंभ किया तब से उसे हमेशा एक समस्या उलझाती रही, वह यह कि भारत से इंग्लैंड विकास की जिस व्यवस्था में था, उसमें कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसकी तुलना उत्तमता एवं तकनीकी दृष्टि से भारत में निर्मित वस्तुओं से की जा सके। यद्यपि उनका ऊनी कपड़े का उद्योग काफी विस्तृत था, लेकिन भारत में ऊनी कपड़े की मांग नहीं थी। इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत से माल खरीदने के लिए इंग्लैंड से सोना और चांदी भारत में लाना पड़ता था।

कंपनी का शुरू से ही यह प्रयास रहा कि किसी न किसी युक्ति से भारत को बिना कुछ दिए अथवा कम राशि देकर भारत से वस्तुएं ले जा सके। प्रारंभ में उनका विचार था कि अन्य उपनिवेशों से माल कमाकर भारत लाए और उस माल के बदले भारत में चीजें खरीदे। लेकिन कंपनी को, बिना कुछ दिए भारत से माल ले जाने का सुअवसर प्लासी के युद्ध के बाद मिला। लॉर्ड क्लाइव ने स्वयं स्वीकार किया था कि यह एक ऐसा समय था जब कंपनी और उसके कर्मचारी कंपनी के भविष्य की ओर ध्यान दिए बिना

टिप्पणी

व्यक्तिगत उपहार लेने के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचते थे। कंपनी ने भारत को न केवल व्यापार के क्षेत्र में ही लूटना आरंभ किया वरन् अपनी इच्छानुसार नरेशों को गद्दी पर बैठाकर उनसे नजराना और उपहार लेने शुरू किए। प्लासी के युद्ध के बाद जब मीर जाफर बंगाल का नवाब बना तब उसने न केवल कंपनी को बल्कि कंपनी के मुख्य अधिकारियों को भी बहुत-सा धन दिया।

इसी प्रकार प्रत्येक प्रत्येक बार जब भी बंगाल में नया शासक गद्दी पर बैठता तो कंपनी और उपहार या नजाराना प्राप्त होता था। लेकिन लुटेरी कंपनी केवल उपहार लेकर ही संतुष्ट कैसे हो सकती थी। उसने व्यापार में भी बल प्रयोग करना शुरू किया। विवश होकर 1762 ई. में बंगाल के नवाब ने ब्रिटिश गवर्नर को लिखा कि, ये रैयतों, व्यापारियों आदि को मार-पीटकर तथा उनका दमन करके अपनी एक रुपए की चीज 5 रुपए में बेच रहे हैं। इस प्रकार प्लासी के युद्ध के बाद कंपनी ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि वह एक औंस भी सोना दिए बिना संपूर्ण भारत का व्यापार करने में सफल हुई।

इस प्रकार अंग्रेज जब पहले-पहल भारत में व्यापार के लिए आए तब उनका उद्देश्य था- भारत द्वारा निर्मित वस्तुओं को उन देशों तक पहुंचाना जहां उनकी बहुत मांग थी। किन्तु धीरे-धीरे ये व्यापारी इस व्यापार के स्वरूप में एक ऐसा मौलिक परिवर्तन लाए कि व्यापार की दिशा ही बदल गई।

भारत, जो किसी समय सभी देशों को वस्तुएं निर्यात करने वाला एक महान् देश समझा जाता था, अब स्वयं एक कृषक उपनिवेश बनकर रह गया, जिसका काम था इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चा माल अंग्रेजों को देना और उस कच्चे माल से बनी वस्तुओं के लिए एक मंडी का काम करना।

धन निष्कासन के स्त्रोत

धन निष्कासन के प्रमुख स्त्रोत की पहचान निम्नलिखित रूप से की गई थी:

- बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल एवं बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स का वेतन व भत्ते,
- ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों का वेतन, भत्ते और पेंशन,
- उपहार से मिला हुआ धन,
- 1858 के बाद कंपनी की सारी देनदारियां,
- निजी व्यापार से प्राप्त लाभ,
- साम्राज्यवाद के विस्तार हेतु भारतीय सेना का उपयोग किया जाता था, जिससे रक्षा बजट का बोझ भारत पर ही पड़ता था (20वीं सदी की शुरुआत में यह रक्षा बजट 52% तक चला गया था)। रेल जैसे उद्योग में धन लगाने वाले पूंजीपतियों को निश्चित लाभ का दिया जाना आदि।

धन-निष्कासन के परिणाम

- भारत से अबाध रूप से धन के निष्कासन का प्रभाव भारतीय कृषि, उद्योग, व्यापार और सर्वाधिक वेतनभोगी भारतीयों पर पड़ा।
- धन-निष्कासन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि भारतीयों पर करों का बोझ अत्यधिक बढ़ गया। भारत का यह कर प्रति व्यक्ति आय का 14 प्रतिशत से अधिक था। इससे भारतीयों पर ऋण का बोझ बढ़ता गया और उनका जीवन-स्तर निरन्तर गिरता गया।

टिप्पणी

- धन-निष्कासन से देश में निर्धनता बढ़ गई, जिससे देश में बार-बार अकाल पड़ने लगे और इससे 2 करोड़ 85 लाख लोगों को अपनी जान गंवानी पड़ी।
- अंग्रेजों द्वारा अधिक धन-निष्कासन से भारत की अर्थव्यवस्था का रूपान्तरण एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में हो गया। जिससे देश में गहरा आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। इस गहराते आर्थिक संकट और धन-निष्कासन ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान की।

धन-निष्कासन के प्रभाव

भारत से इंग्लैंड में संसाधनों और सराफाओं की भारी मात्रा में निकासी ने भारत की अर्थव्यवस्था पर गंभीर नकारात्मक प्रभाव डाला और इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था पर अनुकूल सकारात्मक प्रभाव। निकास के ऐसे परिणामों का विभिन्न भारतीय अर्थशास्त्रियों जैसे दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे, आर.सी. दत्ता, जी.के. गोखले, जी.वी. जोशी और अन्य ने किया और निकास के अत्यंत हानिकारक प्रभावों पर विस्तार से बल दिया।

भारत से इंग्लैंड के लिए संसाधनों और पूंजी की निकासी की आलोचना करते हुए, एम.जी. रानाडे ने कहा, 'भारत की राष्ट्रीय आय का एक तिहाई से अधिक, किसी न किसी रूप में अंग्रेजों द्वारा छीन लिया गया था।'

1901 में, आर.सी. दत्ता ने देखा कि 'वर्तमान समय में पृथ्वी पर किसी भी देश में भारत से निकासी अस्पष्ट थी, शुद्ध राजस्व का आधा हिस्सा भारत से बाहर बहता है, वास्तव में भारत की नमी अन्य भूमि को आशीर्वाद देती है और उर्वरक करती है..। एक भूमि के संसाधनों की इतनी तीव्र आर्थिक निकासी पृथ्वी पर सबसे समृद्ध देशों को इतना गरीब कर देगी। इसने भारत को अकालों के देश में बदल दिया है, जो भारत के इतिहास में दुनिया के किसी भी अन्य ज्ञात अकाल की तुलना में अधिक बारंबार, अधिक व्यापक और अधिक घातक है।'

इंग्लैंड और भारत दोनों पर निष्कासन के प्रभावों का अध्ययन करना बेहतर होगा।

धन निष्कासन का इंग्लैंड पर प्रभाव : भारत से इंग्लैंड में संसाधनों और पूंजी की भारी मात्रा में निकासी के परिणामस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन में जीवन स्तर बेहतर हुआ। 1750 के बाद निष्कासन ने इंग्लैंड की कृषि और उद्योग में भारी निवेश किया। ए निवेश आंशिक रूप से इंग्लैंड और 18 वीं शताब्दी में कृषि क्रांति के लिए और 1750 के बाद इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के लिए भी जिम्मेदार थे। इंग्लैंड ने भारत से बाहर भेजे गए संसाधनों का उपयोग करके अपने विकास के तीव्र स्तर को प्राप्त किया। भारत में सेवा करने के बाद बचत और पेंशन के रूप में ब्रिटिश अधिकारियों से भारी मात्रा में प्रेषण ने उन लोगों को सड़कों, रेलवे और नहरों के निर्माण, नए आविष्कारों और अपनी अर्थव्यवस्था के सभी विभिन्न क्षेत्रों में तेजी से बदलाव लाने के लिए समर्पित करने का अधिकार दिया। इस प्रकार इंग्लैंड में आर्थिक समृद्धि की नींव रखने के लिए भारत से किया गया धन का विशाल निष्कासन काफी सीमा तक उत्तरदायी था।

भारत पर प्रभाव : भारत से इंग्लैंड में संसाधनों की भारी निकासी का भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके लोगों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा था। इन संसाधनों की एक बड़ी राशि, जो भारत में निवेश की जा सकती थी, छीन ली गई और इंग्लैंड को भेज दी गई।

सरकार द्वारा लिए गए भारी सार्वजनिक ऋण और उसके ब्याज के भुगतान के कारण भारत के लोगों पर कर का बोझ बढ़ गया, जो प्रकृति में अत्यधिक प्रतिगामी थे। दादाभाई

नौरोजी के अनुमान के अनुसार, 1886 के दौरान भारत में कर का बोझ उसकी कुल आय का 14.3 प्रतिशत था जो इंग्लैंड में 6.93 प्रतिशत की तुलना में बहुत अधिक था।

टिप्पणी

इसके अलावा, इन करों की आय का उपयोग ज्यादातर ब्रिटिश लेनदारों को भुगतान करने के लिए किया जाता था, न कि भारतीयों की सामाजिक सेवाओं और कल्याणकारी गतिविधियों के लिए। भारत से इस प्रकार की कर आय ने भारत में कृषि, उद्योग और व्यापारिक गतिविधियों को खराब कर दिया और 18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान इसकी अर्थव्यवस्था के स्थिर चरण के लिए यह काफी हद तक जिम्मेदार था। यद्यपि अंग्रेजों ने कानून और व्यवस्था, केंद्रीकृत राजनीतिक और न्यायिक प्रशासन, सड़कों, रेलवे, शैक्षिक व्यवस्था आदि को बनाए रखने की जिम्मेदारी ली, लेकिन संसाधनों की निकासी की सीमा बहुत अधिक थी, जिससे अर्थव्यवस्था का ठहराव और भारतीय जनता की खराब और दयनीय स्थिति हो गई। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने विभिन्न तरीकों से निष्कासन के विभिन्न हानिकारक प्रभावों का विश्लेषण किया।

दादाभाई नौरोजी के मत के अनुसार, संसाधनों की निकासी भारत की गरीबी का प्रमुख और एकमात्र कारण था। नौरोजी, आर.सी. दत्ता और एस.एन. बनर्जी का यह भी मत था कि धन के निष्कासन ने भारत की आय और रोजगार के स्तर पर हानिकारक प्रभाव डाला है। निष्कासन के कारण देश में आय और रोजगार के सृजन का नुकसान हुआ था। इस संबंध में आर.सी. दत्ता ने कहा, 'जब किसी देश में करों को बढ़ाया और खर्च किया जाता है, तो पैसा लोगों के बीच फैलता है, व्यापार, उद्योग और कृषि को फल देता है, और किसी न किसी रूप में लोगों के जन तक पहुंचता है। लेकिन जब किसी देश में करों को इसमें से हटा दिया जाता है, तो देश का पैसा हमेशा के लिए खो जाता है। यह उसके व्यापार या उद्योगों को प्रोत्साहित नहीं करता है या किसी भी रूप में लोगों तक नहीं पहुंचता है।'

राष्ट्रीय नेताओं का मत था कि संसाधनों की निकासी से धन की हानि के बजाय पूंजी की हानि हुई। निष्कासन के परिणामस्वरूप उत्पादक पूंजी की भारी कमी हुई जिससे देश में निवेश योग्य संसाधनों की मात्रा में गिरावट आई। पूंजी के नुकसान के इस पहलू को नौरोजी के अपवाह सिद्धांत का मुख्य मुद्दा माना जाता है।

संसाधनों की इस निकासी के परिणामस्वरूप हमारे देश में औद्योगिक मंदी आ गई। आर.सी. दत्ता ने संसाधनों की निकासी और किसानों के सुधार के बीच एक कारण संबंध स्थापित करने का भी प्रयास किया था। उन्होंने तर्क दिया कि नाली का भुगतान मुख्य रूप से किसानों से वसूले गए भू-राजस्व से किया गया था।

धन के निष्कासन को रोकने हेतु भारतीय नेताओं द्वारा दिए गए सुझाव

निष्कासन का बोझ कम करने के लिए राष्ट्रवादी नेताओं ने कई उपायों का जिक्र किया। धन के निष्कासन को कम करने हेतु उनके द्वारा निम्न उपाय बताए गए-

- नागरिक और सैन्य सेवाओं का भारतीयकरण किया जाए तथा इस तरह ब्रिटिश कर्मियों की संख्या को कम किया जाए एवं भारतीय कर्मियों की संख्या को उचित अनुपात में बढ़ाया जाए।
- भारत से वसूले गए घरेलू शुल्क में कमी की जाए एवं इंग्लैंड द्वारा इस तरह के घरेलू शुल्क का एक बड़ा हिस्सा वहन किया जाए।
- भारत में सरकारी भंडार खरीदे जाएं और निजी विदेशी पूंजी के बढ़ते आयात पर रोक लगायी जाए।

टिप्पणी

इस प्रकार, भारत से संसाधनों की इस विशाल आर्थिक निकासी ने भारत में पूंजी निर्माण के मार्ग में एक गंभीर बाधा उत्पन्न की। इसके अलावा, ब्रिटिश भारत में बाहर निकली पूंजी को वापस लाए और धीरे-धीरे ब्रिटिश उद्योगपतियों के स्वामित्व और प्रबंधन में भारत में विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार के सक्रिय संरक्षण के साथ, ब्रिटिश व्यापार और प्रमुख उद्योगों के क्षेत्र में लगभग एकाधिकार की स्थिति हासिल कर सके।

ब्रिटिश काल में मुद्रा व्यवस्था

अंग्रेजों ने जब बिहार और बंगाल पर विजय प्राप्त की उस समय मुगल सरकार की पुरानी मुद्रा प्रणाली बिल्कुल खस्ताहाल थी। राजनीतिक अस्थिरता के कारण छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी-अपनी मुद्रा प्रणालियां लागू की हुई थीं लेकिन व्यापक आर्थिक संदर्भ में इस तरह की मुद्रा व्यवस्था से अनिश्चितता और अव्यवस्था का जन्म हुआ। इसी के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी सत्ता की सर्वोच्चता स्थापित करने तथा व्यापार एवं वाणिज्य को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए स्वयं के सोने एवं चांदी के सिक्कों के निर्माण का फैसला किया किंतु यह व्यवस्था अव्यावहारिक सिद्ध हुई। 1806 ई. में कंपनी ने इस व्यवस्था में सुधार किया तथा केवल चांदी के सिक्के बनाने का निश्चय किया। कंपनी के चांदी के सिक्के या रुपए में, चांदी और दूसरी धातु का अनुपात 11:12 का था एवं जो रुपए की क्रय शक्ति थी वही उसकी चांदी का मूल्य भी था। चूंकि कंपनी के क्षेत्र एक-दूसरे से दूर-दूर थे अत: प्रत्येक को अपनी मुद्रा चलाने की इजाजत दी गई। यह व्यवस्था 1833 ई. तक इसी प्रकार चलती रही। 1835 ई. में मुद्रा प्रणाली का केंद्रीयकरण किया गया तथा संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में 'रुपया' एक मानक सिक्के के रूप में निर्धारित हुआ। इसका खरीद मूल्य और धातु का आंतरिक मूल्य दोनों बराबर रखे गए।

समय के साथ-साथ वस्तु-विनिमय की प्रथा कमजोर पड़ने लगी तथा मुद्रा प्रणाली स्थापित होने लगी। कंपनी ने भू-राजस्व भी नकदी सिक्कों में मांगना प्रारंभ कर दिया तथा घरेलू खर्चों का भुगतान भी नकद किया जाने लगा। अंग्रेज व्यापारियों का भारत में व्यापार बढ़ने तथा नकदी पर ज्यादा जोर देने के कारण चांदी के सिक्कों पर दबाव बढ़ गया। उत्पादन की कमी के कारण इस संकट से निपटने के लिए सरकार ने कागजी मुद्रा चलाने का फैसला किया किंतु सोने की मुद्रा चलाने की मांग बराबर की जाती रही। अंतत: 1866 ई. में सरकार ने 'मैन्सफील्ड आयोग' की नियुक्ति की। इसे मुद्रा संबंधी आवश्यकताओं से निपटने के लिए सुझाव देने को कहा गया। लेकिन आयोग की सिफारिशों को अनुपयुक्त मानकर उन्हें लागू नहीं किया गया। 1892 ई. में इस संबंध में 'हरशेल समिति' गठित की गई। इस समिति की सिफारिशों को भी सरकार ने लागू नहीं किया। पुन: 1898 ई. में 'फाउलर समिति' की नियुक्ति की गई। इस समिति की सिफारिशों पर सरकार ने ब्रिटिश सिक्के सावरेन और हाफ-सावरेन को भारत की वैध मुद्रा घोषित कर दिया। 1913 ई. में 'चैम्बरलेन आयोग' को सिफारिशों को भी सरकार ने नहीं माना। 1919 ई. में 'बैबिंगटन समिति' की कुछ सिफारिशों को सरकार ने लागू किया। 1925 ई. में 'हिल्टन यंग आयोग' ने भी मुद्रा प्रणाली के संबंध में कुछ सिफारिशें कीं। इसने भारत के लिए शुद्ध सोने या पांसे के सोने का मानक रखने की सिफारिश की। आयोग ने रुपए का मूल्य देश में छ: पैसे (स्वर्ण) निर्धारित किया। इसी आयोग की सिफारिशों पर सरकार ने 1927 ई. का मुद्रा कानून पारित किया। किंतु इस कानून से कई नकारात्मक प्रभाव सामने आए।

टिप्पणी

ब्रिटिश शासन के अंतिम वर्षों में मुद्रा प्रणाली संबंधी कई अन्य प्रयोग किए गए किंतु उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। रिजर्व बैंक की स्थापना से भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध से परिस्थितियां और बिगड़ गई तथा भारत की स्वतंत्रता के समय तक मुद्रा प्रणाली की ऐसी ही स्थिति बनी रही।

अपनी प्रगति जांचिए

1. देश की पहली रेलगाड़ी मुंबई से थाणे के बीच कब चलाई गई थी?

   (क) 1834 में (ख) 1854 में

   (ग) 1864 में (घ) 1874 में

2. भुगतान शेष का प्रमुख शीर्षक क्या होता है?

   (क) पूंजी खाता (ख) सरकारी व्यवस्थापन लेखा

   (ग) चालू खाता (घ) अशुद्धियां एवं भूल–चूक

2.3 कृषि संबंध : क्षेत्रीय विविधताएं एवं उनका प्रशासन

कृषि, प्राचीनकाल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था और जन-साधारण के जीवनयापन का मुख्य आधार रही है। इसके बिना भारतीयों की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय कृषि को पूर्ण रूप से पंगु करने की कोशिश की गई। लगान व्यवस्था को जटिल बनाकर तो अंग्रेजों ने कृषकों को आर्थिक बोझ के तले दबाया ही कृषि का वाणिज्यीकरण कर उन्हें भूमि से बेदखल करने की रणनीति भी निर्धारित की गई। कृषि के लिए कोई भी सुधारात्मक कार्य नहीं किए गए और जमींदारी व्यवस्था के लागू होने से साधारण कृषकों को तो कृषि कार्य छोड़कर बेरोजगारी का जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा।

कंपनी के शासनकाल में कृषि के स्वरूप को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया गया। यह परिवर्तन तकनीकी दृष्टि से नहीं था, बल्कि फसलों के उत्पादन में परिवर्तन किया गया था। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय कृषक अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही फसलों का उत्पादन करते थे। परंतु अंग्रेजों ने भारतीय कृषकों पर उन फसलों के उत्पादन के लिए दबाव डाला, जिनका तात्कालिक बाजार व्यवस्था में व्यावसायिक महत्व अधिक था। यह व्यावसायिक महत्व भी कृषकों के हित में न होकर अंग्रेज व्यापारियों के ही हित में था।

अंग्रेजों द्वारा भारत में उन फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया, जिनका उपयोग इंग्लैंड के उद्योगों में हो सकता था अथवा चीन के साथ व्यापार को संतुलित करने के लिए हो सकता था। यूरोपीय देशों में उस समय चाय की मांग काफी अधिक थी और चीन चाय का सबसे बड़ा उत्पादक था। अंग्रेज चीन से चाय लेते थे और बदले में उन्हें अफीम प्रदान किया जाता था। अफीम का उत्पादन भारतीय कृषकों से करवाया जाता था।

कृषि के वाणिज्यीकरण में यातायात के साधनों के विकास ने प्रमुख भूमिका निभायी। परिवहन व्यवस्था की उन्नति के कारण कृषि-उपज को दूर-दूर तक ले जाना आसान हुआ। कृषि-उपज अब देश के कोने-कोने से मद्रास, कोलकाता, बंबई और

टिप्पणी

कराची के बंदरगाहों तक लायी जाने लगी। रेल व्यवस्था ने गांवों और नगरों को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इंग्लैंड की ओर भारतीय कृषि-उपज का निर्यात बढ़ाने की दिशा में ब्रिटिश भारत की सरकार भी सक्रिय थी। रेल पथों का निर्माण इस तरह किया गया था कि देश के भीतर कृषि-समृद्ध क्षेत्रों से बंदरगाहों को अच्छी तरह से जोड़ा जा सके। रेल-किराया इस तरह निर्धारित किया गया, जिससे कि कच्चे माल को आसानी से सस्ती कीमत पर ढोया जा सके। सरकार की कर-नीति भी कृषि निर्यात के पक्ष में थी।

भारत के प्रथम अर्थमंत्री जेम्स विल्सन ने 1860 में प्रथम बजट के निर्माण के समय कृषि-निर्यात के प्रोत्साहन की नीति को निर्धारित किया था। उसकी नीति यह थी कि भारत एक कृषि प्रधान देश के रूप में कच्चे माल का निर्यात करके उद्योगों की समृद्धि में इंग्लैंड के साथ योगदान करेगा। कृषि-उपज पर कम निर्यात शुल्क रखने की नीति 1882 ई. के बाद संपूर्ण अबाध वाणिज्य का रूप लेकर सामने आयी। 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में चावल के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रमुख कृषि उत्पाद बिना शुल्क के निर्यातित होते थे। कच्चे चमड़े पर 1919 ई. में, पटसन और चाय पर 1922 ई. में तथा कच्ची रुई पर 1923 ई. में मामूली निर्यात शुल्क लगाया गया। नील और अफीम की खेती से कृषि के वाणिज्यीकरण की जो प्रक्रिया 19वीं सदी के आरंभ में शुरू हुई थी, उससे भारत पूंजीवादी अर्थनीति के विश्वव्यापी यंत्र के एक उपकरण के रूप में परिणित हो गया और इसका परिणाम भारत के किसानों को भुगतना पड़ा।

1860-1890 ई. के बीच भारत में बंबई प्रेसिडेंसी में रुई, बंगाल में पटसन, संयुक्त प्रांत में गन्ना, मद्रास में मूंगफली आदि की खेती ने विस्तार प्राप्त किया। इन फसलों को नकदी फसल कहा जाता है तथा इनका उत्पादन मूल रूप से विक्रय के लिए ही किया जाता है। परंतु, नकदी फसलों के उत्पादन पर केंद्रित हो जाने से खाद्य पदार्थों की खेती आत्मनिर्भरता की सीमा से बाहर आ गई। नकदी फसलों की आंचलिक विशिष्टता से खाद्य पदार्थों के लिए बाजार की ओर उन्मुख होना पड़ा। इससे बाजार भारतीय जन-जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया।

जॉर्ज ब्लिन के आंकड़े बताते हैं कि भारत में नकदी फसलों के उत्पादन के क्षेत्र में तीव्र गति से वृद्धि हुई, जबकि खाद्य उत्पादों के क्षेत्रों में अपेक्षाकृत बहुत कम वृद्धि हुई। 1901 से 1937 ई. के बीच खाद्य उत्पादों की खेती वाली जमीन में मात्र 16 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि गन्ने के उत्पादन वाली जमीन में 69 प्रतिशत की, रुई (कपास) के उत्पादन वाली जमीन में 59 प्रतिशत की और सरसों के उत्पादन वाली जमीन में 36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। नकदी फसलों में पटसन की खेती में मात्र 14 प्रतिशत की वृद्धि हुई। आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 1891 से 1946 ई. के बीच नकदी फसलों की कुल उत्पादन वृद्धि दर प्रति दशक में लगभग 13 प्रतिशत थी, जबकि खाद्य पदार्थों की कुल उत्पादन वृद्धि दर प्रति दशक में मात्र 1 प्रतिशत थी। इन वर्षों में अच्छी जमीन का नकदी फसलों के लिए उपयोग किया जाता था और सिंचाई तथा उर्वरक का उचित प्रबंधन भी नकदी फसलों के लिए ही किया जाता था। नकदी फसल की उत्पादन दर प्रति एकड़ प्रति दशक 8.5 प्रतिशत से भी अधिक थी, जबकि खाद्यान्न के क्षेत्रों में यह दर 2 प्रतिशत से भी कम थी।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपने व्यापारिक लाभ के लिए अफीम, नील, कपास, पटसन, काली मिर्च, रेशम, गन्ना, चाय, काफी और सरसों के उत्पादन पर अधिक बल दिया। अफीम की खेती तो पूर्ण रूप से सरकार के नियंत्रण में करायी गई और उसके

टिप्पणी

माध्यम से चीन के साथ व्यापार को संतुलित किया गया। इंग्लैंड के वस्त्र उत्पादन उद्योगों में कपास की नियमित आपूर्ति के लिए भारतीय कृषकों पर कपास के उत्पादन के लिए भी दबाव डाला गया। सूती वस्त्रों को रंगने के लिए नील की आवश्यकता को देखते हुए भारत में नील के उत्पादन को भी प्रोत्साहित किया गया। 1830 के दशक में नील का रासायनिक विकल्प ढूंढ़ लिया गया और इसके बाद कंपनी ने गन्ने के उत्पादन को प्रोत्साहित किया। परंतु, 19वीं सदी के अंत तक चीनी उद्योग अंग्रेजों के लिए बहुत ज्यादा लाभदायक नहीं रह गया, इसलिए उन्होंने गन्ना उत्पादन से अपना ध्यान हटा लिया।

उन्नीसवीं सदी में चीन में कंपनी के विरोध का वातावरण उपस्थित हुआ तथा चाय व्यापार पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। परंतु, तत्कालीन विश्व बाजार में चाय की मांग बहुत अधिक थी और उसका व्यापार लाभदायक भी था, इसलिए कंपनी ने अब भारत में चाय उत्पादन को प्रोत्साहित किया। पूर्वोत्तर भारत में तथा छोटा नागपुर में चाय बागानों का निर्माण इसी क्रम में हुआ। चाय के उत्पादन के लिए ब्रिटिश पूंजी का निवेश किया गया। भारत में कंपनी द्वारा जिन नकदी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया, उनमें सर्वाधिक लाभदायक चाय ही रही।

अफीम, नील, गन्ना और चाय के साथ-साथ कंपनी ने रेशम, काली मिर्च एवं काफी के उत्पादन को भी प्रोत्साहित किया। भारतीय रेशम की अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत अधिक मांग थी। काली मिर्च तो मध्य काल से ही यूरोपीय देशों में अपनी जगह बना चुकी थी। पश्चिमी देशों के भौतिकवादी जीवन में चाय के साथ-साथ काफी की मांग भी बढ़ रही थी, इसलिए कंपनी की ओर से तथा अंग्रेज व्यापारियों की ओर से काफी के उत्पादन को भी प्रोत्साहित किया गया। इन वाणिज्यिक फसलों अथवा नकदी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन देने से भारतीय कृषि-व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हो गया। जिन क्षेत्रों में खाद्यान्नों के उत्पादन से अधिक लाभ लिया जा सकता था, वहां भी अंग्रेजों के दबाव में नकदी फसलों का उत्पादन किया जाने लगा और भारतीय कृषकों को आत्मनिर्भरता से पराश्रितता की ओर धकेल दिया गया।

2.3.1 वाणिज्यीकरण की सामाजिक एवं आर्थिक उत्पत्ति और उसके प्रभाव

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषि के अवैज्ञानिक वाणिज्यीकरण को प्रोत्साहित किया गया और इसलिए उसके प्रभाव भी सभी दृष्टियों से घातक सिद्ध हुए। कुछ विद्वानों द्वारा यह कहा जाता है कि कृषि का वाणिज्यीकरण अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण का आवश्यक अंग था। परंतु यह मत दोषपूर्ण है, क्योंकि कृषकों के निचले स्तरों पर कृषि वाणिज्य का प्रसार एक प्रकार का बलात् वाणिज्यीकरण ही होता है, स्वैच्छिक अथवा स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं। कृषि के वाणिज्यीकरण ने बिना किसी वास्तविक समृद्धि के विभेदीकरण को जन्म दिया।

वस्तुतः वाणिज्यिक कृषि को किसी भी अर्थव्यवस्था का अनुकूल पक्ष तभी माना जा सकता है, जबकि उसके उत्पादों पर आश्रित उद्योग उत्पादक वर्ग के नियंत्रण में हों। भारत में उद्योगों का नितांत अभाव था और जो कुटीर उद्योग थे भी, उन्हें अंग्रेजों ने अपनी दोषपूर्ण नीतियों से बंद करवा दिया। कृषि के वाणिज्यीकरण की सबसे मुख्य बात संपूर्ण व्यवस्था की वह अंतर्निर्मित प्रवृत्ति थी, जो उत्पादक प्रौद्योगिकी एवं संगठन में महत्वपूर्ण प्रगति के विरुद्ध थी। कृषक को एक अत्यंत दूरस्थ एवं अपरिचित बाजार पर आश्रित बना

टिप्पणी

दिया गया था। जिसके साथ उसका एकमात्र संबंध बिचौलियों की एक सशक्त शृंखला के माध्यम से ही था। अंग्रेजों के शासनकाल में लगान की दर ऊंची थी तथा लगान की वसूली निर्ममतापूर्वक की जाती थी। इस समय अधिकांश भूमि सूदखोरों, साहूकारों एवं समृद्ध शहरी वर्ग के लोगों के हाथों में चली गई थी, जो भूमि की प्रकृति और किसानों की स्थिति से सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने भी इन्हीं फसलों के उत्पादन को अधिक प्रोत्साहित किया, जिनका मौद्रिक महत्व अधिक था।

कृषि के वाणिज्यीकरण से सामान्य परिस्थितियों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज हो जाती है। परंतु भारत में ऐसी नीति लागू की गई थी कि कृषि के वाणिज्यीकरण के साथ-साथ अव-औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारतीयों को अपने उत्पादों का विवश होकर निर्यात करना पड़ा और उन्हीं उत्पादों से निर्मित वस्तुओं का आयात भी करना पड़ा। ये सभी परिस्थितियां भारतीयों के सर्वथा प्रतिकूल थीं। कृषि के वाणिज्यीकरण से खाद्यान्नों से आत्मनिर्भरता हट गई, धीरे-धीरे किसानों में गरीबी एवं बेरोजगारी बढ़ी, अकाल एवं भुखमरी की स्थिति उत्पन्न होने लगी, अर्थव्यवस्था का आंशिक मौद्रीकरण हुआ, नए शोषणपूर्ण श्रम-संबंधों की शुरुआत हुई और अंततः अंग्रेजों के प्रति किसानों में आक्रोश उत्पन्न हुआ।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपने शासन के दौरान इस प्रकार की आर्थिक नीति का अनुसरण किया कि भारतीयों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए और भारत की आर्थिक संपदा का दोहन कंपनी और ब्रिटिश साम्राज्य के हित में अधिक-से-अधिक किया जा सके। कंपनी के साम्राज्य विस्तार के पूर्व भारत में कुटीर उद्योग विकसित अवस्था में था और खाद्यान्नों के उत्पादन से कृषक भी समृद्ध थे परंतु, कंपनी ने धीरे-धीरे कुटीर उद्योगों को बंद करवा दिया और कृषि का वाणिज्यीकरण कर दिया। इससे भारतीयों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई। फिर, अंग्रेजों ने लगान के लिए बिचौलियों की व्यवस्था की और उनसे निश्चित लगान देने के लिए कहा। बिचौलियों ने लगान वसूली का कार्य निर्ममतापूर्वक किया। फसल का उत्पादन हो अथवा नहीं कृषकों को लगान देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कंपनी की आर्थिक नीति का एक स्थायी तथ्य था–ब्रिटेन को धनराशि का एकतरफा हस्तांतरण। 1858 ई. के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित प्रतिष्ठान एवं कंपनी के हिस्सेदारों के लाभांशों की जगह भारत सचिव के इंडिया ऑफिस के व्यय ने ले ली। कंपनी के सैन्य अभियानों के कारण एवं प्रथम स्वाधीनता संग्राम को दबाने में हुए व्यय के कारण इंग्लैंड में भारतीय ऋण पहले ही बहुत बढ़ गया था। 1858 ई. में इसमें और अधिक वृद्धि हुई, क्योंकि कंपनी के हिस्सेदारों को दिए गए मुआवजे का भार भी इसी खाते में डाल दिया गया। ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों, सैन्य अधिकारियों आदि के वेतन एवं पेंशन, इंग्लैंड में खरीदी जाने वाली सैन्य व अन्य सामग्रियां, सैन्य प्रशिक्षण, परिवहन एवं भारत के बाहर होने वाले सभी अभियानों पर व्यय भारतीय वित्त से ही किया जाता था। भारतीय वित्त निर्माण राजस्व वसूली से होता था और राजस्व वसूली का शिकार अंततः कृषकों को होना पड़ता था।

पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि कंपनी की आर्थिक नीति कृषि के अनुकूल थी और आर्थिक नीति की सकारात्मकता के कारण ही कंपनी के शासनकाल में प्रति एकड़ कृषि उत्पादन बढ़ा। परंतु, इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि कृषि उत्पादन में वृद्धि की प्रकृति भारतीयों के प्रतिकूल थी। कृषि के लिए

टिप्पणी

नवीनतम तकनीकों के उपयोग की जगह पुरानी तकनीकों को ही प्रोत्साहित किया गया तथा कृषि का वाणिज्यीकरण कर भारतीय कृषकों को बाजारोन्मुख बना दिया गया। कृषकों को बाजारोन्मुख बनाया भी गया, तो उनकी खुशहाली के लिए नहीं, बल्कि उनकी कंगाली के लिए ही। कृषि के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय पूंजी निवेश नहीं किया गया। चाय उत्पादन के लिए पूंजी निवेश किया भी गया, तो उस पर एकाधिकार रखा गया और उससे भारतीयों को लाभ नहीं हुआ। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कंपनी की आर्थिक नीति कृषि के साथ-साथ संपूर्ण आर्थिक विकास के लिए बाधक थी।

दोषपूर्ण व्यापार व्यवस्था के कारण भारत के कुटीर उद्योग अंतरराष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सके और घाटे की स्थिति में उन्हें बंद कर दिया गया। इससे अव-औद्योगीकरण की स्थिति उत्पन्न हुई और कृषि पर अतिरिक्त भार बढ़ने लगा, जिससे कृषि के क्षेत्र में वृद्धि तो हुई, पर सभी लोगों की आश्रितता को पूरा करने में कृषि असमर्थ थी। उद्योगों की समाप्ति के बाद बेरोजगारी बढ़ी और जब कृषि का वाणिज्यीकरण कर दिया गया तब भारतीयों के आय के स्रोतों को सभी ओर से प्रतिबंधित कर दिया गया।

जॉर्ज ब्लिन द्वारा प्रस्तुत आंकड़े बताते हैं कि भारत में 1911 से 1941 ई. के बीच प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता में 29 प्रतिशत की कमी आयी, इन्हीं वर्षों में कृषि के उत्पादन में 10 प्रतिशत की कमी आयी। यह कमी उस समय आ रही थी जब कृषि पर निर्भरता बढ़ रही थी। ब्लिन के अनुसार, भारत में 1901 ई. में लगभग 63.7 प्रतिशत लोग कृषि पर आश्रित थे, जबकि 1941 ई. में यह आंकड़ा बढ़कर 70 प्रतिशत के स्तर पर पहुंच गया। उन्नत बीजों के प्रयोग में भी मंद गति से ही वृद्धि हुई। 1920 के दशक में मात्र 2 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि पर ही उन्नत बीजों का प्रयोग होता था, 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में यह बढ़कर लगभग 11 प्रतिशत के स्तर पर पहुंच गया।

औद्योगिक क्रांति के बाद से कृषि के क्षेत्र में अनेक प्रकार के तकनीकी परिवर्तन आ गए थे, परंतु भारतीय कृषकों को उन तकनीकों का ज्ञान नहीं था, क्योंकि कंपनी की सरकार द्वारा और बाद में ब्रिटिश भारत की सरकार के द्वारा कृषकों के लिए इन सुविधाओं को उपलब्ध कराने का प्रयत्न नहीं किया गया। कृषि की शिक्षा और अनुसंधान के लिए भी व्यवस्था नहीं की गई थी। 1939 ई. तक भारत में मात्र 6 कृषि महाविद्यालय थे और उनमें मात्र 1306 छात्र अध्ययन कर रहे थे। भारत के पूर्ण रूप से कृषि पर आश्रित तीन प्रांतों–बंगाल, बिहार और उड़ीसा में तो एक भी कृषि महाविद्यालय नहीं था। कृषि की शिक्षा देना अंग्रेजी सरकार आवश्यक ही नहीं समझती थी।

इन परिस्थितियों में स्पष्ट है कि कंपनी की आर्थिक नीति का कृषि के विकास से कुछ भी लेना देना नहीं था। उन्हें अपने अधिकाधिक लाभमात्र की चिंता थी और इसके लिए वे कुछ भी करने को तैयार थे। कृषि का वाणिज्यीकरण, अव-औद्योगीकरण, कठोर लगान व्यवस्था, भारतीय पूंजी के ब्रिटेन में हस्तांतरण आदि के द्वारा कृषि को बुरी तरह से तबाह करने की कोशिश की गई।

2.3.2 कृषक एवं जमींदार के संबंध में स्तरीकरण की प्रकृति एवं विस्तार

भारत की अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है। ग्रामीण जनता का मुख्य व्यवसाय कृषि है। कृषि न केवल ग्रामीण जनता की जीविकोपार्जन का साधन है बल्कि अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार भी है। भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व एवं योगदान को बताने की

आवश्यकता नहीं है क्योंकि देश के उद्योग–धंधे, विदेशी व्यापार, विदेशी–मुद्रा अर्जन, विभिन्न योजनाओं की सफलता एवं राजनीतिक स्थायित्व भी कृषि पर ही निर्भर है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व को इस प्रकार समझा जा सकता है-

टिप्पणी

1. **राष्ट्रीय आय का मुख्य स्त्रोत**–कृषि अर्थव्यवस्था वाले देशों को अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग 40 से 50 प्रतिशत भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। इन देशों में राष्ट्रीय आय में कृषि का अंशदान उसमें संलग्न श्रम–शक्ति के अनुपात में बहुत कम होता है, जिससे कृषि उत्पादकता का स्तर निम्न रहता है। भारत में कृषि का राष्ट्रीय आय में सबसे अधिक योगदान रहा है। कृषि तथा संबंधित क्षेत्रों का हिस्सा राष्ट्रीय आय में लगभग 30% है। कृषि में देश की लगभग 67 प्रतिशत श्रम शक्ति संलग्न है।
2. **रोजगार में सर्वाधिक योगदान**–भारत की कार्यशील जनसंख्या का लगभग दो तिहाई भाग प्रत्यक्ष रूप से रोजगार की दृष्टि से कृषि पर ही निर्भर करता है। देश की कुल जनसंख्या का लगभग 60 प्रतिशत भाग कृषि तथा संबंधित क्षेत्रों से रोजगार पाता है।
3. **उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करना**–भारत में महत्वपूर्ण उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। इन उद्योगों में चीनी, रबड़, जूट, सूती वस्त्र उद्योग शामिल हैं। जब तक कृषि का समुचित विकास नहीं किया जाता, तब तक उद्योगों का विकास भी संभव नहीं होता।
4. **विदेशी व्यापार के लिए महत्व**–विदेशी व्यापार की दृष्टि से कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कृषि उत्पादों में चाय, जूट, शक्कर, लाख, मसाले, ऊन, रूई, तिलहन आदि प्रमुख हैं। भारत के विदेशी व्यापार में 35 प्रतिशत भाग कृषि का ही है।
5. **खाद्यान्नों की पूर्ति**–भारत एक विशाल जनसंख्या वाला देश है। इस विशाल जनसंख्या के लिए खाद्यान्न की पूर्ति करना सरकार के लिए बहुत बड़ी समस्या होती है। देश में खाद्यान्नों के लगभग शत–प्रतिशत भाग की पूर्ति कृषि के द्वारा ही की जाती है।
6. **भूमि का सदुपयोग**–भारत में भूमि के क्षेत्रफल का सर्वाधिक भाग कृषि के काम में आता है। इस समय कुल क्षेत्रफल के लगभग 45 प्रतिशत भाग पर कृषि की जाती है।
7. **राजस्व में योगदान**–राजस्व में भी कृषि का पर्याप्त योगदान है। प्रतिवर्ष लगान व कृषि आय कर से काफी आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त कृषि वस्तुओं के निर्यात से सरकार को भारी राजस्व की प्राप्ति होती है।
8. **परिवहन साधनों का महत्वपूर्ण आधार**–देश में परिवहन साधनों के विकास में कृषि का महत्वपूर्ण योगदान है। विभिन्न साधनों; जैसे मोटर एवं रेलवे के द्वारा कृषि उत्पादन को एक प्रांत से दूसरे प्रांत में और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आसानी से भेजा जाता है।
9. **पशुओं का चारा**– भारत में 47 करोड़ पशु धन है जिसके लिए चारा कृषि से ही प्राप्त होता है।

टिप्पणी

10. **अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि–** विश्व में कृषि अर्थव्यवस्था में भारत का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत विश्व में गन्ने से बनाई जाने वाली चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। विश्व में चाय व मूंगफली के उत्पादन में भारत का प्रथम स्थान है। चावल, जूट एवं कपास के उत्पादन में भारत का दूसरा स्थान है। लाख के उत्पादन में भारत को एकाधिकार प्राप्त है।

11. **बाजार का विस्तार–** ज्यों–ज्यों कृषि क्षेत्र का विस्तार होता है त्यों–त्यों बृहत बाजार का निर्माण होता जाता है। कृषि विकास का एक अनिवार्य परिणाम यह होता है कि आय स्तर में वृद्धि होती है। कृषि में संलग्न व्यक्तियों तथा परिवारों की आय में वृद्धि के फलस्वरूप टिकाऊ तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है तथा अन्य वस्तुओं के बाजार का विस्तार होता है। कृषि क्षेत्र में विस्तार के फलस्वरूप बीमा, बैंकिंग तथा अन्य व्यवसायों में भी वृद्धि होती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि आर्थिक विकास की दर में वृद्धि होती है।

12. **पूंजी संचय में योगदान–** निर्धनता के दुष्चक्र में फंसे हुए अल्पविकसित देशों के सामने पूंजी संचय दर को बढ़ाने की जटिल समस्या होती है, दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र के विकास, परिवहन, शक्ति, सिंचाई जैसे उपकरणों के निर्माण तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, निवास एवं अन्य विकासात्मक सेवाओं के विस्तार के लिए पूंजी विनियोग की अत्यधिक भारी मात्रा में मांग होती है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के समुचित आर्थिक विकास के लिए कृषि का समुचित विकास अति आवश्यक शर्त है। विकसित देशों के विकास में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका अनुभव से प्रमाणित होती है। आज के विकसित देशों को वर्तमान स्थिति में लाने में कृषि का बहुत बड़ा योगदान रहा है। यही कारण है कि सैद्धांतिक विश्लेषण एवं ऐतिहासिक अनुभव दोनों ने ही हमारे नियोजकों को भारतीय आर्थिक विकास की मूल नीति में कृषि को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करने के लिए प्रेरित किया है।

कृषि स्तरीकरण की प्रवृत्ति

भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है। यहां का मुख्य व्यवसाय कृषि है। वर्तमान समय में कृषि भारत के 65–70 प्रतिशत श्रमिकों को रोजगार प्रदान करती है। यद्यपि योजना काल के दौरान राष्ट्रीय आय में कृषि के योगदान में कमी आई है लेकिन आज भी सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का महत्वपूर्ण योगदान है। 1950–51 में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान 55.4 प्रतिशत था जो वर्ष 2009–2010 में घटकर केवल 14.6 प्रतिशत रह गया है। संपूर्ण योजनाकाल में कृषि उत्पादकता के स्तर में भी निरंतर कमी आई है।

कृषि उत्पादकता

कृषि उत्पादकता से आशय कृषि क्षेत्र में पाई जाने वाली उत्पादन की क्षमता से लगाया जाता है। कृषि उत्पादकता इस बात की ओर संकेत करती है कि कृषि कार्यों के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले साधनों को कितनी कुशलता एवं प्रभावशीलता से प्रयोग किया गया है। कृषि उत्पादकता का अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है– एक तो प्रति हेक्टेयर कृषि उपज से तथा दूसरा प्रति श्रमिक उत्पादकता से।

(अ) प्रति हेक्टेयर कृषि उपज– प्रति हेक्टेयर कृषि उपज से आशय है कि एक हेक्टेयर में कितना उत्पादन होता है। इसे निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जाता है–

कृषि भूमि की उत्पादकता = कुल उत्पादन/कृषि कार्य के लिए प्रयुक्त भूमि का क्षेत्रफल (हेक्टेयर)

टिप्पणी

कृषि उत्पादकता के अंतर्गत यदि प्रति हेक्टेयर कृषि उपज का आकलन करें तो देश में मिलेट्स (पोषक अनाज) के उत्पादन और उत्पादकता दोनों में अच्छी वृद्धि हुई है। वर्ष 2017-18 में मिलेट्स (Millets) का जो उत्पादन 164 लाख टन था, वह वर्ष 2020-21 में बढ़कर 176 लाख टन हो गया है। इसी तरह वर्ष 2017-18 में उत्पादकता 1163 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी, जो वर्ष 2020-21 में बढ़कर 1239 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गई है।

देश में मुख्य रूप से आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हरियाणा, झारखंड, कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, तेलंगाना, उत्तराखंड, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों में मिलेट्स (पोषक अनाज) की खेती होती है। अब इनमें उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया जाएगा।

निर्यात की स्थिति : मिलेट्स का निर्यात वर्ष 2017 में 21.98 मिलियन अमेरिकी डॉलर था, जो 2020 में बढ़कर 24.73 मिलियन अमेरिकी डॉलर हो गया है। कुछ अधिक उपज देने वाली, रोग प्रतिरोधी फसलों की किस्में, जिसमें 10 पोषक-अनाज वाली फसलें व 3 जैव शक्तियुक्त किस्में शामिल हैं, का विमोचन किया गया है। नई अधिक उपज देने वाली किस्मों और संकर किस्मों के गुणवत्ता वाले बीज की उपलब्धता में वृद्धि हुई है। वर्ष 2020-21 में 5780 क्विंटल बीज उत्पादित हुए हैं।

पोषक अनाजों की स्थिति : 80 प्रतिशत पोषक अनाज (मिलेट्स) जलवायु प्रतिरोधक क्षमता वाली फसलें हैं, जो 131 देशों में उगाई जाती हैं। यह भोजन के लिए उगाई जाने वाली अनाज की प्रथम फसल है, जिसके सिंधु सभ्यता में पाए गए सबसे पहले प्रमाण 3000 ईसा पूर्व के हैं। एशिया और अफ्रीका में लगभग 59 करोड़ लोगों के लिए यह पारंपरिक भोजन है। इसमें बाजरा, ज्वार, रागी/मंडुवा, कांगनी, कोदो, कुटकी, चीना, सावां, ब्राउनटाप मिलेट, टेफ्फ मिलेट, फोनीओ मिलेट शामिल हैं। भारत में लगभग 140 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में लगभग पौने दो सौ लाख टन मिलेट्स का उत्पादन होता है। वैश्विक परिदृश्य में 717 लाख हेक्टेयर से ज्यादा क्षेत्र में लगभग 863 लाख टन मिलेट्स उत्पादन होता है। भारत का मिलेट्स उत्पादन एशिया का 80 प्रतिशत एवं वैश्विक उत्पादन का 20 प्रतिशत है।

कृषि, सहकारिता एवं किसान कल्याण विभाग ने 2020-21 के लिए प्रमुख कृषि फसलों के उत्पादन का अग्रिम अनुमान जारी किया है। कुल खाद्यान्न उत्पादन 30.544 करोड़ टन रहने का अनुमान है।

विभिन्न फसलों के उत्पादन का आकलन राज्यों से मिले आंकड़ों पर आधारित है और अन्य स्रोतों से उपलब्ध जानकारी से इसका सत्यापन किया गया है। 2005-06 से 2020-21 तक का प्रमुख फसलों के उत्पादन का तुलनात्मक अनुमान यहां दिया जा रहा है।

- **खाद्यान्न :** 30.544 करोड़ टन (रिकॉर्ड)
  - o चावल : 12.146 करोड़ टन (रिकॉर्ड)

टिप्पणी

- o गेहूं : 10.875 करोड़ टन। (रिकॉर्ड)
- o पोषक तत्व/मोटे अनाज : 4.966 करोड़ टन।
- o मक्का : 3.024 करोड़ टन। (रिकॉर्ड)
- o दालें : 2.558 करोड़ टन।
- o तुअर : 0.414 करोड़ टन।
- o चना : 1.261 करोड़ टन। (रिकॉर्ड)

- **तिलहन** : 3.657 करोड़ टन।
  - o मूंगफली : 1.012 करोड़ टन। (रिकॉर्ड)
  - o सोयाबीन : 1.341 करोड़ टन।
  - o रेपसीड और सरसों : 0.999 करोड़ टन। (रिकॉर्ड)
- **गन्ना** : 39.280 करोड़ टन।
- **कपास** : 3.649 करोड़ गांठें (प्रत्येक 170 किग्रा)
- **जूट और मेस्टा** : 0.962 करोड़ गांठें (प्रत्येक 180 किग्रा)

2020-21 के अग्रिम अनुमान के तहत, देश में कुल खाद्यान्न उत्पादन रिकॉर्ड 30.544 करोड़ टन रहने का अनुमान है, जो 2019-20 के दौरान हुए कुल 29.75 करोड़ टन खाद्यान्न उत्पादन की तुलना में 79.4 लाख टन ज्यादा है। इसके अलावा 2020-21 के दौरान उत्पादन पिछले पांच वर्षों (2015-16 से 2019-20) के औसत खाद्यान्न उत्पादन की तुलना में 2.666 करोड़ टन ज्यादा है।

वर्ष 2020-21 के दौरान चावल का कुल उत्पादन रिकॉर्ड 12.146 करोड़ टन रहने का अनुमान है। यह विगत 5 वर्षों के 11.244 करोड़ टन औसत उत्पादन की तुलना में 90.1 लाख टन अधिक है।

वर्ष 2020-21 के दौरान गेहूं का कुल उत्पादन रिकॉर्ड 10.875 करोड़ टन अनुमानित है। यह विगत पांच वर्षों के 10.042 करोड़ टन औसत गेहूं उत्पादन की तुलना में 83.2 लाख टन अधिक है।

पोषक/मोटे अनाजों का उत्पादन 4.966 करोड़ टन अनुमानित है, जो वर्ष 2019-20 के दौरान हुए 4.775 करोड़ टन उत्पादन की तुलना में 19.1 लाख टन अधिक है। इसके अलावा, यह औसत उत्पादन की तुलना में भी 56.8 लाख टन अधिक है।

वर्ष 2020-21 के दौरान कुल दलहन उत्पादन 2.558 करोड़ टन अनुमानित है जो विगत पांच वर्षों के 2.193 करोड़ टन औसत उत्पादन की तुलना में 36.4 लाख टन अधिक है।

2020-21 के दौरान कुल तिलहन उत्पादन रिकॉर्ड 3.657 करोड़ टन अनुमानित है जो 2019-20 के दौरान 3.322 करोड़ टन उत्पादन की तुलना में 33.5 लाख टन अधिक है। इसके अलावा, 2020-21 के दौरान तिलहनों का उत्पादन औसत तिलहन उत्पादन की तुलना में 60.2 लाख टन अधिक है।

वर्ष 2020-21 के दौरान देश में गन्ने का उत्पादन 39.280 करोड़ टन अनुमानित है। वर्ष 2020-21 के दौरान गन्ने का उत्पादन औसत गन्ना उत्पादन 36.207 करोड़ टन की तुलना में 3.073 करोड़ टन अधिक है।

टिप्पणी

कपास का उत्पादन 3.649 करोड़ गांठें (प्रति 170 किग्रा की गांठें) अनुमानित हैं, जो औसत कपास उत्पादन की तुलना में 45.9 लाख गांठें अधिक है। जूट एवं मेस्ता का उत्पादन 96.2 लाख गांठें (प्रति 180 किग्रा की गांठें) अनुमानित हैं।

(ब) प्रति श्रमिक उत्पादकता– प्रति श्रमिक उत्पादकता ज्ञात करने के लिए कुल उपज को कृषि कार्य में लगे श्रमिकों से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। इसे निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जाता है–

प्रति श्रमिक उत्पादकता = कुल उपज/कृषि कार्य में संलग्न श्रमिकों की संख्या

कृषि उत्पादकता कम होने के कारण

यद्यपि योजना अवधि में कृषि उत्पादकता में बहुत सुधार हुआ है तथापि आज भी यह विश्व के विकसित तथा अल्पविकसित दोनों ही प्रकार के देशों की तुलना में कम है। भारतीय कृषि में निम्न उत्पादकता या पिछड़ेपन के कई कारण हैं। उनमें से मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

1. **प्राकृतिक कारण–** भारत की कृषि विशेष रूप से वर्षा पर निर्भर है। भारत में कृषि आज भी मानसून पर आधारित है। वर्षा निश्चित नहीं होती है, कभी बहुत अधिक होती है, कभी बहुत कम होती है। इसी कारण भारतीय कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता है। इस प्रकार सिंचाई की सुविधाओं का पर्याप्त विकास न होने के कारण केवल वर्षा पर निर्भरता के कारण कृषि की उत्पादकता कम है।
2. **मिट्टी में दोष–** भारतीय मिट्टी में भी कुछ दोष पाया जाता है जिससे उसकी उत्पादकता कम हो जाती है; जैसे यहां की मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी, भूमि के कटाव, पानी भरना आदि ऐसे अनेक कारण हैं जो कृषि उत्पादकता को कम करने के लिए उत्तरदायी हैं।
3. **पुरानी कृषि तकनीक–** आज भी भारतीय कृषक द्वारा उत्पादन के लिए लकड़ी का हल, खुरपी आदि पुरानी तकनीक का प्रयोग किया जाता है, इसलिए कृषि की उत्पादकता कम है।
4. **सिंचाई की अपर्याप्त व्यवस्था–** भारत में आज भी सिंचाई की सुविधाओं का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। सरकार के अथक प्रयासों के बाद भी भारत में कृषि के अधीन कुल क्षेत्र के केवल 42.8 प्रतिशत भाग पर सिंचाई की व्यवस्था है और लगभग 57 प्रतिशत भाग आज पूर्णरूपेण वर्षा पर आधारित है। सिंचाई की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव के कारण भारत में कृषि की उत्पादकता कम है।
5. **पर्याप्त वित्त का अभाव–** भारतीय कृषकों के बारे में कहा जाता है कि वे सदा ऋण में दबे रहते हैं। अधिकांश भारतीय किसान इतने गरीब होते हैं कि वे अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते हैं। उनके पास इतना धन नहीं होता कि वे उन्नत किस्म के बीज, खाद, पंप सेट, मशीन आदि उपकरण खरीद सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश किसान कृषि व्यवसाय में उत्पादन वृद्धि के लिए विनियोजन करने में असमर्थ रहते हैं। जब उत्पादन में आधारभूत आदानों की कमी होती है तो उत्पादन कम हो जाता है।

टिप्पणी

6. **अनार्थिक जोतें–** भारत में राष्ट्रीय सेंपल सर्वेक्षण के अनुसार 1961–62 में लगभग 52 प्रतिशत जोतें दो हेक्टेयर से कम थीं। 2000–01 में लगभग 82 प्रतिशत जोतें दो हेक्टेयर से कम थीं। भारत में जोतों का औसत आकार 1.41 हेक्टेयर है जबकि अन्य देशों में औसत आकार काफी अधिक है; जैसे आस्ट्रेलिया में यह 1993, अर्जेण्टीना में 270, कनाडा में 188 एवं अमेरिका में यह 158 हेक्टेयर है। भारत में 62 प्रतिशत जोतों का आकार 1 हेक्टेयर से कम है तथा 31 प्रतिशत जोतें 1 हेक्टेयर से 4 हेक्टेयर के मध्य हैं। यहां 93 प्रतिशत जोतों का आकार 4 हेक्टेयर तक ही है। ये जोतें न केवल छोटी हैं अपितु बहुत छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटी हैं, इसलिए इन पर आधुनिक टैक्नोलॉजी का प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

7. **उन्नत किस्म के बीजों एवं खादों का अभाव–** भारत में कृषि उत्पादन के कम होने का एक कारण भारतीय किसानों द्वारा उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग न करना भी है। भारतीय किसान रूढ़िवादी हैं, गरीब हैं, अशिक्षित हैं इसलिए वे उन्नत बीजों एवं रासायनिक खादों को प्रयोग में नहीं लाते हैं। भारत में प्रति हेक्टेयर रासायनिक खाद का प्रयोग 117 कि.ग्रा. है जो बहुत ही कम है। जापान में इसका प्रयोग 365 कि.ग्रा., बेल्जियम में 276 कि.ग्रा., संयुक्त राज्य अमेरिका में 400 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर है।

8. **सामाजिक वातावरण–** भारतीय गांवों का सामाजिक वातावरण कृषि विकास में बाधक समझा जाता है। रूढ़ियों से ग्रस्त अंधविश्वासी, भाग्यवादी एवं अज्ञानी किसान अज्ञानता के कारण उर्वरकों तथा कीटनाशकों का प्रयोग नहीं करते जिससे उत्पादकता का स्तर नीचे रहता है।

9. **भूमि पर जनसंख्या का दबाव–** भारत में भूमि पर जनसंख्या का सर्वाधिक दबाव है। जनसंख्या का यह दबाव निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। 1901 की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल 1.11 हेक्टेयर था जो वर्तमान में घटकर केवल 0.38 हेक्टेयर रह गया है तथा गैर कृषि क्षेत्र में रोजगार अवसरों में संतोषजनक वृद्धि न हो पाने के कारण यह दबाव लगातार बढ़ता जा रहा है। इससे जोतों के विखंडन की समस्या जन्म लेती है और उत्पादकता कम हो जाती है।

10. **सामाजिक संगठन–** कृषकों का सामाजिक संगठन भी न्यून उत्पादन के लिए उत्तरदायी है। इसमें संयुक्त परिवार प्रणाली का बोलबाला है जिसमें प्रेरणा का अभाव रहता है, साथ ही जाति प्रथा के कारण समाज के द्वारा भी पूर्ण सहयोग नहीं दिया जाता है। इस प्रकार प्रेरणा एवं प्रलोभन की कमी के कारण एवं प्रोत्साहन न मिलने के कारण कृषि उत्पादन में कमी होती है।

11. **भूमि का अद्यपतन–** भारत सरकार द्वारा हाल में लगाए गए एक अनुमान के अनुसार देश की कुल 32 करोड़ 90 लाख हेक्टेयर भूमि में से लगभग आधी भूमि अद्यपतन की शिकार है। लगभग 43 प्रतिशत भूमि पर अत्यधिक अद्यपतन हो चुका है जिसके परिणामस्वरूप 33–67 प्रतिशत उत्पादकता को हानि हो रही है और लगभग 5 प्रतिशत भूमि तो अब कृषि योग्य नहीं रह गई है।

12. **कृषकों का परंपरावादी दृष्टिकोण–** भारत में कृषि उत्पादकता कम होने का एक महत्वपूर्ण कारक कृषकों का परंपरावादी दृष्टिकोण भी है। अशिक्षा, अज्ञानता एवं अंधविश्वास के कारण किसान नये एवं आधुनिक तकनीक एवं यंत्रों का प्रयोग करने में सकुचाते हैं जिससे कृषि उत्पादकता में कमी होती है।

टिप्पणी

13. **भूस्वामित्व प्रणाली–** भारत में यद्यपि जमींदारी प्रथा समाप्त हो चुकी है फिर भी अनेक क्षेत्रों में वास्तविक रूप से कृषकों को भूमि उपलब्ध नहीं है। जिन व्यक्तियों के पास बड़े–बड़े खेत हैं वे अपनी भूमि को पट्टेदारी अथवा आध बटाई पर दे देते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति खेतों में काम करते हैं वे वास्तविक मालिक न होने के कारण कृषि क्रियाओं पर पूरा ध्यान नहीं देते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन में कमी होती है।
14. **कृषि अनुसंधान की जानकारी का अभाव–** यद्यपि भारत में कृषि अनुसंधान पर काफी जोर दिया जा रहा है, लेकिन फिर भी कृषि अनुसंधान के परिणाम कृषकों तक नहीं पहुंच पाते हैं और वे अपने प्रयत्नों में उन बातों को शामिल नहीं कर पाते जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है।
15. **साख एवं विपणन संबंधी सुविधाओं का अभाव–** यद्यपि सरकार ने सरकारी मंडियों की स्थापना की है तथापि इस संबंध में भारतीय किसान की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। इन मंडियों में काम करने वाले व्यापारी किसानों के साथ धोखा करते हैं और उन्हें उनके उत्पादों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। उचित मूल्य न मिलने के कारण तथा धन अभाव के कारण भारतीय किसान कृषि कार्य में उचित मात्रा में निवेश नहीं कर पाते हैं जिससे उत्पादकता में कमी आती है।

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के उपाय

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित दिशाओं में प्रयास करना जरूरी है–

1. **भूमि सुधारों का कार्यान्वयन–** कृषि उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसी व्यवस्था की जाए कि कृषि जोत का आकार बहुत छोटा न रहे और उत्पादकता बढ़ सके।
2. **नवीन कृषि तकनीकों का व्यापक प्रयोग–** कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए नवीनतम तकनीक का प्रयोग आवश्यक है। इसके लिए खेतों पर इन तकनीकों का प्रदर्शन किया जाए जिससे प्रेरित होकर किसान इन तकनीकों को अपनाएं। इसके विशेषज्ञों द्वारा किसानों को उचित शिक्षण प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।
3. **सिंचाई सुविधाओं का विस्तार–** कृषि की वर्षा पर निर्भरता को कम किया जाना चाहिए। फसल सघनता में वृद्धि के लिए कृषि सिंचाई की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।
4. **कृषि आदानों की उचित व्यवस्था–** कृषि उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए किसानों को रासायनिक खादों, उन्नत किस्म के बीजों, कीटनाशक एवं खरपतवार नाशक औषधियों को उचित समय एवं उचित मूल्य पर उपलब्ध कराया जाए।
5. **कृषि अनुसंधान–** देश में कृषि अनुसंधान को बढ़ावा दिया जाना चाहिए और अनुसंधान परिणामों को किसानों तक पहुंचाना चाहिए ताकि उन्हें अपनाकर वे उत्पादकता बढ़ा सकें।
6. **विपणन व्यवस्था में सुधार–** किसानों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित किया जाए तथा वर्तमान कृषि विपणन व्यवस्था के दोषों को दूर किया जाए। उन्हें आवश्यक सुविधाएं दी जाएं ताकि उन्हें उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके।

टिप्पणी

7. **यंत्रीकरण–** भारत में जनाधिक्य है अत: यहां कृषि का यंत्रीकरण बेरोजगारी पैदा कर सकता है इसलिए महत्वपूर्ण यंत्रों का ही उपयोग किया जाना चाहिए और छोटे किसानों को भी किराये पर इन यंत्रों व उपकरणों को देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

8. **साख–व्यवस्था में सुधार–** किसान नवीन तकनीक को तभी अपना सकता है जब उसके पास पर्याप्त मात्रा में धन हो। किसानों को पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध कराने के लिए यद्यपि सरकारी साख–समितियों के माध्यम से प्रयास किए गए हैं, परंतु देखा गया है कि इन समितियों से भी बड़े किसान ही लाभ उठाते हैं। अत: छोटे किसानों के हितों को भी ध्यान में रखा जाए।

9. **जनसंख्या का कम दबाव–** कृषि पर लगातार बढ़ रहे जनसंख्या के भार को कम करने के लिए कुटीर उद्योग–धंधों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

10. **वैज्ञानिक खेती–** खेती वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिए ताकि बहु–फसली कार्यक्रमों का विस्तार करके कृषि उत्पादन को बढ़ाया जा सके।

11. **कृषि पदार्थों के मूल्यों में स्थिरता–** कृषि मूल्यों में स्थिरता कृषक को अपनी खेती में पर्याप्त मात्रा में विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इसके लिए सरकार को बुवाई से पहले ही फसलों के न्यूनतम मूल्य को घोषित कर देना चाहिए।

12. **कृषि विकास कार्यक्रमों में समन्वय–** कृषि उत्पादकता में वृद्धि के लिए सरकार एवं गैर–सरकारी संस्थाओं के द्वारा जो विभिन्न कार्यक्रम अपनाए जा रहे हैं उनमें उचित समन्वय एवं सहयोग होना चाहिए।

13. **फसल बीमा योजना का विस्तार–** कृषि फसलों की सफलता प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर करती है, प्रकृति अनिश्चित होती है, इसलिए फसल बीमा योजना को विस्तार से लागू किया जाना चाहिए।

औपनिवेशिक शासन के पश्चात एवं कृषि सुधार संबंधी विभिन्न सरकारी प्रयासों के उपरांत भारत की जो कृषिक संरचना निर्मित हुई है, वह निम्नानुसार है:

1. धनी कृषक : धनी कृषक कृषि योग्य भूमि के बड़े क्षेत्र पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं जबकि ये स्वयं खेती करने में संलग्न नहीं होते। ए अपनी भूमि पर खेती करवाने के लिए कृषि श्रमिकों का उपयोग करते हैं तद्नुसार इन्हें भू-स्वामियों का किरायाजीवी या पर्यपेक्षी वर्ग कहा जा सकता है। इस समय जब भू-स्वामियों द्वारा जमीन खाली करा लिए जाने से खेतों की बंटाईदारी व्यवस्था में काफी कमी आई है, कृषिक समाज में भू-स्वामियों द्वारा पर्यपेक्षी खेती अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है। खेती के आधुनिक औजार और तकनीक अपनाए जाने से पर्यवेक्षी किसानों की आर्थिक स्थिति में काफी मजबूती आई है। उन्होंने अपनी जमीन पर व्यापारिक खेती की शुरुआत की और उनके पूंजी निवेश का मुख्य उद्देश्य होता है, ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना। वे लाभ का एक महत्वपूर्ण भाग व्यापारिक फसल की खेती में पुन: निवेश करते हैं। निश्चय ही, वे व्यापारिक फसल की खेती को प्राथमिकता देते हैं। उनका ग्रामीण बाजार पर नियन्त्रण होता है।

2. मध्यम कृषक : ये भी कृषि योग्य भूमि के काफी बड़े क्षेत्र पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं। हालांकि इनके जोत बड़े किसानों की तुलना में छोटे होते हैं जिस पर केवल अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से खेती की जा सकती है। अगर इनके पास अतिरिक्त जमीन होती है तो ये उसे पट्टे पर बटाईदारों को दे सकते हैं। श्रमिकों की तरह ये मजदूरी पर काम नहीं करते। बड़े भू-स्वामियों की तरह ये भी आधुनिक तकनीकों का

उपयोग और नकदी फल की खेती करते हैं। गृहस्थी में उपयोग की आवश्यकता पूरी करने के बाद भी इनके पास बाजार में बेचने लायक अतिरिक्त उपज बच जाती है। देश के विकसित कृषि-क्षेत्रों में, आधुनिक तकनीक और स्थानीय बाजार पर अपने प्रभाव के कारण यह वर्ग हाल के वर्षों में उभर कर सामने आया है।

टिप्पणी

3. निर्धन कृषक : ये कृषि योग्य भूमि के छोटे और सीमांत हिस्सों पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं। अधिकांशत: ये अपने परिवार में उपलब्ध श्रम की सहायता से ही खेती करते हैं। फिर भी ये अपनी गृहस्थी निर्वाह की सारी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाते हैं इसलिए उनको अपना श्रम बाजार में बेचना पड़ता है। अगर उपलब्ध होता है तो ये छोटे-छोटे जोत पट्टे पर लेते हैं। निर्धन कृषक मुख्यत: निर्वाह उत्पादक होते हैं।

4. भूमिहीन श्रमिक : ये कृषक सोपानक्रम में सबसे निचले स्तर पर होते हैं। ये निर्वाह के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचते हैं।

कार्य अनुबंध की अवधि, पारिश्रमिक भुगतान की अवधि और माध्यम, भू-स्वामी के लगाव या साख आदि के आधार पर कृषिक समाज में विभिन्न प्रकार के श्रमिक संबंध उभर के सामने आते हैं। वर्धन और रुद्र के अनुसार मोटे तौर पर दो तरह के श्रमिक होते हैं-संलग्न और असंलग्न श्रमिक। लेकिन श्रमिकों की एक और कोटि पायी जाती है, जिसे अर्द्ध-संलग्न श्रमिक कहते हैं।

5. संलग्न श्रमिक : इनका नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में एक निरंतरता रहती है। संलग्न श्रमिक कई प्रकार के होते हैं-

(अ) अत्यधिक संलग्न : ये बंधुआ श्रमिक हैं। इनकी नियोक्ता विशेष के साथ संगति पीढ़ी-दर-पीढ़ी की होती है। ये नियोक्ता विशेष के ऋणी होते है और भू-स्वामी द्वारा उन पर आरोपित शर्तों से इन्कार करने की आजादी इनके पास नहीं होती है। हालांकि बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन कानून द्वारा कर दिया गया है फिर भी देश के कुछ भागों में छिपे तौर पर यह व्यवहार में है।

(ब) पूर्ण संलग्न श्रमिक : इनका प्राय: एक वर्ष की अवधि का अनुबंध भू-स्वामी के साथ होता है। ये पारिश्रमिक भुगतान की राशि का कुछ भाग वर्ष के अन्त में पाते हैं या फिर नियमित किश्तों में।

6. असंलग्न श्रमिक : ये अनियमित श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं। नियोक्ता के साथ इनका अनुबंध दिन के आधार पर होता है। इनकी मजदूरी की दर समय की मांग के अनुसार बदलती रहती है।

7. अर्द्ध-संलग्न श्रमिक : इनका नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में निरंतरता कुछ दिनों की होती है और वर्ष के अधिकतर समय में ए दूसरे नियोक्ता के लिए काम करने को स्वतंत्र होते हैं। नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में निरंतरता के कारण एक 'हमेशा सेवा में हाजिर' जैसा एक संबंध विकसित होता है।

2.3.3 कृषि श्रमिक एवं राज्य

भारतीय अर्थव्यवस्था के दो स्रोतों–लघु उद्योग एवं कृषि में कृषि अधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें बड़ी संख्या में लोग संलग्न थे। कृषि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार थी क्योंकि लगभग समस्त ग्रामीण जनसंख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्य में संलग्न थी। भारतीय कृषि के संदर्भ में प्राकृतिक परिस्थितियां एवं भौगोलिक कारक भी अनुकूल थे।

टिप्पणी

इसीलिए भारत प्रारंभ से ही कृषि प्रधान देश के रूप में विकसित हुआ था। समाज में कुछ वर्ग ऐसे थे, जो यद्यपि स्व-व्यवसाय भी करते थे, किंतु कहीं न कहीं पर वे भी कृषि कार्य से संबंध अवश्य रखते थे। इनमें लोहार, बढ़ई, जुलाहे इत्यादि प्रमुख थे। कुछ अन्य लोग जो स्वयं कृषि नहीं करते थे, वे भी कुछ न कुछ कृषि योग्य जमीन अपने पास रखते थे तथा कृषि मजदूरों की सहायता से कृषि कार्य करवाते थे।

कृषि के संबंध में एक महत्वपूर्ण तथ्य भूमि संबंधी अधिकार भी थे। यह एक सर्वमान्य तथ्य था कि कृषक ही अपनी भूमि का स्वामी है। इस समय 'हिंदू उत्तराधिकार नियम' व्यक्ति एवं उसकी भूमि के मध्य संबंध निश्चित करने का मुख्य आधार था। पूरे देश में यह निर्विवाद नियम था कि पैतृक संपत्ति में पिता के सभी पुत्रों को बराबर का अधिकार है। व्यावहारिक रूप से सभी पुत्रों के मध्य भूमि का बंटवारा एक सुस्थापित प्रथा थी। संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहने पर उस परिवार की भूमि पर स्वामित्व संयुक्त होता था, किंतु जब परिवार का विभाजन होता था तो भूमि का बंटवारा भी होता था तथा सभी पुत्रों को समान भाग में भूमि का हिस्सा प्राप्त होता था। कहीं-कहीं पर यह व्यवस्था थी कि परिवार के बड़े पुत्र को कुछ अधिक भाग प्राप्त होता था तथा कहीं-कहीं पर यह व्यवस्था थी कि जो पुत्र वृद्धावस्था में अपने माता-पिता की सेवा एवं देखभाल करेगा, उसे अधिक हिस्सा प्राप्त होता था। हालांकि किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं था कि वह ऐसी वसीयत छोड़ दे जिसके अनुसार भूमि का बंटवारा न किया जाए।

उत्तरी, दक्षिणी एवं पश्चिमी भारत के अनेक स्थानों पर मिताक्षरा उत्तराधिकार प्रणाली 11वीं सदी से ही चली आ रही थी। इस प्रणाली के अनुसार, पिता के सभी पुत्रों को समस्त पैतृक संपत्ति पर अपने पिता के साथ बराबरी का अधिकार होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी भूमि जो पूर्वजों से मिली थी उस पर पिता एवं पुत्र दोनों का बराबरी का अधिकार था। इसलिए किसी पुत्र द्वारा चाहने पर पिता के जीवनकाल में ही ऐसी जमीन का बंटवारा किया जा सकता था। जब तक परिवार संयुक्त रहता था, भूमि का मालिक परिवार का सबसे वरिष्ठ व्यक्ति या मुखिया ही माना जाता था। लेकिन मिताक्षरा कानून के अनुसार जिनका भी उस भूमि के हिस्सों पर हक बनता है, वे सभी उस जमीन के मालिक हैं।

14वीं शताब्दी के पश्चात् बंगाल में 'दायभाग' नामक एक और उत्तराधिकार प्रणाली अस्तित्व में आयी। इस प्रणाली के अधीन भूमि का कानूनन स्वामी पिता होता है तथा उसके जीवित रहते उसकी भूमि पर उसके अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती। जब तक पिता जीवित है, पुत्र उसे भूमि का बंटवारा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। यदि पुत्र चाहें तो पिता की मृत्यु के बाद वे जमीन का बंटवारा कर सकते थे। यह आवश्यक नहीं था कि वे बंटवारे में प्राप्त उस भूमि पर खेती करें ही, वे अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकते थे। जो भाई संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहते थे, वे उस भूमि के संयुक्त रूप से स्वामी थे तथा कानूनी तौर पर उनके हिस्से पर उनका अधिकार सुनिश्चित था। लेकिन यदि किसी भाई को आवश्यकता हो तो वह संयुक्त परिवार में रहते हुए भी अपने हिस्से की भूमि को बेचने का अधिकार रखता था।

मुसलमानों में भूमि पर अधिकार विभिन्न प्रकार के उत्तराधिकार कानूनों के अंतर्गत अलग-अलग तरीकों से था। इनमें उत्तराधिकार कानून अत्यंत जटिल था। भू-स्वामी के मर जाने पर उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय करते समय संपत्ति का विभाजन आवश्यक था। जब किसी व्यक्ति का संपत्ति में हिस्सा होता था तभी संपत्ति पर उसका अधिकार माना जाता था। कभी-कभी तो उत्तराधिकारियों की संख्या बहुत अधिक हो जाने पर बंटवारे में अत्यंत मुश्किलें भी आ जाती थीं।

टिप्पणी

भारत में उत्तराधिकार एवं स्वामित्व के नियमों ने भूमि को अत्यधिक हानि पहुंचायी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी आबादी बढ़ने से जोतों का आकार घटता गया तथा भूमि संबंधी अनेक समस्याएं खड़ी हो गईं। कृषि जोतों का आकार छोटा होने से भूमि की उर्वरता घटी तथा गरीबी में वृद्धि हुई।

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपनायी गई भू-राजस्व प्रणाली दोषपूर्ण थी। कर प्रणाली के नैतिक होने के कारण कृषि योग्य भूमि धीरे-धीरे उन लोगों के हाथों में आ गई, जिन्हें कृषि के संबंध में किसी प्रकार की जानकारी नहीं थी। कर का निर्धारण भी प्राय: बिचौलिए ही करते थे, जिससे सरकार और आम जनता के बीच खाई बढ़ती गई। बिचौलियों ने साधारण जनता को इतना तबाह कर दिया कि उन्हें सरकार से नाराजगी होने लगी। अंग्रेजी सरकार ने जो नई वाणिज्यिक नीति अपनायी, उसने देशी व्यापार को जड़ से बाधित कर दिया, विदेशी व्यापार को तो सरकार द्वारा पहले ही बाधित किया जा चुका था। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार अच्छी स्थिति में था–वस्त्र व्यापार तो अत्यधिक उन्नत अवस्था में था। भारतीय वस्तुओं को विदेशी बाजार में अच्छी कीमतें मिल जाया करती थीं, परंतु अंग्रेजों ने भारत के कुटीर उद्योगों को बंद करने की स्थिति उत्पन्न कर दी और उनका व्यापार घाटे वाला साबित होने लगा।

ब्रिटिश शासनकाल में राजस्व की वसूली भी निर्ममतापूर्वक की जाती थी। इस समय की राजस्व नीति कितनी दोषपूर्ण थी, उसका ज्ञान हमें इस तथ्य से हो जाता है कि अधिक-से-अधिक आय वाले अधिकारी या व्यक्ति कम-से-कम राजस्व देते थे, जबकि कम-से-कम आय वाले कृषकों पर भू-राजस्व का अत्यधिक बोझ था। राजस्व का सबसे बड़ा स्रोत कृषि पर कर था। राजस्व का सबसे बड़ा बोझ किसानों पर ही था। सरकारी कर्मचारी, जमींदार, व्यापारी, सूदखोर-साहूकार आदि कर देने से लगभग मुक्त ही थे। किसान खेतों में अपना पसीना बहाते थे और जमींदार उनका खून चूसते थे। ब्रिटिश शासनकाल के राजस्व संबंधी आंकड़ों पर ध्यान देने से तत्कालीन राजस्व-व्यवस्था का दोष उजागर हो जाता है। उन्नीसवीं सदी के अंत में आयकर से प्राप्त राजस्व मात्र 19 करोड़ रुपए था, जबकि भू-राजस्व से 26.2 करोड़ रुपए और नमक कर से 8.8 करोड़ रुपए प्राप्त किए गए थे। भू-राजस्व से इतनी अधिक आय होने के बावजूद उस पर व्यय के लिए किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया जाता था। इस समय कुल राजस्व में से मात्र 65 लाख रुपए सिंचाई के लिए और मात्र 2 करोड़ रुपए शिक्षा पर खर्च किए गए, जबकि 17 करोड़ रुपए प्रशासनिक व्यवस्था पर और 19.41 करोड़ रुपए सैन्य व्यवस्था पर अनावश्यक रूप से खर्च किए।

ब्रिटिश शासनकाल में ग्रामीणों में ऋण लेने की प्रथा थी। ग्रामीणों में अधिकांश किसान होते थे अत: वे भी कर्ज लेते थे। कृषि न होने की दशा में वे कर्ज चुका नहीं पाते थे। इससे ऋणग्रस्तता की समस्या का जन्म होता था।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण निर्धनता थी। लघु व सीमांत किसानों को खेती से आय कम होती थी व उन्हें कभी-कभी अन्य आवश्यकताओं के लिए भी कर्ज लेना पड़ता था। उपभोग के लिए लिया गया ऋण चुकाना भारी पड़ जाता था क्योंकि आय जीवन निर्वाह स्तर से ऊपर नहीं जा पाती थी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा कर्ज ऋणग्रस्तता को बढ़ाता जाता था।

ग्रामीण समाज पुरातन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं से जुड़ा था। ये प्रथाएं उन्हें विवाह, शिशु जन्म, मृत्यु व अन्य समारोहों पर भारी व्यय करने हेतु विवश करती थीं। भले ही वे इस व्यय को सहन करने की स्थिति में हों या न हों। जमीन के संबंध में अन्य

टिप्पणी

विवादों से भी ग्रामीणों की ऋणग्रस्तता बढ़ी। कृषि के पिछड़ेपन के साथ-साथ वर्षा पर निर्भरता, अल्प तकनीकी आगतों का प्रयोग तथा पिछड़ी पद्धतियों के अनुसरण इत्यादि से उत्पादन सापेक्षतया अधिक नहीं बढ़ पाता था। इसी कारण उत्पादकता कार्यों हेतु लिए गए ऋण भी समस्याग्रस्त बन जाते थे।

ग्रामीणों में ऋणग्रस्तता से कुंठा एवं बोझ की भावना सृजित होती थी। ब्याज भुगतान के रूप में कम कीमत पर अपनी फसल का एक बड़ा भाग खो देने के पश्चात् किसान के लिए अधिक अन्न उपजाने एवं उत्पादक कृषि करने के लिए कोई उत्साह नहीं बचता था। अनेक बार इस प्रक्रिया में किसान अपनी भूमि से भी हाथ धो बैठते थे। इसके पश्चात् वे भूमिहीन मजदूर बन जाते थे तथा भूमि ऐसे व्यक्ति के नियंत्रण में आ जाती थी, जो गैर-कृषक थे व जिनकी कृषि उत्पादन बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं होती थी।

अंग्रेजी शासनकाल में भूमिहीन मजदूरों की संख्या अत्यधिक थी। ये भूमिहीन श्रमिक लगभग पूरे वर्ष कृषि या अन्य कार्यों से संलग्न होकर मजदूरी करते थे तथा अपना जीवनयापन करते थे। इन भूमिहीन मजदूरों का अधिकांश हिस्सा कृषि कार्यों से ही संलग्न था।

इस काल में भूमिहीन श्रमिकों की सामान्यतया: दो श्रेणियां थीं–1. कृषि भूमि से संबंधित स्थायी श्रमिक, एवं 2. अस्थायी अनियमित श्रमिक।

कृषि भूमि से संबंधित स्थायी श्रमिक केवल कृषि कार्यों से ही संलग्न होकर अपना जीवनयापन करते थे किंतु अस्थायी अनियमित भूमिहीन मजदूर अन्य कोई भी कार्य कर लेते थे। इन भूमिहीन मजदूरों से अत्यधिक कार्य लिया जाता था तथा इसके बदले में उन्हें काफी पैसे दिए जाते थे। धीरे-धीरे अत्यधिक श्रम व खराब भोजन के कारण उनके स्वास्थ्य में गिरावट आ जाती थी। इनकी औसत आय अत्यंत कम होती थी क्योंकि वर्ष के एक बड़े भाग में वे बेरोजगार रहते थे।

ब्रिटिश शासनकाल में भूमिहीन मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। इसके दो प्रमुख कारण थे–पहला, इस काल में ग्रामीण व कुटीर उद्योगों का तेजी से पतन हुआ किंतु समांतर रूप से श्रम शक्ति नियोजन के लिए आधुनिक उद्योगों की स्थापना नहीं हो सकी। ऐसी दशा में इन उद्योगों में संलग्न सभी लोग भूमिहीन मजदूर बन गए। दूसरा, ग्रामीण ऋणग्रस्तता से भी भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ी। छोटे किसान मूलधन के ऊपर ब्याज भी न चुका पाने में असफल रहते थे, जिससे धीरे-धीरे कर्ज की राशि बढ़ती जाती थी। इस कर्जे से छुटकारा पाने के लिए अंतत: किसान भूमि बेचकर भूमिहीन मजदूर बन जाते थे।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय अर्थव्यवस्था किस पर आधारित है?

(क) उद्योग (ख) कृषि

(ग) पशुपालन (घ) मत्स्य पालन

4. जो कृषक कृषि योग्य भूमि के बड़े क्षेत्र पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं और स्वयं खेती नहीं करते वे क्या कहलाते हैं?

(क) भूमिहीन कृषक (ख) निर्धन कृषक

(ग) धनी कृषक (घ) मध्यम कृषक

2.4 घरेलू और शिल्प उद्योग

टिप्पणी

औद्योगीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसमें उद्योग-धंधों का विकास तथा विस्तार होता है। भारत में यह प्रक्रिया मुख्यत: 18वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के साथ शुरू हुई। आगे चल कर ब्रिटिश उद्योगपतियों के साथ-साथ भारतीय औद्योगिक घराने जैसे- टाटा, बिड़ला, बजाज आदि इस क्षेत्र में उतरे जिससे भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तीव्रता मिली। भारत में औद्योगीकरण का मुख्य कारण सस्ते कच्चे माल तथा श्रम शक्ति एवं बड़े बाजार की उपलब्धता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार-औद्योगीकरण से तात्पर्य बड़े-बड़े उद्योगों के विकास तथा छोटे और कुटीर उद्योग धंधों के स्थान पर बड़े पैमाने की मशीनों की व्यवस्था से है। औद्योगीकरण आर्थिक विकास की व्यापक प्रक्रिया का केवल अंग मात्र है, जिसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों की क्षमता में वृद्धि करके जनजीवन के स्तर को ऊंचा उठाना है। औद्योगीकरण औद्योगिक क्रांति का प्रतिफल है। उद्योगों में जड़ शक्ति का प्रयोग किया जाता है और उत्पादन मशीनों की सहायता से होता है। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ सन् 1850 से माना जाता है, जब पहली बार भारत में कपड़े की मिल की स्थापना की गई थी।

औद्योगिक समाज मुख्यत: 18वीं शताब्दी के मध्य इंग्लैंड में जो औद्योगिक क्रांति हुई उसके परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। सामान्यत: औद्योगिक समाज से तात्पर्य एक ऐसी विशिष्ट संस्कृति, संस्था या अन्त:क्रिया के विशिष्ट प्रतिमान से है जो औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया से प्रभावित है।

ऐसे समाजों की जनसंख्या के आकार तथा घनत्व वृहद् होते हैं तथा प्रत्येक कार्य के लिए विशेषीकृत संस्थाएं होती हैं। ऐसे समाजों में द्वितीयक समूहों तथा संबंधों की प्रधानता होती है तथा संबंधों में भावनात्मकता के स्थान पर उपयोगिता या तार्किकता का बाहुल्य होता है। ऐसे समाजों में अर्थतन्त्र ही समाज की अन्य संस्थाओं को प्रभावित या निर्धारित करता है। आर्थिक क्रियाएं सर्वोपरि होती हैं तथा अन्य सभी प्रकार की क्रियाओं पर उनका प्रभाव होता है।

ऐसे समाजों में व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता आदि महत्वपूर्ण होता है तथा धर्म के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मूल्य प्रभावशाली होते हैं। धार्मिक रूढ़िवादिता का अभाव होता है तथा ऐसे समाज अन्वेषण, आविष्कार आदि का केन्द्र होते हैं।

अंग्रेजों की असंगत मुक्त व्यापार की नीति

जब इंग्लैंड की उत्पादन क्षमता बढ़ी और भारत उस उत्पादन का अच्छा बाजार सिद्ध होने लगा, तब इंग्लैंड में भारत में कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करने की मांग होने लगी। 1813 के चार्टर एक्ट के अनुसार, भारत में मुक्त व्यापार की घोषणा कर दी गई। केवल चाय के एवं चीन के साथ व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार था। पर मुक्त व्यापार की यह नीति एकतरफा थी। विदेशी उत्पादन के लिए तो भारतीय बाजार खोल दिए गए थे, किंतु भारतीय उत्पादन के लिए विदेशी बाजार प्रतिबंधित कर दिए गए। इसके लिए आयात शुल्क की दरें अत्यंत ऊंची कर दी गईं। 1824 ई. के एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत के मोटे सूती वस्त्रों पर आयात शुल्क 67.5% एवं भारतीय मलमल पर 37.5% था। कुछ वस्तुओं के मामले में तो यह शुल्क इंग्लैंड से 400 प्रतिशत तक कर

दिया गया। एक तो पहले ही इंग्लैंड में औद्योगीकरण एवं भारत में अव-औद्योगीकरण से भारतीय उत्पाद प्रतियोगिता में नहीं आ पा रहे थे, दूसरे इन आयात शुल्कों ने उन पर और भी कहर बरपा दिया।

टिप्पणी

निश्चित रूप से, अंग्रेजों ने जो मुक्त व्यापार की नीति अपनाई, उससे जो व्यापार प्रतियोगिता बनी वह बिल्कुल असमान एवं अनुचित थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योगपतियों ने कृषि को पेशे के रूप में अपनाना प्रारंभ कर दिया। ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत, मुबारकपुर इत्यादि, जो वस्त्र उद्योग के प्रमुख केंद्र थे, के वस्त्र उत्पादक बेकार हो गए। जिनकी स्थिति अच्छी थी, वे जमीन खरीदकर कृषि पर आश्रित हो गए तथा जिनकी स्थिति अच्छी नहीं थी, वे भूमिहीन मजदूरों में परिवर्तित हो गए। अर्थात् भारतीय अर्थव्यवस्था कृषिकरण एवं ग्रामीणीकरण की ओर बढ़ने लगी। उत्तर प्रदेश में जुलाहों ने इस अव-औद्योगीकरण से असंतुष्ट एवं त्रस्त होकर 1813 से 1842 ई. के मध्य कई बार सशस्त्र हिंसक विद्रोह भी किए। इस प्रकार, भारत का लघु एवं कुटीर उद्योग, जो 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार था, विदेशी मशीनी उत्पादन की प्रतियोगिता एवं राजकीय संरक्षण के अभाव के कारण समाप्त हो गया।

स्वदेशी उद्योग एवं हस्तशिल्प

उड़ीसा के बालासोर में 1633 ई. में अंग्रेजों ने पूर्वी भारत में अपना प्रथम कारखाना स्थापित किया। शाहजहां के पुत्र शाहशुजा ने 1651 ई. में अंग्रेजों को बंगाल में भी कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी। आरंभ में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक गतिविधियां भारतीय अर्थव्यवस्था के हित में थीं और इस कारण मुगल शासक द्वारा कंपनी की गतिविधियों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। शासक द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने का कंपनी ने गलत फायदा उठाया। औरंगजेब जब आंतरिक विद्रोहों का सामना कर रहा था, तब उसकी शक्ति को कम आंकते हुए कंपनी ने 1686 ई. में मुगलों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उस समय कंपनी की गतिविधियों के केंद्र हुगली को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। अंग्रेजों का बुरी तरह से दमन कर दिया गया और मुगल सेना ने धीरे-धीरे दक्षिण भारत के कंपनी के कारखानों को भी अपने नियंत्रण में कर लिया।

मुगल सेना की शक्ति को देखते हुए कंपनी ने अपनी नीति बदल ली और 1668 ई. में मुगल दरबार में दस्तक देकर माफी मांग ली। औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहशुजा के फरमान पर दस्तखत कर 1691 ई. में कंपनी को बिहार, बंगाल और उड़ीसा में स्वतंत्र व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी। इसके बदले कंपनी ने मुगल सम्राट को 350 पौंड (3000 रुपए) वार्षिक की दर से रकम देना स्वीकार कर लिया। 1690 में जॉब चारनॉक ने सूतानाती में अंग्रेज कोठी की स्थापना की। 1698 ई. में कंपनी को सूतानाती, गोविंदपुर एवं कालिकता की जमींदारी मिली। जॉब चारनॉक ने जमींदारी के लिए मिले। इन तीनों गांवों को मिलाकर फोर्ट विलियम की स्थापना की। बाद में फोर्ट विलियम ने कलकत्ता के रूप में बंगाल और संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी का स्थान प्राप्त किया। 1700 ई. में फोर्ट विलियम में प्रेसिडेंट ऑफ काउंसिल की स्थापना की गई और बंगाल को प्रेसीडेंसी बना दिया गया। इसके पूर्व बंगाल के सारे अंग्रेजी कारखाने मद्रास प्रेसीडेंसी के नियंत्रण में थे। बंगाल प्रेसीडेंसी का पहला प्रेसिडेंट होने का गौरव चार्ल्स आयर को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी

अंतिम शक्तिशाली मुगल सम्राट औरंगजेब की 1707 ई. में मृत्यु हो गई और उसके बाद बंगाल के मुगल सूबेदार मुर्शीद कुली खां ने वहां स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर ली। मुर्शीद ने बंगाल में अंग्रेजों की गतिविधियों को नियंत्रित करने का प्रयास किया। उसने बिहार को भी बंगाल का हिस्सा बना दिया और मुर्शिदाबाद को बंगाल की राजधानी बनाकर मुगलों के उत्तरवर्ती स्वायत्त राज्यों में बंगाल को सर्वाधिक समृद्ध बना दिया। बाद में शुजाउद्दीन के प्रयासों से उड़ीसा भी बंगाल के अधिकार में आ गया।

मुर्शीद कुली खां ने बंगाल में अंग्रेजों की गतिविधियों को कठोरतापूर्वक नियंत्रित कर दिया तो अंग्रेजों ने एक बार फिर से मुगल सम्राट की शरण ली। 1715 ई. में एक ब्रिटिश शिष्टमंडल मुगल सम्राट फर्रुखशियर के दरबार में गया। इस शिष्टमंडल में एक चिकित्सक भी था, जिसने फर्रुखशियर की पुत्री की एक साधारण-सी बीमारी का इलाज किया और इससे खुश होकर अदूरदर्शी फर्रूखशियर ने 1717 ई. में एक फरमान जारी किया और औरंगजेब द्वारा 1691 ई. में प्रदान किए गए मुक्त व्यापार के अधिकार को फिर से लागू कर दिया। 1713 ई. में मुर्शीद कुली खां ने कंपनी के मुक्त व्यापार के अधिकार को समाप्त कर दिया था और यदि इस समय मुगल शासक ने मुर्शीद का साथ दिया होता तो अंग्रेजों के पांव बंगाल से उखड़ गए होते। परंतु, मुगल सम्राट ने तो कंपनी को संरक्षण प्रदान कर बंगाल में उसकी जड़ें और मजबूत कर दीं। लेकिन जैसे-जैसे अंग्रेज व्यापार में अपना पांव जमाते गए, भारतीय उद्योगों का पतन होता गया।

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत से व्यापार करने की छूट मिलने के फलस्वरूप भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीन निर्मित आयात से भर गया। दूसरी ओर, भारतीय उत्पादों के लिए यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 ई. के पश्चात् तो यूरोपीय बाजार भारतीय उत्पादों के लिए लगभग बंद ही हो गए। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों में पहुंचने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अंग्रेजों की व्यापारिक नीति से भारत में परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का सर्वनाश हो गया। यह ह्रास इसलिए नहीं हुआ कि यहां औद्योगीकरण या औद्योगिक क्रांति हुई थी, बल्कि यह ह्रास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन इस अवधि में यूरोपीय औद्योगीकरण से यूरोप के हस्तशिल्प उद्योग में भी गिरावट आई। यह वह समय था, जहां एक ओर भारतीय हस्तशिल्प तेजी से पतन की ओर अग्रसर था तथा वह अपनी अंतिम सांसें गिन रहा था। दूसरी ओर, इस काल में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी तथा देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा था। इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे, वहीं नए पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीक ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

उद्योगों के पतन से मजदूरों की सामाजिक-आर्थिक दशाएं तेजी से परिवर्तित हुईं तथा भारतीय शिल्पियों का गांवों की ओर पलायन हुआ, जिसे अ-शहरीकरण की समस्या का जन्म हुआ। हस्तशिल्प एवं अन्य परंपरागत भारतीय मजदूर निर्धनता के बोझ तले दब गए तथा उनकी सामाजिक दशाएं चिंताजनक हो गईं। कभी संतोषजनक जीवन गुजारने वाले ये शिल्पी एवं मजदूर पेट भरने को भी मोहताज हो गए। शहरी क्षेत्रों के शिल्पी एवं मजदूर निर्धनता के कारण गांवों की ओर पलायन करने लगे, जिससे शहर धीरे-धीरे खाली होने लगे। गांवों में पहुंचकर बहुत से मजदूर एवं शिल्पकार खेती करने लगे, इससे भूमि पर दबाव बढ़ा।

अंग्रेज सरकार की कृषि विरोधी नीतियों के कारण यह क्षेत्र पहले से ही संकटग्रस्त था और भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था बिल्कुल चरमरा गई।

टिप्पणी

2.4.1 आधुनिक उद्योगों का उदय

ब्रिटिश शासन के बाद के वर्षों में औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप कई अन्य आधुनिक उद्योगों की स्थापना की गई। सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कंपनी लिमिटेड ने विशाखापट्टनम में आधुनिक ढंग की जहाज निर्माण गोदी की स्थापना की। आगे चलकर इस क्षेत्र में और तेजी आई। इसके अतिरिक्त विभिन्न रसायन उद्योगों की स्थापना की गई, जिनमें–शोरे, सल्फाइड, फिटकरी, मैग्नीशियम, नमक, कैल्शियम इत्यादि का निर्माण करने वाले कारखाने थे। इसी समय गंधकाम्ल के उत्पादन के लिए भी कारखाने लगाए गए। मशीनी औजारों के निर्माण में भी तेजी आई। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में भारतीय उद्योगपतियों के सक्रियता से भाग लेने के कारण देश में आधुनिक उद्योगों का तेजी से विकास हुआ।

रेल

अंग्रेजी सत्ता द्वारा भारत में रेलवे का विकास आज भले ही उपयोगी सिद्ध हो रहा हो किंतु तत्कालीन परिस्थितियों में वह भारत की प्राकृतिक संपदा के शोषण का एक माध्यम था। उस समय भारत की अधिकांश जनता की आजीविका का साधन कृषि था और इसलिए सड़क मार्गों के विकास की अधिक आवश्यकता थी। लेकिन अंग्रेजों का उद्देश्य जनता के लिए यातायात का साधन उपलब्ध कराना न होकर उद्योगपतियों के उत्पादन को दूर-दूर तक पहुंचाना एवं दूरस्थ प्रदेशों से भारतीय कच्चे माल को लाना था। भारत में अपने बाजार का विस्तार करने के लिए अंग्रेजों ने रेलवे में अंधा-धुंध पूंजी का निवेश किया। 1905 ई. तक भारत में रेलवे पर 360 करोड़ रुपए का व्यय किया जा चुका था लेकिन कृषि पर सिंचाई के मद पर केवल 50 करोड़ रुपए खर्च किए गए थे, जबकि कृषि भारत के करोड़ों लोगों की आवश्यकता से जुड़ी थी। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि अंग्रेज कभी भी भारतीयों को आत्मनिर्भर नहीं बनने देना चाहते थे। रेलवे में पूंजी निवेश कर अंग्रेजों ने भारत की अमूल्य प्राकृतिक संपदा का भी बड़े पैमाने पर दोहन किया। रेलवे के विकास के भारत से दूरस्थ प्रदेशों से भी कच्चे माल को प्राप्त करने में अंग्रेजों को सुगमता हुई। कच्चे माल को रेलवे द्वारा ढोना सस्ता एवं सुगम था। अन्य माध्यमों से कच्चे माल या खनिज संसाधनों को सीमित मात्रा में और अधिक व्यय द्वारा ढोया जा सकता था, जबकि रेलवे के माध्यम से बड़ी मात्रा में और अल्प व्यय पर ऐसा कर पाना संभव हो सका।

भारतीय बाजार–उसका स्वभाव

भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना से पूर्व भारतीय बाजार स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप संचालित होता था। उस समय बड़े शहरों में संगठित बाजार तो अवश्य होते थे लेकिन गांवों के स्थानीय बाजार ही पाए जाते थे। बाजार में जरूरत का सामान मिलता था। मुद्रा प्रणाली का संगठित विकास नहीं होने से मौद्रिक विकल्पों या स्थानीय मुद्रा से लेनदेन किया जाता था। गांवों में वस्तु विनिमय का भी प्रचलन था।

अंग्रेजों को भारत की मुद्रा प्रणाली का स्वरूप देने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है। एकीकृत एवं संगठित मुद्रा प्रणाली ने बाजार के स्वभाव को परिवर्तित एवं निर्धारित करने में प्रभावी भूमिका निभाई। अंग्रेजों ने जब बिहार और बंगाल पर विजय प्राप्त की उस समय मुगल सरकार की पुरानी मुद्रा प्रणाली बिल्कुल खस्ताहाल थी। राजनीतिक अस्थिरता के कारण छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी-अपनी मुद्रा प्रणालियां लागू की हुई थीं

टिप्पणी

लेकिन व्यापक आर्थिक संदर्भ में इस तरह की मुद्रा व्यवस्था से अनिश्चितता और अव्यवस्था का जन्म हुआ। इसी के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी सत्ता की सर्वोच्चता स्थापित करने तथा व्यापार एवं वाणिज्य को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए स्वयं के सोने एवं चांदी के सिक्कों के निर्माण का फैसला किया किंतु यह व्यवस्था अव्यावहारिक सिद्ध हुई। 1806 ई. में कंपनी ने इस व्यवस्था में सुधार किया तथा केवल चांदी के सिक्के बनाने का निश्चय किया। कंपनी के चांदी के सिक्के या रुपए में, चांदी और दूसरी धातु का अनुपात 11:12 का था एवं जो रुपए की क्रय शक्ति थी वही उसकी चांदी का मूल्य भी था। चूंकि कंपनी के क्षेत्र एक-दूसरे से दूर-दूर थे अत: प्रत्येक को अपनी मुद्रा चलाने की इजाजत दी गई। यह व्यवस्था 1833 ई. तक इसी प्रकार चलती रही। 1835 ई. में मुद्रा प्रणाली का केंद्रीयकरण किया गया तथा संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में 'रुपया' एक मानक सिक्के के रूप में निर्धारित हुआ। इसका खरीद मूल्य और धातु का आंतरिक मूल्य दोनों बराबर रखे गए।

समय के साथ-साथ वस्तु-विनिमय की प्रथा कमजोर पड़ने लगी तथा मुद्रा प्रणाली स्थापित होने लगी। कंपनी ने भू-राजस्व भी नकदी सिक्कों में मांगना प्रारंभ कर दिया तथा घरेलू खर्चों का भुगतान भी नकद किया जाने लगा। अंग्रेज व्यापारियों का भारत में व्यापार बढ़ने तथा नकदी पर ज्यादा जोर देने के कारण चांदी के सिक्कों पर दबाव बढ़ गया। उत्पादन की कमी के कारण इस संकट से निपटने के लिए सरकार ने कागजी मुद्रा चलाने का फैसला किया किंतु सोने की मुद्रा चलाने की मांग बराबर की जाती रही। अंतत: 1866 ई. में सरकार ने 'मैन्सफील्ड आयोग' की नियुक्ति की। इसे मुद्रा संबंधी आवश्यकताओं से निपटने के लिए सुझाव देने को कहा गया। लेकिन आयोग की सिफारिशों को अनुपयुक्त मानकर उन्हें लागू नहीं किया गया। 1892 ई. में इस संबंध में 'हरशेल समिति' गठित की गई। इस समिति की सिफारिशों को भी सरकार ने लागू नहीं किया। पुन: 1898 ई. में 'फाउलर समिति' की नियुक्ति की गई। इस समिति की सिफारिशों पर सरकार ने ब्रिटिश सिक्के सावरेन और हाफ-सावरेन को भारत की वैध मुद्रा घोषित कर दिया। 1913 ई. में 'चैम्बरलेन आयोग' की सिफारिशों को भी सरकार ने नहीं माना। 1919 ई. में 'बैबिंगटन समिति' की कुछ सिफारिशों को सरकार ने लागू किया। 1925 ई. में 'हिल्टन यंग आयोग' ने भी मुद्रा प्रणाली के संबंध में कुछ सिफारिशें कीं। इसने भारत के लिए शुद्ध सोने या पांसे के सोने का मानक रखने की सिफारिश की। आयोग ने रुपए का मूल्य देश में छ: पैसे (स्वर्ण) निर्धारित किया। इसी आयोग की सिफारिशों पर सरकार ने 1927 ई. का मुद्रा कानून पारित किया। किंतु इस कानून से कई नकारात्मक प्रभाव सामने आए।

ब्रिटिश शासन के अंतिम वर्षों में मुद्रा प्रणाली संबंधी कई अन्य प्रयोग किए गए किंतु उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। रिजर्व बैंक की स्थापना से भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध से परिस्थितियां और बिगड़ गईं तथा भारत की स्वतंत्रता के समय तक मुद्रा प्रणाली की ऐसी ही स्थिति बनी रही।

ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया जाता था इसलिए उत्पादक के रूप में सरकार की भूमिका अत्यंत सीमित थी। फिर भी निजी स्तर पर संचालित व्यवसायों को हानि पहुंचाए बिना सरकार ने कुछ क्षेत्रों में उत्पादक बनने की कोशिश की। इस प्रकार के सरकारी उद्यमों का उद्देश्य निजी क्षेत्र को मदद पहुंचाना, व्यय में कमी लाना, आपूर्ति को बनाए रखना तथा ब्रिटिश पूंजीवादियों के लिए नवीन व्यवसायों का सूत्रपात करना इत्यादि था।

टिप्पणी

इनमें से कुछ उद्देश्यों की पूर्ति चाय बागानों के निर्माण द्वारा करने का प्रयास किया गया। 19वीं सदी के शुरुआती दशकों में भारत एवं इंग्लैंड द्वारा चीन से चाय मंगाई जाती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में अर्जित आय के माध्यम से चाय खरीदती थी। इस खर्चे को देखते हुए कंपनी के कुछ कर्मचारियों द्वारा भारत में चाय की खेती आरंभ करने का प्रयास किया गया। 1833 ई. में सरकारी स्वामित्व एवं निर्देशन के अधीन असम में चाय बागानों की स्थापना की गई। बाद में यही 'असम टी कंपनी' के नाम से देश की सबसे बड़ी चाय कंपनी बन गई। इस कंपनी को द्वारकानाथ ठाकुर द्वारा खरीदने की कोशिश की गई किंतु सरकार ने इसे अंग्रेज व्यापारियों को ही बेचा। इससे स्पष्ट हो गया कि सरकार ने भारतीय करदाताओं की पूंजी से व्यवसाय आरंभ किया किंतु लाभ प्राप्त होने पर उसे अंग्रेज व्यापारियों को बेच दिया। इसके अलावा सरकार ने ब्रिटिश पूंजी द्वारा निर्मित कंपनियों को असम के चाय व्यापार में प्रवेश देने के लिए राजस्व मुक्त भूमि प्रदान की और सरकारी आदेश के माध्यम से दक्षिणी बिहार एवं मध्य प्रदेश के आदिवासियों को चाय बागानों की ओर विस्थापित कर दिया। 1860 ई. के एक कानून के अनुसार चाय बागान से भागने वाले श्रमिकों को फौजदारी कानून के अंतर्गत सजा देने की व्यवस्था की गई। प्रफुल्लचंद्र राय तथा द्वारकानाथ गांगुली ने चाय बागान श्रमिकों की दयनीय स्थिति के बारे में विस्तार से लिखा है।

सरकारी उद्यम का एक अन्य उद्देश्य गोला-बारूद एवं बंदूक जैसे सामरिक उत्पादों की आपूर्ति बनाए रखना भी था। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सरकारी सहयोग से लोहे के कुछ कारखाने खोलने का प्रयास किया गया। ये प्रयास इंग्लैंड से आयातित सस्ते लोहे के कारण असफल रहे। इस लोहे से हथियारों का निर्माण सस्ता हो गया और सरकार की सामरिक जरूरतें भी पूरी हुईं। 1846 ई. में सरकारी प्रयासों के फलस्वरूप दमदम में गन एंड सेल फैक्ट्री शुरू की गई। 1860 में सामरिक उद्देश्य से ही कानपुर में चमड़े की जीन, हौदा एवं बूट बनाने का कारखाना लगाया गया। 1905 ई. तक देश में गोला-बारूद निर्माण करने वाले 13 कारखाने स्थापित किए जा चुके थे।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित उद्योग अत्यंत सीमित थे तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास एवं उसकी जरूरतों के साथ उनका कोई भी सरोकार नहीं था। अनेक देशों में उत्पादन वृद्धि एवं अर्थव्यवस्था को मजबूती देने के लिए सरकार द्वारा उत्पादक की भूमिका निभाई गई। जापान, जर्मनी एवं रूस का औद्योगीकरण सरकारी प्रयासों के बिना संभव नहीं था। भारत में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी उद्यम के माध्यम से मिश्रित अर्थव्यवस्था को बल दिया गया। किंतु ब्रिटिश भारत में स्थापित किए गए सरकारी उद्योगों का उद्देश्य अधीनस्थ राष्ट्र एवं जनता के हितों को पोषित करना नहीं था, बल्कि इंग्लैंड की समृद्धि में अपना योगदान सुनिश्चित करना था। भारतीय खरीददार के रूप में ब्रिटिश भारतीय सरकार की भूमिका व्यापक थी। 1875 ई. तक की व्यवस्था के अनुसार ब्रिटिश भारत सरकार द्वारा अधिकांश वस्तुएं इंडिया हाउस के माध्यम से ब्रिटिश बाजारों में से खरीदी जाती थीं। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड के व्यापारी भारतीयों के धन से समृद्ध होते जा रहे थे, वहीं भारत सरकार का विदेशी मुद्रा खर्च भी बढ़ता जा रहा था। इस बेतहाशा बढ़ते खर्च को कम करने के लिए लॉर्ड सेलिवरी द्वारा अनेक वस्तुएं भारत स्थित ब्रिटिश व्यापारिक प्रतिष्ठानों से खरीदी जाती थीं। 1883 ई. में लॉर्ड रिपन के प्रयासों से भारत में खरीदी जाने वाली वस्तुओं का परिमाण बढ़ गया। प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक, आपूर्ति की कठिनाइयों को देखते हुए भारत सरकार ने लगभग सभी वस्तुएं भारत से ही खरीदीं। अब

सरकार जमशेदजी टाटा के कारखानों में निर्मित इस्पात भी खरीदने लगी थी। इस प्रकार परिस्थितियों के दबाव में तथा अपने व्यय को कम करने हेतु अंग्रेज सरकार को देशी वस्तुओं को खरीदने के लिए विवश होना पड़ा।

टिप्पणी

इस प्रकार उत्पादक एवं खरीददार के रूप में अंग्रेज सरकार की भूमिका औपनिवेशिक हितों से प्रेरित थी।

प्रमुख उद्योग

अंग्रेजी शासनकाल के प्रमुख आधुनिक उद्योगों का वर्णन निम्नानुसार है :

सूती कपड़ा उद्योग : भारत की पहली आधुनिक सूती कपड़ा मिल की स्थापना बंबई में की गई। बंबई में सूती कपड़ा मिलों की स्थापना के लिए अत्यंत अनुकूल परिस्थितियां थीं, इससे बंबई शीघ्र ही सूती कपड़ा मिलों की स्थापना का प्रमुख केंद्र बन गया। बंबई के पश्चात् नागपुर, शोलापुर और अहमदाबाद में भी सूती कपड़े के उद्योग स्थापित किए गए। इन स्थानों में भी सूती कपड़ा उद्योग की स्थापना के लिए अनुकूल परिस्थितियां एवं आवश्यक संसाधन उपलब्ध थे। इसके बाद द. भारत एवं पंजाब में सूती कपड़े की अनेक मिलें स्थापित की गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय सूती कपड़ा उद्योग बेहतर स्थिति में था किंतु विश्वयुद्ध के उपरांत जापान से उसे प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। द्वितीय विश्वयद्ध के समय इस उद्योग की स्थिति दयनीय हो गई। फिर भी, युद्ध के पश्चात् कपड़ा मिलों की संख्या में वृद्धि हुई। विभाजन के समय भारत में 423 मिलें थीं, जिनमें से 408 भारत के हिस्से में आयीं तथा 15 पाकिस्तान को प्राप्त हुई।

पटसन या जूट उद्योग : 1855 ई. में बंगाल में 'रिशरा' नामक स्थान पर पहली आधुनिक पटसन मिल की स्थापना हुई। पटसन उद्योग की अधिकांश मिलें अंग्रेजों ने ही लगाई थीं तथा इनमें अंग्रेजों की ही पूंजी लगी थी। पटसन उद्योग में समय-समय पर उतार-चढ़ाव आते रहे। प्रथम विश्वयुद्ध एवं 1929 ई. की आर्थिक मंदी से इस उद्योग को नुकसान पहुंचा लेकिन पटसन उद्योग को सर्वाधिक नुकसान देश के विभाजन से हुआ। विभाजन के फलस्वरूप पटसन उत्पादक क्षेत्र का लगभग 2/3 हिस्सा पाकिस्तान के पक्ष में चला गया।

लोहा और इस्पात उद्योग : पहले आधुनिक लोहा एवं इस्पात उद्योग की स्थापना 1873 ई. में बिहार के झरिया कोयला क्षेत्र में हुई। इसका नाम 'बाराकर आयरन वर्क्स' था। बाद में इसे बंगाल स्टील एंड आयरन कंपनी ने अधिगृहीत कर लिया। 1907 ई. में टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी की स्थापना से इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई। टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी शीघ्र ही इस्पात का उत्पादन करने वाली देश की प्रमुख कंपनी बन गई। इससे अन्य लोगों को भी इस क्षेत्र में उद्योग लगाने को प्रोत्साहन मिला।

1918 ई. में बर्न एंड कंपनी ने हीरापुर में इंडियन आयरन वर्क्स कंपनी की स्थापना की। 1921 ई. में भद्रावती में मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स कंपनी बनी। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में इतना विकास हो गया कि भारत प्रमुख इस्पात निर्यातक देश बन गया।

शीशा उद्योग : शीशा के निर्माण के लिए 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में कई आधुनिक फैक्ट्रियों की स्थापना हुई। पर्याप्त लाभ होने के कारण शीघ्र ही ये कंपनियां बंद हो गईं। लेकिन 20वीं शताब्दी में पुनः इस क्षेत्र ने गति पकड़ी तथा देश में अनेक शीशा उत्पादक कारखानों की स्थापना की गई।

टिप्पणी

कागज उद्योग : 19वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में अनेक स्थानों पर कागज तैयार करने के उद्योग स्थापित किए गए। 1870 ई. में हुगली में बाजी मिल्स की स्थापना हुई। 1879 ई. में एक कागज मिल लखनऊ में लगाई गईं। 1882 ई. में टीटागढ़ पेपर कारखाने की स्थापना हुई। 1885 ई. में डकन पेपर मिल और 1889 ई. में रानीगंज पेपर मिल की स्थापना की गई।

20वीं शताब्दी में पेपर मिलों की स्थापना में और तेजी आयी। 1939 ई. में भद्रावती तथा 1942 ई. में सिरपुर में पेपर मिलें लगाई गईं। युद्ध के पश्चात् कागज की मांग और तीव्र हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की कागज की मांग को पूरा करने के लिए इस ओर पर्याप्त ध्यान केंद्रित किया गया।

कोयला खान उद्योग : अन्य उद्योगों के संचालन एवं बिजली के निर्माण के लिए इस ओर ध्यान केन्द्रित किया गया तथा अनेक कोयला खानों की स्थापना की गई। भारत में कोयले के मुख्य क्षेत्र बंगाल, उड़ीसा एवं बिहार थे। 1937 ई. तक भारत का कोयला उत्पादन 2 करोड़ 50 लाख टन तक पहुंच चुका था। 1944 ई. में सरकार ने 'कोयला खान नियंत्रण आदेश' पास किया। स्वाधीनता के पश्चात् भी कई वर्षों तक खानों पर निजी स्वामित्व ही रहा किंतु बाद में सरकार ने इनका राष्ट्रीयकरण कर दिया।

एल्यूमिनियम उद्योग : भारत में इस उद्योग का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के करीब हुआ। 1937 ई. में एल्यूमिनियम प्रोडक्शन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड तथा एल्यूमिनियम कॉर्पोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड ने कलकत्ता के समीप रोलिंग मिलों की स्थापना की। 1943 ई. में एलवाय में एक एल्यूमिनियम कारखाना लगाया गया। देश में एल्यूमिनियम से निर्मित सामग्रियों की काफी मांग थी अतः शीघ्र ही यह उद्योग एक सफल उद्योग बन गया।

चीनी उद्योग : भारत में आधुनिक चीनी मिलों की स्थापना 20वीं शताब्दी से प्रारंभ हुई। 1930 से 40 ई. के मध्य चीनी उद्योग का अच्छा विकास हुआ। गन्ने का उत्पादन भी भरपूर होने से चीनी मिलों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। उस समय गन्ने का उत्पादन मुख्यतः बिहार एवं उत्तर प्रदेश में होता था।

सीमेंट उद्योग : आधुनिक सीमेंट कारखाने मुख्यतया 20वीं शताब्दी में लगाए गए। 1904 ई. में मद्रास में पोर्टलैंड सीमेंट का उत्पादन प्रारंभ हुआ। शीघ्र ही कई अन्य स्थानों पर सीमेंट कारखानों की स्थापना की गई। इनमें कटनी सीमेंट एण्ड इंडस्ट्रियल कंपनी, पोरबंदर में इंडियन सीमेंट कंपनी एवं बूंदी पोर्टलैंड सीमेंट कंपनी के कारखाने प्रमुख थे। 1936 ई. में 10 कंपनियों ने आपस में मिलकर एसोसिएटेड सीमेंट कंपनी (ए.सी.सी.) के नाम से सीमेंट का उत्पादन प्रारंभ किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत कई निजी औद्योगिक घरानों ने देश में अनेक सीमेंट उद्योगों की स्थापना की।

चमड़ा उद्योग : भारत में चमड़ा उद्योग का विकास 19वीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ हुआ। सेना में चमड़े की वस्तुओं एवं साजो-सामान की मांग के कारण चमड़ा उद्योग को प्रोत्साहन मिला। 1860 ई. में कानपुर में हार्नेस एवं सैडलरी कारखाने की स्थापना की गई। शीघ्र ही कानपुर चमड़ा उद्योग का केंद्र बन गया। कुछ अन्य स्थानों, यथा–मद्रास एवं बंबई में चमड़ा कमाने के कारखाने लगाए गए। द. भारत चमड़े का निर्यातक क्षेत्र था। 1930 ई. में चमड़ा उद्योग के भावी विकास का अध्ययन करने के लिए 'हाइड्स सेस इंक्वायरी कमेटी' का गठन किया गया। धीरे-धीरे चमड़ा उद्योग विकसित होता गया।

तेल उद्योग : भारत में तेल उद्योग का विकास कुछ विलंब से प्रारंभ हुआ। बाद में तेल पेराई एवं परिष्करण के अनेक कारखाने भारत के विभिन्न भागों में स्थापित किए गए।

2.4.2 पूंजीवादी वर्ग का उदय

टिप्पणी

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन पर निजी व्यक्तियों का नियंत्रण होता है। यह व्यवस्था खुली प्रतिर्स्पधा पर आधारित होती है तथा बाजार के मार्ग तथा पूर्ति के आधार पर मूल्यों का निर्धारण होता है। लाभ व्यक्ति की निजी समाप्ति होती है। वैसे कुछ विद्वानों ने इस व्यवस्था को अमानवीय तथा शोषणकारी भी माना है। यह उदारवादी विचारधारा से प्रभावित है।

पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है, जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्कपूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है। मनुष्य कार्य क्यों करता है? हममें से अधिकांश का उत्तर होगा 'धन कमाने के लिए।' धन इसलिए कमाया जाता है कि हम और हमारा परिवार कपड़े पहन सके, खाना खा सके और सिर ढकने के लिए मकान बना सके। धन इसलिए भी कमाया जाता है कि हम कुछ ऐसी आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं का भी उपभोग कर सकें जो जिंदगी को खुशहाल बनाती हैं। सम्पत्ति या लाभ अर्जित करने की इच्छा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव जाति का का इतिहास। संपत्ति हमेशा से ही प्रस्थिति, शक्ति तथा प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाती रही है। लेकिन मानव इतिहास में पहले कभी भी संपत्ति की इच्छा ऐसा संगठित तथा व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी जैसा कि उसने आधुनिक या तार्किक पूंजीवाद में ग्रहण किया है। पूर्वकालिक पारंपरिक या जोखिम भरे पूंजीवाद तथा आधुनिक काल के तार्किक पूंजीवाद के बीच भेद किया गया है।

पूंजीवाद, इंग्लैंड तथा जर्मनी जैसे पश्चिमी देशों में उभरा, जहां औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इन देशों में कारखाना प्रणाली के विकास, नए-नए औजारों और मशीनों के प्रयोग तथा उत्पादन की नई तकनीकों की खोज ने पूंजीपतियों तथा मालिकों को असीम मात्रा में धन कमाना संभव बना दिया। इसके लिए उत्पादन की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से संगठित किया जाना आवश्यक था अर्थात् दूसरे शब्दों में दक्षता तथा अनुशासन लागू करना अनिवार्य था।

पूंजीपति संपत्ति की इच्छा सुखी या विलासी जिंदगी बिताने के लिए नहीं अपितु उसके माध्यम से और अधिक संपत्ति अर्जित करने के लिए करते थे। धन के लिए धन अर्जित करने की यह प्रबल इच्छा ही आधुनिक पूंजीवाद का सार-तत्व है।

श्रमिक एक साध्य का साधन मात्र बन गया और साध्य लाभ हो गया। कार्य के प्रति मनोवृत्ति विकसित हुई कि काम को भली प्रकार से केवल इसलिए नहीं किया जाना है कि व्यक्ति को काम करना ही चाहिए, अपितु इसलिए किया जाना है कि उसके साथ अंतर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा है। प्रसिद्ध अमरीकी कहावत 'कोई भी काम जो करने लायक है वह अच्छी तरह करने लायक होता है' इस अभिवृत्ति की परिचायक है। कड़ी मेहनत के साथ तथा दक्षता के साथ काम संपन्न करना स्वयं में एक साक्ष्य बन गया।

श्रमिक अधिक वेतन की अपेक्षा कम काम तथा मेहनत की बजाय आराम को अधिक पसंद करते थे। वे नई कार्य-विधियों तथा तकनीकों को अपनाने में अक्षम होते थे या अनिच्छुक होते थे।

जैसा कि विदित है कि पूंजीवाद में पूंजीपति, श्रमिक को साध्य का एक साधन ही मानता है। लेकिन परंपरावाद के अंतर्गत श्रमिक और पूंजीपति के बीच संबंध प्रत्यक्ष,

टिप्पणी

अनौपचारिक और वैयक्तिक होते थे। परंपरावाद के विपरीत पूंजीवाद की प्रवृत्ति में व्यक्तिवाद अभिनव प्रयोग, मेहनत तथा संपत्ति के लिए ही संपत्ति संचित करने की चाह की जरूरत होती है। इसलिए यह ऐसी आर्थिक नैतिकता है जो पहले की सभी नैतिकताओं से बिल्कुल भिन्न है।

परंपरावाद पूंजीवाद के विकास में बाधक होता है। पूंजीवाद के अंतर्गत व्यक्तिवाद, नए-नए आविष्कार तथा लाभ कमाने की अनथक चेष्टा को अधिक महत्व दिया जाता है। लेकिन परंपरावाद, उत्पादन की उपेक्षाकृत कम अनुशासित तथा दक्ष प्रणाली पर आधारित होता है। पूंजीवाद की प्रवृत्ति एक ऐसी कार्य-नैतिकता पर आधारित होती है जिसका उद्देश्य संपत्ति के लिए संपत्ति का संचयन करना होता है। ऐसा करने के लिए कार्य को एक दक्षतापूर्ण, अनुशासित ढंग से संगठित करना होता है। मेहनत के साथ काम करना एक ऐसा गुण होता है, जिसके साथ अंतर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा होता है।

पूंजीवाद का मूल रूप उस उद्यमी प्रवृत्ति में निहित है, जिसका उद्देश्य अधिकाधिक लाभ पाना और अधिकाधिक संग्रह करना है। ये लक्ष्य कार्य और उत्पादन के तार्किक संगठन पर आधारित है। लाभ की इच्छा तथा तार्किक अनुशासन का मेल ही, ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य पूंजीवाद की विशिष्टता का आधार है। लाभ की इच्छा सटटेबाजी अथवा या फिर साहस से संतुष्ट नहीं होती। यह तो अनुशासन और तार्किकता से ही संतुष्ट होती है। जिस प्रकार आधुनिक राज्य या तर्कसंगत नौकरशाही कानूनी प्रशासन के द्वारा ही संभव हो सकता है। इस प्रकार, पूंजीवाद को ऐसे उद्यम के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो असीमित लाभ प्राप्त करने के लिए नौकरशाही एवं तार्किकता के अनुरूप कार्यरत होता है।

2.4.3 श्रमिक वर्ग का उदय

औद्योगिक श्रमिक से अभिप्राय देश के औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करने वाले सभी श्रम संघों से है। देश में कुशल एवं अकुशल दोनों प्रकार के श्रमिक विभिन्न औद्योगिक इकाइयों में कार्य करते हैं। वैसे हमारे देश में श्रमिकों के कल्याण हेतु कई योजनाएं बनाई गई हैं, लेकिन फिर उनके सम्मुख अनेक प्रकार की समस्याएं पायी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. **अशिक्षा :** औद्योगिक श्रमिकों का बड़ा भाग अशिक्षित है। इससे वे अपनी समस्याओं को नहीं समझते तथा अपने शोषण के विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाते हैं। अशिक्षा के कारण ये श्रमिक कल्याण योजनाओं एवं नीतियों से भी अनभिज्ञ होते हैं।
2. **अनुशासन का अभाव :** औद्योगिक श्रमिकों में सामान्यतया अनुशासन का अभाव पाया जाता है। ये समय आदि का ज्यादा ध्यान नहीं रखते तथा अपने कार्य को अनुशासित होकर नहीं करते हैं।
3. **अस्थायी प्रवास :** औद्योगिक श्रमिकों का अधिकांश भाग अप्रवासी होता है। वे काम की तलाश में गांवों से शहरों की ओर पलायन करते हैं। यहां उनका स्थायी निवास नहीं होता। इसके कारण उनका मन अपने घर-परिवार में लगा रहता है तथा वे कारखानों में अपने कार्य को पूर्ण मनोयोग से नहीं कर पाते हैं। इसके अलावा एक अन्य समस्या यह होती है कि वे खेतीबाड़ी के टाइम में कुछ माह के लिए वापस अपने गांव चले जाते हैं। इससे उन्हें तथा औद्योगिक इकाई दोनों को धन की हानि होती है।

टिप्पणी

4. **कम क्षमता :** भारत में औद्योगिक श्रमिकों की क्षमता कम है। उनमें अभी भी उत्पादकता का स्तर उतना नहीं है, जितना होना चाहिए। प्रशिक्षण, अनुसंधान, शिक्षा आदि के अभाव के कारण उनका उत्पादकता स्तर निम्न है।
5. **संगठन की कमी :** भारत में औद्योगिक श्रमिकों में संगठन का अभाव पाया जाता है। क्षेत्रीयता, जातिवाद, धर्म आदि के आधार पर वे विभाजित होते हैं। यद्यपि श्रम संगठन इन्हें संगठित करने का प्रयास कर रहे हैं, लेकिन अभी भी इस कार्य में ज्यादा सफलता नहीं मिल पायी है।
6. **गरीबी :** भारत के अधिकांश औद्योगिक श्रमिक गरीब हैं। उनका वेतन, जीवन स्तर, उत्पादकता का मानक आदि काफी निम्न स्तर के हैं। इसके कारण वे मन लगाकर अपने कार्य को नहीं कर पाते हैं।
7. **अंधविश्वास :** भारत के अधिकांश औद्योगिक श्रमिकों में अंधविश्वास पाया जाता है। उनका दृष्टिकोण तर्कहीन है। वे भाग्यवादी एवं व्यर्थ की बातों में विश्वास करते हैं। वैज्ञानिक सोच का उनमें नितांत अभाव है। इन सभी कारणों का असर उनके कार्य स्तर एवं उत्पादकता पर पड़ता है।
8. **नियमों एवं विनियमों की अज्ञानता :** भारत के अधिकांश औद्योगिक श्रमिकों में नियमों एवं विनियमों की अज्ञानता पायी जाती है।
9. **बुरी आदतें :** भारत के अधिकांश औद्योगिक श्रमिकों में कई प्रकार की बुरी आदतें पायी जाती हैं। इनमें मादक पदार्थों का व्यसनी होना, परस्त्रीगमन करना आदि प्रमुख हैं। इससे उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बुरी तरह प्रभावित होता है तथा वे अपने कार्य को पूर्ण क्षमता एवं मनोयोग से नहीं कर पाते हैं।

औद्योगिक श्रम

औद्योगिक श्रम से अभिप्राय उन सभी श्रमिकों से होना चाहिए जो बड़े तथा छोटे पैमाने के उद्यमों (कुटीर उद्योग सहित) में कार्य करते हैं। लेकिन भारत में औद्योगिक श्रम का प्रयोग सीमित रूप में किया जाता है और उन सभी श्रमिकों को, जिनपर व्यवस्थित कारखानों में फैक्ट्री अधिनियम लागू होता है, औद्योगिक श्रम का अंग माना जाता है। कुटीर उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को इनमें शामिल नहीं किया जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में सबसे बड़ी संख्या में श्रमिकों को मिलों और कारखानों में रोजगार मिला हुआ है।

भारतीय औद्योगिक श्रम की विशेषताएं

भारत के औद्योगिक श्रम की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं-

- अधिकतर औद्योगिक श्रमिक मूलतः ग्रामवासी हैं तथा वे नगरों में अस्थायी रूप से बस जाते हैं। श्रम का प्रवासीपन ही भारतीय औद्योगिक श्रम की सबसे प्रमुख विशेषता है।
- भारतीय श्रमिकों के प्रवासी स्वरूप के कारण भारत के औद्योगिक नगरों में श्रम की पूर्ति स्थायी नहीं है।
- भारतीय औद्योगिक श्रमिकों में काम पर अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक है।

टिप्पणी

- भारतीय औद्योगिक श्रमिकों को नगरों में निवास करते हुए भी औद्योगिक जीवन के प्रति विशेष लगाव नहीं है।
- भारतीय औद्योगिक श्रमिक पश्चिमी देशों की तुलना में कम कार्यकुशल माना जाता है।
- भारत में श्रमिक वर्ग में चेतना का स्तर नीचा है तथा सामान्य श्रमिक श्रम संघों के प्रति उदासीन होते हैं।
- भारत में औद्योगिक श्रम अधिकतर अशिक्षित है, परिणामस्वरूप वह उद्योगों की समस्याओं से परिचित नहीं होता।
- भारत में औद्योगिक श्रम प्रदेश, धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर विभाजित है।
- भारतीय श्रमिकों में एक ही नौकरी पर स्थायी रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं होती है।

श्रम संघों का विकास

श्रम संघ श्रमिकों द्वारा स्वैच्छिक रूप में कायम की गई ऐसी संस्थाएं होती हैं जिनका उद्देश्य सामूहिक प्रयास द्वारा श्रमिकों के हितों की रक्षा करना एवं उन्हें प्रोन्नत करना होता है। भारत में 1850 के लगभग आधुनिक उद्योगों की स्थापना के साथ श्रमिक वर्ग का उदय हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ में भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों की नींव पड़ी। 1853 ई. के पश्चात् भारतीय संचार साधनों में मशीनों का प्रयोग होने लगा। रेल लाइनों के बिछाने तथा इंजनों के लिए कोयला निकालने में हजारों श्रमिकों को रोजगार मिला। यह भारतीय श्रमिक वर्ग का प्रारंभिक काल था। इन परिस्थितियों में रेलवे उद्योग से संबद्ध अन्य उद्योगों का विकास भी आवश्यक था। कोयला उद्योग का भी तेजी से विकास हुआ तथा उसने हजारों श्रमिकों को रोजगार के अवसर प्रदान किए। इसके पश्चात् कपास एवं जूट उद्योग का विकास हुआ।

इंग्लैंड तथा शेष संसार में औद्योगीकरण के प्रारंभिक चरण में श्रमिक वर्ग को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, भारतीय श्रमिक वर्ग ने भी भारत में उसी प्रकार के शोषण एवं कठिनाइयों का सामना किया। इन कठिनाइयों में–कम मजदूरी, कार्य के लंबे घंटे, कारखानों में आधारभूत सुविधाओं का अभाव इत्यादि प्रमुख थीं। भारत में औपनिवेशिक शासन की उपस्थिति ने भारतीय श्रमिक आंदोलन को एक नयी विशेषता प्रदान की। भारतीय श्रमिक वर्ग को दो परस्पर विरोधी तत्वों–उपनिवेशवादी राजनीतिक शासन तथा विदेशी एवं भारतीय पूंजीपतियों के शोषण का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों के कारण भारतीय श्रमिक आंदोलन, अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का हिस्सा बन गया।

श्रमिकों की दशाओं में सुधार के लिए किए गए प्रारंभिक प्रयास आत्म-केन्द्रित थे तथा इनकी प्रकृति पृथक्, वैयक्तिक एवं विशिष्ट स्थानीय समस्याओं की थी। 1870 ई. में शशीपदा बैनर्जी ने एक श्रमिक क्लब की स्थापना की तथा भारत श्रमजीवी नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। 1878 ई. में सोराबजी सपूर्जी बंगाली ने श्रमिकों को कार्य की बेहतर दशाएं उपलब्ध कराने के लिए विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे बाद में बंबई विधानपरिषद ने पारित कर दिया। 1880 ई. में नारायण मेघाजी लोखंडे ने *दीनबंधु* नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा 'बंबई मिल एवं मिलहैंड एसोसिएशन'

टिप्पणी

की स्थापना की। 1899 ई. में ग्रेट इंडियन पेनिन्सुलर रेलवे की प्रथम हड़ताल आयोजित की गई। इस हड़ताल को अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त हुआ। तिलक ने अपने समाचार-पत्रों मराठा एवं केसरी के द्वारा हड़ताल का भरपूर समर्थन किया। इस समय देश के कई प्रख्यात राष्ट्रवादी नेताओं, यथा–विपिन चंद्रपाल एवं जी. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने भारतीय श्रमिकों की दशा में सुधार करने तथा उनके लिए नियम-कानून बनाए जाने की मांग की।

स्वदेशी आंदोलन के दौरान श्रमिकों ने विस्तृत राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी निभायी। अश्विनी कुमार बैनर्जी, प्रभात कुमार राय, प्रेमतोष बोस एवं अपूर्व कुमार घोष ने अनेक हड़तालों का आयोजन किया। इनके हड़ताल के क्षेत्र थे–सरकारी मुद्रणालय, रेलवे एवं जूट उद्योग। इस समय श्रमिक एवं व्यापार संघों की स्थापना के प्रयत्न भी किए गए किंतु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। सुब्रह्मण्यम अय्यर एवं चिदम्बरम पिल्लई के नेतृत्व में तूतीकोरिन एवं तिरुनेलवेल्लि में हड़तालों का आयोजन किया गया। बाद में इन दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया। तत्कालीन सबसे बड़ी हड़ताल का आयोजन उस समय किया गया, जब बालगंगाधर तिलक को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में एवं उसकी समाप्ति के पश्चात्, दोनों समयावधि में वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा निर्यात बढ़ा, जिससे उद्योगपतियों ने अभूतपूर्व लाभ कमाया किंतु श्रमिकों की मजदूरी न्यूनतम ही रही। इसी बीच भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में गांधीजी का अभ्युदय हुआ। गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का जनाधार व्यापक हुआ तथा उन्होंने श्रमिकों एवं किसानों को अपने आंदोलनों से संबद्ध करने का प्रयास किया। इस समय श्रमिकों को व्यापार संघों में संगठित किए जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। कुछ अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं, यथा–सोवियत संघ की स्थापना, कूमिन्टर्न की स्थापना तथा अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना, से भारतीय श्रमिक वर्ग में एक नयी चेतना का प्रसार हुआ।

31 अक्टूबर, 1920 को ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गई। उस वर्ष के (1920 के) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष लाला लाजपत राय 'एटक' के प्रथम अध्यक्ष तथा दीवान चमनलाल इसके प्रथम महासचिव चुने गए। लाला लाजपत राय ऐसे प्रथम नेता थे, जिन्होंने पूंजीवाद को साम्राज्यवाद से जोड़ने का प्रयास किया। उनके अनुसार, साम्राज्यवाद एवं सैन्यवाद पूंजीवाद की जुड़वां संतानें हैं।

प्रख्यात कांग्रेसी एवं स्वराज्यवादी नेता सी.आर. दास ने एटक के तीसरे एवं चौथे अधिवेशन की अध्यक्षता की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गया अधिवेशन (1922 ई.) में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर एटक की स्थापना का स्वागत किया गया तथा इसकी सहायता के लिए एक समिति का गठन किया गया। सी.आर. दास ने सुझाव दिया कि कांग्रेस द्वारा श्रमिकों एवं किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन की प्रक्रिया में भागीदार बनाया जाना चाहिए तथा उसे इनकी (श्रमिकों एवं किसानों) मांगों का समर्थन करना चाहिए। यदि कांग्रेस ऐसा नहीं करती तो ये दोनों ही वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से पृथक् हो जाएंगे। अन्य प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं, यथा–जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, सी.एफ. एंड्रयूज, जे. एम. सेनगुप्ता, सत्यमूर्ति, वी.वी. गिरि एवं सरोजिनी नायडू ने भी ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से निकट संबंध स्थापित करने के प्रयास किए। अपनी स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में 'एटक' ब्रिटेन के श्रमिक दल के सामाजिक एवं लोकतांत्रिक विचारों से प्रभावित था। इस पर अहिंसा, न्यासवाद एवं वर्ग सहयोग जैसे गांधीवादी दर्शन के सिद्धांतों का भी गहरा प्रभाव था। गांधीजी ने अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन (1918 ई.) की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया तथा इसके साथ श्रमिकों की मजदूरी में 27.5 प्रतिशत

टिप्पणी

की वृद्धि करने के लिए चलाए गए आंदोलन को समर्थन दिया। अंततः यह आंदोलन सफल रहा तथा श्रमिकों की मजदूरी में 27.5 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई।

ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926 द्वारा व्यापार संघों को वैध संगठनों के रूप में मान्यता दे दी गई, व्यापार संघों की गतिविधियों के पंजीकरण एवं नियमन संबंधी कानूनों की व्याख्या की गई तथा व्यापार संघों की गतिविधियों को नागरिक एवं आपराधिक गतिविधियों की परिधि से बाहर माना गया किंतु उनकी राजनीतिक गतिविधियों के लिए कुछ सीमाएं भी तय कर दी गईं।

1920 के पश्चात् साम्यवादी आंदोलन के उत्थान के फलस्वरूप व्यापार संघ आंदोलनों में कुछ क्रांतिकारी और सैनिक भावना आ गई। 1928 ई. में गिरनी कामगार यूनियन के नेतृत्व में बंबई टेक्सटाइल मिल में 6 माह लंबी हड़ताल का आयोजन किया गया। इस पूरे वर्ष में औद्योगिक जगत में अभूतपूर्व उथल-पुथल की स्थिति रही। इस अवधि में विभिन्न साम्यवादी दलों में क्रिस्टीकरण की प्रक्रिया भी परिलक्षित हुई। इस काल के साम्यवादी नेताओं में एस.ए. डांगे, मुजफ्फर अहमद, पी.सी. जोशी एवं सोहन सिंह जोशी इत्यादि प्रमुख थे।

उग्रवादी प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में व्यापार संघ आंदोलनों की बढ़ती क्रियाशीलता के कारण सरकार चिंतित हो गई तथा उसने इन आंदोलनों पर रोक लगाने के लिए वैधानिक कानूनों का सहारा लेने का प्रयास किया। इस संबंध में सरकार ने श्रमिक विवाद अधिनियम, 1929 तथा नागरिक सुरक्षा अध्यादेश, 1929 बनाए।

मार्च 1929 में सरकार ने 31 श्रमिक नेताओं को बंदी बना लिया तथा मेरठ लाकर उन पर मुकदमा चलाया गया। इन पर आरोप लगाया गया कि ये सरकार को भारत की प्रभुसत्ता से वंचित करने का प्रयास कर रहे थे। इन नेताओं में–मुजफ्फर अहमद, एस.ए. डांगे, जोगलेकर, फिलिप सम्राट, ब्रेन ब्रैडली, शौकत उस्मानी तथा अन्य सम्मिलित थे। इस मुकदमे को पूरे संसार में समर्थन मिला। परंतु इससे श्रमिक आंदोलनों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। 1930 ई. में गांधीजी के नेतृत्व में चलाए जा रहे सविनय अवज्ञा आंदोलन में श्रमिकों ने सक्रियता से भाग लिया किंतु 1931 ई. के पश्चात् इसमें कुछ कमी आ गई। इसका प्रमुख कारण 1931 ई. में ही अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में विभाजन था। इस वर्ष दक्षिणपंथी मध्यमार्गियों, जिनके नेता एम.एन. जोशी, वी.वी. गिरि तथा मृणाल क्रांति बोस थे, ने एटक से अलग होकर 'भारतीय ट्रेड यूनियन संघ' नामक एक नया संगठन बना लिया। अब श्रमिक वामपंथी दल में साम्यवादियों, कांग्रेसी समाजवादी एवं वामपंथी राष्ट्रवादियों, जैसे–नेहरू एवं बोस जैसे नेताओं का गठबंधन था।

1937 ई. के प्रांतीय चुनावों में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने कांग्रेस के उम्मीदवारों का समर्थन किया। बाद में विभिन्न प्रांतों में गठित कांग्रेसी सरकारों ने व्यापार संघ गतिविधियों को अपना समर्थन दिया। सामान्यतः श्रमिकों की मांगों के प्रति कांग्रेसी सरकारों का रवैया सहानुभूतिपूर्ण था। इस दौरान श्रमिक समर्थक अनेक विधान भी बनाए गए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय प्रारंभ में श्रमिक संघों एवं नेताओं ने युद्ध का विरोध किया किंतु 1941 ई. में रूस के मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो जाने के उपरांत उनका रुख परिवर्तित हो गया तथा साम्यवादियों ने इसे 'लोगों का युद्ध' कहकर इसका समर्थन प्रारंभ कर दिया। साम्यवादियों ने भारत छोड़ो आंदोलन से भी स्वयं को पृथक् कर लिया तथा शांतिपूर्ण औद्योगिक नीति की वकालत प्रारंभ कर दी।

टिप्पणी

1945-1947 की अवधि में श्रमिकों ने युद्धोपरांत हुए राष्ट्रीय विप्लवों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। 1945 ई. में बंबई एवं कलकत्ता के बंदरगाह मजदूरों ने इंडोनेशिया भेजे जाने वाली रसद को जहाजों पर लादने से इंकार कर दिया। 1946 ई. में शाही नौसेना में विद्रोह होने पर मजदूरों ने इसके समर्थन में हड़तालें कीं। उपनिवेशी शासन के अंतिम वर्ष भी मजदूरों ने पोस्ट, रेलवे एवं अन्य प्रतिष्ठानों में आयोजित हड़तालों में भागीदारी निभायी।

स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक विचारधारा के आधार पर श्रमिक आंदोलनों का ध्रुवीकरण हो गया।

आधुनिक उद्योगों की स्थापना ने पूंजीपतियों द्वारा शोषण एवं मजदूरों की समस्याओं को जन्म दिया। भारतीय उद्योगों को पश्चिमी जगत के उद्योगों से कड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा था, अतः भारतीय उत्पादों की कीमतें कम रखने के लिए उन्होंने मजदूरों को कम वेतन, काम के अधिक घंटे तथा महिलाओं एवं बच्चों को कारखानों में नियोजित करने जैसे कदम उठाए। मजदूरों को मिल मालिकों की शोषणकारी शर्तों से बचाने के लिए अंग्रेजी सरकार इच्छुक नहीं दिख रही थी। लेकिन सरकार भारतीय मिल मालिकों की भी पक्षधर नहीं थी क्योंकि वे ब्रिटिश मिल मालिकों के हितों को नुकसान पहुंचा रहे थे। ऐसी स्थिति में सरकार ने कुछ फैक्ट्री कानून बनाए। ये कानून न ही अपने आप में परिपूर्ण थे और न ही प्रभावशाली। साथ ही अंग्रेजी सरकार का यह कदम मजदूरों के प्रति सहानुभूति का न होकर भारतीय उद्योगपतियों के प्रति विरोध की भावना से प्रेरित था। यद्यपि ये कानून कागजी ही रहे किंतु इन कानूनों की एक अच्छाई यह थी कि उन्होंने उद्योगपतियों को कुछ निर्देश दिए तथा उन्हें कुछ सीमा तक नियंत्रण में रखा।

1881 ई. में प्रथम भारतीय फैक्ट्री कानून पास किया गया, जिसे 'इंडियन फैक्ट्री एक्ट' के नाम से जाना गया। इस कानून में 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में नियोजित नहीं करना तथा 7-12 वर्ष आयु के बच्चों के लिए नौ घंटे का अधिकतम कार्य समय निर्धारित करना इत्यादि व्यवस्थाएं थीं। 1891 ई. में दूसरा भारतीय फैक्ट्री कानून बना। इसमें मजदूरी के लिए न्यूनतम 9 वर्ष की आयु का निर्धारण, 9-14 वर्ष के बच्चों के लिए रात्रि में कारखानों में काम करने से मनाही, स्त्रियों के लिए रात्रि में काम करने पर रोक तथा बच्चों के लिए अधिकतम कार्यावधि 7 घंटे रखना जैसे प्रावधान शामिल थे। इस कानून में मजदूरों के लिए सप्ताह में एक दिन अवकाश रखे जाने का भी नियम था। चूंकि इन कानूनों में मिल मालिकों पर नियंत्रण की व्यवस्था न होने तथा मजदूरों के असंगठित होने से आसानी से इनका उल्लंघन किया जाता था। 1918 ई. भारतीय कपड़ा उद्योग के संबंध में एक कानून बना। इसमें स्त्री-पुरुष मजदूरों के लिए काम के लिए 12 घंटे की अवधि निर्धारित की गई तथा बच्चों के लिए काम के अधिकतम 6 घंटे निर्धारित किए गए। उद्योगों में पानी, रोशनी एवं स्वच्छ हवा के संबंध में बेहतर प्रबंध बनाने के नियम निर्धारित किए गए।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् श्रमिकों की चेतना बढ़ी तथा जगह-जगह मजदूर आंदोलन शुरू हुए। विश्वयुद्ध के उपरांत आर्थिक परिस्थितियां बिगड़ने से मजदूरों की दशा और दयनीय हो गई, जिससे उनमें असंतोष पनपने लगा। इन परिस्थितियों में मजदूर धीरे-धीरे संगठित होने लगे। स्वाधीनता आंदोलन के समय उनमें जागरूकता भी आई। सरकार लंबे समय तक श्रमिक समस्याओं से उदासीन नहीं रह सकती थी, अतः इसके कारण बहुत से फैक्ट्री कानूनों का निर्माण किया गया। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों

टिप्पणी

के परिप्रेक्ष्य में भारतीय फैक्ट्री कानून में 1922 ई. में संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा मजदूरी के लिए न्यूनतम आयु बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी गई, बड़ी आयु के मजदूरों के लिए अधिकतम कार्य अवधि 11 घंटे प्रतिदिन एवं 12-15 वर्ष के बच्चों के लिए 6 घंटे कर दी गई। फैक्ट्रियों में बेहतर सफाई के भी अनेक उपाय लागू किए गए। 1923 ई. में 'मजदूर मुआवजा अधिनियम' बनाया गया। इस एक्ट द्वारा कार्य के दौरान किसी मजदूर की दुर्घटनावश मृत्यु होने पर उसे मुआवजा देने की व्यवस्था की गई। 1926 ई. में 'भारतीय मजदूर संगठन अधिनियम' पारित किया गया। इस एक्ट में मजदूर संगठनों के कार्य, उनकी स्थिति और अधिकारों के संबंध में दिए गए निर्देशक सिद्धांतों का स्पष्टीकरण किया गया। 1929 ई. के 'भारतीय मजदूर विवाद कानून' द्वारा अनावश्यक हड़तालों और तालाबंदियों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। एक्ट में मजदूर विवादों के समाधान के लिए 'समझौता बोर्डों' की भी व्यवस्था की गई। 1934 ई. में 'भारतीय फैक्ट्री कानून' बना, जिसके द्वारा मजदूरों के लिए नए कल्याणकारी उपायों की व्यवस्था की गई तथा काम के अधिकतम घंटों का नियमन किया गया। विभिन्न प्रांतीय सरकारों से भी इन कानूनों को लागू करने हेतु कहा गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय आर्थिक परेशानियां बढ़ने से मजदूरों में एक बार पुन: असंतोष पनपा। किंतु वे इस दौरान ज्यादा संगठित हुए तथा विभिन्न मजदूर संगठनों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न मजदूर अधिनियम बनाए गए तथा उनके कल्याण के निमित्त अनेक उपायों की घोषणा की गई।

भारत में श्रमिक, साम्यवादी एवं समाजवादी आंदोलन के उदय एवं विकास के विभिन्न चरण थे तथा विभिन्न संगठनों के विकास के द्वारा यह कार्य पूरा हुआ। इस संबंध में प्रमुख घटनाएं इस प्रकार थीं-

- शशीपदा बनर्जी ने 1870 में एक श्रमिक क्लब की स्थापना की तथा 'भारत श्रमजीवी' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित करना शुरू किया।
- नारायण मेघाजी लोखंडे ने 1880 में 'दीनबंधु' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित करना शुरू किया तथा 'बंबई मिल एवं मिलहैंड एसोसिएशन' की स्थापना की।
- 1875 में ऐसे प्रथम श्रमिक आयोग की नियुक्ति की गई तथा 1881 में प्रथम कारखाना अधिनियम बनाया गया। द्वितीय कारखाना अधिनियम 1891 में बना।
- 31 अक्टूबर, 1920 को ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) की स्थापना की गई। लाला लाजपत राय एटक के प्रथम अध्यक्ष तथा दीवान चमनलाल इसके प्रथम महासचिव चुने गए। प्रख्यात कांग्रेसी एवं स्वराज्यवादी नेता सी.आर. दास ने एटक के तीसरे एवं चौथे अधिवेशन की अध्यक्षता की।
- अक्टूबर 1920 ई. में ताशकंद में एम.एन. राय एवं अन्य 7 भारतीयों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।
- भारत में कानपुर में दिसंबर 1925 में 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया' की स्थापना हुई।
- 1922 के पेशावर षड्यंत्र, 1924 के कानपुर षड्यंत्र और 1929 के मेरठ षड्यंत्र द्वारा सरकार ने प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं पर अत्याचार कर कम्युनिस्ट आंदोलन को दबा देने के प्रयास किए।
- ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926 द्वारा व्यापार संघों को वैध संगठनों के रूप में

मान्यता दे दी गई तथा व्यापार संघों की गतिविधियों के पंजीकरण एवं नियमन संबंधी कानूनों की व्याख्या की गई।

टिप्पणी

- मार्च 1929 में, सरकार ने 31 श्रमिक नेताओं को बंदी बना लिया तथा मेरठ में उन पर मुकदमा चलाया गया। इन पर आरोप लगाया गया कि ये सम्राट को भारत के शासन से वंचित करने का प्रयास कर रहे थे। इन नेताओं में एस.ए. डांगे, जोगलेकर, मुजफ्फर अहमद, फिलिप स्प्राट, बेन ब्रैडली, शौकत उस्मानी तथा अन्य लोग शामिल थे।
- 1931 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में विभाजन हो गया तथा दक्षिण पंथी मध्यमार्गियों, जिनके नेता एम.एन. जोशी, वी.वी. गिरी और मृणाल क्रांति बोस थे, ने एटक से अलग होकर 'भारतीय ट्रेड यूनियन संघ' (इंटक) नामक एक नया संगठन बना लिया।
- जय प्रकाश नारायण, नरेंद्र देव, मीनू मसानी आदि ने मिलकर अक्टूबर, 1934 ई. में बंबई में कांग्रेस के अंदर ही 'समाजवादी कांग्रेस पार्टी' की स्थापना की। इनका उद्देश्य कांग्रेस को स्वतंत्र भारत के लिए समाजवादी नीति अपनाने तथा किसानों एवं श्रम संघों के हितों को प्राथमिकता देने के लिए राजी करना था।
- 1939 ई. में सुभाष चंद्र बोस ने 'फॉरवर्ड ब्लॉक' की स्थापना की। 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' एवं 'रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट' पार्टी का भी गठन किया गया।
- 1930 ई. के छठे 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' से निर्देशित होकर कांग्रेस को पूंजीवाद समर्थक घोषित कर कम्युनिस्टों ने उससे नाता तोड़ लिया।
- अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर यूनियन की स्थापना 1918 ई. में महात्मा गांधी ने की।
- मद्रास लेबर यूनियन की स्थापना 1918 ई. में बी. पी. वाडिया ने की।
- भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1920 ई. में हुई। इसकी स्थापना में एम. एन. राय, मुहम्मद अली, अवनी मुखर्जी तथा मुहम्मद शफीक की प्रमुख भूमिका थी।
- लेबर किसान पार्टी की स्थापना मई, 1923 में सिंगार वेलु ने की।
- भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना 1924 ई. में सत्यभक्त ने की।
- किसान-श्रम संघ पार्टी की स्थापना 1925-26 में की गई। इसकी स्थापना में कवि नजरूल इस्लाम, मुजफ्फर अहमद, हेमंत सरकार एवं कुतुबुद्दीन अहमद की प्रमुख भूमिका थी।
- किरनी किसान पार्टी की स्थापना 1926 में सोहनसिंह जोश ने की।
- श्रम संघ किसान पार्टी की स्थापना 1927 में हुई। इसकी स्थापना में के. एन. जोगलेकर, एस. एस. मिराजकर तथा ए. वी. घाटे की प्रमुख भूमिका थी।
- इंडियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना 1929 ई. में नारायण मल्हार जोशी ने की।
- कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना 1934 ई. में नरेंद्र देव ने की।
- भारतीय वोल्शेविक दल की स्थापना एन. दत्त मजुमदार ने की।
- क्रांतिकारी साम्यवादी दल 1942 ई. में गठित हुआ। इसके संस्थापक सौम्येंद्रनाथ टैगोर थे।

टिप्पणी

वर्तमान में देश में केंद्रीय श्रम संगठन निम्न हैं-

(1) इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC)

(2) आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC)

(3) हिंद श्रम संघ सभा (HMS)

(4) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (UTUC)

(5) सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन (CITU)

(6) भारतीय श्रम संघ संघ (BMS)

(7) नेशलन फ्रंट ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन (NFITU)

(8) ट्रेड यूनियन कोऑर्डिनेशन सेंटर (TUCC)

(9) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (लेनिनवादी)।

सदस्य संख्या की दृष्टि से कांग्रेस नियंत्रित इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) सबसे बड़ा केंद्रीय श्रम संगठन है, जबकि भाजपा नियंत्रित भारतीय श्रम संघ का दूसरा स्थान है।

भारत में श्रमसंघ आंदोलन की समस्याएं

- भारत के औद्योगिक नगरों में काम करने वाले अधिकतर श्रमिकों का प्रवासी प्रवृत्ति का होना;
- सामान्य भारतीय श्रमिकों का निर्धन होना;
- सामान्यत: भारतीय श्रमिकों का अशिक्षित होना;
- भारत में धर्म, भाषा, जाति एवं क्षेत्र से संबंधित विभिन्नताओं के कारण भावात्मक एकता का अभाव;
- श्रम संघों का नेतृत्व राजनैतिक दल से संबंधित व्यक्ति के पास होना;
- प्रत्येक उद्योग में श्रमिकों के दल से अधिक प्रतियोगी संगठन का होना;
- श्रम संघों द्वारा कल्याणकारी कार्यों को अधिक महत्व नहीं देना;
- भारतीय उद्योग में कार्य करने की दशाओं का असंतोषजनक होना;
- नियोजकों द्वारा श्रम संघों के स्वस्थ विकास में बाधाएं उत्पन्न करना; आदि।

भारतीय श्रम संघ आंदोलन की कमियां

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत में चल रहे आंदोलनों में श्रम संघ आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इन आंदोलनों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ी, पर इन श्रम संघ आंदोलनों की कुछ सीमाएं थीं एवं उनमें कई कमियां थीं, जो इस प्रकार हैं-

1. श्रम संगठनों का आकार छोटा था। उपनिवेशवादी सरकार पर दबाव बनाने के लिए यद्यपि बड़े संगठनों की आवश्यकता थी। किंतु बड़े श्रम संघ संगठन गठित नहीं हो सके। इसीलिए ये सरकार पर दबाव बनाने में विफल रहे।
2. इनकी सीमित सदस्यता थी। भारतीय ट्रेड यूनियन की स्थापना सीमित क्षेत्रों में ही हुई। इसका विस्तार सिर्फ औद्योगिक क्षेत्र में (वह भी शहरी एवं संगठित क्षेत्र) में

ही रहा। गांवों और अविकसित क्षेत्रों से इसका कोई वास्ता नहीं था। कुल श्रम संघों का केवल तीन प्रतिशत ही श्रम संगठनों से जुड़ा।

3. बिचौलियों के माध्यम से नौकरी प्राप्त करना एक अन्य कमी थी। बिचौलिए चूंकि उद्योगपतियों के दलाल के रूप में कार्य करते थे, अत: वे ऐसे श्रमिकों को आंदोलन में भाग लेने से रोकते थे, जो उनके माध्यम से नौकरियों पर लगाए गए थे।

टिप्पणी

4. कोष का अभाव इनकी एक कमी थी। कोष थे भी तो अत्यंत छोटे-छोटे। बड़े कोषों के अभाव में श्रम संघ संगठनों एवं आंदोलनों को आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

5. श्रम संघों में पलायन एवं स्थानांतरण की प्रवृत्ति व्याप्त थी। औद्योगिक पतन के फलस्वरूप उद्योगों के बंद होने से श्रम संघ यहां-वहां पलायन कर जाते थे, इससे श्रम संघ संगठन कमजोर पड़ जाते थे।

6. निरक्षर होना भी श्रम संघों की एक बड़ी कमी थी। निरक्षर होने के कारण श्रम संघ अपने अधिकारों को समझ नहीं पाते थे तथा आसानी से उत्पीड़न एवं शोषण के शिकार बन जाते थे।

7. श्रम संघों के असंगठित होने तथा श्रमिक विधानों की कमी के कारण उद्योगपति, श्रम संघों से कम श्रम में कार्य करवाते थे। इससे श्रम संघ, श्रमिक संगठनों का सदस्यता शुल्क अदा नहीं कर पाते थे तथा कई बार इस वजह से उन्हें संगठन से अलग होना पड़ता था।

8. राजनीतिक आंदोलनों का प्रभुत्व भी श्रम संघ आंदोलनों की एक प्रमुख कमी थी। प्राय: राजनीतिक दलों ने अपने-अपने ढंग से और अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार श्रम-संगठनों का प्रभुत्व कायम करने की कोशिश की। इस क्रम में उन्होंने श्रम संगठनों का सदुपयोग न कर दुरुपयोग करने का कार्य किया। राजनीतिक दलों की प्रतिद्वंद्विता का खामियाजा भी श्रम संघ आंदोलनों को भुगतना पड़ता था।

9. बाह्य नेतृत्व भी श्रम संघ आंदोलनों की एक कमी थी। बाह्य नेतृत्व (वकील, राजनेता, समाजसेवी इत्यादि) की दशा में नेतृत्व श्रम संघ वर्ग से संबध नहीं होने के कारण श्रम संघों की मूल समस्याओं को समझने में असमर्थ रहता था तथा श्रम संघों की वास्तविक समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता था।

अपनी प्रगति जांचिए

5. अंग्रेजों ने 1633 ई. में भारत में अपना प्रथम कारखाना कहां स्थापित किया था?

(क) उड़ीसा (ख) राजस्थान

(ग) मध्य प्रदेश (घ) गुजरात

6. भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना के साथ श्रमिक वर्ग का उदय कब हुआ था?

(क) 1840 के लगभग (ख) 1850 के लगभग

(ग) 1860 के लगभग (घ) 1870 के लगभग

टिप्पणी

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ख)
4. (ग)
5. (क)
6. (ख)

2.6 सारांश

ब्रिटिश सरकार ने भारत की अर्थव्यवस्था के आधारभूत क्षेत्रों, जैसे-सड़क, रेलवे, बंदरगाह आदि को तैयार करने में सबसे पहले रूचि दिखाई। इस क्रम में सबसे पहले रेलमार्ग का विकास किया गया। 1853 में गवर्नर लार्ड डलहौजी ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राजनीतिक और सामरिक कारणों से रेलमार्ग का निर्माण सरकार के लिए सुविधाजनक होगा। 1854 में देश की पहली रेलगाड़ी मुंबई से थाणे के बीच चलाई गई। इसके पीछे अंग्रेज पूंजीपतियों का दबाव भी था।

किसी देश के भुगतान संतुलन का अर्थ है- उस देश का विश्व के अन्य देशों के साथ हुए वित्तीय लेन-देन का विवरण। यह एक ऐसा विवरण होता है जिसमें वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा होता है। अन्य शब्दों में, एक देश का व्यापार संतुलन, एक निश्चित अवधि के भीतर आयात-निर्यात मूल्य के बीच के संबंध को बताता है। व्यापार संतुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अंतर की ओर संकेत करता है।

भारत का शासन करने में होने वाले खर्च का एक भाग विभिन्न मदों में इंग्लैंड में होता था। भारत-सचिव ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होता था, पर उसका वेतन भारतीय करदाता को देना होता था। उसी प्रकार उनके सचिवालय तथा परामर्शदाताओं का खर्च, लंदन में भारत कार्यालय का खर्च, बैंक ऑफ इंग्लैंड को कमीशन के रूप में देय धन, यहां तक कि विभिन्न स्थानों पर (जैसे अरब अथवा चीन में) ब्रिटेन के विदेशी दूतावास अथवा वाणिज्य प्रतिनिधियों का खर्च भी भारतीय करदाता को वहन करना पड़ता था।

कृषि, प्राचीनकाल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था और जन-साधारण के जीवनयापन का मुख्य आधार रही है। इसके बिना भारतीयों की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय कृषि को पूर्ण रूप से पंगु करने की कोशिश की गई। लगान व्यवस्था को जटिल बनाकर तो अंग्रेजों ने कृषकों को आर्थिक बोझ के तले दबाया ही कृषि का वाणिज्यीकरण कर उन्हें भूमि से बेदखल करने की रणनीति भी निर्धारित की गई। कृषि के लिए कोई भी सुधारात्मक कार्य नहीं किए गए और जमींदारी व्यवस्था के लागू होने से साधारण कृषकों को तो कृषि कार्य छोड़कर बेरोजगारी का जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा।

कृषि के वाणिज्यीकरण से सामान्य परिस्थितियों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज हो जाती है। परंतु भारत में ऐसी नीति लागू की गई थी कि कृषि के वाणिज्यीकरण के साथ-साथ अव-औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारतीयों को अपने उत्पादों का विवश होकर

निर्यात करना पड़ा और उन्हीं उत्पादों से निर्मित वस्तुओं का आयात भी करना पड़ा। ये सभी परिस्थितियां भारतीयों के सर्वथा प्रतिकूल थीं। कृषि के वाणिज्यीकरण से खाद्यान्नों से आत्मनिर्भरता हट गई, धीरे-धीरे किसानों में गरीबी एवं बेरोजगारी बढ़ी, अकाल एवं भुखमरी की स्थिति उत्पन्न होने लगी, अर्थव्यवस्था का आंशिक मौद्रीकरण हुआ, नए शोषणपूर्ण श्रम-संबंधों की शुरुआत हुई और अंततः अंग्रेजों के प्रति किसानों में आक्रोश उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी

भारत में परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का हास इसलिए नहीं हुआ कि यहां औद्योगीकरण या औद्योगिक क्रांति हुई। बल्कि यह हास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ। क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प, अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन इस अवधि में यूरोप के अन्य देशों के परंपरागत हस्तशिल्प उद्योगों में भी गिरावट आयी पर इसका कारण वहां कारखानों का विकसित होना था। यह वह समय था, जहां एक ओर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग तेजी से पतन की ओर अग्रसर था तथा वह अपनी मृत्यु के कगार पर पहुंच गया था, वहीं दूसरी ओर इस काल में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी तथा देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा था। इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे, वहीं नए पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीक ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

अनऔद्योगीकरण का एक और परिणाम था–भारत के अनेक शहरों का पतन तथा भारतीय शिल्पियों का गांवों की ओर पलायन। अंग्रेजों की शोषणकारी तथा भेदभाव मूलक नीतियों के कारण बहुत से भारतीय दस्तकारों ने अपने परंपरागत व्यवसाय को त्याग दिया तथा वे गांवों में जाकर खेती करने लगे। इससे भूमि पर दबाव और बढ़ गया।

2.7 मुख्य शब्दावली

- **सामरिक** : युद्ध संबंधी।
- **मंशा** : इरादा, इच्छा।
- **हस्तक्षेप** : बाधा, रुकावट।
- **विन्यास** : स्थापित करना, सजाना–संवारना।
- **उद्‌भव** : जन्म, उत्पत्ति।
- **आग्रह** : अनुरोध, विनती।
- **सूद** : ब्याज।
- **सूत्रपात** : कार्य का आरंभ।
- **अतिरेक** : अधिकता।
- **ह्रास** : नुकसान।

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भुगतान संतुलन से क्या तात्पर्य है? परिभाषित कीजिए।
2. धन निष्कासन के प्रमुख स्त्रोत कौन-से हैं? स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

3. कृषि के वाणिज्यीकरण से आप क्या समझते हैं? बताइए।
4. भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का क्या महत्व है? उल्लेख कीजिए।
5. औद्योगीकरण से क्या आशय है? परिभाषित कीजिए।
6. श्रमिक वर्ग के उदय के क्या कारण हैं? उल्लेख कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में भारत की स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
2. ब्रिटिश काल में निकास और मुद्रा व्यवस्था की विवेचना कीजिए।
3. कृषक एवं जमींदारों के मध्य संबंधों को स्पष्ट कीजिए।
4. घरेलू और शिल्प उद्योगों के बारे में विस्तार से समझाइए।
5. निम्न पर टिप्पणी कीजिए–
   (क) पूंजीवादी वर्ग का उदय
   (ख) कृषि श्रमिक
   (ग) स्वदेशी उद्योग एवं हस्तशिल्प

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
3. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
4. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
5. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
6. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 3 समाज

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 सामाजिक संरचना : जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग एवं समुदाय

- 3.2.1 जातीय समूह
- 3.2.2 जनजातियां
- 3.2.3 वर्ग
- 3.2.4 समुदाय

3.3 औपनिवेशिक हस्तक्षेप और सामाजिक परिवर्तन : सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, मध्य वर्ग का उदय एवं जातीय आंदोलन

- 3.3.1 सुधार आंदोलन
- 3.3.2 आधुनिक शिक्षा
- 3.3.3 मध्य वर्ग का उदय
- 3.3.4 जातीय आंदोलन

3.4 महिलाओं की स्थिति : संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून एवं राजनीतिक भागीदारी

- 3.4.1 संपत्ति का अधिकार
- 3.4.2 सुधार कानून
- 3.4.3 राजनीतिक भागीदारी

3.5 परंपरा और आधुनिकता

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.7 सारांश

3.8 मुख्य शब्दावली

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

भारतीय सामाजिक संरचना में जनजातीय परिवेश ने अपनी लोक कलाओं एवं हस्तकलाओं से भारतीय सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध किया है। भारतीय समाज की रचना में जनजातियों, जातियों, नारियों एवं धार्मिक सम्प्रदायों की प्रमुख भूमिका है। भारतीय संस्कृति विश्व के अन्य देशों की संस्कृतियों से मूल रूप में आध्यात्मिक स्वरूप के कारण भिन्न है।

परिस्थितियां मानव की जीवन–यापन पद्धतियों और स्वभाव में अन्तर उत्पन्न करती हैं और इसी के आधार पर भारतीय संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। विभिन्न प्रजातियों का संगम यहां हुआ है। विविध भाषाओं और सैकड़ों बोलियों का यह देश अनेक आदिवासियों के सामाजिक जीवन की विचित्रताओं से युक्त है। परन्तु इस देश की संस्कृति में इन सब विविधताओं में समन्वय है।

इस इकाई में हम सामाजिक संरचना के अंतर्गत जातीय समूहों, जनजातियों, वर्ग व समुदाय की विशेषताओं, समस्याओं तथा समाधान के पहलुओं आदि की विवेचना करेंगे। साथ ही सामाजिक परिवर्तन में सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, महिलाओं की स्थिति, परंपरा और आधुनिकता आदि तथ्यों का अध्ययन करेंगे।

टिप्पणी

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारत में जनजातीय समूह, वर्ग एवं समुदाय के बारे में जान पाएंगे;
- सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा एवं जातीय आंदोलन की व्याख्या कर पाएंगे;
- भारत में महिलाओं की स्थिति से अवगत हो पाएंगे;
- संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून व राजनीतिक भागीदारी आदि तथ्यों को समझ पाएंगे;
- परंपरा और आधुनिकता के संदर्भ में भारतीय समाज का विश्लेषण कर पाएंगे।

3.2 सामाजिक संरचना : जातीय समूह, जनजातियां, वर्ग एवं समुदाय

सामाजिक संरचना का आशय सामाजिक व्यवहार के किसी आवर्ती (अधिक आवृत्ति युक्त) प्रारूप से है अथवा 'सामाजिक तन्त्र' अथवा समाज के विभिन्न तत्वों के मध्य क्रमित अंतर्संबंधों से है। नृजातिविज्ञानी रेमॉण्ड फिर्थ के अनुसार सामाजिक संरचना एक विश्लेषकीय साधन है जिसे हमारे द्वारा यह समझने के लिए बनाया गया है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करता है। इस अवधारणा का सार यह है कि समाज के सदस्यों के व्यवहारों के लिए सामाजिक संरचना ऐसे सामाजिक संबंध हैं जिनका अत्यधिक महत्व प्रतीत होता है। इतने महत्वपूर्ण कि यदि ऐसे संबंध क्रियाशील न हों तो समाज को उस रूप में अस्तित्वमान नहीं माना जा सकता (Elements of Social Organization, 1951)। संरचनाओं से लोगों की जीवन–पद्धतियों को आकार मिलता है परन्तु इन पद्धतियों द्वारा सामाजिक प्रणालियों का गठन व उत्पत्ति भी की जाती है।

सामाजिक संरचना के अवयव– सामाजिक संरचना के प्रमुख अवयव निम्नानुसार हैं–

- आर्थिक
- धार्मिक
- राजनैतिक
- रिश्तेदारी
- समाज के वैधानिक व अन्य संस्थान।

सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन ने आरम्भ से ही, निम्नांकित आयामों के अध्ययन में भी सहायता की है–

- संस्थान
- संस्कृति एवं अभिकरण
- सामाजिक अंतर्क्रिया एवं
- इतिहास।

फ़्रान्सीसी राजनैतिक विचारक एवं इतिहासकार एलेग्जिस डि टोक्वेविले ने उपरोक्त का प्रत्यक्ष उपयोग करते हुए सामाजिक संरचना रूपी शब्द का प्रयोग किया। बाद में कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, मैक्स वेबर, फेर्डिनेन्ड टोन्नीस एवं एमाइल दुर्खीम ने सामाजिक अध्ययन की संरचनागत अवधारणाओं में अपना–अपना योगदान किया।

टिप्पणी

मैक्स वेबर ने आधुनिक समाज के संस्थानों की खोजबीन व विश्लेषण किया। ये संस्थान थे– बाजार, अधिकारीतन्त्र (निजी उद्यम व लोक प्रशासन), राजनीति (उदाहरणार्थ लोकतन्त्र) एवं धर्म। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक संरचना एवं उत्पादन (वहां की आर्थिक संरचना) के रूप में तत्संबंधित राजनैतिक, सांस्कृतिक व साम्प्रदायिक जीवन का शुरुआती व अत्यन्त व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया। मार्क्स का तर्क था कि आर्थिक आधार द्वारा ही समाज की सांस्कृतिक व राजनैतिक महासंरचनाएं प्रधानता से निर्धारित की जाती हैं। मार्क्सवाद के बाद कई अध्येताओं (जैसे कि लुईस एल्थुस्सेर) ने अधिक जटिल संबंध प्रस्तावित किए जिनमें सांस्कृतिक व राजनैतिक संस्थानों की आपेक्षिक स्वायत्तता के बारे में दृढ़ता से कहा गया तथा आर्थिक कारकों द्वारा सर्वसाधारण के निर्धारण को अंत में रखा (only 'in the last instance') गया। सन् 1905 में फर्डिनेन्ड टोन्नीस नामक जर्मन समाज अध्येता ने तर्क रखा कि बहु–संयोजन से, एकता के गठन से ही 'सामाजिक संरचना' का निर्माण होता है।

एमाइल दुर्खीम (बाद में हर्बर्ट स्पेन्सर व अन्य ने जैविक एवं सामाजिक प्रणालियों के मध्य समानताओं के सन्दर्भ में) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि विविध भागों को एकीभूत व स्व–उत्पत्तिक्षम समग्र में समाविष्ट करते हुए समाज के क्रियात्मक एकीकरण को सुनिश्चित करने में वैविध्यपूर्ण सामाजिक संस्थानों व पद्धतियों द्वारा अपनी–अपनी भूमिकाएं निभाई जाती हैं। इस परिदृश्य में दुर्खीम ने संरचनात्मक संबंधों का दो रूपों में भेद किया: यांत्रिक एकजुटता व जीवीय एकजुटता। यांत्रिक एकजुटता में ऐसी संरचनाएं बतायी जाती हैं जो साझी संस्कृति के माध्यम से समान भागों को एकजुट करती हैं। जीवीय एकजुटता में सामाजिक विनिमय व भौतिक अंतर्निर्भरता के माध्यम से भिन्नतापूर्ण भागों को एक किया जाता है।

सामाजिक संरचना की धारणा बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक विकसित की गई जिसमें कुछ के द्वारा मार्क्स का अनुसरण करते हुए समाज के मूलभूत आयामों की पहचान करने का प्रयास किया गया जा रहा है जो अन्य आयामों की व्याख्या करते हैं। अधिकांश के द्वारा आर्थिक उत्पादन अथवा राजनैतिक सत्ता पर जोर दिया जाता है। अन्यों के द्वारा लेविस–स्ट्रेउस का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक संरचनाओं में तार्किक क्रम ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है। वैसे अन्यों जिनमें पॅटॅर ब्लाउ उल्लेखनीय हैं के द्वारा सिम्मेल का अनुसरण करते हुए संबंधों में संख्यात्मक प्रारूपों पर सामाजिक संरचना के औपचारिक वाद का आधार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, उदाहरणार्थ समूह–आकार, अंतर्सामूहिक संबंधों जैसे कारकों का विश्लेषण करने की रीतियां।

सामाजिक संरचना की धारणा सामाजिक विज्ञान के विभिन्न मुख्य विषय–प्रसंगों से घनिष्टता से संबंधित हैं जिनमें संरचना व अभिकरण में संबंध सम्मिलित है। अभिकरण से सामाजिक संरचना की अवधारणा को संयुक्त करने के सर्वाधिक प्रभावी प्रयास रहे– एंथॉनी गिड्डेन (ब्रिटिश समाज अध्येता) का संरचनाभवन–वाद एवं पियर्रे बौर्डिड (एक समाज अध्येता, नृविज्ञानी व दार्शनिक) का पद्धति–वाद। गिड्डेन ने

टिप्पणी

संरचना व अभिकरण के द्वैत्भाव पर जोर इस सन्दर्भ में दिया कि संरचनाओं व अभिकरण को एक–दूसरे से पृथक नहीं समझा जा सकता। इससे ये यह तर्क रख पाए कि संरचना न तो कर्ताओं से स्वतन्त्र होती है, न ही इनके व्यवहार की निर्धारक होती है अपितु ऐसे नियमों व क्षमताओं का संग्रह होती है जिन्हें बनाकर कर्ता इन पर अपने कार्य करते हैं।

सामाजिक संरचना के अभिलक्षण

- सुनिश्चित समुच्चयों अथवा समूहों का पारस्परिक संबंध।
- एक–दूसरे से संबंध में सामाजिक तन्त्र में सहभागियों द्वारा व्यवहार के आवर्ती प्रारूप।
- संस्थानीभूत रिवाज अथवा संज्ञानात्मक ढांचे जिनसे सामाजिक तन्त्र में कर्ताओं के कार्यों को रूप मिलता है।
- सामाजिक संरचनाओं की समझ में अनेक विचार (स्कूल्स ऑफ थॉट) सामने आए, विशेषतया संरचनावाद एवं क्रियावाद।

संरचनावाद

सामाजिक अध्ययन में संरचनावाद का समावेश मूलतः फर्डिनेन्ड डि सउस्योर के भाषायी वादों से क्लॅउड लेवि–स्ट्रेउस द्वारा किया गया। इस दृष्टिकोण में कार्य करने संबंधी व्यक्ति की योग्यता की अपेक्षा निर्धारणात्मक संरचनात्मक रूपों (जो बलों को परिभाषित करते हैं) का पक्ष लिया जाता है। चूंकि भाषाओं को इनके ऐसे तत्वों द्वारा निर्धारित नियमों द्वारा गढ़ा जाता है जिनका पालन मूल भाषियों द्वारा लगभग अचेतन रूप से किया जाता है, अतः समाजों को इन निहित नियमों के अनुसार गढ़ा देखा गया है। इस प्रकार ऐसा तर्क रखा जा सकता है कि संरचनात्मक दृष्टिकोण उस वस्तु अथवा विषय के 'गणितीयकरण' के निकट से उपजा है।

प्रत्येक संस्कृति में अर्थ की विभिन्न संरचनाओं के अनुसार विश्व का निर्माण कर लिया जाता है। स्ट्रेउस व अन्य द्वारा अध्ययन की गई संरचनाओं में रिश्तेदारी के प्रारूप, भ्रांतियां, धर्म व दिनचर्या संबंधी विभिन्न सांस्कृतिक रिवाज सम्मिलित हैं। जिस प्रकार भाषायी संरचनावाद में यह दावा किया जाता है कि सभी भाषाओं में व्याकरण में 'गहन संरचनाएं' विद्यमान् हैं उसी प्रकार स्ट्रेउस का दावा था कि सामाजिक संरचनाएं मानव–मन की गहन संरचनाओं से उपजी हैं एवं इस प्रकार मानवीय विचारधारा में एक सार्वभौमिकता झलकती है।

क्रियावाद

क्रियावाद एमाइल दुर्खीम के कार्य पर आधारित है। इसमें यह माना जाता है कि प्रत्येक सामाजिक व सांस्कृतिक परिघटना किसी क्रिया की पूर्ति करती है। यह प्रस्ताव रेडक्लिफ–ब्राउन व टॅल्कोट पेर्सोन्स द्वारा सामाजिक संरचना की अवधारणा के संबंध में विकसित किया गया था। एक फिरंगी सामाजिक नृविज्ञानी के रूप में रेडक्लिफ–ब्राउन ने मानव अंतर्क्रियाओं की प्रणाली को समाज में क्रियावादी चेष्टा का केन्द्र माना। समाज को संगठित भागों के तन्त्र अथवा समग्र के अवयवों के रूप में देखा गया जिनमें से प्रत्येक दूसरों पर आश्रित है व समग्र में एकीभूत हो जाता है। ये भाग

व्यक्ति हैं जो सामाजिक जीवन में सहभागिता करते हैं, तन्त्र में कोई स्थान घेरते हैं। इसी के साथ वह व्यक्ति रिवाजों अथवा प्रारूपों द्वारा नियन्त्रित होता जाता है। कुछ पुरातन समाजों में इन रिवाजों व प्रारूपों को बनाए रखने का कार्य लोक–साहित्य द्वारा किया जाता है जबकि अन्य समाजों में इस भूमिका को शिक्षा, साम्प्रदायिक रीतियों अथवा अन्य परम्परागत प्रथाओं द्वारा निभाया जाता है। रेडक्लि–ब्राउन का विचार 'संरचनात्मक– क्रियावाद' कहलाया।

टिप्पणी

टॅल्कोट पेर्सोन्स ने संरचनात्मक क्रियावाद को विकसित किया जिसमें इन्होंने दावा किया कि मनुष्य 'गैर–ऐच्छिक' रूप में 'क्रिया' कर रहे हैं। इनके अनुसार समाज लोगों को सांचे में ढालता है, और बताता है कि किन–किन स्वीकार्य रीतियों में व्यवहार किया व जिया जा सकता है।

विकास के अवरोधक व सहायक के रूप में सामाजिक संरचना

विकास को ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है जिसके परिणामस्वरूप विषमता (असमानता), निर्धनता, निरक्षरता व रोगों में कमी आती है एवं लोगों की वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय बढ़ती है। 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' (UNDP) रिपोर्ट में दर्शाया गया है कि विकास का मूलभूत प्रयोजन लोगों के पास विकल्पों को बढ़ाना है।

विकास विभिन्न संस्थानों पर निर्भर होता है; ये संस्थान सामाजिक संरचना के उप–भाग होते हैं। ये संस्थान विकास की प्रक्रिया में अवरोधक व सहायक किस प्रकार बनते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

(क) राजनैतिक संस्थान

सहायक

1. शासन के स्थानीय तन्त्र को ऐसा स्थिर राजनैतिक व सुरक्षित परिवेश तैयार करना चाहिए जिससे विकास की स्थितियों का सृजन हो सके।

अवरोधक

1. यदि समाज में अस्थिरता व अराजकता हो तो आर्थिक व राजनैतिक दोनों विकास प्रभावित हो जाते हैं।
2. देश के भीतर अथवा बाहर संघर्ष अथवा युद्ध की स्थिति आने पर विकास के लिए रखे धन सहित समस्त संसाधनों को रक्षात्मक बजट में लगा दिया जाता है।
3. अधिकारीतन्त्र (लालफीताशाही) एवं निवेश–प्रतिकूल नीतियों से भी विकास अवरुद्ध हो सकता है।
4. भ्रष्टाचार से विकास नीतिगत व क्रियान्वयन दोनों स्तरों पर प्रभावित हो जाता है। निर्धनों को समृद्ध करने के लिए बनायी गई नीतियां नेताओं व अधिकारियों सहित कर्मचारियों के भ्रष्ट–आचरण के कारण निर्धनों को लाभान्वित नहीं कर पातीं।

(ख) आर्थिक संस्थान

सहायक

1. स्थिर आर्थिक नीतियों से समाज के विकास में सहायता मिल जाती है।

2. उत्तम व सुघड़ अधोसंरचना, प्राकृतिक संसाधनों, कुशल कार्यबल से उद्योगों की स्थापना में सहायता मिलती है।

अवरोधक

टिप्पणी

1. विकासशील व अविकसित देश अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि व विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों से ऋण लेकर विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं से प्रतिस्पर्द्धा का प्रयास करते हैं। ये ऋण कई पूर्व–शर्तों अथवा मितव्ययिता उपायों के साथ दिए जाते हैं जिनसे अर्थव्यवस्था को क्षति पहुंचती है।
3. वैश्वीकरण से एकाधिकार के प्रकरण बढ़ते हैं एवं लघु व कुटीर उद्योग बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा निगल लिए जाते हैं। बेरोजगारी बढ़ती है व स्थानीयता सहित स्वदेशिता का हनन होता है।
4. विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकासशील व अविकसित देशों में सस्ते व सुलभ श्रम के लिए लोगों का शोषण किया जाता है।
5. मुक्त बाजार अर्थव्यवस्थात्मक सुविधाओं से निर्धन व धनाढ्य वर्गों के मध्य की खाई अभूतपूर्व रूप से बढ़ती ही जाती है।

(ग) सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थान

सहायक

1. सामाजिक मूल्यों व सीखों से लोग अपनी आजीविकाओं में प्रतिबद्धता व ईमानदारी ग्रहण करते हैं जिससे बढ़त व उत्पादकता में सहायता मिलती है।
2. मैक्स वेबर ने अपनी कृति *Protestant Ethic and Spirit of Capitalism* (1905) में कहा था कि कुछ सम्प्रदायों में सम्पदा–संचय को बढ़ावा दिया जाता है जिससे यूरोप में पूंजीवाद में वृद्धि हुई।
3. समाज में सामाजिक लगाव से उन्नति एवं विकास में सहायता मिलती है।

अवरोधक

1. नस्ल, वर्ग, जाति अथवा लिंग संबंधी किसी भी सामाजिक भेदभाव से उन्नति व प्रगति बाधित होती है एवं समाज में विषमताएं पनपती हैं। उदाहरणार्थ भारत में कई सम्प्रदायों में अंधविश्वास व परम्परागत रूढ़िवाद के कारण मासिक स्राव से गुजर रही स्त्रियों को पूजन व पाककार्य से वंचित रखकर उनके साथ अस्पृश्य–सा व्यवहार किया जाता है।
2. किसी प्रकार के सामाजिक कलह अथवा द्वेष से समाज का विकास प्रभावित हो जाता है। उदाहरणार्थ अंतर्जातीय अथवा प्रेम विवाह करने वालों को समाज निर्वासित घोषित कर दिया जाता है।
3. तालिबान जैसे समूहों के सांस्कृतिक अथवा साम्प्रदायिक अतिवाद के कारण अफगानिस्तान व किसी भी देश का विकास सम्भव नहीं हो पाता।
4. कई अविकसित व विकासशील देशों में स्त्रियों को कार्यबल में सम्मिलित नहीं किया जाता जिससे समाज की आधी जनसंख्या का विकास प्रभावित होता है व सबका समान सशक्तिकरण नहीं हो पाता।

(घ) अन्य कारक

1. जनसंख्या

सहायक

(क) विश्व में जनसंख्या वृद्धि से उद्योगों के लिए श्रम व मानव संसाधन की आपूर्ति सहज हुई है।

(ख) इससे उत्पादों के लिए उपभोक्ता एवं बाजार भी मिल जाता है।

अवरोधक

1. जनसंख्या में भीषण वृद्धि कर लेने से जनसंख्या विस्फोट से जुड़ी समस्याएं उपज आती हैं, जैसे बड़े पैमाने पर भुखमरी, बेरोजगारी इत्यादि।
2. अधिक जनसंख्या का तात्पर्य संसाधनों में हिस्सेदारी के लिए बहुत सारे लोगों का परस्पर जूझना है (आपूर्ति अल्प, मांग अधिक के कारण) जिससे समाज व परिवार में भी बैरभाव पनपता व बढ़ता है।

2. प्रौद्योगिकी

सहायक

1. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में नवाचारों से उद्योगों की प्रगति में सुविधा हो जाती है जिससे विकास होता है।
2. प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों से समाज समय के पहिये पर सवार रहता है व अपनी बढ़ती जनसंख्या की पूर्ति करता रहता है।

अवरोधक

1. औद्योगिक प्रौद्योगिकी से वायु, जल व ध्वनि प्रदूषण होता है।
2. सम्पन्न देशों द्वारा प्रयुक्त प्रौद्योगिकी से सम्पन्न व निर्धन देशों के मध्य की खाई बढ़ती जाती है क्योंकि निर्धन देश प्रौद्योगिकी का व्यय नहीं उठा पाते।
3. प्रौद्योगिकी से उत्पादों का अधिशेष (आवश्यकता से अधिक) बना लिया जाता है जिससे साम्राज्यवादी सत्ताएं अपनी सीमाओं से पार जाकर बाजार व कच्चे मालों की ओर बढ़ने लगती हैं। इससे सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटिशर्स ने भारत को अपना उपनिवेश बना कर रख दिया।

3. भूत (अतीत)

सहायक

1. अतीत का अध्ययन करने से मनुष्यों को वर्तमान के प्रति स्पष्ट अंतःदृष्टि प्राप्त होती है। देश के इतिहास का विश्लेषण करने से राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व पारिवेशिक कारकों का वर्णन संभव हो जाता है जो इसके विकास–स्तर में योगदान करते हैं।

अवरोधक

1. विकासशील देशों में जो कारक विकासरोधी अत्यधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कारकों में गिना जाता है वह है– साम्राज्यवाद व औपनिवेशीकरण।

टिप्पणी

2. समाज में विभिन्न समूहों के मध्य क्लेष व द्वेष अथवा नागरिक संघर्ष के ऐतिहासिक कारकों से भी विकास प्रभावित होता है।

4. पर्यावरण

टिप्पणी

सहायक

1. इससे विकास हेतु आवश्यक कच्चे मालों व संसाधनों की आपूर्ति होती है।
2. तैल, कोयला, यूरेनियम इत्यादि में समृद्ध देश अपने इन प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करते हुए कच्चे माल के उपयोग व निर्यात द्वारा विपुल धन–सम्पदा एकत्र कर सकते हैं। उदाहरणार्थ वेनेजुएला कल्याण योजनाओं के लिए तैल निर्यात के माध्यम से प्राप्त धन का उपयोग करते हुए बीते कुछ वर्षों में निर्धनता व निरक्षरता निवारण की दिशाओं में उल्लेखनीय उन्नति कर चुका है।

अवरोधक

1. भूकम्प, बाढ़, ज्वालामुखी विस्फोट इत्यादि जैसी प्राकृतिक आपदाओं से विकास में अवरोध पड़ सकते हैं तथा अर्थव्यवस्था में बोझ बढ़ सकता है।

3.2.1 जातीय समूह

जातीय समूह मनुष्यों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य किसी वास्तविक या काल्पनिक सांझी वंश–परंपरा के माध्यम से अपने आप को एक नस्ल के वंशज मानते हैं। यह सांझी विरासत वंशक्रम, इतिहास, रक्त–संबंध, धर्म, भाषा, सांझे क्षेत्र, राष्ट्रीयता या भौतिक रूप–रंग (यानी लोगों की शक्ल–सूरत) पर आधारित हो सकती है। एक जातीय समूह के सदस्य अपने एक जातीय समूह से संबंधित होने से अवगत होते हैं; इसके अलावा जातीय पहचान दूसरों द्वारा उस समूह की विशिष्टता के रूप में पहचाने जाने से भी चिह्नित होती है।

जातीयता की परिभाषा

अंग्रेज़ी के शब्द "एथनिसिटी" और "एथनिक ग्रुप", ग्रीक शब्द एथेनोस से व्युत्पन्न हुए हैं, जिसे सामान्य रूप से "राष्ट्र" या आम तौर पर एक विशिष्ट संस्कृति का अनुकरण करने वाले एक ही प्रजाति के लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हालांकि, "जातीय" शब्द समूह के आधुनिक उपयोग, औद्योगिक राज्यों का अधीनस्थ समूहों के साथ विभिन्न प्रकार के संबंधों को दर्शाता है, जैसे कि आप्रवासीयता और उपनिवेश विषय; "जातीय समूह" को "राष्ट्र" के विरोध में उन लोगों को संदर्भित करने के उद्देश्य से खड़ा किया गया, जिनकी अलग सांस्कृतिक पहचान होती है और जो प्रवास या विजय के माध्यम से, किसी विदेशी राज्य के अधीन हो गए हैं। इस शब्द का आधुनिक उपयोग अपेक्षाकृत नया है, पहली बार जातीय समूह शब्द का उपयोग किया गया और 1972 में ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में इसका प्रवेश हुआ।

ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की साधारण भाषा में अंग्रेजी शब्द "एथनिक" के उपयोग के विषय में लिखते हुए, वॉलमन यह टिप्पणी करते हैं कि 'एथनिक' शब्द केवल कम सटीकता और एक हल्के मूल्य भार से, ब्रिटेन में आम तौर पर 'जाति' का ही संकेत देता है। इसके ठीक विपरीत उत्तरी अमेरिका में "रेस" का मतलब सामान्यतः रंग होता है और 'एथनिक' गैर अंग्रेजी भाषी देशों से आए अपेक्षाकृत हालिया अप्रवासियों

के वंशज होते हैं। 'एथनिक' को ब्रिटेन में एक संज्ञा नहीं माना जाता है। वास्तव में वहां कोई 'एथनिक्स' शब्द नहीं है; वहां केवल 'एथनिक रिलेशंस' हैं।

इस प्रकार वर्तमान बोलचाल की भाषा में, आज भी "एथनिक" और "एथनिसिटी" शब्द के चारों ओर विदेशी लोगों, अल्पसंख्यक मुद्दों और जातीय संबंधों का एक घेरा बना हुआ है।

टिप्पणी

हालांकि, सामाजिक विज्ञान के दायरे में, इसका उपयोग सामान्यीकृत रूप से उन सभी मानव समूहों के लिए किया जाता है जो स्पष्टतया स्वयं को सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट मानते हैं और दूसरों द्वारा भी माने जाते हैं। "एथनिक ग्रुप" शब्द को सामाजिक विज्ञान में लाने वाले प्रथम व्यक्तियों में जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर भी शामिल हैं, जो इसे इस रूप में परिभाषित करते हैं:

(वे) मानव समूह जो अपने समान उद्‌भव की आत्मनिष्ठ धारणा को एक जैसी शारीरिक बनावट या रिवाजों या दोनों के कारण या उपनिवेशन और प्रवास की यादों के कारण मानते हैं; यह धारणा समूह गठन के लिए महत्वपूर्ण होनी चाहिए; इसके अलावा इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि एक विषयाश्रित रक्त–संबंध मौजूद है या नहीं।

जातीयता का संकल्पनात्मक इतिहास

वेबर का कहना है कि जातीय समूह क्युन्स्टलिश थे (कृत्रिम, अर्थात् एक सामाजिक निर्माण), क्योंकि वे साझा गेमाइनशाफ्ट (समुदाय) में आत्मनिष्ठ धारणा पर आधारित थे। दूसरे, साझा गेमाइनशाफ्ट में इस विश्वास ने समूह का निर्माण नहीं किया, अपितु समूह ने विश्वास को बनाया। तीसरे, समूह गठन, शक्ति और रुतबे पर एकाधिकार करने की होड़ का नतीजा था। यह उस समय की प्रचलित प्रकृतिवादी धारणा के विपरीत था, जिसके अनुसार सामाजिक–सांस्कृतिक और लोगों की व्यावहारिक भिन्नताएं, वंशागत लक्षणों और सर्वनिष्ठ वंशों से व्युत्पन्न प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती हैं, जिसे उस समय "रेस" कहते थे।

जातीयता के एक और प्रभावशाली सिद्धांतप्रेमी थे फ्रेड्रिक बार्थ, जिनके 1969 से "एथनिक ग्रुप्स एंड बाउंड्रीज़" को 1980 और 1990 के दशकों में सामाजिक अध्ययन में इस शब्द के उपयोग के प्रसार में सहायक के रूप में वर्णित किया गया है। बार्थ, जातीयता की प्रकृति के निर्माण पर बल देने में वेबर से भी आगे निकल गए। बार्थ के लिए, दोनों बाह्य आरोपण और आंतरिक आत्म–पहचान के द्वारा निरंतर रूप से वार्ता और पुनर्वार्ता ही जातीयता थी। बार्थ की राय में जातीय समूह क्रम विच्छेदी सांस्कृतिक एकाकी या तार्किक नहीं हैं, जिससे लोग स्वाभाविक रूप से संबंधित होते हैं। वे संस्कृतियों के परिबद्ध तत्व और जातीयता को आदिमवादी बंधन मानने वाली मानवशास्त्रीय धारणाओं से दूर रहना और उसे समूहों के बीच पार्थक्य पृष्ठ पर ध्यान संकेंद्रण के साथ प्रतिस्थापित करना चाहते थे। इसलिए, जातीय पहचान की आपसी संबद्धता पर ध्यान केंद्रित करना ही "जातीय समूह और सीमाएं" हैं।

1978 में, मानव विज्ञानी रोनाल्ड कोहेन ने दावा किया कि "सामाजिक वैज्ञानिकों के उपयोग में "जातीय समूहों" की पहचान, अक्सर देशी यथार्थ से अधिक, गलत लेबल को प्रतिबिंबित करती है:

... नामित जातीय पहचान जिसे हम अक्सर बिना सोचे समझे, साहित्य में दिए गए आधारों पर अपना लेते हैं, अक्सर मनमाने ढंग से, या उससे भी बदतर ढंग से अधिरोपित किए गए है।

टिप्पणी

इस तरह से, उन्होंने इस सच्चाई की ओर इंगित किया कि एक जातीय समूह की पहचान मानव विज्ञानियों जैसे बाहरी लोगों द्वारा किए जाने पर, उस समूह के आत्म–पहचान से भिन्न हो सकती है। उन्होंने यह भी बताया कि उपयोग के पहले के दशकों में, जातीयता शब्द का प्रयोग अक्सर साझा सांस्कृतिक प्रणालियों और साझा विरासत वाले छोटे समूहों के संदर्भ में "सांस्कृतिक" या "जनजातीय" जैसे पुराने शब्दों के स्थान पर प्रयोग किए जाते हैं, परन्तु उस "जातीयता" में दोनों ही जनजातीय और आधुनिक समाजों में समूहों की पहचान प्रणालियों में समानताओं को वर्णित करने में सक्षम होने की अतिरिक्त खूबी थी। कोहेन ने यह भी सुझाया कि "जाति" पहचान संबंधी दावे (जैसे पहले के "जनजातीय" पहचान संबंधी दावे) अक्सर उपनिवेशवादी प्रथाएं हैं और उपनिवेशीय लोगों और राष्ट्र–राज्यों के बीच के सम्बन्धों का प्रभाव हैं।

सामाजिक वैज्ञानिकों ने इसलिए इस बात पर ध्यान केंद्रित किया कि कैसे, कब और क्यों जातीय पहचान के विभिन्न सूचक खास बन जाते हैं। अतः, मानव विज्ञानी जोआन विन्सेन्ट ने गौर किया कि जातीय सीमाएं अक्सर अस्थिर चरित्र की होती हैं। रोनाल्ड कोहेन ने निष्कर्ष निकाला कि जातीयता "अंतर्वेशन और एकांतिक की एक निर्माणाधीन द्विभाजनीकरण शृंखला है।" वे जोआन विन्सेन्ट के अवलोकन से सहमत हैं कि (कोहेन के विवरण में) "जातीयता को सीमा के संदर्भ में, राजनीतिक जुटाव की विशिष्ट आवश्यकताओं के संबंध में, संकुचित या विस्तृत किया जा सकता है। यही कारण हो सकता है कि क्यों वंश कभी–कभी जातीयता का एक सूचक है और कभी–कभी नहीं हैः जातीयता का कौन–सा विशेषक प्रमुख है और इस पर निर्भर करता है कि लोग जातीय सीमाओं का ऊपर प्रवर्धन कर रहे हैं या नीचे और वे उनका ऊपर प्रवर्धन या नीचे यह आम तौर पर राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करता है।

प्रजाति और जातीय श्रेणियां

जातीय वर्गीकरण को दूसरों द्वारा लेबलिंग या आत्म–पहचान द्वारा परिभाषित किए जाने की समस्या से बचने के लिए, यह उपाय सुझाया गया कि इन अवधारणाओं जैसे "जातीय श्रेणियां", "जातीय नेटवर्कों" और "जातीय समुदायों" या "प्रजाति" को एक दूसरे से अलग किया जाए।

- एक "जातीय श्रेणी" एक ऐसी श्रेणी है जो उन बाहरी लोगों के द्वारा स्थापित की जाती है, जो कि स्वयं उस श्रेणी के सदस्य नहीं होते और जिसके सदस्य ऐसी आबादी है जो बाहरी लोगों द्वारा एक ही नाम या प्रतीक, एक साझा सांस्कृतिक तत्व और एक विशिष्ट क्षेत्र के साथ एक जुड़ाव के आधार पर एक दूसरे से अलग करके श्रेणीबद्ध किए जाते हैं। लेकिन, जो सदस्य जातीय श्रेणियों के लिए जिम्मेदार माने जाते हैं उन्हें स्वयं अपने खुद के समान, विशिष्ट समूह से संबंधित होने के विषय में कोई जागरूकता नहीं होती है।
- "जातीय नेटवर्क" के स्तर पर, समूह को एक एकजुटता का एहसास होने लगता है और इसी स्तर पर उत्पत्ति और सांस्कृतिक और जैविक रूप से साझा विरासत का आम मिथक उभरने लगता है, कम से कम बुद्धिजीवी वर्ग में।
- "जातीय समुदायों" या "प्रजाति" के स्तर पर, सदस्यों की स्वयं के विषय में स्पष्ट अवधारणाएं होती हैं "एक नामित मानव आबादी जिनके पास समान वंश मिथक है, साझा ऐतिहासिक यादें हैं और एक या अधिक समान सांस्कृतिक तत्व है,

टिप्पणी

जिसमें एक मातृभूमि के साथ जुड़ाव और कुछ हद तक एकजुटता है, कम से कम बुद्धिजीवी वर्ग के बीच।" इसका मतलब, एक प्रजाति एक समूह के रूप में आत्म–परिभाषित है, जबकि जातीय श्रेणियां बाहरी लोगों द्वारा स्थापित की जाती हैं चाहे उनके अपने सदस्य उन्हें दिए गए श्रेणी में तादात्म्य स्थापित कर पाए या नहीं।

- एक "परिस्थितिजन्य जातीयता" एक जातीय पहचान है जिसे सामाजिक व्यवस्था या स्थिति के आधार पर एक पल में चुना जाता है।

जातीयता को समझने के दृष्टिकोण

जातीयता को समझने के लिए विभिन्न सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा कई अलग–अलग दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है, जब उन्होंने जातीयता की प्रकृति को मानव जीवन और समाज में एक कारक के रूप में समझने की कोशिश की। इस तरह के तरीकों के उदाहरण हैं: आदिमवाद, तात्विकवाद, स्थायित्ववाद, रचनावाद, आधुनिकवाद और करणवाद।

- "आदिमवाद" का मानना है कि जातीयता मानव इतिहास में सदा से रही है और यह कि आधुनिक जातीय समूहों में अतीत से चली आ रही ऐतिहासिक निरंतरता बनी हुई है। उनके लिए, जातीयता की योजना राष्ट्रों की योजना से जुड़ी है और इसकी जड़ें वेबर–पूर्व की उस समझ के साथ जुड़ी हैं जिसके अनुसार मानवता मौलिक रूप से मौजूदा समूहों में विभाजित है जिनकी जड़ें रक्त संबंधों और जैविक विरासतों में जमी हैं।
- "तात्विकवादी आदिमवाद" का आगे यह मानना है कि मानव अस्तित्व में जातीयवाद एक संघीय तथ्य है, कि जातीयता किसी मानव समाज के सम्पर्क से आगे चलती है और यह कि वह मूलतः स्वयं द्वारा बदली भी नहीं जा सकती। यह सिद्धांत जातीय समूहों को न सिर्फ ऐतिहासिक रूप से, बल्कि प्राकृतिक रूप से भी देखता है। यह समझ यह स्पष्ट नहीं करती है कि कैसे और क्यों राष्ट्र और जातीय समूह जाहिर तौर पर इतिहास के माध्यम से प्रकट, गायब और अक्सर पुनः प्रकट होते हैं। इसमें आधुनिक समय की बहु–जातीय समाजों की रचना के लिए अंतर्जातीय विवाह, प्रवास और उपनिवेशन परिणामों से उत्पन्न समस्याएं भी हैं।
- "रक्त संबंध आदिमवाद" के अनुसार जातीय समुदाय रक्त संबंधी इकाइयों का विस्तारण है, मूल रूप से रक्त संबंधों या वंश संबंधी सांस्कृतिक लक्षण जैसे भाषा, धर्म, परंपराओं के द्वारा सटीक रूप से जैविक समानता दिखाने के लिए चुने जाते हैं। इस तरह, समान जैविक वंश के मिथक को जो जातीय समुदाय की विशेषता को परिभाषित करते हैं वास्तविक जैविक इतिहास को दर्शाने वाला समझा जाना चाहिए। जातीयता संबंधी इस दृष्टिकोण की एक समस्या यह है कि यह अक्सर नहीं होने के बजाय अधिकांश मामलों में विशिष्ट जातीय समूहों के मिथक मूल सीधे तौर पर जातीय समुदायों के ज्ञात जैविक इतिहास का खंडन करता है।
- मानवविज्ञानी क्लिफोर्ड गीट्र्ज़ द्वारा विशेष रूप से समर्थित, "गीट्जर्स प्राइमोरडियलिज़म" का यह मानना है कि मनुष्य, सामान्य रूप से, आरंभिक मानवीय "प्रदानों" को एक अपरिहार्य शक्ति समर्पित करते हैं, जैसे रक्त संबंध,

भाषा, क्षेत्र और सांस्कृतिक मतभेद। गीट्ज़ की राय में, जातीयता अपने आप में मौलिक नहीं है लेकिन मनुष्य उसे इस रूप में महसूस करता है क्योंकि यह दुनिया के विषय में उनके अनुभव में अंतःस्थापित है।

टिप्पणी

- "स्थायित्ववाद" के अनुसार जातीयता सतत परिवर्तनशील है और जबकि जातीयता की अवधारणा हमेशा अस्तित्व में रही है, जातीय समूह, आमतौर पर जातीय सीमाओं की एक नई पद्धति में पुनः संगठित होने से पहले अल्पकालिक होते हैं। विरोधी स्थायित्ववादी विचार है कि जहां जातीयता और जातीय समूह इतिहास में हमेशा से अस्तित्व में रहे हैं, वे प्राकृतिक व्यवस्था का हिस्सा नहीं हैं।
- "अनंत स्थायित्ववाद" का मानना है कि विशिष्ट जातीय समूह इतिहास में लगातार मौजूद रहे हैं।
- "स्थितिगत स्थायित्ववाद" का मानना है कि देश और जातीय समूह इतिहास के क्रम में उभरते हैं, परिवर्तित होते हैं और गायब हो जाते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार जातीयता की अवधारणा मूलतः राजनीतिक समूहों द्वारा, धन, शक्ति, क्षेत्र या हैसियत जैसे संसाधनों को अपने विशेष समूहों के हित में दोहन करने के लिए प्रयोग किया जाने वाला उपकरण है। तदनुसार, जातीयता तब उभरती है जब यह सामूहिक हितों को आगे बढ़ाने में प्रासंगिक है और समाज में राजनीतिक परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होती है। जातीयता की स्थायित्ववादी व्याख्या के उदाहरण, बार्थ और साइडनर में भी पाए जाते हैं, जो जातीयता को लोगों के ऐसे समूहों के बीच हमेशा बदलती सीमाओं के रूप में देखते हैं जो जारी सामाजिक संवाद और संपर्क के माध्यम से स्थापित होती है।
- "करणवादी स्थायित्ववाद", जातीयता को मुख्यतः एक बहुमुखी उपकरण के रूप में देखते हुए, जो विभिन्न जातीय समूहों और सीमाओं की पहचान समय के माध्यम से करता है, जातीयता को सामाजिक स्तरीकरण के एक तंत्र के रूप में समझता है, जिसका पर्याय यह है कि जातीयता व्यक्तियों की पदानुक्रमित व्यवस्था का आधार है। जातीय स्तरीकरण के मूल पर एक सिद्धांत को विकसित करने वाले समाजशास्त्री डोनाल्ड नोएल के अनुसार, जातीय स्तरीकरण "स्तरीकरण की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें कुछ अपेक्षाकृत स्थिर समूह सदस्यता (जैसे, जाति, धर्म, या राष्ट्रीयता) को सामाजिक स्थिति निर्धारण के लिए एक प्रमुख मापदंड के रूप में उपयोग किया जाता है। जातीय स्तरीकरण कई विभिन्न प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण में से एक है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक स्थिति, नस्ल या लिंग पर आधारित स्तरीकरण शामिल है। डोनाल्ड नोएल के अनुसार, जातीय स्तरीकरण केवल तभी उभरता है जब विशिष्ट जातीय समूहों को एक दूसरे के साथ संपर्क में लाया जाता है और केवल तभी जब वे समूह एक उच्च स्तरीय प्रजातिकेंद्रिकता, प्रतियोगिता और अंतर शक्ति की विशेषताओं से परिपूर्ण हो। प्रजातिकेंद्रिकता विश्व को मुख्य रूप से अपने स्वयं की संस्कृति के नज़रिए से देखने और अपनी संस्कृति से बाहर के अन्य समूहों को पदावनत करने की प्रवृति है। विन्सेन्ट हचइंग्स और लॉरेंस बोबो जैसे कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि जातीय स्तरीकरण की उत्पत्ति जातीय पूर्वाग्रह की व्यक्तिगत प्रवृति से हुई है, जो प्रजातिकेंद्रिकता के सिद्धांत से संबंधित है। नोएल के सिद्धांत के साथ सतत, जातीय स्तरीकरण के उद्भव के लिए थोड़ी मात्रा में अंतर शक्ति की

टिप्पणी

उपस्थिति होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जातीय समूहों के बीच एक ताकत की असमानता का तात्पर्य है कि "वे एक दूसरे से ताकत में इतने असमान हैं कि एक अपनी इच्छाओं को दूसरे पर थोपने में सक्षम होगा।" अंतर शक्ति के अतिरिक्त, जातीय सीमाओं के साथ संरचित प्रतियोगिता की एक मात्रा जातीय स्तरीकरण के लिए भी जरूरी होती है। विभिन्न जातीय समूहों में शक्ति या प्रभाव, या धन या क्षेत्र जैसी भौतिक रुचियों जैसे कुछ आम लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा होनी चाहिए। लॉरेंस बोबो और विन्सेन्ट हचइंग्स ने प्रस्ताव दिया कि प्रतियोगिता आत्म–रूचि या शत्रुता द्वारा संचालित होती है और अपरिहार्य स्तरीकरण और संघर्ष जैसे परिणामों को जन्म देती है।

- "रचनावाद की दृष्टि में आदिमवादी और स्थायित्ववादी, दोनों ही मूल रूप से दोषपूर्ण हैं और जातीयता को एक बुनियादी मानव स्थिति होने की धारणा को नकारते हैं। इसका मानना है कि जातीय समूह, केवल सामाजिक मानवीय संपर्क की उत्पत्ति हैं और उन्हें सिर्फ वैध सामजिक निर्माणों के रूप में समाजों में बनाए रखा जा सकता है।
- "आधुनिकतावादी रचनावाद", जातीयता के उद्भव को राष्ट्रराज्यों की दिशा में आंदोलनों के साथ संबद्ध करता है जो आधुनिक काल के पूर्वार्ध में शुरू हुए। एरिक होब्सबौम जैसे इस सिद्धांत के समर्थकों ने यह तर्क दिया कि जातीयता और राष्ट्रवाद जैसी जातीय गर्व की धारणा, पूर्ण रूप से आधुनिक आविष्कार हैं और ये केवल विश्व इतिहास में आधुनिक समय में दर्शाए गए हैं। वे मानते हैं कि इससे पहले, जातीय समरूपता को बड़े पैमाने पर समाज के गठन में एक आदर्श या आवश्यक पहलू नहीं माना जाता था।

जातीयता और नस्ल

वेबर से पहले, अक्सर नस्ल और जातीयता को एक ही चीज के दो पहलुओं के रूप में देखा जाता था। 1900 के आस–पास और उससे पहले जातीयता की तात्विक आदिमवादी समझ प्रधान थी, लोगों के बीच सांस्कृतिक भिन्नता को विरासत में मिले लक्षणों और प्रवृत्तियों के परिणाम के रूप में देखा जाता था। इसी समय मस्तिष्क–विज्ञान जैसे "विज्ञानों" ने दावा किया कि वे विभिन्न आबादियों के बीच सांस्कृतिक और व्यावहारिक गुणों को उनकी बाह्य भौतिक संरचना, जैसे कि खोपड़ी के आकार द्वारा, सहसम्बद्ध कर पाने में सक्षम है।

वेबर द्वारा जातीयता को एक सामाजिक निर्माण के रूप में परिचय दिए जाने पर, नस्ल और जातीयता एक दूसरे से विभाजित किए गए। जीव विज्ञान के अनुसार अच्छी तरह से परिभाषित नस्लों पर एक सामाजिक विश्वास टिका रहा। 1950 में यूनेस्को का बयान "द रेस क्वेसचन" में, जो उस समय के कुछ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त बुद्धिजीवियों (जिसमें एशले मोंतागु, क्लाउडे लेवी–स्ट्राउस, गुनार मिर्लाड, जुलियन हक्सले आदि शामिल थे), द्वारा हस्ताक्षरित किया गया, सुझाया गयाः "यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, भाषाई और सांस्कृतिक समूह नस्लीय समूहों के साथ मेल खाएः और इस तरह के समूहों की सांस्कृतिक विशेषताओं का नस्लीय गुणों के साथ कोई प्रदर्शित आनुवंशिक लक्षण संबंध नहीं है। क्योंकि "नस्ल" शब्द को आम बोलचाल में इस्तेमाल करते हुए आदतन गंभीर त्रुटियां हो जाती हैं, इसलिए मानव नस्ल

की बात करते हुए "नस्ल" शब्द को छोड़ कर 'जातीय समूहों' के विषय में बात करना बेहतर होगा।"

टिप्पणी

1982 में, अमेरिकी सांस्कृतिक मानवविज्ञानी, चालीस वर्षों के नृवंशविज्ञान शोध का संग्रहण करते हुए, यह तर्क देते हैं कि नस्लीय और जातीय श्रेणियां प्रतीकात्मक सूचक हैं उन विभिन्न तरीकों के लिए जो विश्व के विभिन्न हिस्सों से लोगों ने वैश्विक अर्थव्यवस्था में शामिल किया है:

जो हितों का विरोध श्रमिक वर्ग को विभाजित करता है वह आगे चल कर "नस्लीय" और "जातीय" भेद करने की अपील के माध्यम से और मजबूत बनाया जाता है। ऐसी अपीलें श्रमिकों की विभिन्न श्रेणियों को श्रम बाजारों के पैमाने के पायदान पर से आबंटित करने में सहायक होती हैं और आबादी को निचले स्तर तक पदावनत करके और उच्च उपाधि स्तर को निचले स्तरों के प्रतियोगिता से रोकती है। पूंजीवाद ने जातीयता और नस्ल के बीच उस भेद को नहीं बनाया जो एक दूसरे से श्रमिकों की श्रेणियां निर्धारित करने का कार्य करती है। यह फिर भी, पूंजीवाद के तहत श्रम संग्रहण की प्रक्रिया है जो इन भेदों को उनके प्रभावी मान प्रदान करता है।

वुल्फ के अनुसार, यूरोपीय व्यापारिक विस्तार की अवधि के दौरान नस्लों का और पूंजीवादी विस्तार की अवधि के दौरान जातीय समूहों का निर्माण और समाविष्ट किया गया।

जातीयता अक्सर, साझा सांस्कृतिक, भाषाई, व्यवहार–जन्य, या धार्मिक लक्षणों का संकेत देती है। उदाहरण के लिए, खुद को यहूदी या अरब कहलाने के लिए तुरंत भाषाई, धार्मिक, सांस्कृतिक और नस्लीय गुणों के पुट को उत्पन्न करना होगा जिसे प्रत्येक जातीय श्रेणी में समान माना जाता है। ऐसी व्यापक जातीय श्रेणियों को बृहदजातीयता भी कहा गया है। यह उन्हें छोटी, अधिक व्यक्तिपरक जातीय गुणों से पृथक करता है, जिसे अक्सर सूक्ष्मजातीयता कहा जाता है।

जातीयता और राष्ट्र

कुछ मामलों में, विशेष रूप से जिसमें अंतरराष्ट्रीय प्रवास, या उपनिवेशिक विस्तार शामिल है, जातीयता राष्ट्रीयता से जुड़ी होती है। मानवविज्ञानी और इतिहासकार, जो अर्नेस्ट गेल्नर और बेनेडिक्ट एंडरसन द्वारा प्रस्तावित जातीयता के आधुनिकतावादी समझ का पालन करते हैं, वे राष्ट्र और राष्ट्रवाद को सत्रहवीं सदी में आधुनिक राज्य प्रणाली के साथ विकसित होते हुए देखते हैं। उन्होंने "नेशन–स्टेट्स" के उद्भव पर समाप्त किया जिसमें राष्ट्र की आनुमानिक सीमाएं (या आदर्श रूप में समरूप) राज्य सीमाओं के साथ समरूप हो जाती हैं। इस प्रकार, पश्चिम में, जातीयता की धारणा, नस्ल और राष्ट्र की तरह, यूरोपीय उपनिवेशिक विस्तार के संदर्भ में विकसित होने लगी, जब वणिकवाद और पूंजीवाद जनसंख्या के वैश्विक आंदोलनों को बढ़ावा दे रहा था और साथ ही साथ राज्य सीमाएं अधिक स्पष्ट और सख्ती से परिभाषित की जा रही थीं। उन्नीसवीं सदी में, आधुनिक राज्यों ने सामान्यतः "राष्ट्रों" का प्रतिनिधित्व करने के दावों के माध्यम से वैधता की मांग की। हालांकि, राष्ट्र–राज्य, निश्चित तौर पर उस आबादी को शामिल करता है जो किसी एक या अन्य कारणों से राष्ट्रीय जीवन से अपवर्जित कर दिए गए हैं। फलस्वरूप, अपवर्जित समूहों के सदस्य, या तो समानता के आधार पर शामिल किए जाने की, या स्वराज्य की, कभी–कभी अपने ही राष्ट्र–राज्य में पूर्ण राजनीतिक अलगाव की सीमा तक मांग करेंगे। इन परिस्थितियों में – जब लोग एक राज्य से दूसरे राज्य

में स्थानांतरित होते हैं, या एक राज्य पर विजय प्राप्त करते हैं या अपनी राष्ट्रीय सीमा के परे लोगों के उपनिवेश बनाते हैं – जातीय समूह ऐसे लोगों द्वारा बनाए गए, जिनकी पहचान एक राष्ट्र के साथ है, परन्तु वे रहते दूसरे राज्य में हैं।

टिप्पणी

3.2.2 जनजातियां

1931 ई. की जनगणना की जनजातियों के लिए 'आदिवासी' अथवा 'दलित वर्ग' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था परन्तु 1941 ई. के पश्चात इनके लिए जनजाति एवं अनुसूचित जनजाति शब्दों का ही प्रयोग किया जाने लगा है। वास्तव में, जनजाति व्यक्तियों का वह समूह है जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है या विचरण करता है, किसी आदि पूर्वज से अपना उद्‌गम मानना है, जिसकी एक सामान्य, संस्कृति है और जो आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभावों से सापेक्षित रूप से वंचित है। जनजाति भारत की प्राचीन सभ्यता की प्रतीक है।

जनजाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं विशेषताएं

जनजाति का अर्थ सामान्यतया ऐसे लोगों से है जो निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं तथा विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए होते हैं। इनका निवास स्थान सामान्यतया पहाड़ी या पठारी क्षेत्र होते हैं। इनके अपने रीति–रिवाज होते हैं जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से काफी सीमा तक भिन्न होते हैं। इसे हम ऐसा क्षेत्रीय समूह कह सकते हैं जो सामान्य भाषा, सामाजिक नियमों एवं आर्थिक कार्यों इत्यादि में समानता के आधार पर एक सूत्र में बंधा हुआ है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जनजाति ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित भू–भाग (जंगल या पहाड़) पर निवास करते हैं, जिनकी संस्कृति एक होती है तथा जो आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं। इम्पीरियल गजेटियर (Impirial Gazetter) में जनजाति को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है, ''जनजाति परिवारों का वह संकलन है जिसका अपना एक सामान्य नाम होता है जो सामान्य भाषा बोलता है तथा जो सामान्य प्रदेश में रहता है या रहने का दावा करता है और सामान्यतया अन्तर्विवादी होता है, भले ही आरम्भ में ऐसा न करता रहा हो।''

यह परिभाषा जनजाति को अत्यंत सामान्य रूप से प्रतिपादित करती है तथा इसलिए यह परिभाषा संदर्भ में उपर्युक्त नहीं है। ऐसी ही परिभाषा ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में इन शब्दों में दी गई है, ''जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता को स्वीकार करता है तथा सामान्यतया अपना एक समान पूर्वज मानता है।'' दोनों परिभाषाओं में जनजाति के जो लक्षण बताए गए हैं वे जाति में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। अतः ये दोनों परिभाषाएं अधिक मान्य नहीं हैं। लूसी मेयर (Lucy Mair) जैसे विद्वानों ने जनजाति को समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन माना है। इस प्रकार की परिभाषा भी जनजाति का अर्थ स्पष्ट करने में सक्षम नहीं है।

प्रमुख विद्वानों ने जनजाति की परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी हैं–

1. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "स्थानीय आदिवासियों के किसी भी ऐसे संग्रह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो तथा सामान्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता हो।"

टिप्पणी

2. मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूहों का संग्रह है जिसका एक सामान्य नाम होना है और जिसके सदस्य एक ही भू–क्षेत्र में निवास करते हैं, एक भाषा बोलते हैं और विवाह, वृत्ति या व्यवसाय के प्रति बुद्ध निषेधों का पालन करते हैं तथा उनमें परस्पर आदान–प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिकता की एक सुनिश्चित व्यवस्था विकसित हो गई है।"
3. बोआस के अनुसार, "जनजाति से हमारा तात्पर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलते हों तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए संगठित हों।"
4. जैकब्स तथा स्टर्न का मत है कि "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का समूह जिसकी समान भूमि हो, समान संस्कृति हो, समान भाषा हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओत–प्रोत हो जनजाति कहलाता है।"

मजूमदार व मदान का मत है कि भारत में जनजाति, जाति, सम्प्रदाय, प्रजाति, वर्ग आदि अनेक प्रकार के सामाजिक समूह पाए जाते हैं। इनमें जनजाति का आदिम समुदायों में तथा जाति का हिन्दू समाज में प्रमुख स्थान है। जाति एवं जनजाति शब्द को अनेक विद्वानों ने पर्यायवाची शब्द में प्रयोग किया है जिसके परिणामस्वरूप अनेक जनजातियों को जातियां तथा अनेक जातियों को जनजातियां बता दिया है। इनके अनुसार नातेदारी सम्बन्ध क्षेत्रीय आवास, एक भाषा, संयुक्त स्वामित्व एक राजनीतिक संगठन, आंतरिक संघर्ष का अभाव आदि जनजाति की विशेषताएं बताई जाती हैं। अनेक मानव शास्त्रियों ने इनमें से कुछ विशेषताओं को जनजाति की विशेषताएं मानने से स्पष्ट इनकार किया है। उदाहरणार्थ रिवर्स (Rivers) ने क्षेत्रीय आवास को जनजाति का प्रमुख लक्षण नहीं माना है। जबकि पैरी (Parry) ने इस विशेषता पर विशेष जोर दिया है और इतना कहा है कि घुमन्तू जनजातियां भी एक निश्चित क्षेत्र के अंतर्गत ही घूमती रहती हैं। रेडक्लिफ–ब्राउन (Radcliff-Brown) ने आस्ट्रेलियाई जनजातियों के विभिन्न वर्गों के बीच आपसी लड़ाई के उदाहरण भी दिए हैं।

जनजाति की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर जनजाति में निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं–

1. **सामूहिक भावना**– जनजाति के लोग अपने तथा अपने सभी परिवारों की एक ही पूर्वज की सन्तान मानते हैं। उनका विचार है कि वे सब एक ही पिता की देन है। इसीलिए उनकी संस्कृति, सभ्यता, बोलचाल तथा व्यवहार भी एक समान होते है। जनजाति के लोग एक–दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण पारस्परिक मेल–जोल से कार्य करते हैं। इसी को सामूहिक भावना का नाम दिया जाता है।
2. **प्रकृति–पूजा**– जाति किसी न किसी देवी देवता में विश्वास रखती है। चाहे वह देवता पत्थर की मूर्ति का रूप हो या किसी जड़ पदार्थ के रूप में हो। जनजाति में इस प्रकार की पूजा में विशेष आस्था दिखाई देती है। इस प्रकार की पूजा प्रत्येक जनजाति के सदस्यों का कर्तव्य माना जाता है।
3. **टोटम तथा निषेध**– प्रत्येक जनजाति अनेक गोत्रों में विभक्त होती है। प्रत्येक गोत्र किसी पशु या पक्षी या पेड़ पौधे से सम्बन्धित है। टोटम का मारना या खाना निषेध है, इसकी पूजा की जाती है। उदाहरणार्थ–कुछ 'बिरहोर' गिद्ध को

टिप्पणी

अपना टोटम मानते हैं। 'गौरैया गोत्र' के बिरहोर यह मानते हैं कि उनके पूर्वजों का जन्म गौरैया के डैने नीचे हुआ। इसी प्रकार 'मुण्डा' भिन्न–भिन्न 'किलियों' में विभक्त हैं। प्रत्येक का अलग–अलग टोटम होता है। उरांव में 'कुजुर वंशी' कुजुर पौधे का टोटम मानते हैं। 'कछुआ वंशी' उरांव कछुए को नहीं मारते वरन् उसकी पूजा करते हैं। खरिया में 'हुमडुंग करकेता' 'टोपा' 'बा' 'ता ते ते, बकिए' 'सेरेंग' आदि टोटम हैं। जिनके आधार पर गोत्र हैं।

4. **निश्चित भू–भाग व भाषा**– प्रत्येक जनजाति का एक निश्चित भू–भाग होता है जिसके अंतर्गत वह जनजाति निवास करती है। प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट नाम तथा विशिष्ट भाषा होती है।
5. **नेता का नियंत्रण**– प्रत्येक जाति का अपना एक नेता होता है। नेता को ही जनजाति के ऊपर नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार होता है। नेता अपनी जनजाति के सदस्यों को पूर्णरूप से संगठित करता है। इस नेता के नेतृत्व में जनजाति का राजनैतिक संगठन होता है। इसी संगठन के द्वारा जनजाति अपने जन समूह को नियंत्रित रखती है।
6. **आर्थिक निर्भरता**– जनजाति को एक आत्म–निर्भर समूह माना गया है क्योंकि जनजाति के सभी सदस्य अपने दैनिक प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण स्वयं ही करते हैं। और अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करते हैं।
7. **जादू**– प्रायः सभी जनजातियां जादू में विश्वास करती हैं। खरिय में जो जादूगर दूसरों की भलाई के लिए कार्य करते हैं वे 'देआरो' कहलाते हैं। उनके अनुरूप जितने भी अकाल या विपत्तियां आती हैं, उनका कारण जादू ही है। सन्थाल किसी बीमारी या कष्ट को जादू–टोने का ही परिणाम मानते हैं। कुछ मंत्रों की सहायता से जादू टोने के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया जाता है।
8. **अन्तर्विवाही जन–समूह**– जनजाति एक अन्तर्विवाह समूह होता है। दूसरे शब्दों में जनजाति के सदस्य अपनी जनजाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। इसी आधार पर बोआस ने कहा है ''जनजाति अन्तर्विवाह की नीति पर आधारित एक ऐसा सामाजिक व राजनैतिक समूह है जिसके सदस्य सामान्य भू–भाग, भाषा, संस्कृति, जीवन–स्तर, धर्म, व्यवसाय तथा वंश–परम्परा के आधार पर समानता की भावना द्वारा बंधे होते हैं।
9. **विशिष्ट नाम**– प्रत्येक जनजाति का एक विशिष्ट नाम होता है और वह उसी नाम से जानी जाती है जैसे–संथाल, गारो, धारु, खासी आदि।
10. **नियम**– जनजाति के लोगों का सामाजिक जीवन परम्परागत नियमों से संचालित होता है।

जनजातीयपन के सूचक

श्यामाचरण दूबे ने उचित लिखा है कि भारतीय संदर्भ में जनजाति की कोई निश्चित एवं संतोषजनक परिभाषा नहीं दी गई है। उन्होंने कुछ उन सूचकों का वर्णन किया है जिनके आधार पर जनजातीय लोगों को भारत के अन्य लोगों से भिन्न किया जा सकता है। जनजातीयता की पहचान करने वाले सूचकांक अग्रलिखित हैं–

टिप्पणी

- वे भारत भूमि के सबसे पुराने निवासी हैं। इसलिए विशिष्ट क्षेत्र में उनकी जड़ें बहुत पुरानी व गहरी हैं।
- वे घने जंगलों और पहाड़ों में अपेक्षाकृत पृथक जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ जनजातियों का यह पृथक्य खत्म हुआ है, लेकिन कुछ अब भी शेष जनसंख्या से अलग–अलग है।
- उनका ऐतिहासिक ज्ञान उथला है। पांच या छह पीढ़ियों से पहले का इतिहास पौराणिक कथाओं के रूप में उन्हें याद है।
- उनके प्रौद्योगिक एवं आर्थिक विकास का स्तर निम्न है।
- अपनी सांस्कृतिक अनुपमा, भाषा, संस्थाएं विश्वास और प्रथाओं के आधार पर वे समाज के अन्य लोगों से स्पष्टतः अलग दिखाई देते हैं।

दूबे ने स्वीकार किया है कि ये सूचक अपरिष्कृत ही हैं, परन्तु इनका न्यूनाधिक संयोग जनजातीयपन को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने यह भी बताया है कि आज अनुसूचित जनजातियों के रूप में वैधानिक दृष्टि से इन्हें सूचीबद्ध किया गया है, परन्तु यह सूचीकरण एक राजनीतिक तथ्य है, न कि मानवशास्त्रीय। इस भांति, भारतीय समाज बहुजातीय, बहुधर्मीय तथा बहुजनजातीय है।

इरावती कर्वे ने ऐसे समाज की उपमा उस रंग बिरंगी गुदड़ी से की है जिसे विभिन्न स्रोतों से कपड़े के टुकड़ों को लेकर एक साथ सी दिया गया है। कोई टुकड़ा किसी चादर से लिया गया है, तो कोई किसी कमीज से, तो कोई किसी चोली से। भारतीय समाज के इन संघटकों के न केवल स्रोत अलग हैं, बल्कि समाज में उनके प्रवेश के काल भी भिन्न–भिन्न हैं।

जनजातियां समस्त भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करती हैं। इनके आवासीय क्षेत्रों की दृष्टि से जनजातीय क्षेत्र चार हिस्सों में बांटे गए हैं–उत्तर–पूर्वी क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र एवं पश्चिमी क्षेत्र। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में सिक्किम की लपेचा जनजाति, असम की रामा, मेचा, काछारी एवं मिकिर जनजातियां; मेघालय की गारो और खासो जनजातियां; अरुणाचल की आका, दाफला एवं भीरी जनजातियां; नागालैण्ड की कोण्यक, रंगपात, रोमा, अंगामी, चंग और रेम जनजातियां प्रसिद्ध हैं। मध्य क्षेत्र में साबरा, गड़वा, बोण्डो, हो, संथाल, उरांव, मुण्डा, बिरहोर, खुरिया, बैगा तथा बस्तर की मुरिया और माड़िया गोण्ड जनजातियां प्रसिद्ध हैं। दक्षिणी क्षेत्र की प्रसिद्ध जनजातियां चेचू, कोटा, पनीयान, इरुला, कादर, माला आदि हैं। इसी क्षेत्र में अण्डमान–निकोबार दीपसमूह में निकोबारी आंगख जावरा जनजातियां हैं। स्पष्ट है कि सुदूर पहाड़ियों और जंगलों में बसी जनजातियों का भौगोलिक लगाव उनकी सांस्कृतिक विविधता के लिए भी उत्तरदायी है।

उपर्युक्त सूचकांक के अतिरिक्त भारतीय जनजातियों की कुछ विशिष्टताओं को अग्रलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

- जनजाति के सभी सदस्य आपस में नातेदार तो नहीं होते अपितु प्रत्येक भारतीय जनजाति में नातेदारी प्रथा एक सशक्त संगठनात्मक, नियंत्रणात्मक एवं एकतात्मक सिद्धांत के रूप में क्रियाशील रहती है।
- जनजातियां अंतर्विवाही होती हैं और कुलों एवं उपकुलों में बंटी रहती हैं। कुल स्वजन समूह होने के नाते बहिर्विवाही होते हैं।

टिप्पणी

- सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व जनजातियों में पाए जाने वाले स्वामित्व का एकमात्र रूप नहीं है, यद्यपि इसका प्रचलन कुछ जनजातियों में पाया जाता है।
- प्रत्येक जनजाति का एक आन्तरिक राजनीतिक संगठन होता है। जो विविध स्तरीय पंचायतों पर आधारित होता है।
- लड़कों एवं लड़कियों के लिए सामान्यतया स्कूली शिक्षा का अभाव पाया जाता है।
- जनजातियों में जन्म, विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट प्रथाएं पाई जाती हैं जो हिन्दुओं और मुसलमानों से भिन्न होती हैं। इनका नैतिक विधान भी हिन्दुओं और मुसलमानों में भिन्न है।
- धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों की दृष्टि से जनजातियों की अपनी कुछ विशिष्टताएं होती हैं जो जनजाति एवं निम्न जातियों के हिन्दुओं के बीच के अंतर तक बता सकती है।

जनजातीय अध्ययन

जनजातीय अध्ययन की उत्पत्ति अधिक प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम इसका अध्ययन अंग्रेज विद्वानों द्वारा 18वीं शताब्दी में किया गया था। इसका क्रमबद्ध अध्ययन का विवरण निम्न प्रकार है–

1. **एशियाटिक सोसाइटी**– ब्रिटिश काल में जब बिहार और बंगाल एक प्रांत था तब विलियम जोन्स के सभापतित्व में एक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का निर्माण हुआ। इसके तत्वाधान में इस प्रान्त की संस्कृति सम्बन्धी खोजपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे। सन् 1784 से 1884 के मध्य की अवधि में नेतृत्व सम्बन्धी सौ से अधिक लेख प्रकाशित हुए। उनमें से केवल तीन छोटे–छोटे लेख ही भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गए तथा शेष पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गए। विदेशी अध्ययन कर्ताओं के द्वारा किए जाने के कारण यह अध्ययन और सहानुभूतिपूर्ण था। 'सोसाइटी' के इस 'जर्नल' में बिहार के आदिवासियों के बारे में पर्याप्त खोजपूर्ण विवरण है।
2. **टिकेल**– लेफ्टिनेंट टिकेल ने सर्वप्रथम 'हो' जनजाति पर कुछ लेख प्रकाशित करवाये। उनके लेख 1840 से 1842 के मध्य प्रकाशित हुए।
3. **शेरवेल**– कर्नल शेरवेल ने 1851 में राजमहल की 'मालरे' या 'पहाड़िया' जनजाति के बारे में प्रकाश डाला।
4. **डाल्टन**– डाल्टन ने अट्ठारह वर्षों तक (1857–1875) छोटा नागपुर के कमिश्नर के पद पर रहकर यहां के आदिवासियों के सम्बन्ध में यथेष्ठ जांच पड़ताल की और सम्बन्धित अनेक लेख प्रकाशित किए। शासक पद पर नियुक्त रहते हुए अध्ययन किए जाने पर इसमें जनजातियों के गुणों का विवरण नहीं दिया जा सका।
5. **पादरी**– कालान्तर में उन दोनों में पादरियों ने धर्म प्रसारण के उद्देश्य से प्रवेश करना प्रारंभ कर दिया। वे आदिवासियों के सांस्कृतिक अध्ययन में रुचि लेने लगे थे। फादर ब्रहोन ने 'उराव' जनजाति पर तथा फादर हाफमैन ने 'मुण्डा'

टिप्पणी

जनजाति की सांस्कृतिक समस्याओं पर विद्धतापूर्ण लेख इन सोसाइटी के पत्र में प्रकाशित कराये, इनमें जनजाति का मौलिक अध्ययन विद्यमान है। इस पत्र के अतिरिक्त 'कलकत्ता रिव्यू और इण्डियन एण्टीकेरी' का प्रकाशन डॉ. बर्गेल द्वारा 1872 में प्रारंभ हुआ था।

6. **बिहार–उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी**– जब बिहार बंगाल से पृथक हुआ तो 1915 में 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' का निर्माण हुआ जिसके प्रथम सभापति एडवर्ड ग्रे हुए। इस पत्रिका में भी बिहार के जनजाति सम्बन्धी कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए।

7. **शरतचन्द्र**– श्री शरतचन्द्र राय ने 1921 में ''मैन इन इण्डिया'' नामक पत्र प्रारंभ किया। यह पत्र अभी भी रांची से प्रकाशित होता है। यही भारत की आज भी महत्वपूर्ण त्रैमासिक शोध पत्रिका है जो प्रथम भारतीय नेतृत्ववेत्ता की महत्वपूर्ण सेवा का स्मरण कराता है। इस पत्र के पृष्ठों में बिरहोर की जाति तथा जनजाति सम्बन्धी लेख हैं।

8. **बुचानन**– डॉ. बुचानन लिखित 'द हिस्ट्री एण्टिक्विटी, टोपोग्राफी एण्ड स्टीक ऑफ इस्टर्न इण्डिया' 1938 में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक बिहार के दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में उस समय के बिहार, पटना, शाहाबाद, भागलपुर, पूर्णिया इत्यादि जिलों का सविस्तार वर्णन है। डॉ. फ्रांसिस बुचानन इस कार्य के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 1807 में ही नियुक्त किए गए थे। उन्होंने अनेक वर्षों की जांच पड़ताल के बाद 25 जिल्दों में विवरण लिखा। जिनमें तीन का उपरोक्त नाम से 1838 में प्रकाशन से पूर्व वाल्टर हैमिल्टन द्वारा लिखित 'ए ज्योग्राफिकल, स्टैटीस्टिकल हिस्टोरिकल डिस्क्रीपशन्स ऑफ द हिन्दुस्तान एण्ड ऐडजैसेंट कन्ट्रीज' (A Geographical statistical historical description of the hindustan and adjacent caintries) ग्रन्थ दो जिल्दों में 1920 में प्रकाशित हुआ।

9. **कैम्बेल**– इसके बाद 'इथनोग्राफी' लिखने का युग आता है। कलकत्ता के न्यायाधीश श्री कैम्बेल ने 1854 में ''इथनोग्राफी ऑफ इण्डिया'' और श्री आर.जी. लेथन ने 1856 में 'इथनोग्राफी ऑफ इण्डिया' प्रकाशित की जिसमें अन्य स्थानों के साथ–साथ बिहार की जनजातियों का भी संक्षिप्त वर्णन है।

10. **डाल्टन**– डाल्टन ने 'डिसक्रिस्टीव इथनोलॉजी ऑफ बंगाल' नामक पुस्तक 1872 में प्रकाशित करवाई। डाल्टन स्वयं छोटा नागपुर में 18 वर्षों तक रहे जिसके कारण उन्हें 'हो', 'मुण्डा', 'उराव' इत्यादि जनजातियों की सांस्कृतिक स्थिति समझने का काफी असर मिला।

11. **हर्बर्ट रिजले**– हर्बर्ट रिजले बंगाल सरकार द्वारा बंगाल जातियों एवं जनजातियों का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन करने के लिए नियुक्त हुए। इन्होंने चार जिल्दों में 'टाइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल (Tribes and Castes of Bangal) नामक पुस्तक लिखी जो 1891 ई. में सरकार द्वारा प्रकाशित हुई। रिजले की दूसरी पुस्तक 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया' (People's of India) में भी बिहार की जनजातियों के सम्बन्ध में अनेक नवीन बातें लिखी हैं।

टिप्पणी

12. **मेजर गार्डन**– सर्वप्रथम वैज्ञानिक गार्डन से इन जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, वंशीय संगठन, रीति–रिवाज आदि का अध्ययन करने का श्रेय मेजर गार्डन को दिया है। ये सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ इथनोग्राफी के पद पर नियुक्त किए गए। उनके निरीक्षण में अनेक मोनोग्राफ लिखे गए।

13. **शरतचन्द्र**– इसी समय श्री शरतचन्द्र राय ने छोटा नागपुर की जनजातियों पर 'मोनोग्राम' लिखना प्रारंभ किया। उनका प्रथम मोनोग्राफ ''दी मुण्डा एण्ड देयर कण्ट्री'' (The Munda and Their Country) 1912 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में मुण्डा जनजाति की उत्पत्ति एवं विकास का खोजपूर्ण विवरण है। श्री राय की दूसरी पुस्तक 'दी उराव' 1915 में प्रकाशित हुई। श्री राय की अंतिम पुस्तक (1937 में प्रकाशित) खजिया जनजाति पर है। यह पुस्तक दो भागों (Volumes) में है। यह पुस्तक श्री शरतचन्द्र राय एवं उनके पुत्र श्री रमेशचन्द्र राय के अनेक वर्षों तक किए गए परिश्रम का परिणाम है। श्री राय ने दुध खडिया (रांची जिला) के बीच अपनी खोज केन्द्रित नहीं की है वरन् 'देलकी' (जासपुर, मध्य प्रान्त) तथा 'पहाड़िया' (खड़िया) मयूरभेज के मध्य रहकर उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया। उनकी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–श्री राय ने प्रथम खण्ड में खड़िया की जनसंख्या, उसकी उत्पत्ति, उसकी शारीरिक संरचना, उनकी भौतिक संस्कृति, उनका सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था तथा जन्म मरण तक के रीति रिवाजों का सविस्तार वर्णन किया है। दूसरे खण्ड में खड़िया के धार्मिक विश्वास, देवता एवं पूजन प्रणाली, जादू–मन्तर, स्वप्न बच्चों के खेल तथा जनजाति के अलिखित लोक साहित्य आदि का अद्वितीय वर्णन है।

14. **मजूमदार**– डी. एन. मजूमदार ने काल्हान की 'हो' जनजाति के बदलते सांस्कृतिक रूपों का अध्ययन किया। 1937 में उन्होंने 'ए ट्राइव इन ट्रान्जिशन' (A Tribe in Transsition) नामक पुस्तक प्रकाशित करवाई। उन्होंने 1950 में इस जनजाति पर महत्वपूर्ण मोनोग्राफ 'दी अफेयर्स ऑफ ए ट्राइब' (The Affaires of a Tribe) प्रकाशित किया।

15. **शशांक शेखर**– डॉ. शेखर ने राजमहल उपत्पका के सौरिया पहाड़ियों के बीच क्षेत्रीय अध्ययन करके 1938 में सौरिया पहाड़ियों के सांस्कृतिक अध्ययन पर एक पुस्तक प्रकाशित करवाई।

16. **त्रिगुणायत**– हाल ही में श्री जगदीश त्रिगुणायत के मुण्डा लोकगीतों का एक महत्वपूर्ण संग्रह ''बांसुरी बज रही'' राष्ट्र भाषा द्वारा प्रकाशित हुआ है। आदिवासी लोक साहित्य में यह अद्वितीय संग्रह है।

17. **सच्चिदानन्द**– डॉ. सच्चिदानन्द ने 'ट्राइबल विलेज ऑफ बिहार' (Tribal Village of Bihar) शीर्षक पुस्तक का प्रकाशन किया है।

18. **शोध संस्थान**– रांची विश्वविद्यालय के नेतृत्व विज्ञान विभाग, बिहार जनजातीय शोध संस्थान रांची और अनुग्रह नारायण समाज अध्ययन संस्थान पटना में जनजातीय संस्कृति के पक्षों पर मौलिक शोध कार्य कर पुस्तकें लिखी हैं।

कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. दिबासि ने 'ट्राइबल स्टडीज' (Tribal Studies) पुस्तक लिखकर बिहार तथा मध्य प्रदेश में जनजातियों के जीवन का व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

जनजातियों का वर्गीकरण : धार्मिक एवं भौगोलिक वितरण

टिप्पणी

भारतीय जनजातियों के वर्गीकरण का कोई सर्वसम्मत आधार नहीं है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधार पर इनका वर्गीकरण किया है। वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. भौगोलिक वर्गीकरण

डॉ. बी. एस. गुहा ने भारत की जनजातियों को भौगोलिक आधार पर निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया है–

(क) उत्तरी तथा उत्तर–पूर्वी क्षेत्र– यह क्षेत्र पश्चिम में लेह से लेकर पूर्व में लुसाई पर्वत मालाओं तक विस्तृत है। इसके अंतर्गत पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल, कुमायूं (अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल), उत्तराखण्ड (पिथौरागढ़, उत्तरकाशी, चमोली), उत्तर प्रदेश का पूर्वी सीमान्त भाग तथा आसाम का पर्वतीय क्षेत्र सम्मिलित है। इस क्षेत्र की जनजातियों में गद्दी, गुज्जर, खम्पा, कटोरा, लम्बा लाहोला, मोटिया, थारु, भोक्सा, नागा कूकी, साखी, कचोरी तथा रम्भा इत्यादि जनजातियां उल्लेखनीय हैं। ये जनजातियां अधिकांशतः मंगोल प्रजाति की और चीनी तथा तिब्बती भाषा परिवार की मानी जाती हैं। इनमें थारु एक ऐसी जनजाति है, जिसने अपनी बोली को छोड़कर पंचाली को अपना लिया है।

(ख) मध्यवर्ती क्षेत्र– इस क्षेत्र के अंतर्गत गंगा नदी का दक्षिण भाग और कृष्णा नदी का उत्तरी भाग आता है। विंध्याचल तथा सतपुड़ा का पठारी प्रदेश इसी भू–भाग में सम्मिलित है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश का दक्षिणी भाग, मध्य प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, बम्बई का उत्तरी भाग और उड़ीसा का मध्यवर्ती, क्षेत्र इसमें सम्मिलित किया जाता है। इसमें निवास करने वाली जनजातियों में भुज्ज, उरांव, हो, खड़िया, बिरहोर, भुइयां, गोड, वैगा, कोंड, चैच्चू, कोरवा, बेदिरा, मुण्डा, कोल तथा भील मुख्य हैं।

(ग) दक्षिणी क्षेत्र– इस क्षेत्र के अंतर्गत कृष्णा नदी का दक्षिणी प्रदेश सम्मिलित है जिसमें हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, द्रावनकोर, कोचीन, आन्ध्रप्रदेश और उड़ीसा का भाग माना जाता है। इन क्षेत्रों में निवास करने वाली जातियों में कादर, टोडा, मल्य्यन, उरांव, विषकन, पनियन, बंड़ागा, कूरम्भा, कोटा, चैच्यू आदि मुख्य हैं।

डॉ. मजूमदार ने भारत की जनजातियों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया है–

- पश्चिमोत्तर प्रान्त की जनजातियां
- उत्तर–पूर्वी सीमान्त की जनजातियां
- अन्तः स्थित प्रदेशों की जनजातियां

पश्चिमोत्तर प्रान्त की जनजातियों में अफगान और बलोचों को सम्मिलित किया जाता है। तिब्बती चीनी परिवार की भाषा बोलते हैं। अतः इस प्रदेश की जनजातियां भी निम्न तीन भागों में विभक्त हैं–

- भील–कोसी समूह
- गोड–कोया समूह
- मुण्डा समूह

2. जातीय और भाषायी समानताएं

टिप्पणी

भाषाओं के आधार पर प्रजातीय उद्‌भव (Racial Origin) की दृष्टि से भारत को इण्डो–यूरोपियन, द्रविड़, ऑस्ट्रिक और तिब्बती चाइनीज परिवार की भाषाओं में विभक्त किया गया है। इसलिए भाषा आधार पर भारतीय जनजाति को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–

(क) **द्रविड़ परिवारीय भाषा वाली जनजातियां**– द्रविड़ परिवार की भाषाएं बोलने वाली जनजातियां दक्षिण भारत में मिलती हैं। भारत की जनसंख्या का लगभग 21.6 प्रतिशत लोग द्रविड़ परिवार की भाषाओं का प्रयोग करते हैं। इस परिवार की भाषाओं में चार भाषाएं हैं–कन्नड़, तमिल, तेलुगु और मलयालम। तमिल भाषा का प्रयोग तमिलनाडु में, तेलुगु भाषा का प्रयोग आंध्र में, कन्नड़ भाषा का प्रयोग कर्नाटक में तथा मलयालम भाषा का प्रयोग केरल में होता है। मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा आंध्र में निवास करने वाली गोंड जनजाति द्रविड़ परिवार की है। इसी प्रकार उड़ीसा की कुन्ध, बिहार तथा उड़ीसा की कुई और उरांव आदि द्रविड़ परिवार की भाषा में सम्मिलित की जाती हैं। नीलगिरि की पहाड़ियों में निवास करने वाली तोड़ा जनजाति भी द्रविड़ परिवार की है। डॉ. मजूमदार का मत है कि सओरा, परजा, कोया, पनियन, चैच्यू, कादर तथा मलय्यन भाषाएं भी द्रविड़ परिवार की हैं।

(ख) **ऑस्टिक परिवार की भाषा वाली जनजातियां**– इस परिवार की भाषा मुख्य रूप से विन्ध्य प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित है। इन भाषाओं का प्रयोग करने वाले लोगों की जनसंख्या 40 लाख है। मुण्डा, कोल, हो, सन्थाल, खड़िया, कोरवा, वादवा, भूमिज, कोर्कु, सादरा व खासी इत्यादि को आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं में सम्मिलित किया जाता है। विद्वानों के अनुसार, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम में इस भाषा परिवार की जनजातियां रहती हैं। आसाम की खड़ियों तथा निकोबार की जनजातियों को भी इसी भाषा परिवार में सम्मिलित किया जाता है। मानवशास्त्रियों ने ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की जनजातियों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभक्त किया है–

- ऑस्ट्रो–एशियाटिक (Ayustro-Asiatic)
- ऑस्ट्रो–नेशियन (Austro-Nesian)

ऑस्ट्रो–एशियाटिक वर्ग के अंतर्गत काले तथा मुण्डा जनजाति की बोलियों को सम्मिलित किया जाता है। ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की जनजातियों का सम्बन्ध ऑस्ट्रो–एशियाटिक वर्ग से ही है। ऑस्ट्रो–नेशियन परिवार की भाषाओं में इण्डेनिशिया, माइक्रोनेशिया, मैलेनेशिया, पोलिनेरीया आदि की भाषाएं सम्मिलित की जाती हैं जिनका आर्य भाषा की भांति ही भारतीय जनजातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ग) **तिब्बती–चीनी भाषा परिवार की जनजातियां**– इस भाषा परिवार के लोग हिमालय के तटवर्ती भू–भागों में निवास करते हैं जिसमें उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल और आसाम का उत्तरी क्षेत्र सम्मिलित हैं। यह क्षेत्र मंगोल प्रजाति के लोगों का है। इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाली जनजातियों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है–

टिप्पणी

- तिब्बती–बर्मी
- श्यामी–चीनी

नेपाल और दार्जिलिंग में निवास करने वाली जनजातियां तिब्बती–बर्मी भाषा का प्रयोग करती हैं। वे जनजातियां जो आसाम के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में निवास करती हैं वे श्यामी चीनी भाषा का प्रयोग करती हैं। नागा, गारो, कुर्की, मिविर, डफला, आमोर तथा खासी जनजातियों का सम्बन्ध तिब्बती तथा बर्मी भाषा से है। भाषा के आधार पर भारतीय जनजातियों का उपर्युक्त विभाजन यह नहीं स्पष्ट करता है कि किस जनजाति की भाषा का विकास किस प्रजाति के द्वारा हुआ है। इसकी बोलियों में अत्यधिक भिन्नता और जटिलता है जिससे यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस जनजाति को किस भाषा परिवार में सम्मिलित किया जाए। बोलियों की यह भिन्नता जनजातियों के पुनर्वास की समस्या को बड़ा जटिल बना देती है।

3. जनजातियों का प्रजातीय वर्गीकरण

भारतीय जनजातियों को प्रजाति के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जाता है–

(क) नीग्रिटो (Negrito)

(ख) मंगोलॉयड (Mangoloid)

(ग) प्रोटा–ऑस्टेलॉयड (Proto-Austroloid)

इन तीनों प्रजातियों के मिश्रण से भारतीय प्रजातियों की उत्पत्ति हुई। मेडिटोरियन तथा नोर्डिक प्रजाति के साथ–साथ भारतीय जनजातियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'नीग्रिटो' प्रजाति भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है। 'कादर' (Kadar) जनजाति की उत्पत्ति नीग्रिटो प्रजाति से हुई है। मध्य भारत में जो जनजातियां निवास करती हैं उनका उद्‌भव प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से हुआ है।

हिमालय के समीपवर्ती क्षेत्रों में हिमाचल प्रदेश से लेकर असम तक के भू–भाग में जो जनजातियां निवास करती हैं, उनकी उत्पत्ति मंगोल प्रजाति से हुई है। दूसरे शब्दों में, पूर्वोत्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियां मंगोल नस्ल की हैं, भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियां नीग्रिटो नस्ल की हैं। श्री गुह्य का मत है कि कादर, इरुला और पनियन प्रजातियां नीग्रिटो नस्ल की हैं क्योंकि इनमें इस प्रजाति के सभी लक्षण विद्यमान हैं। डॉ. मजूमदार का मत है कि भारत में नीग्रिटो अंश नहीं के बराबर है। प्रजाति के आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण अनेक समस्याओं को उत्पन्न करता है। अनेक जनजातियों में विभिन्न प्रजातियों के लक्षण मिलते हैं, जिससे यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस जनजाति को किस प्रजाति समूह में सम्मिलित किया जाए। नीलगिरि के टोडा जनजाति के बारे में भी यह समस्या है। अभी तक मानवशास्त्री (Anthropologist) इनका प्रजातीय सम्बन्ध खोजने में असफल रहे हैं। इस प्रकार भारत की जनजातियों का प्रजातीय विभाजन एक जनजाति को दूसरी जनजाति से पूर्णतः पृथक नहीं कर पाता है।

अनेक नेतृत्वशास्त्रियों ने भारतीय जनजातियों में प्रजातीय तत्वों के सम्बन्ध में अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किए हैं। जिनमें रिजले, हट्‌टन, डॉ. गुहा तथा डॉ. मजूमदार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

टिप्पणी

भारतवर्ष की प्रजातियों के बारे में सर्वप्रथम हर्बर्ट रिजले ने अपनी रचना 'दि पीपुल्स ऑफ इण्डिया' की चर्चा की है। रिजले ने भारत की प्रजातियों को सात मुख्यों भागों में बांटा है। इनका कथन है– सर्वप्रथम भारत में तीन प्रजातियां निवास करती थीं जो कि 1. मंगोल, 2. द्रविड़ 3. इण्डो–आर्यन के नाम से जानी जाती हैं। बाद में द्रविड़ तथा इण्डो–आर्य के सम्मिश्रण में इण्डो–द्रविड़ बन गए तथा द्रविड़–मंगोल के सम्मिश्रण से मंगोल द्रविड़ बन गए। इसके अतिरिक्त मंगोल की एक अन्य शाखा तथा द्रविड़ से सिथियन द्रविड़ बन गए। इसके अतिरिक्त बलूचिस्तान एवं उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त (जो कि अब पाकिस्तान में है) में टर्की–ईरानियन प्रजाति के लोग पाए जाते हैं।

ए. सी. हट्टन ने उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए भारतीय जनजातियों को पांच भागों में विभक्त किया, जैसे आदि द्रविड़ मंगोल इण्डो–आर्य तथा इण्डो–एलायाइन। हट्टन का वर्गीकरण शारीरिक विशेषता, प्रकृति–परिवेश, रीति–रिवाज तथा परम्पराओं के आधार पर निर्मित था। जे. एच. हट्टन ने भारत की प्रजातियों को 6 मुख्य भागों में विभाजित किया है–

1. नीग्रिटो
2. प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड
3. मैडिटरेनियन
4. एल्याइन
5. मंगोलॉयड
6. इण्डो–आर्यन

डॉ. बी. एस. गुहा (1931) का वर्गीकरण निम्न प्रकार का है–

1. नीग्रिटो
2. प्रोटो–ऑस्टेलॉयड
3. मंगोलॉयड–
   - पेलियो मंगोलॉयड
   - डोलिको सिफैलिक (लंबे सिर वाले)
   - ब्रेकी सिफैलिक (चौड़े सिर वाले)
   - तिब्बती मंगोलॉयड
4. मेडिटरेनियन (भू–मध्य सागरीय)
   - पेलियो मेडिटरेनियन
   - मैडिटरेनियन
5. वेस्टर्न ब्रेकी सिफैलिक (चौड़े सिर वाले)
   - आल्पिनॉयड
   - डिनेरिक
   - आर्मीनॉयड
6. नार्डिक

टिप्पणी

डॉ. डी.एन. मजूमदार ने गुहा के उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि यद्यपि दक्षिणी एशिया में नग्रिटो समूह के लोग पाए जाते थे परन्तु भारत की जनजातीय जनसंख्या में ऐसे समूह के लोग पाए जाते थे जिनका इस समूह के होने की कोई भी सभावना नहीं है। गुहा का सम्पूर्ण वर्गीकरण 2000 व्यक्तियों की मानवमिति मापों पर आधारित है जो कि सम्पूर्ण देश की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए बहुत कम है। विस्तार रूप से विचार करने पर यह स्वीकार करना निराधार होगा कि भारतवर्ष की सभी जनजातियों की उत्पत्ति तीन प्रजातियों से हुई है।

3.2.3 वर्ग

आधुनिक भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों में वर्ग उल्लेखनीय है। अधिकांश स्थितियों में एक व्यक्ति की स्थिति उसके वर्ग द्वारा निर्धारित होती है। वर्ग से हमारा अभिप्राय क्या है? एक व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि वर्ग, व्यक्तियों के वे समूह हैं, जिनमें समाज विभाजित है। ये समूह विशिष्ट पक्षों के आधार पर क्रम–विन्यास का भाग हैं। अतः सामाजिक वर्ग वे समूह हैं, जिन्हें समाज में विशेषतः उच्च अथवा निम्न पद प्राप्त हैं। अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात यहां की वर्ग व्यवस्था में भी परिवर्तन आया।

वर्ग के आधार पर व्यक्ति की स्थिति सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में निश्चित होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति उन वर्गों के द्वारा जाने जाते हैं जिसके कि वे सदस्य हैं। परम्परागत एवं आधुनिक दोनों ही समाजों में वर्गों का अस्तित्व है। यद्यपि अन्तर इतना है कि कुछ समाजों में व्यक्ति एक विशिष्ट प्रस्थिति के साथ जन्म लेता है जो अपरिवर्तनीय है। कुछ ऐसे समाज हैं, जहां व्यक्ति एक वर्गीय प्रस्थिति के साथ उत्पन्न होता है परन्तु अपनी योग्यताओं के आधार पर अथवा योग्यता के कारण वह व्यक्ति अपनी वर्गीय प्रस्थिति को परिवर्तित कर सकता है। जाति अपने परम्परागत जड़ रूप में बन्द वर्ग के रूप में जानी जा सकती है। व्यवसाय एवं क्रम–विन्यास का जाति में निर्धारण जन्म से ही हो जाता था। यह निर्धारण व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन काल में अपरिवर्तनीय था। अतः व्यक्ति, जिसने एक जाति में जन्म लिया, के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था कि वह अपनी जाति से संबंधित व्यवसाय को अपनाए। आधुनिक समाजों में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। आज सभी के लिए अवसरों की समता उपलब्ध है। एक व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है कि वह अपने पूर्वजों का व्यवसाय ही अपनाए। आज व्यक्ति अपनी नवीन योग्यताओं के आधार पर अपने व्यवसाय एवं अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं क्रम में परिवर्तन ला सकता है।

जातियों से नितान्त भिन्न वर्गों में व्यवसाय वंशानुगत नहीं होते और एक ही वर्ग में अनेक व्यवसाय करने वाली सामाजिक श्रेणियां सम्मिलित हो सकती हैं। जाति–व्यवस्था में जबकि एक जाति अथवा उप–जाति के सदस्य समान व्यवसाय में संलग्न होते हैं। वर्ग एक अर्थ में विभिन्न व्यवसायों की सामाजिक श्रेणियां हैं, जिन्हें किसी समाज में समाज प्रस्थिति के रूप में स्वीकारा गया है। यह स्थिति वर्गों की पहचान की जटिल प्रक्रिया बना देती है। इस समस्या को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न कालों में व्यवसाय का विभेदीकरण एवं व्यवसाय में परिवर्तन किस प्रकार हुआ है।

आधुनिक भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता यह है कि व्यावसायिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन आए हैं। आज अनेक व्यवसायों का सम्बन्ध किसी भी पूर्व के

टिप्पणी

परम्परागत व्यवसाय से नहीं है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक श्रमिक, वकील, प्रबन्धक अथवा अधिकारी वे नवीन व्यवसाय हैं, जो विशेषतः आधुनिक समाजों की विशेषता हैं। अतः व्यवसायों की संख्या में वृद्धि हुई है एवं इनमें से अधिकांश का परम्परागत समाज में कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यावसायिक विभेदीकरण ने सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न किया है। हम यह भी कह सकते हैं कि विकास प्रक्रिया एवं नवीन व्यवसायों के अस्तित्व में आने के उपरान्त यह सम्भव नहीं है कि वंशानुगत व्यवसायों को निरन्तरता प्रदान की जाए। उदाहरण के लिए, यह आवश्यक नहीं है कि एक प्रशासनिक सेवा में कार्यरत पुत्र के पिता की समान नौकरी हो। अतः जब ऐसे व्यवसाय उत्पन्न होते हैं तब नवीन दक्षता प्राप्त व्यक्तियों का अस्तित्व में आना अनिवार्य हो जाता है।

कार्ल मार्क्स वर्गों को सामाजिक विकास से संबंधित बताते हैं। मार्क्स का मत है कि वर्गों के ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप समाज का विकास होता है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग विरोधी समूह हैं। प्रत्येक वर्ग, दूसरे वर्ग से उन सम्बन्धों के आधार पर पृथक होता है जो उत्पादन साधन के स्वामित्व अथवा नियन्त्रण से संबंधित हैं। किसी भी समाज में दो मूल वर्ग होते हैं। एक जिसका कि उत्पादन साधनों पर नियंत्रण अथवा स्वामित्व हैं एवं दूसरा जो कि इस नियंत्रण अथवा स्वामित्व से वंचित है, अतः पहले वर्ग पर आश्रित है। स्वामी अथवा नियन्त्रक एवं श्रमिक के रूप में पाए जाने वाले ये दो वर्ग पूंजीवादी समाज की निर्णायक इकाई हैं। वस्तुतः मार्क्स का विश्वास है कि इन तनाव अथवा विरोधी सम्बन्धों के कारण समाज में परिवर्तन उत्पन्न होता है। अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए पूंजीपतियों ने उत्पादन बढ़ाने के लिए नवीन एवं प्रभावशील साधनों को प्रयुक्त किया है। दूसरी ओर श्रमिक, पूंजीपति से अधिक से अधिक पारिश्रमिक अथवा लाभ लेने का प्रयास करते हैं अथवा उत्पादन प्रक्रिया के नियन्त्रण के तन्त्र में सहभागिता का प्रयास करते हैं। हितों के मध्य के संघर्ष में उत्पन्न होने वाली गहनता परिवर्तन की दर को निर्धारित करती है। संघर्ष का स्तर जितना उच्च होगा परिवर्तन का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा। अतः मार्क्स की दृष्टि से वर्ग केवल सामाजिक स्तरीकरण के आधार नहीं है अपितु सामाजिक विकास के भी आधार हैं। मार्क्स का मत है कि इन दोनों वर्गों के मध्य सहयोगी सम्बन्ध नहीं होते। इन दोनों वर्गों के मध्य की अन्तःनिर्भरता से दोनों के मध्य की ईर्ष्या कम नहीं होती क्योंकि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व का होना अथवा न होना ईर्ष्या का प्रमुख कारक है। इन दोनों वर्गों के मध्य अनवरत् तनाव पाया जाता है।

वर्ग की विशेषताएं

वर्ग की इन परिभाषाओं के आधार पर एक वर्ग की विशेषताओं को निम्नानुसार उल्लिखित किया जा सकता है–

1. **समानता** : एक वर्ग के सभी सदस्य, किसी न किसी क्षेत्र में, जैसे– कार्य, धन, व्यवसाय, शिक्षा, जीवन–स्तर, विचार या आचरण के क्षेत्र में समरूपता रखते हैं। उदाहरणस्वरूप : प्राध्यापक, व्यापारी, शिक्षित व अशिक्षित ये क्रमशः प्राध्यापक–वर्ग, व्यापारी–वर्ग, विद्यार्थी–वर्ग, शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग के सदस्य होते हैं।
2. **समान सामाजिक स्थिति** : एक वर्ग के सभी सदस्यों को एक समान सामाजिक स्थिति प्राप्त रहती है।
3. **जन्म के महत्व का अभाव** : वर्ग के निर्धारण में जन्म का महत्व नहीं होता है तथा इसका अभाव पाया जाता है। वर्ग की सदस्यता जन्म के आधार पर नहीं

टिप्पणी

होती है। व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले व्यवसाय अथवा जीवन–स्तर, उसके शैक्षणिक स्तर, आय आदि के आधार पर उसे वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है।

4. **उच्च व निम्न में वर्गीकरण** : सभी वर्गों की पारस्परिक स्थिति एक–दूसरे के संदर्भ में एक समान नहीं होती है। कुछ वर्ग, उच्च स्थिति रखते हैं, तो कुछ की स्थिति निम्न होती है।

5. **खुला या अतिप्रतिबंधित प्रवेश** : वर्ग की सदस्यता का निर्धारण चूंकि जन्म के आधार पर नहीं होता है, इसलिए इसकी सदस्यता सभी व्यक्तियों के लिए खुली रहती है। एक व्यक्ति किसी विशिष्ट वर्ग के अनुकूल योग्यताएं व क्षमताएं अर्जित कर उस वर्ग की सदस्यता को हासिल कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, शिक्षा प्राप्त करने के कारण एक व्यक्ति शिक्षित वर्ग का सदस्य होता है, अच्छा व्यवसाय कर वह एक श्रेष्ठ व्यवसायी का दर्जा प्राप्त कर सकता है, चिकित्सक की क्षमताएं अर्जित कर वह चिकित्सक वर्ग की सदस्यता भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वर्ग की सदस्यता योग्यताओं, क्षमताओं और व्यवसाय आदि के माध्यम से प्राप्त की जाती है।

6. **श्रेष्ठता या हीनता की भावना** : चूंकि सभी वर्गों में ऊंच–नीच का संस्तरण पाया जाता है, इसलिए सभी वर्गों की पारस्परिक स्थिति एक समान नहीं होती। कुछ वर्ग श्रेष्ठ माने जाते हैं तो कुछ की स्थिति तुलनात्मक रूप में हीन होती है। उदाहरणस्वरूप, अधिकारी वर्ग की स्थिति, कर्मचारी वर्ग की तुलना में श्रेष्ठ मानी जाती है।

7. **वर्ग–चेतना** : एक वर्ग के सदस्य चूंकि समान–स्थिति रखते हैं, इसलिए उनमें अपने वर्ग के प्रति जागरूकता पाई जाती है। श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग, कर्मचारियों का वर्ग आदि अपने–अपने अधिकारों के प्रति वर्ग–चेतना के कारण भी जागरूक होते हैं।

8. **परस्पर विवाह की अनुमति** : वर्ग, सामाजिक सहभागिता के किसी भी क्षेत्र में प्रायः किसी प्रकार के प्रतिबंधों से बंधा हुआ नहीं रहता है। यही कारण है कि एक वर्ग के सदस्य का विवाह किसी अन्य वर्ग के सदस्य के साथ हो सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि शिक्षक का विवाह, शिक्षक की पुत्री के साथ या व्यापारी का विवाह व्यापारी की पुत्री के साथ ही हो।

9. **सामाजिक सहभागिता** : यद्यपि विविध वर्गों में पारस्परिक सहभागिता के क्षेत्र में सामान्यतः कोई प्रतिबंध नहीं पाया जाता है। परन्तु फिर भी एक वर्ग के सदस्यों में समरूपता के कारण, सहभागिता को अपने ही वर्ग तक सीमित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

10. **अर्जित प्रस्थिति** : प्रस्थिति दो प्रकार की होती है– एक प्रदत्त एवं द्वितीय अर्जित। प्रदत्त प्रस्थिति वह है, जिसे व्यक्ति जन्म के आधार पर प्राप्त करता है, न कि वैयक्तिक क्षमताओं, योग्यताओं अथवा कर्तव्यों के आधार पर। अर्जित प्रस्थिति वह है जिसे व्यक्ति जन्म के आधार पर नहीं बल्कि अपनी क्षमताओं, योग्यताओं या व्यवसाय के आधार पर प्राप्त करता है। वर्ग के सदस्य चूंकि इसी प्रकार स्थिति प्राप्त करते हैं इसलिए वर्ग के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त होने वाली स्थिति प्रदत्त न होकर अर्जित होती है।

टिप्पणी

11. **परिवर्तन संभव** : क्षमताओं, योग्यताओं अथवा व्यवसाय में परिवर्तन कर एक व्यक्ति अपने वर्ग को परिवर्तित कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, एक चिकित्सक जब तक चिकित्सा का व्यवसाय कर रहा है तब तक यह चिकित्सक वर्ग का सदस्य है। यदि वह इस व्यवसाय को त्यागकर अध्यापन करने लग जाए अथवा व्यापार करने लग जाए तो वह अध्यापक वर्ग या व्यापारी वर्ग का सदस्य बन जाएगा।

12. **एक परिवार में भिन्न–भिन्न सदस्यों के भिन्न–भिन्न वर्ग होना** : एक ही परिवार में सदस्य यदि भिन्न–भिन्न व्यवसायों में रत हों तथा भिन्न–भिन्न क्षमताओं, योग्यताओं को रखते हैं तो वे भिन्न–भिन्न वर्गों के सदस्य होंगे। यदि एक परिवार का कोई सदस्य, व्यापार कर रहा है तो वह व्यापारी वर्ग का, यदि कोई प्राध्यापक है तो वह प्राध्यापक वर्ग का और यदि कोई चिकित्सक है तो वह चिकित्सक वर्ग का सदस्य होगा। इस प्रकार वर्ग की सदस्यता, परिवार को नहीं, बल्कि व्यक्ति को प्राप्त होती है।

13. **अस्थिर संगठन** : वर्ग का संगठन स्थिर नहीं रहता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति, जिस प्रकार वर्गों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र होते हैं, उसी प्रकार त्यागने के लिए भी। इस प्रकार वर्ग में प्रवेश और निर्गम सतत् जारी रहता है। चूंकि सदस्यों की आय, प्रतिष्ठा आदि में भी वृद्धि अथवा कमी होती रहती है फलतः इन समस्त कारणों से वर्ग में दृढ़ संगठन नहीं पाया जाता है।

14. **उप–वर्गों का होना** : एक ही वर्ग के अंतर्गत अनेक उपवर्ग भी हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, व्यापारी वर्ग के अंतर्गत किराना व्यापारी, कपड़े का व्यापारी, अनाज का व्यापारी आदि भिन्न–भिन्न उप–वर्ग होते हैं।

15. **समाज और वर्ग की संबद्धता** : वर्ग विहीन समाज की कल्पना निरर्थक है। प्रत्येक समाज के अंतर्गत अनेक समूह और उप समूह पाए जाते हैं। इन समूहों का निर्माण किन्हीं न किन्हीं योग्यताओं और क्षमताओं आदि के आधार पर होता है। इसी प्रकार यह समूह किसी न किसी प्रकार के उपयोगी कार्य, समाज के लिए संपादित करते हैं। अतः वर्ग प्रत्येक समाज में अनिवार्यतः पाए जाते हैं तथा इनके अभाव में समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं होती है। इससे यह स्पष्ट है कि समाज और वर्ग परस्पर संबंधित हैं।

16. **सदस्यों के विशेषाधिकार** : वर्ग की संरचना इस प्रकार होती है कि इसके सदस्यों को विशिष्ट स्थिति, अधिकार और सुविधाएं प्राप्त होती हैं। उदाहरणस्वरूप, व्यापारी वर्ग के सदस्यों को अपनी व्यापारिक उन्नति करने और नियमों के अंतर्गत अधिकाधिक लाभ अर्जित करने आदि के अवसर उपलब्ध रहते हैं।

3.2.4 समुदाय

मानव समाज ऐसे लोगों का समूह है जो लगभग स्थायी संबंधों के माध्यम से परस्पर जुड़े हुए होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मध्य संबंधों के प्रारूपों से समाजों की पहचान होती है जो एक पृथक संस्कृति व संस्थानों को साझे कर रहे होते हैं।

सामाजिक व राजनैतिक जीवन में समुदाय भी एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति उस समुदाय से स्वयं को व उसे प्रभावित करता है जिसमें

टिप्पणी

वह रह रहा होता है। समुदाय शब्द में सामूहिकता का भाव समाहित है। इस प्रकार समुदाय का तात्पर्य मिलजुलकर दायित्वों का निर्वाह करना हुआ। 'समुदाय' का आशय ऐसे मनुष्यों के संगठन से है जो साझे (अथवा एक–दूसरे के) ध्येय के लिए एकजुट हुए हों। प्रचलित परिभाषानुसार– "समुदाय एक ऐसी स्थानीय समूहबद्धता है जिसमें लोग दिनचर्या की अधिकांश गतिविधियां साथ में पूर्ण करते हैं।"

समुदाय की अन्य परिभाषाएं निम्नांकित हैं–

"समुदाय का आशय ऐसे लोगों की मण्डली से है जो आपस में इस प्रकार जुड़े हुए हों कि एक ही नहीं अपितु कई विषय परस्पर साझे करते हों।"

– कार्ल मेनहीम

"समुदाय का तात्पर्य साझा जीवन जी रहे सामाजिक लोगों के ऐसे समूह से है जिसमें इस साझे जीवन से निर्मित समस्त अंतहीन व जटिल संबंध समाहित हैं।"

– मोरिस गिन्सबॅर्ग

"समुदाय का अभिप्राय ऐसा लघुतम क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के सभी परिप्रेक्ष्य समाविष्ट हो सकते हों।"

– किंग्स्ले डेविस

मैक्लेवर की संकल्पना

आर.एम मैक्लेवर ने समुदाय की विशेष परिभाषा प्रस्तुत करने के साथ समुदाय का विश्लेषण किया। इनके अनुसार– "छोटे अथवा बड़े समूह के सदस्य मिलकर इस प्रकार रहते हों कि ये रुचि–विशेष को ही साझी न करते हुए साझे जीवन की मूलभूत स्थितियों को भी साझी करते हों तो इस समूह को हम समुदाय कहेंगे।"

समुदाय के उदाहरणों में ग्राम, नगर, जनजाति व राष्ट्र सम्मिलित हैं। मैक्लेवर के अनुसार समुदाय की पहचान यह है कि व्यक्ति के पूरे जीवन का निर्वाह उसमें हो सकता हो। कोई भी व्यक्ति किसी व्यापारिक संगठन अथवा साम्प्रदायिक संस्थान में पूरा जीवन नहीं जी सकता परन्तु जनजाति अथवा नगर में पूरा जीवन जी सकता है। समुदाय की मूलभूत कसौटी यह है कि व्यक्ति के समस्त सामाजिक संबंध इसके भीतर समाये हो सकते हैं। वैसे कोई समुदाय स्व–समर्थ हो सकता है अथवा नहीं भी।

आद्यक अर्थात प्राचीन मानवों में कई समुदाय सर्वसमावेशी हुआ करते थे व अन्यों से स्वतन्त्र भी, परन्तु आधुनिक काल में किसी बड़े समुदाय में भी स्वावलम्बन का स्तर कम ही होता है। आर्थिक व राजनैतिक अंतर्निर्भरता आधुनिक समुदायों का मुख्य अभिलक्षण है। जैसा कि मैक्लेवर ने कहा था– "कई समुदाय कुछ बड़े समुदायों के भीतर होते हैंः अंचल में कोई कस्बा, राष्ट्र में वह अंचल एवं विश्व में राष्ट्र, ये कदाचित् विकास की प्रक्रिया में हैं।"

मैक्लेवर के अनुसार समुदाय की आधारशिला स्थानीयता एवं सामुदायिक भावना है। समुदाय किसी स्थान–विशेष में फैला होता है। समुदाय के सदस्य अपनी स्थानीयता की स्थितियों से एकजुटता का एक मजबूत संबंध बना लेते हैं। वैसे स्थानीयता समुदाय के निर्माण में पर्याप्त नहीं होती। समुदाय तो साझे जीवन का क्षेत्र है। साझे जीवन के साथ इस जीवन की जागृति व धरा के प्रति भी साझापन होना चाहिए जिसे सामुदायिक भावनाएं कहते हैं।

परम्परागत, समाजवादी एवं उदारवादी संकल्पनाएं

टिप्पणी

पारम्परिक अर्थात पुराने मत में इस विचार पर बल दिया जाता है कि समुदाय उद्‌गम की समता पर आधारित होता है– रक्त की समता, रिश्तेदारी की समता, ऐतिहासिक संबंधों में समता अथवा अन्य समता जिससे वे किसी स्थान में साथ रहते हैं। ग्रामीण स्थानीयता व राष्ट्रीय समूहों का अस्तित्व भी इसी आधार पर माना जाता है। उद्‌गम की यह समता अन्य स्थानीयता से व्युत्पन्न हो सकती है अथवा मातृभूमि से आई हुई हो सकती है।

समाजवादी धारणा में समुदाय के पुराने रूपों को अधिपति (शासक) रूप में मान देकर विभिन वर्गों के सदस्यों को पूंजीवादी समाज में आबद्ध कर लिया जाता है जिससे ये आर्थिक स्वार्थों के पारस्परिक वास्तविक टकराव को नहीं देख पाते। इस प्रकार के सामाजिक संघर्ष से बचे रहते हैं क्योंकि टकराव को न देख पाने के कारण विरोध की इच्छा ही नहीं रहती। अनुदारतावादी एवं समाजवादी तो समुदाय के अस्तित्व के लिए भिन्न–भिन्न आधारों पर जोर दे सकते हैं किन्तु दोनों के द्वारा सामाजिक संबंधों को समुदाय में ही सन्निहित माना जाता है क्योंकि समुदाय वर्ग अथवा व्यक्ति–विशेष के स्वार्थों व प्रसंगों से ऊपर है। सभी को एकजुट ही रहना है एवं यही समुदाय के टिके रहने की आधारशिला है।

उदारवादी तो उपरोक्त आधारों पर समुदाय की संकल्पना करना चाहते ही नहीं क्योंकि इनका जोर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर रहता है। ये तो समुदाय को एक समान रुचियों व आवश्यकताओं वाले व्यक्तियों के स्वतन्त्रतया चयनित संघों पर आधारित मानते हैं।

सामुदायिक भावनाओं के तत्व निम्नांकित हैं–

- **अहंभाव का त्याग** : 'मैं' के स्थान पर 'हम' पर जोर देने से मनुष्य दूसरों से जुड़ता चला जाता है। 'मैं' में विभाजन छलकता है जबकि 'हम' में सबके एकाकार होने की भावना निहित होती है।
- **भूमिका अनुभूति** : इसमें समुदाय के प्रति व्यक्ति अपनी भूमिका अर्थात इसके घटक के रूप में अपने कार्यों की महत्ता को स्वीकारता व निभाता है।
- **निर्भरता अनुभूति** : इसका तात्पर्य अपने जीवन की आवश्यक स्थिति के रूप में समुदाय पर अपनी निर्भरता का बोध व्यक्ति को होता है।

समुदाय के अभिलक्षण

सामाजिक अध्ययन के अधिकांश शब्दों की भांति 'समुदाय' को भी सटीकता से अथवा सर्वमान्य रूप से परिभाषित करना कठिन है। यह शब्द एक निर्माण है, एक प्रतिरूप है। समुदाय विभिन्न आकारों, भेदों इत्यादि में पाए जा सकते हैं। इस प्रकार दो समुदाय पूर्णतः समान नहीं हो सकते।

समुदाय एवं इसमें पहले से ही रह रहे घटक सदस्यों में भी पारस्परिक अंतर होते हैं। प्रायः समुदाय वहां जन्मे निवासियों के पहले से अस्तित्व में होते हैं व इनके मरणोपरान्त भी अस्तित्व में रहते हैं। समुदाय में ऐसे भी सदस्य होते हैं जो कभी अन्यत्र चले जाते हैं व वापस लौट भी सकते हैं।

कभी–कभी ऐसा हो सकता है कि 'समुदाय' का तात्पर्य कोई स्पृश्य (जिसे छुआ जा सके) स्थान न हो वरन समान रुचियों वाले लोगों का समूह हो। यहां हम समुदाय में कुछ अभिलक्षणों को देखते हैं–

टिप्पणी

1. **सामाजिकी–रचना** : समुदाय एक 'सामाजिकी–रचना' है। अन्य शब्दों में: यह ऐसे मानवीय अन्योन्य क्रियाओं व व्यवहार का समुच्चय है; सदस्यों के लिए जिनका कुछ न कुछ अर्थ हो। इनके कार्य व्यक्तियों की साझी धारणाओं, अपेक्षाओं व मूल्यों पर आधारित होते हैं।

2. **अस्पष्ट सीमा रेखाएं** : समुदाय यदि किसी छोटे–से गांव के रूप में हो, अन्य गांवों से कुछ किलोमीटर्स दूर देहाती अंचल में हो तो उसकी सीमारेखा सरल प्रतीत होती है। यहां मानवीय अंतर्क्रियाओं का प्रारूप गांव के भीतर सामुदायिक सदस्यों के मध्य के संबंधों तक सीमित लग सकता है। वैसे यहां के निवासी गांव के बाहर के लोगों से भी सम्पर्क साधे हुए हो सकते हैं। यहां की स्त्रियां समुदाय से बाहर ब्याहकर अन्य समुदायों से एक प्रकार की साझेदारी बना सकती हैं अथवा यहां के पुरुष समय–समय पर अन्य गांवों में प्रवास करते हुए अंतर्सामुदायिक सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। किसी समय गांव के कई अथवा कुछ निवासी कहीं और रह रहे हो सकते हैं।

3. **समुदायों के भीतर समुदाय** : जिला, संभाग व राष्ट्र इत्यादि जैसे विशाल समुदायों में अनेक लघु समुदाय हो सकते हैं, यथा तहसील व ग्राम। पारस्परिक क्रिया–व्यवहार के ऐसे अनेक रूप हो सकते हैं जिनसे विभिन्न देशों के गांवों के आपसी संबंधों का निर्माण व अनुरक्षण किया जा सकता है।

4. **समुदायों का आवागमन** : एक समुदाय के निवासी चरवाहों के रूप में अपने पशुओं को चराने के लिए अन्य समुदायों के क्षेत्रों में भ्रमण कर सकते हैं। ये खानाबदोश (यायावर) हो सकते हैं। यह सामुदायिक आवागमन स्थायी व अस्थायी प्रकार का हो सकता है। राजस्थान के रेतीले मरुस्थल व लद्दाख के हिम मरुस्थल में भी उपरोक्त प्रकारों के समुदायों का आंचलिक आवागमन देखा जा सकता है। झूम खेती करने वाले समुदाय भी एक उदाहरण हैं।

5. **नगरीय समुदाय** : नगरीय क्षेत्रों में भी छोटे समूह के रूप में समुदाय का अस्तित्व हो सकता है जो समान उद्गम के कुछ लोगों का बना हो सकता है। कोई समुदाय पड़ोसी समुदाय का एक उपभाग हो सकता है अथवा स्थानीय नगरीय प्रभाग। सीमारेखाएं बड़ी होती जाने के सापेक्ष उद्गम, भाषा, सम्प्रदाय इत्यादि में अंतर अधिक व स्पष्ट होने लगते हैं। साधारणतया नगरीय समुदायों को सीमांकित करना अधिक कठिन होता है क्योंकि ये ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा अधिक बहुमिश्रित व भिन्नतापूर्ण होते हैं, जैसे कि भारत की हृदयस्थली मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में शिक्षा व जीविका के लिए उत्तर–दक्षिण व पूर्व–पश्चिम भारत के लोग आकर निवास करते हैं। मानव समुदाय का तात्पर्य विभिन्न प्रकार के घरों के संग्रह तक सीमित नहीं है। यह एक सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन है। यह मनुष्यों का एकत्रण मात्र नहीं है वरन् एक सामाजिक–सांस्कृतिक तन्त्र है।

6. **सामाजिक सम्बद्धता** : समुदाय का एक मुख्य अभिलक्षण इसकी सामाजिक सम्बद्धता एवं साझे लक्ष्यों को निर्धारित व इन्हें पूर्ण करने की इच्छा है। यह अनेक कारकों पर निर्भर है: ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक।

टिप्पणी

इन अभिलक्षणों से ऐसे आवश्यक प्रोत्साहन मिल पाते हैं जिनसे सामुदायिक नियमों का समन्वय व अनुपालन सहज हो पाता है तथा समुदाय की भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं का भी विचार किया जाता है।

सामुदायिक गतिविधियों को प्रभावित करने वाले कारक

ऐतिहासिक कारक : समुदाय की समस्त गतिविधियां ऐतिहासिक तारतम्य में घटित होती हैं। सामुदायिक कार्य किस प्रकार किए जाएंगे व इसके सदस्य साझे लक्ष्यों की ओर कैसे अग्रसर होंगे, यह सब कई कारकों पर निर्भर होगा; यथा जनसंख्या–इतिहास एवं संघर्ष भरा अतीत इत्यादि।

सामाजिक कारक : इनमें जातीयता, भाषा, जाति, वर्ग इत्यादि मानव निर्मित सामाजिक विभाजन एवं पारिवारिक संरचना (एकल/संयुक्त व अन्य कसौटियां) व लिंग–संबंध सम्मिलित हैं।

आर्थिक कारक : इनके अंतर्गत आजीविकाओं में अंतर अथवा समानताएं एवं समुदाय में आर्थिक स्तरण की स्थिति इत्यादि सम्मिलित हैं।

सांस्कृतिक कारक : सम्प्रदाय, परम्परा व रीति–रिवाज जैसे सांस्कृतिक कारक यह निर्धारित करेंगे कि समुदाय के सदस्यों के साझे लक्ष्य क्या होंगे एवं वे इस दिशा में किस प्रकार साथ बढ़ेंगे।

राज्य एवं समुदाय

राज्य व समुदाय को कई बार एक–दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है। मैक्लेवर ने राज्य के संघीय स्वरूप पर जोर दिया। राज्य वास्तव में सामाजिक संगठन का एक रूप हुआ, न कि समस्त परिप्रेक्ष्यों में एक सम्पूर्ण समुदाय। राज्य विशेष विस्तार का एक अभिकरण है तथापि मात्र एक अभिकरण नहीं है। ऐसा माना जा सकता है कि कई बार निरंकुशवादी अथवा अधिनायकवादी रूप में हम मानव–जीवन के प्रत्येक परिप्रेक्ष्य पर नियन्त्रण करने का दावा करने लग जाते हैं। यदि इस दावे को पूर्णतया वास्तविक रूप प्रदान कर भी दिया जाए तो भी कभी ऐसा प्रकरण नहीं आ सकता जब कोई राज्य एक समुदाय न माना जा सके अथवा संघ द्वारा समुदाय पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके।

जनता निश्चय ही राज्य के नागरिक अथवा व्यक्ति हैं। वैसे स्मरण रहे कि नागरिक की महत्तापूर्ण भूमिका क्या हो सकती है? सामाजिक जन्तु के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की कई भूमिकाओं में से एक ही न!

'समुदाय' शब्द का प्रयोग ऐसी पहचान अथवा सम्बद्धता के अर्थ को स्पष्ट करने में किया जाता रहा है जो भौगोलिक स्थान से जुड़ा हो भी सकता है और नहीं भी। इस अर्थ में समुदाय का निर्माण तब किया जाता है जब लोगों के पास ऐसा कोई स्पष्ट विचार हो कि उनमें से किस–किस में कौन–सी समानताएं हैं व किन में नहीं हैं। संचार–प्रौद्योगिकी में विपुल उन्नति कर लेने से भूखण्डीय सीमाओं का महत्व घट गया है। समूचा संसार अब वैश्विक ग्राम कहलाया जाने लगा है। भारत की पुनीत परम्परा

'वसुधैव कुटम्बकम्' पुनर्जीवित होने लगी है। सूचना–प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति से सायबर समुदाय बढ़े हैं। इसीलिए समुदाय निश्चय ही समूहों में मध्य कल्पित सीमा–रेखाओं द्वारा निर्मित मानसिक रचनाएं हैं।

टिप्पणी

सामुदायिक सत्ता

सामुदायिक सत्ता ऐसा सत्तावाद है जिसमें इस दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जाता है कि निर्णय–क्षमता का एकाधिकार तथाकथित अभिजात्य वर्ग के पास अधिक समय तक न रहे। इसमें दावा किया जाता है कि लोकतन्त्र में संसाधनों का नियन्त्रण 'समुदाय' में प्रकीर्णित कर दिया (फैला दिया) जाता है। भांति–भांति के स्वैच्छिक संघों का निर्माण किया जाता है तथा स्थानीय लाभ–समूहों द्वारा सर्वसम्मति अथवा बहुमत से निर्णय किए जाते हैं। इसमें दृढ़ता से कहा जाता है कि सत्ता–अधिकार का प्रयोग राज्य व अधिकारीतन्त्र (लालफीताशाही) से जुड़ी केन्द्रीयकृत प्रक्रियाओं के माध्यम से विशेष रूप में नहीं किया जाए। सामुदायिक सत्ता के अध्ययन में हम निर्णयन व इसके परिणामों तक पहुंचाने वाले कारकों का अवलोकन करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'एथनिक ग्रुप' (जातीय समूह) शब्द को सामाजिक विज्ञान में लाने वाले व्यक्ति कौन थे?

   (क) वॉलमन (ख) मैक्स वेबर

   (ग) फ्रेडरिक बार्थ (घ) रोनाल्ड कोहेन

2. भारतीय जनजातियों को प्रजाति के आधार पर कितने वर्गों में बांटा गया है?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) आठ

3.3 औपनिवेशिक हस्तक्षेप और सामाजिक परिवर्तन : सुधार आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, मध्य वर्ग का उदय एवं जातीय आंदोलन

18वीं शताब्दी में एक नवीन बौद्धिक लहर चली जिसके फलस्वरूप जागृति के एक युग का सूत्रपात हुआ। अन्वेषण तथा तर्कवाद की भावना ने यूरोपीय समाज को एक प्रगति प्रदान की। भारत का एक नवीन पाश्चात्य शिक्षित वर्ग भी तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इन पाश्चात्य शिक्षित भारतीयों ने इस नवज्ञान से प्रभावित होकर अंदर से हिन्दू धर्म में सुधार के प्रयास किए। साथ ही धर्म में परंपरागत रूप से व्याप्त असंगतियों को त्यागा जाने लगा तथा समाज के व्याप्त अनेक रूढ़िवादिताओं के संबंध में समाज के विचारों में परिवर्तन आया। इसी प्रकार दैनिक कर्मकाण्डों में भी परिवर्तन आए। आधुनिकीकरण तथा शहरीकरण ने भी लोगों के विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में एक प्रसार की भावना उत्पन्न की। ज्ञान के विस्तार के कारण भारत में पुनर्जागरण की भावना आई। इन सभी के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में कुछ सामाजिक व धार्मिक

सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए जिन्होंने भारतीय समाज का न केवल रूप ही बदल दिया अपितु भारत के आधुनिकीकरण में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3.3.1 सुधार आंदोलन

टिप्पणी

ये सुधार आंदोलन मुख्य रूप से दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं:

1. वे आंदोलन जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्रों में सुधार करने का प्रयत्न किया, जैसे,ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा अलीगढ़ आंदोलन।
2. वे पुनर्नवीकरण आंदोलन जिनका उद्देश्य अपने पक्ष का पुनरुद्धार करना था, जैसे, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, देवबंद आंदोलन इत्यादि।

इन सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों का वर्णन निम्नानुसार है:

राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज

इस समाज की स्थापना 20 अगस्त, 1828 ई. को राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में की। राजा राममोहन राय का जन्म 1774 ई. में बंगाल में राधानगर नामक गांव में हुआ था। ये मूर्ति पूजा के विरोधी तथा अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित थे। धर्म और समाज सुधार उनका मुख्य लक्ष्य था। वे ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे लेकिन सभी प्रकार के धार्मिक अंधविश्वासों और कर्मकाण्डों के वे विरोधी थे। वे मूर्ति पूजा तथा बलि के भी विरोधी थे।

ब्रह्म समाज ने भारतीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर थे। उन्होंने कलकत्ता में डेविड हेयर के सहयोग से 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। 1817 ई. में उन्होंने कलकत्ता में अपने खर्चे से 'इंग्लिश स्कूल' खोला। 1825 ई. में उन्होंने 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की।

बांग्ला भाषा के विकास में भी राममोहन राय ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने स्वयं एक बांग्ला व्याकरण का संकलन किया। उनके लेखन से बंगाल में एक सुंदर गद्य शैली का जन्म हुआ। उन्होंने बंगाली पत्रिका 'संवाद कौमुदी' का भी प्रकाशन किया। 1833 ई. में उन्होंने समाचार–पत्रों पर लगे प्रतिबंधों के विरुद्ध प्रबल आंदोलन किया। 1835 में समाचार–पत्रों को जो स्वतंत्रता मिली वह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम थी।

उदारवादी विचारों के पोषक राजा राममोहन राय को राजनीतिक क्षेत्र में भी कुछ सफलता मिली। अतः उन्होंने आमूल परिवर्तन की जगह भारतीय प्रशासन में सुधार के लिए आंदोलन किया। ब्रिटिश संसद को भारतीय मामलों पर परामर्श देने वाले वे पहले भारतीय थे।

ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म में पहला सुधार आंदोलन था तथा राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे, जिन्होंने सर्वप्रथम (19वीं सदी में) भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। 1833 में इंग्लैंड में इनकी अकाल मृत्यु हुई।

राजा राममोहन की मृत्यु के बाद इसमें कुछ शिथिलता आ गई। लेकिन देवेन्द्रनाथ टैगोर के 1843 में इसमें सम्मिलित होने पर इसमें पुनः जान आ गई। राममोहन के विचारों के प्रसार के लिए देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 1839 में 'तत्वबोधिनी सभा' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'तत्वबोधिनी पत्रिका' का बांग्ला भाषा में प्रकाशन किया। इसके बाद टैगोर ने 'केशवचंद्र सेन' को ब्रह्म समाज का आचार्य नियुक्त किया।

केशवचंद्र सेन की शक्ति, वाक्पटुता और उदारवादी विचारों ने इसे अत्यंत लोकप्रिय बना दिया और इसकी शाखाएं बंगाल से बाहर पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में भी खुल गईं।

टिप्पणी

लेकिन शीघ्र ही केशवचंद्र के उदारवादी विचारों के कारण इसमें फूट पड़ गई तथा 1865 में देवेंद्र नाथ टैगोर ने केशवचंद्र सेन को आचार्य के पद से हटा दिया। फलस्वरूप सेन ब्रह्म समाज से अलग हो गए तथा उन्होंने एक नई सभा 'आदि ब्रह्म समाज' की स्थापना की।

1878 में केशवचंद्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा के साथ वैदिक कर्मकाण्डों से किया जिसका इस समाज के लोगों ने कड़ा विरोध किया। इससे केशवचंद्र सेन पुनः उससे अलग हो गए तथा उन्होंने 'साधारण ब्रह्म समाज' की स्थापना कर ली। इसके पश्चात् श्री सेन इतिहास के अंधकार में खो गए।

इसी प्रकार, केशवचंद्र सेन ने 'संगत सभा' और 'भारतीय समाज सुधार' नामक संस्थाओं का गठन किया।

राजा राममोहन राय ने सामाजिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किए, ये कार्य निम्नानुसार थे–

1. सती प्रथा का विरोध,
2. विधवा विवाह का समर्थन और बाल विवाह का विरोध,
3. कुलीन प्रथा का विरोधः इसे उस समय बहुपत्नी प्रथा के नाम से जाना जाता था,
4. बांग्ला एवं अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार–प्रसार,
5. समाज में व्याप्त रूढ़िवादियों, जैसे, छुआछूत, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव, इत्यादि का विरोध, तथा
6. शिक्षा प्राप्ति पर बल।

स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्य समाज

इसकी स्थापना स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1875 ई. में बंबई में की, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था।

आर्य समाज ने उत्तर भारत में हिन्दू धर्म और समाज में सुधार का काम किया। दयानंद का जन्म 1824 ई. में गुजरात में काठियावाड़ के मौरवि क्षेत्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम मूलशंकर था। इनके पिता स्वयं वेदों के महान विद्वान थे। वैदिक जिज्ञासा में दयानंद ने 21 वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया तथा कई स्थानों में भटकते हुए 1860 में मथुरा में एक नेत्रहीन स्वामी विरजानंद से मिले और उनके शिष्य बन गए।

आरंभ में आर्य समाज ने केवल तीन लक्ष्य रखेः

1. आर्य समाज द्वारा वेदों को ही स्वतंत्रता तथा अंतिम शब्द स्वीकार करना।
2. आर्य विद्यालय में वेदों के आधार पर ही शिक्षा दी जाएगी।
3. समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आय का 1/100वां भाग आर्य समाज, आर्य विद्यालय तथा आर्य प्रवाह समाचार–पत्र को देगा।

टिप्पणी

आर्य समाज की स्थापना के बाद इसका उत्तर भारत के एक बड़े भू–भाग पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा बिहार के कुछ भागों पर प्रभाव हो गया। सबसे ज्यादा यह उत्तर–पश्चिमी भारत में लोकप्रिय हुआ। शीघ्र ही इसका और प्रसार हुआ तथा 1877 ई. में 'लाहौर आर्य समाज' की स्थापना की गई। तब इसके 10 सिद्धांत निर्धारित किए गए, जो इस प्रकार हैं–

1. वेद ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है,
2. वेदों के आधार पर मंत्र पाठ और हवन करना,
3. तीर्थ यात्रा और अवतारवाद का विरोध,
4. मूर्तिपूजा का खंडन,
5. कर्म और पुनर्जन्म तथा जीवन के आवागमन पर विश्वास,
6. एक ईश्वर में विश्वास जो निराकारी है,
7. बाल विवाह और बहुविवाह का विरोध,
8. स्त्री शिक्षा में विश्वास,
9. कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह का समर्थन, तथा
10. हिन्दी और संस्कृत भाषा के प्रसार का प्रयत्न करना।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने नारा दिया 'वेदों की ओर लौटो'। दयानंद ने समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती दी। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छुआछूत, जाति प्रथा, बाल विवाह तथा अन्य बुराइयों पर कुठाराघात किया। स्वामी दयानंद भारत के सामाजिक इतिहास में ऐसे पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने, यज्ञोपवीत संस्कार धारण करने, ऊंची शिक्षा प्राप्त करने तथा ऊंची जाति तथा पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने के लिए आंदोलन किया। उनका सबसे प्रमुख कार्य स्त्री–सुधार था। वे पुत्र तथा पुत्रियों में कोई अंतर नहीं मानते थे। उनके सभी विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' में वर्णित हैं। स्वामी दयानंद का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनका मानना था कि आर्य धर्म ही देश का समान एवं श्रेष्ठ धर्म है। उन्होंने समकालीन हिन्दू समाज तथा धर्म में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का अथक प्रयास किया। दयानंद की मृत्यु 1883 ई. में अजमेर में हुई।

आर्यसमाज के कार्य का सबसे अधिक प्रभाव विद्या, सामाजिक सुधार तथा सेवा के क्षेत्र में देखने को मिला। 1886 ई. में लाहौर में 'दयानंद एंग्लो वैदिक स्कूल' की स्थापना हुई, जो 1889 ई. में 'दयानंद एंग्लो कॉलेज' में बदल गया।

1892–93 ई. में समाज में फूट पड़ गई। कुछ समाजियों ने शिक्षा के लिए पश्चिमी पद्धति का विरोध किया और परंपरागत भारतीय पद्धति से शिक्षा देने के लिए 1902 ई. में हरिद्वार के नजदीक कांगड़ी में गुरुकुल विश्वविद्यालय की नींव रखी थी। महात्मा हंसराज, पंडित गुरुदत्त, लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद इसके विशिष्ट कार्यकर्ताओं में से थे। स्वामी श्रद्धानंद ने 'शुद्धि आंदोलन' चलाया।

प्रार्थना समाज

इसकी स्थापना 1867 ई. में केशवचंद्र सेन ने बंबई में की। वैसे केशवचंद्र सेन इसके प्रेरणा स्रोत थे, जबकि इसके वास्तविक संस्थापक आत्माराम पाण्डुरंग थे।

OHNW

F] OHNW GVOHX J +NKLI SHK+NNU GNJKOTNMYNQNVX)N$
HJNMN 9• HVD ´NNIH=G OT´NNM YNDQNV\X
LMHJUDHD\KGK/)NLXNOVJE@WOGNP1V)NN HZLEZN RDWNULJNGN
IRMNV´N U)NN IR´NRN IRRNJ GN OH)N=X$ LI
[NWN JIMQVHFN)N@WA\NGJURQKGVXNHOVL]O)N$EOKGVUJURQ
HVD F]¯ OHNW GV L]+NNR OV L]N)N=XN OHNW

L]N)N=XN OHNW GK /)NNLXN GV QNV R N=
WK+NDNGMU)NNHJNQX[NRQNXN0VOI(H\UJT@WOOVEO OHNWGNXE=
NI'U IH\K$ MNXN0V XV HJNMN 9• HVD AIR´NR
U)NNP8JKOGVL]5XNDOAQGX WGVX\ ONN9KGK/)NLXNJE$NXN0VGV
I N [NV>N\V XV AORV=89aO YN:4 EDI0 N ONV
AQ\UWNUHD\ U)NNAOHNWORNODNGK+K/)NLXNGK[E$LDNFHDQN
IOD9/9 XV E=HDQN IOD GNWW>NN$

LJNX NOHNWGVHF SNMP1V)NV

WNULJNGNIRNK@

IR´NRN LTXIR=RNJ@

LTNU)NN/ NDGKIRRNJ GKYNTGNF NXN@U)NN

/ K I N^NN$

LJNX NOHNWGKO4\UNGNOFOVF0N-VNXN0VGNVKJ6$LJNX NOHNW
GV YXTONM HZ\LMLDMN[U IJ8QZ´NH= OV Y\[
OHNWGK JKIRNKUNPOVF] OHNWOVY\[GVUKJ6

OT´NNM GV ^NV HVD [TWMNU +NK LK1V X
OTNNGNNHDAWUNVKQTNNNHHSNNNH GNXNHP<\>NXK J6 E=HDP8JNDV
AHNXR´NH= O+NN YN6M A ZIXRO=\ IMI\IW D
HT> P1V ONHNIWG OH/ NYNVD LM LIMSSN=

MHŸ NIHNX GK/)NLXNVRNHKIRRGNXQXYLXV[T MHŸ NLMHJUDGK/HCJ
HD E=HDGK)N$ MHŸ NGNW8HOXa HDFDN HDDYN)NNU)NNRV
G\G+NNGV G 1N9VOVHDQMHDLTNNK)N9IRRGNXQXVMHŸ NIHNX GK
/)NLXNFNNX[MHDGK)N$OXa E=HDGH%R6\NMHD)NNLUIG N[N@
WNYNW+NKODZN+NNU HD46VJT H%NDGNGQQJ6

MHŸ NLMHJUDLNDN[U UNKGVOV NX@BNO YN9H+N'U GV'NNNHNN
LJ,UGNXVHDRRO M+NUJN$P8JDUQZQNX HD NJNKH[MRVFGK´NH,,NGN
+NKO(HX GNUVJN$RVO+NK´NH,,GKHN8G GUNHDRRO GNUVJN$RVHXT GK
ORNGNVJKE=RVGKORNHXUVJN$EXGVFSLX GNXNHA[QKNVS9NVN N)N$
MHŸ NLMHJUDGKH6CT HDDE$POGVFNQPXGVPLQVNDGNLJSNW/RNHK
IRRGNXQXVG N$

IRRGNXQGNW8H E=HDYN)N$PXGNFSLX GNXNHXNQQA)N$
/R YI N[H PXYX NHG IW NONOWHŸ NGVODG+HDN U)NNPXGV N FX[$/RNHK
LN%a ONHY[X

टिप्पणी

डेरोजियो का यंग बंगाल आंदोलन

19वीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में बंगाल के बुद्धजीवियों में एक रैडिकल या उग्रवादी प्रकृति का जन्म हुआ। यह प्रवृत्ति राममोहन के विचारों से भी ज्यादा क्रांतिकारी और आधुनिक थी। इस आंदोलन को ही 'यंग बंगाल' आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन के प्रेरणा स्रोत नेता युवा हेनरी विवियन डिरोजियो (1809–31) थे। डिरोजियो एंग्लो–इंडियन थे, जिन्हें भारत से अपार प्रेम था। 1826 से 1831 ई. तक हिन्दू कॉलेज में प्राध्यापक थे। अद्‌भुत प्रतिभा के धनी डेरोजियो फ्रांस की महान क्रांति से प्रभावित थे तथा अतिवादी विचार रखते थे। डेरोजियो के अनुयायियों ने प्राचीन जर्जर और पुराने रीति–रिवाजों का विरोध किया।

आध्यात्मिक उन्नति और समाज सुधार के लिए उन्होंने 'एकेडमिक एसोसिएशन' और 'सोसायटी फॉर द एक्वीजीशन ऑफ जनरल नॉलेज' जैसे कई संगठनों की स्थापना की। उन्होंने बंगहित सभा, एंग्लो–इंडियन हिन्दू एसोसिएशन और डिबेटिंग क्लब का भी गठन किया।

कट्‌टर हिंदुओं से मतभेद के कारण 1831 ई. में डेरोजियो को हिन्दू कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। इसके पश्चात् वे 'ईस्ट इंडिया' नामक दैनिक पत्र का संपादन करने लगे। दुर्भाग्यवश इसी बीच 26 दिसंबर, 1831 को ही 23 वर्ष 8 महीने की अवस्था में हैजे से डेरोजियो की मृत्यु हो गई।

डेरोजियो के मरते ही एकेडमिक एसोसिएशन बिखर गया। कृष्ण मोहन बैनर्जी, महेश चंद्र घोष, रामगोपाल घोष, इत्यादि इनके प्रमुख शिष्य थे।

इस महत्वपूर्ण आंदोलन का एक केंद्र हिन्दू कॉलेज भी था। इस कॉलेज के विद्यार्थियों ने 1828 ई.–1844 ई. के बीच आधा दर्जन से भी ज्यादा पत्र प्रकाशित किए। हिन्दू कॉलेज की ही तरह 1834 में बंबई में 'एल्फिंस्टन कॉलेज' की स्थापना की गई। इस कॉलेज के विद्यार्थियों ने हिन्दू कॉलेज के विद्यार्थियों की तरह ही 'यंग बॉम्बे आंदोलन' की शुरुआत की।

दक्षिण भारत में सुधार आंदोलन

उत्तर और पश्चिम भारत में होने वाले आंदोलनों का प्रभाव दक्षिण भारत में भी पड़ा। केशवचंद्र सेन की मिशनरी गतिविधियों के फलस्वरूप 1864 ई. में मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुई। 1871 में श्रीधरलू नायडू ने इस संगठन को पुनः संगठित किया और इसका नाम 'ब्रह्म समाज ऑफ साउथ इंडिया' रखा। श्रीनाथ शास्त्री, एम. वी. पंतुलु और आर. वेंकेटरत्नम उस समाज के प्रमुख नेताओं में से थे। लेकिन मद्रास में ब्रह्म समाज से ज्यादा प्रार्थना समाज का प्रभाव रहा। दक्षिण में प्रार्थना समाज के प्रसार का सबसे बड़ा श्रेय पंतुलु को है। 1878 ई. में उन्होंने तेलुगु प्रदेश में आंदोलन की शुरुआत की और 'राजमुंद्री सोशल रिफॉर्म एसोसिएशन' की स्थापना की।

मुस्लिम समाज सुधार आंदोलन : बहावी आंदोलन

मुसलमानों की पाश्चात्य प्रभावों के विरुद्ध सर्वप्रथम जो प्रतिक्रिया हुई उसे ही 'बहावी आंदोलन' या 'वजीउल्लाह आंदोलन' के नाम से जाना जाता है।

वास्तव में यह पुनर्जागरणवादी आंदोलन था। शाह वजीउल्लाह (1702–62) अठारहवीं सदी में भारतीय मुसलमानों के वह प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों

में हुई गिरावट पर चिंता प्रकट की थी। उन्होंने भारतीय मुसलमानों के रीति–रिवाजों तथा मान्यताओं में आई कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया।

इसके बाद शाह अब्दुल्ला अजीज तथा सैयद अहमद बरेलवी ने वजीउल्ला के विचारों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। इन्होंने हिंदुस्तान को 'दारुल हर्ब' बनाने की कोशिश की। प्रारंभ में यह अभियान सिख सरकार के खिलाफ था। परंतु 1849 ई. में अंग्रेजों द्वारा पंजाब का विलय करने पर यह अंग्रेजों के विरुद्ध बदल दिया गया। यह आंदोलन 1870 ई. तक चलता रहा, जब तक कि इसे सैनिक बल द्वारा समाप्त नहीं कर दिया गया। सैयद अहमद का यह दल 'प्यूटरिन' एवं 'उग्र' था। इसका मुख्य केंद्र 'पटना' था।

टिप्पणी

अलीगढ़ आंदोलन

अलीगढ़ आंदोलन की शुरुआत सर सैयद अहमद खां ने की। सर सैयद का जन्म 1817 ई. में दिल्ली में हुआ था। सर सैयद अहमद ने 1839 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा ग्रहण की। 1857 के विद्रोह के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की तथा अंग्रेजों की सद्भावना का उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया। उनके प्रमुख दो उद्देश्य थे–

1. अंग्रेजों और मुसलमानों के संबंधों को ठीक करना, तथा
2. मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना।

उन्होंने इस्लाम की सामाजिक कुरीतियों को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पीरी मुहम्मद की प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने विचारों का प्रचार एक पत्रिका 'तहजीब–उल–अखलाक' द्वारा किया। परंतु उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'कुरान' पर टीका था।

उन्होंने 1875 ई. में अलीगढ़ में 'मुस्लिम एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना की, जो आगे 1920 ई. 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' बना। इससे पहले उन्होंने 1864 ई. में 'साइंटिफिक सोसाइटी' की स्थापना की। इसने अंग्रेजी पुस्तकों का उर्दू अनुवाद प्रकाशित किया। इस विश्वविद्यालय का पहला प्रिंसिपल 'थियोडर बैक' था। चूंकि, सैयद अहमद के कार्यक्रम का मुख्य केंद्र अलीगढ़ था इसीलिए इस आंदोलन को अलीगढ़ आंदोलन के नाम से जाना जाता है। अलीगढ़ आंदोलन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जो इस प्रकार हैं–

1. हिंदू और मुसलमान दो पृथक्–पृथक् राजनैतिक इकाइयां हैं, जिनके हितों और दृष्टिकोणों में बहुत अंतर है।
2. भारत में जनतंत्र के आधार पर प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना करने तथा असैनिक सेवाओं की परीक्षा भारत में करने से मुसलमानों के हितों की सुरक्षा संभव नहीं हो सकेगी क्योंकि वे हिंदू सत्ता के अधीन हो जाएंगे जो अंग्रेजी शासन से भी बुरा होगा।
3. मुसलमानों के हित क्योंकि अंग्रेजों के हाथों में पूर्णतया सुरक्षित हैं अतएव मुसलमानों को राजनीति से पृथक् रहकर अपने सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार राजनीति से पृथक् रहकर वे हिंदुओं के राजनैतिक आंदोलन को भी दुर्बल कर सकेंगे।

4. मुसलमानों को अंग्रेजी शासन की सुरक्षा में ही अपनी सुरक्षा समझनी चाहिए और उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी राजनैतिक आंदोलन में भाग नहीं लेना चाहिए।

टिप्पणी

देवबंद आंदोलन

मुसलमान उलेमाओं ने, जो प्राचीन मुस्लिम विद्या के अग्रणी थे, देवबंद आंदोलन चलाया। यह एक पुनर्जागरणवादी आंदोलन था, जिसके मुख्य दो उद्देश्य थे–

1. विदेशी शासकों के विरुद्ध 'जिहाद' की भावना को जीवित रखना, तथा
2. मुसलमानों में कुरान तथा हदीस की शुद्ध शिक्षा का प्रचार करना।

उलेमाओं ने मुहम्मद कासिम नानौत्वी तथा रशीद अहमद गंगोही के नेतृत्व में देवबंद, उत्तर प्रदेश के जिला सहारनपुर में एक विद्यालय खोला जिसका उद्देश्य मुस्लिम संप्रदाय के लिय धार्मिक नेताओं को प्रशिक्षित करना था। यह आंदोलन अलीगढ़ आंदोलन के पूर्णतया विपरीत था तथा 1888 ई. में तो देवबंद शाखा ने सर सैयद अहमद खां के विरुद्ध फतवा तक जारी कर दिया। महमूद–उल–हसन इस शाखा के प्रमुख नेताओं में से थे।

अहमदिया आंदोलन

19वीं शताब्दी में मुस्लिम समाज और धर्म सुधार के लिए एक और आंदोलन चलाया गया, जिसे 'अहमदिया आंदोलन' कहते हैं। मिर्जा गुलाम अहमद (1838–1908) इसके संस्थापक थे और उन्हीं के नाम पर इसे अहमदिया आंदोलन कहा जाता है। इसके नेता अपने को हजरत मुहम्मद की तरह का अवतार मानते थे।

यह आंदोलन पंजाब के गुरुदासपुर जिले के 'कादिया नगर' से प्रारंभ हुआ था। मिर्जा गुलाम अहमद ने अपने सिद्धांतों की व्याख्या अपनी मुख्य पुस्तक **बराहीन–ए–अहमदिया** में की थी।

सिख सुधार आंदोलन

सिखों में धार्मिक सुधार 19वीं शताब्दी के अंत में हुआ, जिसकी शुरुआत अमृतसर में 'खालसा कॉलेज' की स्थापना के साथ हुई। लेकिन इस दशा में वास्तविक गतिविधि तब शुरू हो पाई जब 1920 ई. में अकाली आंदोलन प्रारंभ हुआ। अकालियों का मुख्य उद्देश्य गुरुद्वारों का प्रबंध सुधारना था।

गुरुद्वारों में व्याप्त अकूत धन एवं भ्रष्टाचार का इन अकालियों ने जनता के सहयोग से 1921 ई. में विरोध किया तब बाध्य होकर 1922 ई. में सरकार को 'सिख गुरुद्वारा अधिनियम' बनाना पड़ा। इन नियमों में 1925 ई. में पुनः कुछ सुधार किए गए।

इसी प्रकार अमृतसर में 'सिंह सभा' आंदोलन प्रारंभ हुआ। इससे संलग्न एक और संस्था थी 'मुख्य खालसा दीवान'। इन संस्थाओं ने पंजाब में बहुत–से गुरुद्वारे स्थापित किए तथा विद्यालय और कॉलेज खोले।

पारसी सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी के इन सुधार आंदोलनों से पारसी भी अछूते न रहे। 1851 ई. में कुछ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने 'रहनुमा–ए– मजदास्नान' सभा गठित की, जिसका उद्देश्य पारसियों की सामाजिक अवस्था का पुनरुद्धार करना और पारसी धर्म की प्राचीन शुद्धता को पुनः प्राप्त करना था।

टिप्पणी

इस आंदोलन के नेताओं में दादाभाई नौरोजी, फरदोनजी नौरोजी तथा आर.के. कामा प्रमुख थे। इस सभा के संदेशों को पारसियों तक पहुंचाने के लिए एक पत्रिका 'रास्त गोफ्रतार' (सत्यवादी) प्रारंभ की गई। इसके द्वारा पारसियों में अनेक सुधार किए गए, जैस, पर्दा प्रथा समाप्त करना, विवाह की आयु बढ़ाना, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, इत्यादि।

धीरे–धीरे इस प्रकार पारसी समाज भारतीय समाज का सबसे अधिक पाश्चात्य प्रभावित पक्ष बन गया।

सामाजिक सुधार आंदोलन के परिणाम

19वीं शताब्दी का सुधार आंदोलन केवल धर्म तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका धर्म से ज्यादा सामाजिक क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज में कई ऐसी मान्यताएं व प्रथाएं विद्यमान थीं, जिनका आधार अंधविश्वास व अज्ञान था। इनमें से अनेक प्रथाएं अत्यंत क्रूर तथा अमानवीय थीं, जैसे, बाल विवाह, सती प्रथा, बाल हत्या इत्यादि। सारा सामाजिक ढांचा अन्याय और असमानता पर आधारित था। समाज भयंकर रूप से पिछड़ गया था। समाज में अशिक्षा व घोर अंधविश्वास था।

ऐसी स्थिति में कुछ भारतीयों ने स्थिति की गंभीरता को समझा तथा इनसे निबटने के लिए इन सुधारों का सहारा लिया। इन्हें ही 'सामाजिक सुधार' के नाम से जाना जाता है। धार्मिक सुधारों की तरह ये सामाजिक सुधार भी बंगाल से ही प्रारंभ हुए और इन्हें सर्वप्रथम प्रारंभ करने का श्रेय भी राजा राममोहन राय को ही मिला। इन सभी सामाजिक सुधार आंदोलनों ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रभाव डाला। ये विभिन्न क्षेत्र निम्नानुसार थेः

नारी मुक्ति : समाज सुधारकों का ध्यान सबसे पहले स्त्रियों की दशा सुधारने की तरफ गया। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत चिंताजनक थी। सदियों के शोषण तथा अत्याचार से उनकी दशा अत्यंत गंभीर थी। व्यक्तिगत कानून और धार्मिक प्रथाओं ने स्त्रियों को समाज में एक अत्यंत निम्न स्तर दे रखा था। उनमें अनेक प्रकार की क्रूर एवं अमानवीय कुप्रथाएं, जैसे, सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, इत्यादि व्याप्त थीं। सामाजिक सुधार आंदोलनों ने इनमें से अनेक कुरीतियों को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सती प्रथाः सती का शाब्दिक अर्थ है– साध्वी स्त्री। यह उस पत्नी के लिए प्रयोग किया जाता था, जो अपने पति के साथ शाश्वत और निर्विघ्न रूप में जन्म–जन्मांतर तक रहना चाहती थी और प्रमाणस्वरूप उसकी मृत्यु के उपरांत उसकी चिता में जल जाती थी।

भारतीय समाज सुधारकों में सबसे पहले राजा राममोहन राय ने इस प्रथा पर महान प्रहार किया। पहले इसके लिए कुछ प्रारंभिक प्रयत्न किए गए तथा इस स्थिति में पुलिस की उपस्थिति अनिवार्य बना दी गई ताकि स्त्री को सती होने से रोका जा सके, परंतु ये सभी प्रयत्न पर्याप्त असफल रहे।

इसके पश्चात् 1833 ई. में चार्टर के नवीनीकरण पर संसद में होने वाले वाद–विवाद पर दृष्टि रखते हुए कम्पनी के डायरेक्टरों ने विलियम बैंटिक को सुझाव दिया कि वह उस कुप्रथा को बंद करे। इसके पश्चात् 1829 ई. में एक कानून पास करके 17वें नियम के अनुसार विधवाओं को जीवित जलाना बंद कर दिया गया और न्यायालयों को आदेश दिया गया कि वे ऐसे मामले में सदोष मानव हत्या के अनुसार

टिप्पणी

मुकदमा चलाएं तथा सजा दें। पहले यह नियम बंगाल के लिए था, फिर 1830 में यह बंबई एवं मद्रास में भी लागू कर दिया गया।

विधवा पुनर्विवाह की अनुमति एवं बाल विवाह का निषेध : सती प्रथा की समाप्ति के पश्चात् भी समाज में स्त्रियों की दशा नहीं सुधरी तथा उनमें अनेक कुप्रथाएं विद्यमान रहीं। इनमें विधवा के विवाह का निषेध एवं बाल विवाह का प्रचलन प्रमुख थीं।

ब्रह्मसमाजियों ने विधवा विवाह के प्रश्न पर वाद–विवाद किया। तत्पश्चात् इसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसमें सबसे प्रमुख कार्य संस्कृत कॉलेज कलकत्ता के आचार्य श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया। उन्होंने संस्कृत और वैदिक उल्लेखों से यह सिद्ध किया कि वेद विधवा विवाह की अनुमति देता है। उन्होंने लगभग 1 लाख हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र सरकार को भेजा। अंततः उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और ऐसे विवाह से उत्पन्न हुए बच्चे वैध घोषित किए गए।

बंबई में फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रोफेसर डी.के. कर्वे एवं मद्रास में वीरेशलिंगम पंतुलु ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किए। प्रो. कर्वे ने विधुर होने पर 1893 ई. में स्वयं एक विधवा से विवाह किया। वे 'विधवा पुनर्विवाह संघ' के सचिव थे। 1899 ई. में उन्होंने पूना में एक 'विधवा आश्रम' स्थापित किया, जिसमें विधवाओं को जीविकोपार्जन के साधन प्रदान किए जाते थे। 1906 ई. में उन्होंने बंबई में 'भारतीय महिला विश्वविद्यालय' की स्थापना की।

भारत में पहला कानूनी विवाह (विधवा) कलकत्ता में 7 दिसंबर, 1956 को ईश्वरचंद्र की देखरेख में संपन्न हुआ।

बाल विवाह : इसके पश्चात् समाज सुधारकों ने बाल विवाह का भी विरोध किया। इसके फलस्वरूप 1872 में एक कानून 'नेटिव मैरिज एक्ट' पास किया, गया जिसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं का विवाह वर्जित कर दिया गया तथा बहुविवाह को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया। लेकिन यह कानून बहुत प्रभावी नहीं हो सका। अंत में एक पारसी सुधारक वी.एम. मालाबारी के प्रयत्नों से 1891 ई. में 'सम्मिति आयु अधिनियम' पास हुआ, जिसमें 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर रोक लगा दी गई। 1931 ई. में बड़ौदा की सरकार ने 'बाल विवाह निवारण अधिनियम' पास कर दिया, जिससे बाल विवाह पर निषेध लगा दिया गया।

भारत सरकार ने बाल विवाह के फलस्वरूप सबसे प्रभावी कदम 1930 में उठाया। उस वर्ष 'हरविलास शारदा' के प्रयत्नों से बाल विवाह निरोधक कानून पास हुआ, जिसे 'शारदा एक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसने 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के और 14 साल से कम उम्र की लड़की के विवाह को अवैध घोषित कर दिया। साथ ही बाल विवाह करने वालों के लिए इसमें सजा का भी प्रावधान था।

शिशु वध : शिशु वध की क्रूर प्रथा बंगालियों और राजपूतों में प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार आर्थिक भार मानकर या अन्य कारणों से बालिकाओं की बचपन में हत्या कर दी जाती थी। प्रबुद्ध भारतीय और अंग्रेजों दोनों ने ही इस प्रथा की आलोचना की।

अंततः कानून बनाकर शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर अपराध मान लिया गया। भारतीय रियासतों के रेजिडेंटों से भी कहा गया कि वे ऐसे मामले में सदोष मानव हत्याओं के बराबर अपराध माने। इस प्रथा को रोकने के लिए 1870 ई. में कुछ

कानून भी बनाए गए। 1795 ई. में बंगाल में 21वें नियम तथा 1804 ई. के तीसरे नियम के अनुसार शिशु हत्या को मानव हत्या के बराबर मान लिया गया।

स्त्री शिक्षा : 19वीं शताब्दी में लोगों में अत्यंत गलत धारणा प्रचलित थी कि हिंदू शास्त्रों में स्त्री शिक्षा की अनुमति नहीं है और शिक्षित स्त्री को देवता लोग वैधव्य का दण्ड देते हैं।

टिप्पणी

स्त्रियों की शिक्षा के लिए प्रायः सभी तात्कालिक सुधार आंदोलनों ने प्रयत्न किया। लेकिन यह काम सबसे पहले ईसाइयों ने ही किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए सर्वप्रथम 1819 ई. में कलकत्ता में 'कलकत्ता तरुण स्त्री सभा' की स्थापना की। आगे चलकर शिक्षा परिषद के अध्यक्ष जे.ई.डी. बेथुन ने 1849 ई. में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया।

स्त्री शिक्षा के प्रसार में ईश्वरचंद्र विद्यासागर की देन महान है। वे बंगाल के कम से कम 35 बालिका विद्यालयों से संबंधित थे। बंबई के एलफिन्सटन इंस्टीट्यूट के विद्यार्थियों का भी स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। 1854 ई. में चार्ल्स वुड के पत्र में भी स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया।

बीसवीं शताब्दी में जब राष्ट्रीय आंदोलन ने जोर पकड़ा तो इसमें अनेक महिलाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। लेकिन नारी उद्धार के लिए प्रमुख रूप से प्रयत्न पुरुषों ने ही किया। 1920 ई. के बाद ही स्वयं स्त्रियों ने अपने उद्धार की जिम्मेदारी संभाली। उन्होंने कई संगठनों एवं संस्थाओं की शुरुआत की, जिनमें सर्वप्रथम 1927 ई.में 'अखिल भारतीय महिला सभा' का गठन एक महत्वपूर्ण घटना थी। देश में नारी आंदोलन के उद्‌भव एवं विकास से नारी आंदोलन की प्रक्रिया पुनः तेज हो गई।

संविधान में 'हिंदू विवाह अधिनियम 1955' तथा 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956' जैसे महत्वपूर्ण अधिनियम बनाए गए।

दास प्रथा का अंतः यूरोपीय देशों की तरह भारत में भी दासता प्रथा थी लेकिन दासों की स्थिति वहां से बेहतर थी। उत्तर भारत में दास प्रायः घरों में काम करते थे तथा दक्षिण भारत में वे प्रायः कृषि कार्य में सहायता देते थे।

1833 में अंग्रेजों के शासनकाल में दासता प्रथा समाप्त कर दी गई और 1833 के चार्टर अधिनियम में एक धारा और जोड़ दी गई जिससे दासता को शीघ्रतिशीघ्र समाप्त किया जा सके। अंत में 1843 में संपूर्ण भारत में दासता अवैध घोषित कर दी गई और मालिकों को कोई प्रतिकार दिए बिना सभी दास स्वतंत्र कर दिए गए।

जाति प्रथा का विरोध और अछूतोद्धार आंदोलन : जाति प्रथा भारतीय समाज का दूसरा बड़ा रोग था जिसके विरुद्ध सुधारकों ने संघर्ष छेड़ा। जाति प्रथा ने समाज में अनेक दोषों को जन्म दिया जिसकी वजह से सारा समाज अनेक इकाइयों में विभक्त हो गया।

जाति प्रथा तथा छुआछूत की नींव प्राचीन काल में ही पड़ चुकी थी और तभी से इन्हें दूर करने के असफल प्रयत्न भी होते रहे। जाति प्रथा और अस्पृश्यता को दूर करने की दिशा में प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध तदुपरांत कबीर, रामानंद, नानक, तुकाराम, एकनाथ और नामदेव जैसे महापुरुषों ने प्रयास किया पर उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिली।

टिप्पणी

इसके बाद से लेकर अंग्रेजी शासनकाल तक इस दिशा में अनेक प्रयास होते रहे। इस दिशा में सर्वप्रथम ठोस कदम गांधीजी ने उठाया। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहा तथा उनकी भलाई के लिए 'हरिजन' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला एवं 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। बाद के नेताओं में बी.आर. अम्बेडकर उल्लेखनीय हैं, उन्होंने जाति प्रथा पर कड़े प्रहार किए तथा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 'ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास फेडरेशन' की स्थापना की। अछूतों और दलितों के उद्धार के लिए इन जातियों के अन्य नेताओं ने भी 'ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास फेडरेशन' की स्थापना की। 1920 में गैर–ब्राह्मण जातियों ने एक 'सेल्फ रेसपेक्ट मूवमेंट' चलाया। इसके बाद भी समय–समय पर इस दिशा में अनेक प्रयास होते रहे।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान में इनके उत्थान के लिए अनेक नियम बनाए गए, जिनमें आरक्षण की व्यवस्था प्रमुख है।

संक्रमणाधीन भारतीय समाज

19वीं शताब्दी में भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। इस काल में भारतीयों की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक मान्यताओं में तेजी से परिवर्तन हुए। वैसे इसके अनेकानेक कारण थे। यदि व्यापक संदर्भ में देखा जाए तो इस काल में भारतीय समाज धार्मिक अंधविश्वास एवं सामाजिक कुरीतियों में जकड़ा हुआ था। हिन्दू समाज बुराइयों, बर्बरता एवं अंधविश्वासों से ओत–प्रोत था। पुरोहित, समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए थे तथा जन–सामान्य पर विभिन्न कर्मकांडों तथा निरर्थक धार्मिक कृत्यों की सहायता से वर्चस्व स्थापित कर चुके थे। उन्होंने शिक्षा, ज्ञान एवं धार्मिक क्रियाकलापों को अपना विशेषाधिकार बताया तथा इनकी सहायता से जन–सामान्य के मनोमस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी इतनी ही दयनीय थी। समाज में सबसे निम्न स्थिति स्त्रियों की थी। लड़की का जन्म अपशकुन, उसका विवाह बोझ एवं वैधव्य श्राप समझा जाता था। जन्म के पश्चात् बालिकाओं की हत्या कर दी जाती थी। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अत्यंत दयनीय एवं संघर्षपूर्ण था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी तो उसे बलपूर्वक पति की चिता में जलने को बाध्य किया जाता था। उसे 'सती प्रथा' के नाम से जाना जाता था। राजा राममोहन राय ने इसे 'शास्त्र की आड़ में हत्या' की संज्ञा दी। सौभाग्यवश यदि कोई स्त्री इस क्रूर प्रथा से बच जाती थी तो उसे शेष जीवन अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं दुख में बिताने पर बाध्य होना पड़ता था।

जाति प्रथा भी समाज की एक महत्वपूर्ण बुराई थी। वर्ण या जाति का निर्धारण वैदिक कर्मकाण्डों के आधार पर होता था। इस जाति व्यवस्था की सबसे निचली सीढ़ी पर अनुसूचित जाति के लोग थे, जिन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा अछूत माना जाता था। इन अछूतों या अस्पृश्यों की संख्या पूरी हिन्दू जनसंख्या के 20 प्रतिशत से भी अधिक थी। अस्पृश्य भेदभाव एवं अनेक प्रतिबंधों के शिकार थे। इस व्यवस्था ने समाज को कई वर्गों या समूहों में विभक्त कर दिया। आगे चलकर यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण एवं विकास में महत्वपूर्ण बाधा सिद्ध हुई। वर्ग चेतना ने धीरे–धीरे अन्य संप्रदाय के लोगों को हिंदुओं से पृथक् करना प्रारंभ कर दिया। कालांतर में हिन्दू समाज की इस जाति व्यवस्था ने कई अन्य क्षेत्रों में विसंगतियां एवं कठिनाइयां पैदा कीं। अस्पृश्यता की कुरीति ने इस वर्ग के लोगों को समाज से लगभग पृथक् कर दिया। मानव सभ्यता एवं प्रतिष्ठा पर यह कुरीति एक शर्मनाक धब्बा था।

टिप्पणी

भारत में उपनिवेशी शासन की स्थापना के पश्चात् देश में अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार हेतु सुनियोजित प्रयास किए गए। शहरीकरण तथा आधुनिकीकरण ने भी लोगों के विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में प्रसार की भावना उत्पन्न की तथा ज्ञान का प्रसार हुआ।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति एवं विदेशी शक्तियों को पराजित करने की चेतना ने जागृति की नई किरण फैलायी। धीरे–धीरे यह चेतना जागृत होने लगी कि भारतीय सामाजिक संरचना एवं संस्कृति में दुर्बलता के कारण भारत जैसा विशाल देश मुट्ठीभर विदेशियों के हाथों में चला गया है। यह भी महसूस किया जाने लगा कि भारत सभ्यता की दौड़ में काफी पिछड़ गया है। इस सोच ने एक प्रतिक्रियावादी स्वरूप में जन्म दिया। इसी समय कुछ पश्चात्य शिक्षा प्राप्त बंगाली नवयुवकों ने इस सोच से अभिप्रेरित होकर कि, भारत सभ्यता एवं विकास में काफी पीछे छूटता जा रहा है, प्राचीन मान्यताओं एवं मूल्यों पर कुठाराघात किया तथा मांस एवं शराब के सेवन जैसे खान–पान के पाश्चात्य तरीकों को अपना लिया। इससे यह अवश्य परिलक्षित होने लगा कि शायद भारतीय समाज अब सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के दौर से गुजरने लगा है।

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद के उफान ने भारतीयों एवं भारत की सामाजिक–धार्मिक संस्थाओं को भी प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। इन कारकों ने शीघ्र ही पुनर्जागरण की प्रक्रिया के उद्भव एवं विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। विभिन्न कारक, यथा राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास, नई आर्थिक शक्तियों के अभ्युदय, शिक्षा के प्रसार, आधुनिक पाश्चात्य मूल्यों एवं संस्कृति के प्रभाव तथा विश्व समुदाय को सशक्त करने की सोच ने 'सुधार' के मार्ग को प्रशस्त किया।

3.3.2 आधुनिक शिक्षा

भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव अंग्रेजों ने डाली। 1781 में वारेन हेस्टिंग्स ने 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य, मुस्लिम कानूनों तथा इससे संबंधित अन्य विषयों की शिक्षा देना था। 1791 में जोनाथन डंकन ने बनारस में 'संस्कृत कालेज' की स्थापना की। इसका उद्देश्य हिन्दू विधि एवं दर्शन का अध्ययन करना था। वर्ष 1800 में लॉर्ड वैलेजली ने कंपनी के अधिकारियों की शिक्षा के लिए फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। लेकिन 1802 में इसे बंद कर दिया गया।

राजा राममोहन राय के प्रयास से 1817 में कलकत्ता में 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना हुई। कलकत्ता, आगरा और बनारस में भी संस्कृत कालेज खोले गए। 1813 के चार्टर एक्ट में, भारत में शिक्षा के विकास के लिए कंपनी द्वारा प्रतिवर्ष 1 लाख रुपये की राशि दी गई थी। किंतु यह राशि 1823 तक नहीं दी गई।

लॉर्ड मैकाले का स्मरण–पत्र, 1835 ई. : गवर्नर–जनरल की कार्यकारिणी परिषद का सदस्य लॉर्ड मैकाले अंग्रेजी शिक्षा का समर्थक था। इसके बाद सरकार ने स्कूलों एवं कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बना दिया तथा अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूलों एवं कालेजों की स्थापना की गई। मैकाले के इस सिद्धांत को 'अधोगामी विप्रवेशन सिद्धांत' कहा गया।

थामसन की योजना : उत्तर–पश्चिमी प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स थामसन (1843–53) ने देशी भाषाओं द्वारा ग्राम शिक्षा की एक विस्तृत योजना बनाई।

टिप्पणी

चार्ल्स वुड का डिस्पैच, 1854 ई. : सर चार्ल्स वुड ने 1854 में भारत की भावी शिक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाई। उनकी योजना को 'भारतीय शिक्षा का मैग्ना–कार्टा' कहा जाता है। उन्होंने कहा कि–गांवों में देशी–भाषाई प्राथमिक पाठशालाएं स्थापित की जाएं, उनसे ऊपर जिला स्तर पर आंग्ल–देशी–भाषाई हाईस्कूल तथा लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर तीनों प्रेसीडेंसी शहरों–बंबई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले जाएं।

स्त्री तथा व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए, उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी तथा स्कूल स्तर की शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया जाए, लोक शिक्षा विभाग की स्थापना की जाए।

1857 में कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गए तथा बाद में सभी प्रांतों में शिक्षा विभाग का गठन भी कर दिया गया। जे.ई.डी. बेथुन ने 1849 में कलकत्ता में स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए बेथुन स्कूल की स्थापना की। इसी समय बिहार के पूसा में कृषि संस्थान तथा रुड़की में अभियांत्रिकी संस्थान की स्थापना की गई।

हन्टर शिक्षा आयोग, 1882–83 ई. : 1882 में सरकार ने डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया, जिसे शिक्षा की दिशा में किए गए प्रयासों एवं उसकी प्रगति की समीक्षा करना था। हंटर आयोग की समीक्षा का कार्य, प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक ही सीमित था तथा विश्वविद्यालयों से इसका कोई संबंध नहीं था।

पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना 1882 में एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना 1887 में की गई।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 ई. : सन् 1902 में विश्वविद्यालयों की स्थिति को जांचने के लिए टामस रैले की अध्यक्षता में एक आयोग बनाया गया। इसकी सिफारिशों के आधार पर 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग, 1917–19 ई. : सरकार ने लीड्स विश्वविद्यालय के उप–कुलपति डा. एम.ई.सैडलर की अध्यक्षता में 1917 में एक आयोग गठित किया, जिसका कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन कर इसकी रिपोर्ट सरकार को देना था। आशुतोष मुखर्जी एवं डॉ. सलालुद्दीन अहमद इस आयोग के दो अन्य सदस्य थे।

हार्टोग समिति, 1929 ई. : इस समिति ने कहा कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश संबंधी नियम अत्यंत कड़े होने चाहिए।

वर्धा शिक्षा योजना, 1937 ई. : अक्टूबर 1937 में, कांग्रेस ने शिक्षा पर एक राष्ट्रीय सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया। यहां जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य था 'गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना'। यह सिद्धांत गांधी जी की योजना से प्रभावित था।

सार्जेन्ट की योजना, 1944 ई. : सर जॉन सार्जेन्ट (भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार) ने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसे, सार्जेन्ट योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना के अनुसार, तकनीकी, वाणिज्यिक एवं कला विषयक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण, शारीरिक शिक्षा तथा विकलांगों को शिक्षा दिए जाने पर जोर दिया जाए।

टिप्पणी

राधाकृष्णन आयोग, 1948–49 ई. : इस आयोग ने कहा कि उच्च शिक्षा के मुख्य तीन उद्देश्य होने चाहिए– सामान्य शिक्षा, सरकारी शिक्षा एवं व्यवसायिक शिक्षा। शांति निकेतन एवं जामिया मिलिया की तरह ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया जाए। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर ही 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया गया तथा 1956 में संसद द्वारा कानून बनाकर इसे स्वायत्तशासी निकाय बना दिया गया।

कोठारी शिक्षा आयोग, 1964–66 ई. : जुलाई 1964 में डॉक्टर डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय आयोग का गठन किया गया। इसका कार्य शिक्षा के सभी क्षेत्रों की समीक्षा करना था। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गई। इस नीति में कहा गया कि राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिए तथा 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देनी चाहिए।

1976 में शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लिया गया। 1986 में नवीन शिक्षा नीति की घोषणा की गई। 1887 में रुड़की में अभियांत्रिकी महाविद्यालय, 1856 में कलकत्ता अभियांत्रिकी महाविद्यालय तथा 1835 में कलकत्ता में चिकित्सा महाविद्यालय की स्थापना की गई।

3.3.3 मध्य वर्ग का उदय

अंग्रेजों की प्रशासनिक, आर्थिक तथा अन्य नीतियों से नगरों में एक मध्यवर्गीय नागरिकों की श्रेणी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली, जिससे उसे रोजगार तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों ही प्राप्त होने लगे। यह नवीन श्रेणी अपनी शिक्षा, समाज में उच्च स्थान तथा प्रशासक वर्ग के समीप आ गई। यह मध्य वर्ग भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा इसने समस्त देश में नई शक्ति का संचार किया। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन को उसके सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

मध्य वर्ग के उदय में जिन परिस्थितियों ने सहायक कारकों की भूमिका निभाई, कालांतर में वही कारक उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बने। यद्यपि प्रारंभ में नवीन शिक्षा व्यवस्था एवं आर्थिक परिवर्तन से थोड़ा धन संचय कर इस मध्य वर्ग का उदय हुआ था, अतः प्रारंभ में ये लोग स्वयं को भारतीय समाज से अलग एवं श्रेष्ठ समझने लगे थे। इस वर्ग की मानसिकता यह बन गई कि भारतीय परंपराएं एवं रीति–रिवाज पिछड़े हुए हैं। इन्होंने पाश्चात्य तौर–तरीकों का अनुसरण भी प्रारंभ कर दिया। किंतु शीघ्र ही इनमें यह समझ विकसित हो गई कि भारतीयों का पक्षपोषण, साम्राज्यवादी शासन से नहीं हो सकता। धीरे–धीरे उन्हें उपनिवेशवादी शासन की शोषणमूलक प्रवृत्तियां समझ में आने लगीं। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के संबंध में इनकी हीन भावना भी जाती रही। इसके पश्चात् यही मध्य वर्ग साम्राज्यवाद विरोधी प्रयासों का अगुआ बन गया। इस मध्य वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन के लगभग सभी चरणों में उसमें सक्रियता से सहभागिता निभाई तथा आवश्यकतानुसार उसे नेतृत्व भी प्रदान किया। इस मध्य वर्ग के कई व्यक्तियों ने भारत के सामाजिक–धार्मिक आंदोलनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया तथा समय–समय पर भारतीयों की दशा सुधारने के अनेक प्रयास भी किए। इस प्रकार आधुनिक काल में इस मध्य वर्ग का अपना प्रमुख स्थान एवं महत्व था।

टिप्पणी

3.3.4 जातीय आंदोलन

ब्रिटिश शासनकाल में, 19वीं शताब्दी में जब सामाजिक–धार्मिक सुधारों की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तब विभिन्न जातीय संघ भी अस्तित्व में आए तथा अनेक जाति संघ आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से लगभग सभी जातीय आंदोलन, उच्चवर्गीय भेदभाव, शोषण एवं दमन के विरुद्ध प्रारंभ हुए थे। कुछेक जातीय संघों के उद्‌भव का कारण अंग्रेजी अत्याचार एवं शोषण भी था। इन जाति संघों में से प्रमुख संघों का वर्णन निम्नानुसार है–

सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले

ज्योतिबा फुले माली जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। इस समाज के नेता एवं सदस्य निम्न जाति के लोग थे। इस समाज का मुख्य उद्देश्य था–

1. सामाजिक सेवा।
2. स्त्रियों एवं निम्न जाति के लोगों के मध्य शिक्षा का प्रचार करना।

फुले ने सार्वजनिक सत्य धर्म के समर्थन एवं गुलामी के विरुद्ध कार्य किया। उनके ये कार्य जन–सामान्य के प्रेरणा स्रोत बने। ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणों के प्रतीक चिन्ह 'राम' के विरोध में 'राजा बाली' को अपने आंदोलन का प्रतीक चिह्न बनाया। फुले समाज में जाति प्रथा के पूर्ण उन्मूलन तथा सामाजिक–आर्थिक समानता के पक्षधर थे। उन्होंने संस्कृत हिंदुत्व का विरोध किया। उनके आंदोलन ने समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त कर दलितों की पहचान बनाने में महत्पूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने पुरोहित वर्ग को समाज का शोषक कहा। उन्होंने अपनी पत्नी की सहायता से पूना में एक बालिका स्कूल की स्थापना की तथा महाराष्ट्र में अनेक स्थानों पर विधवा पुनर्विवाह का कार्यक्रम प्रारंभ किया।

श्री नारायण गुरु एवं धर्म परिपालन आंदोलन

यह एक क्षेत्रीय आंदोलन था, जिसका जन्म समाज के दलित वर्ग एवं ब्राह्मण वर्ग में टकराव के कारण हुआ। इस आंदोलन की शुरुआत केरल के इजर्यावस जाति के श्री नारायण गुरु स्वामी ने की। इजर्यावस केरल की सबसे बड़ी दलित जाति है, जिसे अछूत माना जाता था। यह राज्य की कुल जनसंख्या का 26 प्रतिशत थी। इस जाति के लोग मुख्यतया ताड़ी (शराब) बेचने का कार्य करते थे। 1902 ई. में इसी समुदाय के श्री नारायण गुरु ने एक आंदोलन प्रारंभ किया तथा नारायण गुरु धर्म परिपालन योगम की शुरुआत की। इस योगम के कई उद्देश्य थे–

1. शिक्षा संस्थाओं में इस समुदाय के छात्रों को प्रवेश का अधिकार दिलाना,
2. सरकारी सेवाओं में भर्ती,
3. मंदिरों में प्रवेश, तथा
4. राजनीतिक प्रतिनिधित्व इत्यादि।

इस आंदोलन के फलस्वरूप केरल में दलितों को अनेक अधिकार प्राप्त हुए, कई निषिद्ध क्षेत्रों एवं स्थानों में उनको प्रवेश मिला तथा उनमें चेतना का प्रसार हुआ। दलितों को उनके सामाजिक अधिकार दिलाने में इस आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान रहा।

वोक्कालिंग संघ

इस आंदोलन की शुरुआत 1905 ई. में मैसूर में हुई। यह एक ब्राह्मण विरोधी आंदोलन था।

जस्टिस आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत सी.एन. मुदालियार, टी.एम. नायर एवं पी. त्यागराज ने मद्रास में की। इस आंदोलन का उद्देश्य गैर–ब्राह्मण जातियों का विधायिका में प्रतिनिधित्व बढ़ाना था। 1917 ई. में मद्रास प्रेसीडेंसी एसोसिएशन का गठन किया गया, जिसने विधायिका में निम्न जाति के लोगों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग की।

टिप्पणी

आत्म–सम्मान आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत 1920 के दशक में ई.वी. रामास्वामी नायकर एवं बालाजी नायडू ने की। इसने समाज में ब्राह्मणों की सत्ता को चुनौती दी तथा लोगों से ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए आगे आने का आह्वान किया। इसने पिछड़ी जाति के लोगों को विभिन्न अधिकार एवं प्रतिनिधित्व देने की मांग की। आंदोलन के अनुयायियों ने कहा कि धार्मिक कर्मकांडों में ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। उन्होंने लोगों से अपील की कि वे विवाह के अवसर पर विभिन्न पूजाओं के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित न करें।

अरवीप्पुरम आंदोलन

सन् 1888 में शिवरात्रि के अवसर पर श्री नारायण गुरु ने पिछड़ी जाति का होने के बावजूद केरल के अरवीप्पुरम नामक स्थान पर भगवान शिव की प्रतिमा स्थापित की तथा कहा देवताओं की पूजा एवं आराधना में ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। उन्होंने स्थानीय मंदिर की दीवार पर लिखा कि 'जातीयता एवं प्रजातीयता को बढ़ाने वाली दीवार को गिरा दो, आपसी घृणा को दूर करो, सद्भाव बढ़ाओ, हम सभी यहां भाई–भाई की तरह रहेंगे।' इस आंदोलन का द. भारत में दूरगामी प्रभाव हुआ। इसने द. भारत के लोगों में एक नई चेतना जागृत की तथा इस क्षेत्र में अनेक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की। बाद में होने वाले अनेक आंदोलन, विशेषकर 'मंदिर प्रवेश आंदोलन', इस आंदोलन से प्रेरित थे।

मंदिर प्रवेश आंदोलनः तत्कालीन अनेक समाज सुधारक तथा बुद्धिजीवियों, जैसे,श्री नारायण गुरु, एन. कुमारन असन, टी.के. माधवन इत्यादि पहले ही इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर चुके थे। 1924 ई. में के.पी. केशव के नेतृत्व में वाइकोम सत्याग्रह प्रारंभ हुआ, जिसमें सार्वजनिक मार्गों एवं हिन्दू मंदिरों में दलितों को प्रवेश का अधिकार दिए जाने की मांग की गई। पंजाब में जाटों एवं मदुरई के स्थानीय निवासियों ने भी इस सत्याग्रह के माध्यम से समान अधिकारों की मांग की। महात्मा गांधी ने इस आंदोलन के समर्थन में केरल की यात्रा की तथा सत्याग्रहियों की मांगें पूरी किए जाने की अपील की।

पुनः 1931 ई. में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित हो गया, तब केरल में मंदिर प्रवेश आंदोलन जोर पकड़ने लगा। के. केलप्पन एवं केरल के प्रख्यात कवि सुब्रह्मण्यम तिरुभाम्बू ने गुरुवयूर नामक स्थान पर 16 स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं के दल का नेतृत्व किया। प्रसिद्ध समाज सुधारकों, जैसे, पी. कृष्णा पिल्लई एवं ए.के. गोपालन को भी एक महत्वपूर्ण सफलता तब हाथ लगी, जब 1936 ई. में त्रावणकोर के महाराजा ने एक राजाज्ञा जारी करके सभी सरकार नियंत्रित मंदिरों को समस्त जातियों के लिए खोल दिया। इसी तरह का आदेश 1938 ई. में सी. राजगोपालाचारी की सरकार ने मद्रास में भी जारी किया।

जातीय आंदोलनों के प्रादुर्भाव एवं जातीय संघों के अस्तित्व में आने से दलित एवं पिछड़ी जातियों में चेतना जागृत हुई तथा उनमें गतिशीलता आई। कभी अपने क्षेत्र

एवं रीति–रिवाजों में सिमटे ये लोग बाह्य जगत से तादात्म्य स्थापित करने के प्रति विश्वस्त हुए तथा उन्होंने इस दिशा में अपने कदम बढ़ाए।

टिप्पणी

जातीय आंदोलनों के प्रादुर्भाव से ये लोग सभ्यता एवं विकास के प्रति जागरूक हुए तथा इस दिशा में आगे बढ़ने के निमित्त इन्होंने अपने प्रयास प्रारंभ किए। धीरे–धीरे इस जाति के कई लोगों ने अपनी प्रतिभा, लगन एवं मेहनत के बल पर उच्चवर्गीय लोगों के समकक्ष स्थान बना लिया तथा वे अनेक महत्वपूर्ण स्थानों एवं उपलब्धियों को प्राप्त करने में सफल रहे। इस कार्य से जातीय गतिशीलता आई। धीरे–धीरे यह प्रक्रिया आगे बढ़ती रही तथा स्वतंत्रता के समय तक तो यह प्रक्रिया अच्छी तरह से स्थापित हो चुकी थी।

ईसाई मिशन

ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में प्रचारित किया तथा पाश्चात्यीकरण के द्वारा उसके प्रसार की नीति अपनायी। उनका विश्वास था कि इस नीति के द्वारा वे भारतीयों की अपने धर्म एवं संस्कृति में आस्था को विनष्ट कर देंगे। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन मिशनरियों ने मौलिकतावादियों का समर्थन किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि मौलिकतावादियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अवनति होगी। उन्होंने साम्राज्यवादियों का समर्थन किया क्योंकि उनके उद्देश्यों की सफलता के लिए कानून एवं व्यवस्था की स्थिति का उनके अनुकूल होना आवश्यक था। साथ ही मिशनरियों का मानना था कि ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का होना नितांत आवश्यक है।

ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश व्यावसायियों एवं पूंजीपतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि वे ईसाई धर्म का प्रचार कर भारतीयों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार करेंगे। इससे अंग्रेजी वस्तुओं की खपत बढ़ेगी तथा अंग्रेज पूंजीपति एवं व्यापारी मिशनरियों को उनके उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता पहुंचायेंगे।

1858 ई. के पश्चात् 'झिझकपूर्ण आधुनिकीकरण की नीति' (policy of hesitant modernisation) त्याग दी गई, क्योंकि भारतीय धीरे–धीरे शासन के सम्मुख शिष्य की तरह व्यवहार करने लगे तथा अपने समाज एवं संस्कृति का तीव्रता से आधुनिकीकरण किए जाने की मांग करने लगे। साथ ही भारतीयों ने अपने अनुरूप स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय पर आधारित प्रशासन की मांग प्रारंभ कर दी थी। अब अंग्रेजों में सामाजिक रूढ़िवादी एवं समाज के संकर्णतावादी तत्वों का पक्ष लेना आरंभ कर दिया। अंग्रेजों ने जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को उभारना भी प्रारंभ कर दिया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'सत्यार्थ प्रकाश' पुस्तक के लेखक निम्न में से कौन हैं?

(क) केशवचंद्र (ख) राजा राममोहन राय

(ग) स्वामी दयानंद (घ) स्वामी विवेकानंद

4. कोठारी शिक्षा आयोग का गठन कब किया गया था?

(क) 1944 (ख) 1948

(ग) 1950 (घ) 1964

3.4 महिलाओं की स्थिति : संपत्ति का अधिकार, सुधार कानून एवं राजनीतिक भागीदारी

टिप्पणी

महिलाओं की स्थिति पर नजर डालें तो हमें समाज में इनकी स्थिति के विषय में पता चलेगा। वैदिक काल में नारी प्रत्येक पग पर पुरुष की सहगामिनी हुआ करती थी। उसे शिक्षा प्राप्त करने व वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त था। वे सामाजिक नीतियों के निर्धारण, नियंत्रण व संचालन में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभा सकती थीं। मैत्रेयी, गार्गी व लीलावती के रूप में हमें उस युग के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो न केवल उच्च स्तरीय विदूषियां थीं, बल्कि उच्चतर गणित, पारिस्थितिकी तथा समाज विज्ञानों एवं मानवीय विज्ञानों में भी निपुण थीं। उस युग की महिलाओं के विषय में मनु ने लिखा है कि उस समय महिलाएं देवी के रूप में सम्मानित की जाती थीं, किन्तु उत्तर वैदिक युग से नारी की दशा गिरती गई व मध्य काल तक आते–आते उसकी दशा अत्यंत खराब हो गई थी। इसीलिए इस काल को अंधकार काल भी कहा जाता है। सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि का प्रचलन इस काल में था।

समाज में दिन–प्रतिदिन परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण आवश्यकताएं तथा विकास है। किसी भी देश के विकास में वहां की अर्थव्यवस्था का प्रमुख योगदान होता है। पहले की अपेक्षा आज महिलाओं की स्थिति में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। अर्थव्यवस्था, समाज से घनिष्ठ रूप से संबंधित है तथा समाज, परिवार का ही वृहद् रूप है और इसी परिवार की आधारशिला है नारी, जिसके बिना इस परिवार रूपी पौधे के अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से चूंकि नारी, अर्थव्यवस्था से आवश्यक रूप से संबंधित है, किसी भी देश के विकास के लिए वहां की नारी का विकास किए बिना विकास नहीं हो सकता।

पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का प्रतिशत कम है तथा साक्षरता में भी ये पुरुषों से पीछे हैं। उनकी भागीदारी का प्रतिशत, उनकी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक है, वहीं दूसरी ओर समय–समय पर उसके अस्तित्व तक का महत्व नकारा जाता रहा है। एक ओर जहां देश के समक्ष विकास की महान् चुनौतियां मुंह बाये खड़ी हैं, जिनकी तरफ सारी दुनिया की नजर है, वहीं दूसरी ओर देश के सामने महानतम चुनौती है महिलाओं के विकास की, जिसे जानकर भी लोग अनजान बने हुए हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी पुरुष प्रधान सभ्यता ने नारी जाति की अवहेलना की है, समाज का विकास अवरुद्ध हुआ है तथा उसका पतन हुआ है। किन्तु जब नारी जाति को मान–सम्मान दिया गया, उसे प्रेरणा व स्फूर्तिदायिनी जगजननी का स्थान दिया गया, समाज उन्नति के शिखर पर पहुंच गया।

महिलाओं के विषय में भी लोगों का दृष्टिकोण अलग–अलग है। महिलाओं की स्थिति को सदैव एक जैसा नहीं माना गया। एक ओर जहां 'यत्रा नार्यः पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' अथवा 'यदि ईश्वर प्रकाश पुंज है तो नारी उसकी किरण है जो प्रकाश को चारों ओर बिखेर देती है' अथवा यदि ईश्वर शब्द है, तो नारी उसका अर्थ है' जैसी उक्तियां प्रचलित हैं, वहीं दूसरी ओर नारी के पालन–पोषण को पड़ोसी के पौधे को सींचने के समान बताया जाता है। उसे मात्र एक आर्थिक उत्तरदायित्व माना गया। मनु ने तो यहां तक कहा कि हिन्दू महिला आजीवन पुरुष पर आश्रित है। बचपन में पिता

टिप्पणी

पर, विवाहोपरांत पति पर तथा वृद्धावस्था में पुत्र पर। इसमें से एक भी अवस्था में पुरुष का आश्रय न रहने पर उसे कलंकित व उपेक्षित किया गया तथा अपमान व तिरस्कार की ज्वाला में उसके जीवन को भस्म कर दिया गया। प्रारंभ से ही देखा जाए तो इन्हें किसी न किसी रूप में प्रताड़ित किया गया है।

संपूर्ण विश्व में इन्हें सम्मान के साथ नहीं देखा जाता है। यद्यपि मानव समाज महिला व पुरुष दोनों की सम्मिलित रचना है व समाज के ढांचे को संवारने में दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, तथापि केवल जैविक आधार पर अंतर होने के कारण महिलाओं को अत्यन्त निकृष्ट माना गया है। मैकबेथ में स्पष्ट कहा गया है कि पुत्र को जन्म देने वाली महिलाएं ही सम्मान योग्य हैं, जो पुत्री को जन्म देती हैं उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है।

केवल कुछ मातृ–सत्तात्मक समाजों में ही महिलाएं, पुरुषों की भांति समान सामाजिक स्थिति की भागीदार होती हैं तथा स्वतंत्रतापूर्वक उच्च सांस्कृतिक मानों को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण ये आस–पास के पुरुष प्रधान समाज से अत्यधिक प्रभावित हो गई हैं। इन प्रभावों ने वहां की महिलाओं के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन की महत्ता को निरंतर कम किया है।

अंग्रेजों के आगमन पर हमारे देश में बहुत परिवर्तन देखने को आया। यही वह समय था जब नारी व परिवार संबंधी मान्यताएं बदलने लगीं, स्त्री पुरुष की समानता को महत्व दिया जाने लगा, संवैधानिक सुधारों के लागू होने पर भारतीय नारी को मताधिकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुआ तथा अनेक नारी सुलभ पेशे जैसे। नर्सिंग, डॉक्टरी, शिक्षण–कार्य, स्टेनो–टाईपिंग तथा क्लर्क आदि अस्तित्व में आए, जिनसे स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता मिली तथा समाज में इन्हें सम्मान के साथ देखा जाने लगा।

किन्तु महिलाओं का प्रश्न अब सिर्फ सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रकरणों में पुरुष के साथ उनके अधिकारों की समानता अथवा परिवार में महिलाओं की स्थिति से ही संबंधित नहीं रहा है। अपितु यह उसके परिवर्तन की दिशा में संबंधित वृहद् प्रश्न का अंग बन गया है और महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन समाज में पुरुषों व महिलाओं की बदलती हुई भूमिकाओं पर निर्भर करता है।

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात नारी की स्थिति में बदलाव आया। उपनिवेश युग के पश्चात संसार में जो भी आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, वे सभी संसार भर की महिलाओं की समस्याओं से संबंधित हैं, जिन्होंने तृतीय विश्व के देशों को प्रभावित किया है। सातवें दशक से पूर्व तक यह समझा जाता रहा कि तृतीय विश्व के देशों में विकास की प्रक्रिया तीव्र नहीं हो सकती क्योंकि वहां लगभग आधी जनसंख्या (महिलाओं) को विकास प्रक्रिया से दूर रखते हुए उनकी समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया गया।

नारी के विकास में संयुक्त राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं की स्थिति में भले की नगण्य–सा सुधार हुआ हो परंतु इससे शिक्षित महिलाओं को राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय करने में बहुत मदद मिली है। महिलाएं अपनी स्थिति व अपने अधिकारों के विषय में सचेत होने लगी हैं। इसी चेतना ने उन्हें आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक न्याय तथा पुरुष के साथ समानता के

टिप्पणी

अधिकारों की मांग करने को प्रेरित किया। इससे नारी की दशा में परिवर्तन लाया जा सकता है। भारत में भी जैसा कि ए.आर. देसाई ने एक आलेख में कहा। फ्भारतीय महिलाओं में नई संवेदना व चेतना का विकास हो रहा है, जिससे अब उसे अधिक समय तक उन पारिवारिक, संस्थागत, राजनैतिक और सांस्कृतिक मानदंडों की घुटन में नहीं रहना पड़ेगा, जिनके कारण उसकी स्थिति सदैव अपमानजनक रही है।

विश्व में पुरुष तथा स्त्री दोनों का अनुपात लगभग आधा–आधा है। विकास को सदैव समाज के विभिन्न वर्गों को प्रभावित करने वाली बहुआयामी प्रक्रिया होना चाहिए। महिलाओं की स्थिति में सुधार समाज के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक पहलुओं तथा सामाजिक ढांचे को प्रभावित करेगा। महिलाओं के व्यक्तित्व में समाज के आर्थिक व सामाजिक, सांस्कृतिक पहलू स्वाभाविक रूप से निहित होते हैं। भारत में अंग्रेजों के आगमन पर हमारे देश में बहुत परिवर्तन देखने को आया। संयुक्त राष्ट्र के भूतपूर्व महासचिव कुर्त वाल्दहीम ने संयुक्त राष्ट्र आयोग को महिलाओं की स्थिति की रिपोर्ट देते हुए कहा था– "जबकि महिलाएं विश्व की आधी जनसंख्या व एक–तिहाई श्रम–शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं, वे विश्व की आय का केवल दसवां भाग तथा विश्व की संपत्ति का एक प्रतिशत से भी कम प्राप्त कर पाती हैं। वे कुल कार्यशील समय में से दो–तिहाई समय तक कार्य करने के लिए उत्तरदायी हैं।"

विश्व के निरक्षरों में तीन में से दो महिलाएं हैं। जबकि साक्षरता की दर में वृद्धि हो रही है, महिलाओं की निरक्षरता दर में वृद्धि हुई है। इसमें भी अब परिवर्तन हो रहा है। तृतीय विश्व में महिलाएं 50 प्रतिशत से अधिक खाद्य सामग्री की प्रक्रिया का 100 प्रतिशत कार्य स्वयं संपादित करती हैं। औद्योगिक क्षेत्र में जिन्हें आज विकसित राष्ट्र कहा जाता है, वहां भी महिलाओं को पुरुषों के समान कार्यों के लिए केवल (तीन–चौथाई का भी आधा) 3/8 भाग ही प्राप्त होता है। उनका वर्गीकरण कम वेतन पर महिला प्रधान कार्यों के लिए कर दिया जाता है। महिलाओं के प्रति यह भेदभाव व्यवहार तब तक बना रहेगा, जब तक कि महिलाओं का बहुमत निर्णय–प्रक्रिया को यहां तक कि महिलाओं के पक्ष में कानून निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित नहीं करेगा। इस स्थिति में इन पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

भारत में स्त्रियों की स्थिति : प्रमुख समस्याएं

अनेक पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता रही है कि स्त्री कुछ जन्मजात दोषों के कारण पुरुष के समान नहीं मानी जा सकती तथा उसे पुरुष के समान स्तर पर नहीं रखा जा सकता। डॉ. रूबेक का कथन है कि 'स्त्रियों में जन्म से अस्थिरता का दोष पाया जाता है।' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड का विचार है कि स्त्रियों के मस्तिष्क में ईर्ष्या भरे होने से उनमें न्याय की भावना बहुत कम होती है। स्त्रियों के संबंध में भारतीय समाज में इस प्रकार की कोई भ्रान्त धारणाएं नहीं पाई जाती हैं। यहां स्त्री को सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त रही है। उसको शक्ति की साकार प्रतिमा के रूप में माना गया है। वह सुख–समृद्धि और ज्ञान की प्रतीक समझी गई है। यहां स्त्री की लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा के रूप में आराधना की जाती है। स्त्री के अभाव में पुरुष को अधूरा माना गया है, उसे पुरुष की अर्द्धांगिनी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति काफी उन्नत थी। कालांतर में पुरुष इनके अधिकारों को छीनता गया और इनकी स्थिति में गिरावट आती गई। मध्य–युग में इनकी स्थिति काफी दयनीय हो गई और इन पर समाज द्वारा अनेक निर्योग्यताएं लाद दी गईं। 19वीं शताब्दी

टिप्पणी

में इनकी स्थिति में सुधार लाने के व्यापक प्रयास किए गए। इन प्रयासों में समाज सुधारकों का विशेष योग रहा है। वे इस बात के प्रति जागरूक थे कि किसी भी समाज की प्रगति और उन्नयन के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों को अपनी स्थिति उन्नत करने के लिए उतना प्रयास नहीं करना पड़ा, जितना पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को। 20वीं शताब्दी में स्त्रियों ने भी अपनी स्थिति सुधारने हेतु पुरुषों के प्रयत्नों में योग दिया। उन्होंने समाज–सुधार कार्यक्रमों एवं राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लिया। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय नेता स्त्रियों की अपार शक्ति में परिचित होने लगे। स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आता गया और धीरे–धीरे स्त्रियों को सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में अनेक अधिकार प्राप्त हुए।

हमें समाज में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि अलग–अलग कालों में स्त्रियों की स्थिति में भिन्नता पाई जाती रही है। उच्च जातियों और निम्न जातियों में स्त्रियों की स्थिति में अंतर रहा है। निम्न जातियों की स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से अधिक आत्म–निर्भर और सामाजिक दृष्टि से अधिक स्वतंत्र रही हैं। यही बात कई जनजातियों के संबंध में भी प्रतीत होती है। आज अनेक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप स्त्रियां समाज में वह स्थान प्राप्त करती जा रही हैं, जो उन्हें प्रारंभिक वैदिक युग में प्राप्त था।

विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति

ऋग्वैदिक काल (2500 वर्ष ईसा पूर्व से 1500 वर्ष ईसा पूर्व तक)

इस काल में स्त्रियों की स्थिति काफी उन्नत थी। इस समय स्त्री–पुरुषों की स्थिति में कोई असमानता नहीं थी। लड़कों के समान ही लड़कियों के लिए भी उपनयन संस्कार की व्यवस्था थी और उन्हें भी ब्रह्मचर्य काल में शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला हुआ था। अथर्ववेद में कहा गया कि वैवाहिक जीवन में स्त्री की सफलता उसके उचित प्रशिक्षण पर निर्भर करती है, जो उसे ब्रह्मचर्य काल में मिलता है। इस समय लड़कियों का विवाह युवास्था में ही होता था।

साधारणतः उनका विवाह सोलह–सत्रह वर्ष की आयु में होता था। जीवन–साथी के चुनाव में शिक्षित लड़कियों की राय का काफी महत्व था। इस समय प्रेम–विवाह भी होते थे। स्त्रियों को अलग से एकांत में नहीं रखा जाता था और धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में वे सम्मिलित होती थीं। विवाह स्त्री–पुरुष दोनों के लिए धार्मिक दृष्टि से आवश्यक समझा जाता था। आदर्श विवाह, धार्मिक संस्कार के रूप में था, जिसके द्वारा दंपत्ति को गृह का संयुक्त स्वामी माना जाता था। एक–विवाह प्रथा का प्रचलन था, यद्यपि धनी परिवारों और राज–घरानों में बहु–विवाह की रीति भी प्रचलित थी। इस काल में सती प्रथा नहीं पाई जाती थी। विधवा अपनी इच्छानुसार पुनर्विवाह या नियोग के द्वारा सन्तानोत्पत्ति कर सकती थी। इस काल में स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार प्राप्त नहीं थे। लेकिन यहां हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इस समय परिवार का सबसे वरिष्ठ पुरुष ही परिवार की संपत्ति का स्वामी एवं संरक्षक माना जाता था। केवल स्त्रियों को ही नहीं अन्य पुरुष सदस्यों को भी परिवार की संपत्ति पर अधिकार प्राप्त नहीं थे। कुछ थोड़े–से ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि इस बात में कभी–कभी विवाह के लिए लड़कियों को बेचा जाता था। पत्नी को पति की संपत्ति समझे जाने की पुरानी परंपरा का अभी कुछ सीमा तक प्रचलन था।

टिप्पणी

यह कहा जा सकता है कि इस काल में स्त्रियों की स्थिति काफी संतोषजनक थी। उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी और समग्र रूप में समाज उनको आदर की दृष्टि से देखता था। इस युग में अनेक विदुषी महिलाएं हुईं, जैसे– लोपामुद्रा, विश्ववरा, शिकाता, निवारवारी घोषा एवं इन्द्राणी आदि, जिन्होंने अनेक छंदों की रचना की। इन विदुषी स्त्रियों के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि इस काल में पर्दा–प्रथा नहीं थी।

उत्तरकालीन संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों एवं उपनिषदों का काल

इस समय समाज के उच्च वर्गों में लड़कियों के लिए उपनयन संस्कार जारी रहा और उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था भी थी। परंतु धीरे–धीरे स्त्री–शिक्षा का ह्रास होता जा रहा था। केवल कुछ उच्च घरानों में लड़कियों की शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। स्त्रियों के धार्मिक अधिकार भी कुछ सीमित किए जा रहे थे। इस काल में विवाह की आयु में कोई अंतर नहीं आया। लड़कियों का विवाह करीब सोलह वर्ष की आयु में संपन्न किया जाता था और क्षत्रियों में स्वयंवर होते थे।

इस प्रकार, इस समय पति के चुनाव में लड़की की इच्छा को महत्व दिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में विवाह–विच्छेद की भी आज्ञा थी, लेकिन इसका लाभ बहुत कम लोगों द्वारा उठाया जाता था। विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार था, वह अपने देवर अथवा किसी अन्य व्यक्ति के साथ विवाह कर सकती थी। इस समय सती प्रथा का प्रचलन नहीं था। पर्दा–प्रथा नहीं थी, परंतु इस काल में स्त्रियों का सार्वजनिक सभाओं में सम्मिलित होना प्रायः बंद हो चुका था।

इन दो कालों में स्त्रियों की उन्नत दशा और अपेक्षाकृत संतोषजनक स्थिति होने के कुछ कारण हैं। डॉ. अल्तेकर का कथन है कि पुरुषों के युद्ध कार्यों में लगे रहने के कारण, स्त्रियां कृषि, युद्ध–सामग्री के निर्माण एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेती थीं। वे समाज की उपयोगी सदस्याएं थीं। वैदिक काल में युद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, अधिकाधिक वीरों की आवश्यकता थी। इस कारण प्राग–ऐतिहासिक काल में प्रचलित सती प्रथा को समाप्त किया जा चुका था, नियोग और पुनर्विवाह की आज्ञा थी। इस समय प्रत्येक दंपत्ति को दस पुत्र सन्तानों को जन्म देने का उपदेश दिया जाता था। धर्म के प्रभाव से स्त्रियों की संतोषजनक स्थिति बनी रही। धार्मिक कार्यों में पत्नी की महत्ता को स्वीकार किया गया था। लड़कियों का विवाह युवावस्था में होने के कारण जीवन–साथी के चुनाव में उनकी इच्छा–अनिच्छा का ध्यान रखा जाता था।

सूत्रों, महाकाव्यों और प्रारंभिक स्मृतियों का काल (500 वर्ष ईसा पूर्व से 500 वर्ष ईसा पश्चात)

इस काल में ही महाभारत की रचना हुई। यह एक संक्रान्ति–काल था, जिसमें स्त्रियों की स्थिति के संबंध में विरोधी विचार पाए जाते हैं। उदाहरण के रूप में भीष्म पितामह ने कहा है कि स्त्री को सदैव पूज्य मान कर उससे स्नेह का व्यवहार करना आवश्यक है। जहां स्त्रियों का आदर होता है, वहां देवताओं का निवास होता है और उनकी अनुपस्थिति में सभी कार्य पुण्य–रहित हो जाते हैं। एक अन्य स्थान पर स्त्रियों की प्रकृति के संबंध में भीष्म पितामह ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि स्वभाव से स्त्री में लालच को दबाने की क्षमता नहीं होती और इसलिए उसे हमेशा किसी पुरुष

टिप्पणी

का संरक्षण मिलना अनिवार्य होता है। इसी काल में जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा। बौद्ध धर्म में स्त्रियों को सम्माननीय स्थान प्राप्त था। महान् शासक अशोक की बहन संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु श्रीलंका तक गई थी। थेरीगाथा के लेखकों में 83 महिला–लेखक थीं, जिनमें से 32 ने तो अविवाहित जीवन बिताया। यायन्त नामक राजकुमारी ने स्वयं महावीर स्वामी से दीक्षा ली थी और आजीवन अविवाहित रहीं। इन तथ्यों के आधार पर डॉ. अल्तेकर का कथन है कि हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि खुशहाल परिवारों में बहुत–सी लड़कियों को ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व तक उचित मात्रा में शिक्षा प्रदान की जाती थी। यह कहा जा सकता है कि इस समय तक स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी।

ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व से भारतीय समाज में कुछ ऐसे सामाजिक परिवर्तन आने लगे, जिनके कारण स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। डॉ. अल्तेकर के अनुसार, आर्य गृह में अनार्य स्त्री का प्रवेश स्त्रियों की सामान्य स्थिति की अवनति का मुख्य कारण है। यह अवनति ईसा के करीब 1000 वर्ष पूर्व धीरे–धीरे अति सूक्ष्म रूप में प्रारंभ हुई और करीब 500 वर्ष पश्चात काफी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी।

यहां के मूल–निवासियों पर विजय प्राप्त कर आर्यों ने उन्हें अपनी सामाजिक संरचना में स्थान दिया। इस समय चौथे वर्ण अर्थात शूद्र (अर्द्ध–दासों) में आपस में विवाह होने लगे। महाभारत में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे–अर्जुन ने नाग राजकुमारी युदुपी के साथ विवाह किया था। धीरे–धीरे ऐसे विवाह सामान्य होते गए। अनार्य स्त्रियां अशिक्षित थीं, संस्कृत भाषा का उन्हें ज्ञान नहीं था, वैदिक ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन नहीं किया था। इसके अतिरिक्त कर्मकांडों की जटिलता के कारण स्त्रियों का धार्मिक संस्कारों में सक्रिय रूप से भाग लेना संभव नहीं हो सका। जब आर्यों का भारत जैसे समृद्धिशाली देश पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया, तो उन्होंने यहां आरामदायक जीवन बिताना आरंभ किया और लड़कियों के विवाह की आयु घटती गई। धार्मिक कारणों से पुत्र संतान का महत्व बढ़ गया। माता–पिता के लिए लड़की के प्रौढ़ होते की उसका शीघ्रतिशीघ्र विवाह कर देने की बात रखी गई।

लड़कियों को शिक्षा और धार्मिक संस्कारों के संपादन के अधिकार से वंचित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि लड़कियों के लिए उपनयन संस्कार समाप्त हो गया और उनके विवाह की आयु को घटाने की ओर झुकाव होने लगा। यह कहा गया है कि लड़कियों के यौवनारंभ के समय ही उनका विवाह कर दिया जाना चाहिए। ईसा के करीब 200 वर्ष पश्चात यह बताया गया है कि विवाह ही लड़कियों के लिए उपनयन संस्कार है, अतः नौ–दस वर्ष की आयु में ही उनका विवाह संपन्न कर देना चाहिए। डॉ. अल्तेकर ने कहा कि उपनयन संस्कार की समाप्ति, शिक्षा की उपेक्षा तथा विवाह की आयु के घटाने का स्त्रियों की प्रतिष्ठा और स्थिति पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ा। करीब इसी समय धीरे–धीरे विधवा विवाह और नियोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। पत्नी के लिए विवाह अटूट बंधन बना दिया गया। स्मृतिकारों ने लिखा है कि पत्नी को अपने पति को परमेश्वर मानना चाहिए, चाहे उसमें कितने ही दोष क्या न हो। स्त्रियों की अशिक्षा और अज्ञानता के कारण धीरे–धीरे उनके अधिकार छिनते जा रहे थे। पुरुष अपनी पत्नी को छोड़ सकता था, अन्य से विवाह कर सकता था, परंतु स्त्री को इस प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया।

उत्तरकालीन स्मृतियां, टीकाकारों एवं संग्रह लेखकों का काल (ईसा के 500 वर्ष पश्चात से 1000 वर्ष पश्चात तक)

टिप्पणी

इस काल को सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता का युग कहा जा सकता है। चंद्रावती लखनपाल का कथन है कि इस काल में स्त्रियां गृहलक्षमी से याचिका के रूप में दिखायी देने लगीं, माता सेविका तथा जीवन और शक्ति प्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं की प्रतीक बन गई। स्त्री, जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व द्वारा देश के साहित्य और समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतंत्र, पराधीन, निस्सहाय और निर्बल बन चुकी थी। स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार समाप्त हो चुका था, अतः उन्हें शूद्र के समान स्थिति प्रदान की गई। लड़कियों के विवाह के लिए दस वर्ष की आयु को प्रस्तावित किया गया, परंतु आदर्श रूप में आठ वर्ष की लड़की का विवाह करना ही उचित बताया गया। इस समय क्षत्रिय परिवारों में लड़कियों का विवाह अवश्य चौदह–पन्द्रह वर्ष की आयु में होता था। ईसा के पश्चात 12 वीं शताब्दी तक कुछ धनी परिवारों को छोड़कर शेष लोगों में शिक्षा प्रायः समाप्त हो चुकी थी। कम आयु में विवाह होने के कारण जीवन–साथी के चुनाव में लड़कियों की इच्छा जानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। राजा महाराजाओं की देखा–देखी इस समय बहु–पत्नी विवाह का प्रचलन बढ़ता गया। ईसा के 1000 वर्ष पश्चात सम्मानित परिवारों की विधवाएं पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। 13वीं शताब्दी में मुस्लिम स्त्रियों में प्रचलित पर्दा–प्रथा को हिन्दू स्त्रियों ने अपनाना आरंभ कर दिया।

इस काल में स्त्रियों की स्थिति गिराने में अनेक शास्त्रकारों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं का योगदान रहा। इस समय पातिव्रत्य का एक–तरफा आदर्श प्रस्तुत किया गया। स्त्रियों को वैराग्य में बाधक मानने के कारण भी उनकी निन्दा की गई है। स्त्रियों को पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित कर पतित करने वाला बतलाया गया है। स्वयं मनु ने कहा है कि स्त्रियां कभी भी स्वतंत्र रहने के योग्य नहीं हैं। बाल्यावस्था में उन्हें पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षक में रहना चाहिए। नारी के संबंध में व्यक्त इन विचारों ने पुरुषों को उनके अधिकारों से वंचित करने, उन्हें भोग्य–वस्तु समझने और उन पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने में योग दिया। महाभारत तथा कुछ स्मृतियों में स्त्रियों को आदर के योग्य बताया गया है।

वस्तुतः इस काल में स्त्रियों की सामान्य स्थिति में गिरावट आई। डॉ. अल्तेकर ने लिखा है, ''इस तरह ईसा के 200 वर्ष पूर्व से 1800 वर्ष पश्चात के करीब 2000 वर्षों के काल में स्त्रियों की स्थिति लगातार गिरती गई, यद्यपि माता–पिता उसे दुलारते थे, पति उसे प्रेम करता था और बच्चे उसका आदर करते थे। सती–प्रथा के पुनः प्रचलन, पुनर्विवाह पर प्रतिबंध, पर्दा–प्रथा के विस्तार और बहु–विवाह की व्यापकता ने उसकी स्थिति को बहुत निकृष्ट कर दिया।'' बीसवीं शताब्दी से पूर्व तक स्त्रियों की ऐसी स्थिति का मुख्य कारण हल की खेती पर आधारित समाज–व्यवस्था प्रतीत होता है। ऐसे समाजों में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों का विशेष महत्व पाया जाता है और स्त्री का स्थान सामान्यतः पुरुष से नीचा होता था। पारिवारिक दृढ़ता बनाए रखने की दृष्टि से संभवतः स्त्री की इस प्रकार की स्थिति आवश्यक थी। ब्रिटिश काल अर्थात 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक स्त्रियों की निर्योग्यताओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति पूर्ववत ही बनी रही। इस काल में अंग्रेजों का यह प्रयत्न रहा कि

टिप्पणी

लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाए। अपनी इस नीति के कारण उन्होंने भारत में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में कोई विशेष रुचि नहीं ली। इस देश में स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे हैं। इन कारकों में मुख्य रूप से स्त्री–शिक्षा की उपेक्षा, बाल–विवाह, बहुपत्नी विवाह, पर्दा–प्रथा, कन्या–दान का आदर्श, स्त्रियों की पुरुषों पर आर्थिक–निर्भरता, मुसलमानों के आक्रमण तथा संयुक्त परिवार व्यवस्था आदि हैं।

3.4.1 संपत्ति का अधिकार

महिलाओं को पुरुष का पूरक माना गया है। संपत्ति के अर्जन में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके बावजूद भी इसे इस अधिकार से दूर रखा जाता है। जैसा कि विजय लक्ष्मी पंडित ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उनके पति रणजीत की मृत्यु के पश्चात वह उत्तराधिकार स्वरूप कुछ प्राप्त नहीं कर सकती थीं क्योंकि उनके कोई पुत्र नहीं था। वे अपने पति के जीवनकाल में जहां मनचाही धनराशि प्राप्त कर सकती थीं, वहीं उनकी मृत्यु के उपरांत उनके पास अपनी कोई संपत्ति नहीं थी। अब इसमें परिवर्तन किया जा चुका है। यद्यपि कानूनी तौर पर आज महिलाओं को संपत्ति का समान अधिकार प्राप्त है तथापि वे आर्थिक दृष्टि से अपने जीवन के सभी कालों में पुरुष की दया पर ही आश्रित हैं। बचपन में पिता पर, विवाहोपरांत पति पर तथा वृद्धावस्था में पुत्र पर ये निर्भर रहती हैं।

विरासत

स्वतंत्रता पूर्व के भारत में हिन्दुओं के बीच उत्तराधिकार की कई प्रणालियां प्रचलित थीं जिसमें से अधिकांश प्रणालियों में स्त्रियों की स्थिति पराश्रितता की थी और उनके स्वत्वाधिकार नहीं के बराबर थे। वे अपनी इच्छा से कोई कार्य नहीं कर सकती थीं। यदि उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त भी थे जो वे मात्र जीवनयापन के अधिकार थे। पूर्ण स्वामित्व के नहीं। ''हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956'' ने कुछ आमूल परिवर्तन किए। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण एक ही श्रेणी (भाई और बहन, पुत्र और पुत्री) के स्त्री और पुरुष वारिसों के बीच उत्तराधिकार के बराबर अधिकार है।

इस परिवर्तन ने मिताक्षरा और दायभाग सम्प्रदायों के अंतर्गत प्रचलित भिन्न प्रणालियों का उन्मूलन करके कानून को सरल बना दिया और इस कानून की सबसे बड़ी प्रगतिशील विशेषता यह है कि इसमें स्त्रियों के विरासत के अधिकार को मान्यता दी गई है और स्त्री वारिसों के मात्र जीवनयापन हेतु संपत्ति प्राप्ति के अधिकार का उन्मूलन कर दिया गया। पति की मृत्यु के पश्चात स्त्री का संपत्ति में पूरा अधिकार होगा। इस कानून के अनुसार किसी व्यक्ति के पहली श्रेणी के वारिस जो पूर्ण स्वामित्व के अधिकारी बनते हैं और आय में बराबर का हिस्सा लेते हैं, वे हैं। उसकी विधवा, पुत्र, पुत्री, पूर्वमृत पुत्र की विधवा तथा पूर्वमृत पुत्रों और पुत्रियों के पुत्र और पुत्रियां।

स्त्रियों के लिए कुछ समझौता भी किया गया। उदाहरणार्थ, पुत्रों और पुत्रियों के बीच असमानता बनाए रखने वाला एक मुख्य कारक मिताक्षरा बपौती को बनाए रखना है, जिनकी साझेदारी सदस्यता केवल पुरुषों तक ही सीमित है। बहुत सारे निर्णयों और कानूनों ने, यथा– "हिन्दू स्त्री का संपत्ति अधिकार अधिनियम और हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम" ने बपौती की इस संकल्पना पर प्रहार किए हैं। प्रवर समिति द्वारा संशोधित ''हिन्दू कोड विधेयक, 1948'' में वस्तुतः बपौती के अर्थात पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार

टिप्पणी

के उन्मूलन का सुझाव दिया गया था। इसे लेकर जो समझौता किया गया था वह आज के कानून में इस रूप में समाविष्ट हो गया है कि बपौती के साझीदार पुरुष सदस्य के स्त्री वारिसों को भी उसकी संपत्ति का कुछ भाग मिलता है जो कि अभिप्रायात्मक विभाजन द्वारा सीमांकित किया गया होता है।

इसके फलस्वरूप पुत्रों की बपौती–साझेदार के रूप में जो लाभ मिलता है वह तो मिलता ही है किन्तु इसके अतिरिक्त उसे पिता की संपत्ति में भी हिस्सा मिलता है अब पुत्रियों को भी पुत्रों के समान हिस्सा मिलता है, क्योंकि इस प्रणाली में पुत्रों का कोई जन्मसिद्ध अधिकार नहीं माना गया है। बपौती साझेदारी में अपने हिस्से का त्याग करने के बपौती साझेदार से अधिकार का प्रयोग प्रायः स्त्री–वारिसों को संपत्ति में हिस्सा न देने अथवा कम हिस्सा देने के लिए किया जाता रहा है। अतः पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार को समाप्त कर मिताक्षरा बपौती को दायभाग बपौती में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए। इसमें भी परिवर्तन करने के लिए लोग विचार करने लगे।

''हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956'' की धारा 4(2) में राज्य कानूनों के अंतर्गत आने वाली कृषि जोतों पर काश्तकारी अधिकारों के हस्तान्तरण को अधिनियम की परिधि से बाहर रखा गया है। इसके कारण बहुत से राज्यों में भूमि संबंधी कानूनों के अंतर्गत हिन्दू उत्तराधिकार अधिकार के लाभकारी प्रभाव समाप्त हो गए हैं। इसका एक विशिष्ट उदाहरण 'उत्तर प्रदेश, जमींदारी उन्मूलन' और 'भू–सुधार अधिनियम, 1950' है जिसके आगे चलकर उस राज्य की सभी कृषि–भूमियों में लागू होने की संभावना है। इसी प्रकार के भेदभावपूर्ण लक्षण कर्नाटक, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि राज्यों में अपनाए गए भूमि की उच्चतम सीमा संबंधी कुछ कानूनों में दिखाई देते हैं। स्त्रियों के लिए सामाजिक समानता और कानूनों की एकरूपता के हित में ''हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956'' की धारा 4(2) को रद्द कर दिया जाना चाहिए। महिलाओं के लिए समान दर्जा मिले तथा पिता व पति दोनों की संपत्ति में इसे हिस्सा मिले, इसके लिए कानून बनाए गए हैं।

''हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956'' की आवासी घरों के विरासत अधिकार से संबंधित धारा 23 के परिणामस्वरूप भी अविवाहित विधवा और विवाहित पुत्रियों में भेदभाव होते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य परिवार की प्रधानता पर बल देना है। विभक्तिकरण पर यह अधिनियम प्रतिबंध लगाता है किन्तु इसके द्वारा विवाहिता और अन्य पुत्रियों के बीच भेदभाव किया जाता है क्योंकि निवास का अधिकार केवल उन्हीं पुत्रियों को दिया जाता है जो अविवाहिता हैं अथवा विधवा हो गई हैं तथा जिन्हें उनके पतियों ने छोड़ दिया है अथवा जो पति से अलग हो गई हैं।

वैवाहिक संपत्ति अथवा स्वयं द्वारा अर्जित संपत्ति

अधिसंख्य महिलाएं आजीविका अर्जन के लिए कुटुम्ब के प्रयासों में हाथ बंटाती हैं, और जब वे ऐसा नहीं करतीं तब भी गृह संचालन में तो वे सारे घरेलू दायित्वों का वहन करते हुए अपने–अपने पतियों को इस बात के लिए स्वतंत्र रखती हैं कि वे अपना कारोबार कर सकें। इसे आर्थिक मूल्यों के संदर्भ में अस्वीकार किया जाता है। विवाहित स्त्रियां, जिनका अपनी स्वतंत्र आय का कोई साधन नहीं होता या फिर जो विवाह के बाद, अपना पूरा समय पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह में लगाने के लिए नौकरी छोड़ देती हैं, वे भी आर्थिक रूप से अपने पतियों पर आश्रित रहती हैं।

टिप्पणी

अधिकांश मामलों में, विवाहित जीवन के दौरान अर्जित चल और अचल संपत्ति का कानूनी स्वामित्व पति का होता है क्योंकि इसका दाम उसकी कमाई से चुकाया जाता है। विवाह–विच्छेद अथवा अलग हो जाने की स्थिति में जिन महिलाओं की अलग से अपनी कोई कमाई अथवा बचत नहीं होती, वे पैतृक संपत्ति से वंचित कर दी जाती हैं, यहां तक कि विवाह के समय उन्हें जो संपत्ति पति अथवा उसके परिवार से मिलती है, वह कतिपय समुदायों में महिलाओं को नहीं दी जाती।

इस प्रकार वित्तीय योगदान के आधार पर स्वामित्व निर्धारित करने का सिद्धांत महिलाओं के साथ न्याय नहीं करता और इसलिए यह वित्तीय अथवा सामाजिक असुरक्षा उन्हें विवाहित जीवन सफल न होने की स्थिति में भी पति से अलग होने अथवा विवाह–विच्छेद करने से रोके रहती है।

इसके लिए यह उपयोगी है कि वास्तविक वित्तीय योगदान की पुरातन कसौटी जारी रखने के स्थान पर घरेलू कार्य के माध्यम से स्त्रियों द्वारा किए गए योगदान के आर्थिक मूल्य को भी वैवाहिक संपत्ति के स्वामित्व का निर्धारण करने के प्रयोजन से विधिक मान्यता दी जाए एवं विवाह–विच्छेद अथवा पति से अलग हो जाने की स्थिति में पत्नी को विवाह के समय और विवाहित जीवन के दौरान प्राप्त परिसंपत्तियों का कम–से–कम एक–तिहाई हिस्से का हकदार माना जाना चाहिए, जिससे उन्हें समाज में पुरुषों के समान दर्जा प्राप्त हो।

अन्य

भारत एक विकासशील देश है तथा इसकी अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। यहां कन्या को एक आर्थिक दायित्व समझा जाता है। कन्या के जन्म से माता–पिता उसके दहेज की तैयारी में जुट जाते हैं। दहेज अपने विकृत रूप में आज प्रत्येक लड़की के माता–पिता हेतु वह आर्थिक दायित्व बन गया है जो उन्हें कन्या के विवाह के समय अपनी कन्या की खुशहाली को दृष्टिगत रखते हुए इसलिए निभाना होता है क्योंकि वर के माता–पिता ने वर की शिक्षा–दीक्षा पर तथा उसके पालन–पोषण पर व्यय करके उसे योग्य बनाया। यही कारण है कि अधिकांश लोग लड़की की शिक्षा पर चाहते हुए भी व्यय नहीं कर पाते क्योंकि इससे उन्हें दुगुना आर्थिक भार वहन करना होता है। दहेज लेना व देना दोनों अपराध हैं।

दहेज विरोधी कानून बनने के बाद भी दहेज प्रथा अभी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है। आज भी लोग कन्या पक्ष से दहेज लेते हैं जो कानूनन दंडनीय है। उसके माता–पिता द्वारा वर पक्ष की मांगों की पूर्ति न किए जाने पर कन्याओं पर अमानवीय अत्याचार किए जाते हैं। उनकी हत्या कर दी जाती है अथवा उन्हें आत्महत्या हेतु विवश कर दिया जाता है। इस उत्पीड़न से बचने के लिए जो कन्याएं किसी तरह शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक क्षेत्र में योगदान देती हैं और उन्हें आत्मनिर्भर होने के बावजूद समाज द्वारा थोपे गए कलंकों से तंग आकर उन्हें अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है।

स्त्रियों की शिक्षा में सबसे बड़ी समस्या निर्धनता है। धन के अभाव में भी वे शिक्षा से वंचित रह जाती हैं। दूसरी ओर दहेज प्रथा के कारण माता–पिता पर केवल आर्थिक बोझ बन कर रह जाती हैं अथवा विधवा हो जाने पर जब समाज उन्हें स्वीकार नहीं करता तो वे सामाजिक अत्याचार व निर्धनता का शिकार होकर वेश्यावृत्ति जैसे व्यवसाय को स्वीकार करने हेतु विवश हो जाती हैं।

टिप्पणी

कुछ आंकड़ों से विदित हुआ है कि कुछ निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में तो दहेज की कीमत वसूल करने, मुक्त होने अथवा परिवार के सदस्यों का जीवनयापन करने के उद्देश्य से उन्हें वेश्यावृत्ति हेतु बाध्य किया जाता है, जो समाज के लिए एक घिनौना काम है। इससे नैतिक पतन होता है। अपहरण कर उन्हें व्यापारियों के संघों को बेच देते हैं जहां उन्हें वेश्यावृत्ति हेतु बाध्य होना पड़ता है। कुछ आदिवासी व ग्रामीण क्षेत्रों में तो माता–पिता स्वयं आर्थिक दायित्वों से मुक्त होने व वित्तीय सहायता के लालच के कारण अपनी कन्याओं का विक्रय कर देते हैं अथवा उन्हें वेश्यावृत्ति हेतु उकसाते हैं। धन के लालच में ये ऐसा कदम उठाते हैं। कुछ स्थानों पर धर्म के नाम पर इस वृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता है जैसे दक्षिणी भारत में किसी कन्या का देवदासी बनना उसके माता–पिता हेतु गौरव व प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता है।

स्वतंत्रता के पश्चात आज भी भारत की निर्धनता दूर नहीं हुई है, पैसे के लिए छोटे–छोटे बच्चों को उनके माता–पिता काम करने के लिए भेज देते हैं, ताकि वे परिवार की आर्थिक रूप से मदद कर सकें। इस तरह के कार्यों में उन्हें अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है अथवा कई बार उन्हें विकलांगता का सामना करना पड़ता है। रूई आदि से संबंधित अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनसे उनके स्वास्थ्य पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा वो अकाल मृत्यु के मुंह में ढकेल दिए जाते हैं। बाल महिलाओं को श्रम शक्ति योगदान में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। चेन्नई शहर में बाल महिला श्रमिकों के एक अध्ययन में पाया गया कि लगभग 3/4 महिला श्रमिकों ने परिवार की आय बढ़ाने हेतु रोजगार प्राप्त किया। 24 प्रतिशत अपने माता–पिता की नकल के कारण रोजगार में थे। धनीवर्ग इन बाल श्रमिकों से अत्यधिक कठोर परिश्रम करवाते हैं, उसके बदले में उन्हें इतना ही पैसा मिलता है, जिससे केवल अपना पेट भर सकते हैं।

3.4.2 सुधार कानून

19वीं शताब्दी के आरंभ से ही भारतीय समाज में वैचारिक परिवर्तन प्रारंभ हो चुका था। कुछ चिन्तनशील व्यक्ति यह सोचने लगे कि विधवा को तो पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित किया गया है किन्तु पुरुष स्वयं पहली पत्नी के जीवित होते हुए भी दूसरी और तीसरी स्त्री से विवाह कर सकता है। पति चाहे कितना ही क्रूर, दुराचारी और दुश्चरित्र क्यों न हो, पत्नी के लिए पूजनीय है, देवता–तुल्य है। पति चाहे कैसा ही निकृष्ट जीवन व्यतीत क्यों न करता हो, पत्नी को पतिव्रत्य का पालन करना चाहिए। स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात जिन्दा चिता में जलने के लिए बाध्य किया गया और पुरुष को पत्नी की मृत्यु के बाद शीघ्र ही दूसरा विवाह करने का आदेश दिया गया और वह भी धर्म के नाम पर, धार्मिक क्रियाओं के संपादन हेतु। हिन्दू समाज में नैतिकता का यह दोहरा मापदंड मनु के समय से लेकर सन् 1950 तक चलता रहा। समाज–सुधारकों ने इस प्रकार की स्थिति को अनुचित और अन्यायपूर्ण माना, इसका विरोध किया और इसमें परिवर्तन करने का प्रयास किया।

स्त्रियों की स्थिति को सुधारने हेतु समाज–सुधारकों एवं नेताओं द्वारा किए गए प्रयत्नों के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि निर्योग्यताओं से अधिकांशतः उच्च जातियों की स्त्रियां ही पीड़ित रही हैं। 19वीं शताब्दी में प्रगतिशील लोगों के विचारों और दृष्टिकोणों में अनेक कारणों से परिवर्तन हुए।

टिप्पणी

पाश्चात्य उदारवादी विचारों से प्रभावित होकर ये लोग व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों में विश्वास करने लगे। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की और उनके प्रयत्नों से 1929 में सती प्रथा कानून द्वारा बंद की गई। ब्रह्म समाज ने स्त्री–पुरुष की स्वतंत्रता के सिद्धांत को प्रस्तावित किया तथा विधवा–पुनर्विवाह के प्रचलन का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। आपने बाल–विवाहों को रोकने, पर्दा–प्रथा को समाप्त करने और स्त्री–शिक्षा को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बहु–पत्नी विवाह का विरोध और विधवा–पुनर्विवाह का समर्थन किया। आपके अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1856 में ''विधवा–पुनर्विवाह अधिनियम'' पारित किया गया। हालांकि यह अधिनियम अवश्य पारित हो गया, लेकिन विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने में करीब सौ वर्ष लग गए। केशवचंद्र सेन के प्रयासों के कारण 1872 में ''विशेष विवाह अधिनियम'' पास हुआ, जिसके द्वारा लड़कियों के विवाह की आयु चौदह वर्ष, अंतर्जातीय विवाह एवं विधवा–पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता तथा एक–विवाह की प्रथा को आवश्यक कर दिया गया। सन् 1874 में कानून द्वारा स्त्री–धन के क्षेत्र को विस्तारित किया गया और स्त्री द्वारा अर्जित किए गए धन पर उसका अधिकार मान लिया गया। इसी शताब्दी में बहरामजी मालाबारी के प्रयत्नों से 12 वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया गया।

19वीं शताब्दी में लड़कियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था भी की गई। पिछले करीब 2000 वर्षों से कुछ उच्च वर्णों की स्त्रियों को छोड़कर, शेष शिक्षा की सुविधाओं से वंचित रहीं। जहां 19वीं शताब्दी के आरंभ में स्त्री–शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी, वहां इस शताब्दी के मध्य में काफी मात्रा में प्राथमिक स्कूल प्रारंभ किए गए, जिनमें हजारों की संख्या में लड़कियां शिक्षा प्राप्त करने लगीं। इसी समय व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त कर अनेक स्त्रियां अध्यापिकाएं, नर्स और डॉक्टर भी बनने लगी थीं। इस एक शताब्दी की अवधि में भारतीय समाज में वस्तुतः क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। जहां 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में स्त्री–शिक्षा बिल्कुल नहीं थी, वे अज्ञानांधकार में डूबी हुई थीं, वहां इसी शताब्दी के अंत में लाखों लड़कियां स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करने लग गईं।

इसी शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने की दृष्टि से अनेक विदुषी महिलाओं ने प्रयास किए। रमाबाई, संस्कृत की महान् विदुषी महिला थीं। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर स्त्रियों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय से लोगों को परिचित करवाया। उन्होंने आर्य–महिला समाज आरंभ किया, जहां 1882 में 300 स्त्रियां शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। 1889 में विधवाओं के लिए उन्होंने श्रद्धा–सदन आरंभ किया। इसी काल में रमाबाई रानाडे द्वारा स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया गया। आपने अशिक्षित स्त्रियों एवं विधवाओं के लिए शिक्षण व्यवस्था की तथा पूना सेवा सदन और नर्सिंग मेडिकल एसोसिएशन आरंभ किया। इसी समय मैडम कामा, तोरूदत्त तथा स्वर्णकुमारी देवी ने भी स्त्रियों में जागृति लाने का प्रयास किया। 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में स्वामी विवेकानन्द ने स्त्रियों की स्थिति उन्नत करने के लिए लोगों को विशेष प्रेरणा दी। आपने कहा, ''वह देश और वह राष्ट्र, जिसने स्त्रियों का आदर नहीं किया, कभी भी महान् नहीं बन सका और न ही कभी भविष्य में बन पाएगा।'' आपने बताया कि सभी प्राणियों में एक और समान आत्मा विद्यमान है। इसी आधार पर आपने स्त्रियों के साथ पुरुषों के समान व्यवहार किए जाने पर जोर दिया।

आपने कहा कि शिक्षा के माध्यम से स्वतंत्र चिन्तन द्वारा स्त्रियों को अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने के योग्य बनाया जाना चाहिए।

टिप्पणी

सन् 1871 में एनी बेसेंट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षा चुनी गईं। आपके नेतृत्व में इस अधिवेशन में वोट देने और चुनाव में खड़े होने के अधिकार के संबंध में स्त्री–पुरुष समानता को स्वीकार किया गया। महात्मा गांधी ने अपने राजनैतिक आंदोलन में स्त्रियों को सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया। आप स्त्री–पुरुषों की समानता के पूर्ण समर्थक थे। आपने कहा कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों में सामाजिक असमानता तथा सामाजिक अन्याय को कहीं भी मान्यता प्रदान नहीं की गई है, इस वजह से स्त्रियों को भी पुरुषों के समान पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। गांधीजी ने बाल–विवाह को अनैतिक और अमानवीय बतलाते हुए इसकी कटु आलोचना की तथा विधवा–पुनर्विवाह का समर्थन किया। इससे स्पष्ट है कि समाज–सुधारकों एवं नेताओं ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने और समाज में उन्हें उचित स्थान दिलवाने के सफल प्रयास किए।

19वीं शताब्दी में किए गए विविध प्रयत्नों के परिणामस्वरूप स्त्रियों में नव–जागरण होने लगा। उनमें चेतना जागने लगी और अपने विकास हेतु कुछ करने को वे उद्यत होने लगीं। 20वीं शताब्दी के आरंभ में स्त्रियों को सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को समाप्त करने एवं उन्हें समाज में उन्नत स्थान दिलाने हेतु सशक्त स्त्री–आंदोलन का सूत्रपात हुआ। मार्ग्रेट नोबल (सिस्टर निवेदिता), एनी बेसेंट तथा मार्ग्रेट कुशनम् नामक तीन पाश्चात्य महिलाओं ने भारत में स्त्री–आंदोलन में महत्वपूर्ण योग दिया। सन् 1917 में मद्रास में भारतीय महिला समिति की स्थापना की गई। इसी समय स्त्रियां राजनीतिक अधिकार एवं शिक्षा और स्वास्थ्य–संबंधी सुविधाएं प्राप्त करने के लिए लगातार प्रयत्न करने और विदेशी हुकूमत के सम्मुख समय–समय पर अपनी मांगें रखने लगीं। प्रबुद्ध महिलाओं के प्रयत्नों से देश में 'अखिल भारतीय सम्मेलन' का गठन किया गया। स्त्री–शिक्षा का प्रसार इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। इसी दृष्टि से 1932 में इसके द्वारा दिल्ली में 'लेडी इर्विन कॉलेज' की स्थापना की गई। बाल–विवाहों को रोकने, बहु–विवाह को रोकने, बहु–विवाह को समाप्त करने, विवाह में अधिक खर्च को बंद करने एवं स्त्रियों को पुरुषों के समान साम्पत्तिक अधिकार दिलाने हेतु इस संस्था ने प्रसार एवं संघर्ष किया। इस संगठन के अतिरिक्त विश्वविद्यालय महिला संघ, भारतीय ईसाई–महिला मंडल एवं कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट आदि के द्वारा भी स्त्रियों में जागृति लाने, उसकी निर्योग्यताओं को दूर करने एवं स्थिति को सुधारने में उन्हें योग देने हेतु सराहनीय कार्य किए गए।

सुधार आंदोलन और महिला संगठनों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप संविधान में स्त्री–पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं किया गया है। स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात देश में अनेक सामाजिक अधिनियम पारित किए गए हैं, जिन्होंने स्त्रियों की निर्योग्यताओं को दूर करने, पुरुष के समान उन्हें अधिकार प्रदान करने और उनकी स्थिति को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' के द्वारा परित्याग, न्यायिक पृथक्करण एवं विशेष परिस्थितियों में विवाह–विच्छेद की व्यवस्था की गई है तथा एक विवाह प्रथा को समस्त हिन्दुओं के लिए अनिवार्य कर दिया गया है।

'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' के द्वारा पिता की संपत्ति में पुत्र के समान ही पुत्रियों को साम्पत्तिक अधिकार दिया गया।

टिप्पणी

'हिन्दू नाबालिग और संरक्षता अधिनियम, 1956' के द्वारा पिता की मृत्यु पर नाबालिग बच्चे की संपत्ति के प्राकृतिक संरक्षक के रूप में माता को प्रथम माना गया है।

'हिन्दू दत्तकग्रहण और भरण–पोषण अधिनियम, 1956' के द्वारा विधवाओं को अपनी संपत्ति के उपयोग के लिए गोद लेने का अधिकार दिया गया है। यह अधिनियम स्त्री और पुरुष, दोनों को ही भरण–पोषण प्राप्त करने का अधिकार भी प्रदान करता है।

1956 में पारित 'स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम' द्वारा वेश्यावृत्ति को रोकने का प्रयास किया गया है।

दहेज प्रथा को रोकने के उद्देश्य से सन् 1961 में दहेज निरोधक अधिनियम भी बनाया गया। विधवा–विवाह, अंतर्जातीय विवाह और प्रेम–विवाह के मार्ग में अब कोई कानूनी अड़चनें नहीं हैं।

विवाह की न्यूनतम आयु भी अब लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष है।

इस सब कानूनी व्यवस्थाओं के द्वारा स्त्रियों की भी निर्योग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। अधिक आयु में लड़की का विवाह, पिता की संपत्ति में उसका अधिकार, विधवा को पति की संपत्ति में हिस्सा, उसे पुनर्विवाह करने की आज्ञा आदि कुछ ऐसे कानूनी परिवर्तन हैं, जो हिन्दू जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकेंगे। इन कानूनी परिवर्तनों को हिन्दू समाज धीरे–धीरे आत्मसात् करता जा रहा है।

उपर्युक्त कानूनी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भी महिला–कल्याण की दृष्टि से सरकार द्वारा काफी कुछ किया गया है। इन सभी प्रयत्नों का उद्देश्य यही रहा है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति उन्नत हो, जीवन के सभी क्षेत्रों में वे पुरुषों के समकक्ष हों और विकास कार्यों में वे भी सक्रिय रूप से भागीदारी बनें। सरकार द्वारा कानूनी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त महिलाओं के कल्याण की दृष्टि से जो कुछ किया गया, उसका उल्लेख 'नियोजित परिवर्तनः दिशाएं एवं प्रमुख कार्यक्रम' नामक अध्याय में 'भारत में नियोजित परिवर्तन' शीर्षक के अंतर्गत उपशीर्षक–।। 'महिला कल्याण' के अंतर्गत किया गया है।

स्त्रियों की स्थिति सुधारने में शिक्षा सुविधाओं ने विशेष योग दिया है। शिक्षा स्त्रियों को आत्म–विश्वास से युक्त आर्थिक स्वावलंबन की क्षमता और परंपरागत स्थिति को परिवर्तित करने में योग देती है। डॉ. पणिक्कर का कथन है कि न तो हिन्दू और न ही हिन्दू परंपराओं ने स्त्रियों में शिक्षा को हतोत्साहित किया है। भारतीय इतिहास के प्रारंभिक समय से ही हम ऐसी स्त्रियों को जानते हैं जो विचारक, कवि और विदुषी रही हैं, लेकिन यहां शिक्षा का व्यापक प्रसार नहीं था। शिक्षा ब्राह्मणों में तथा कहीं–कहीं राजघरानों तक सीमित थी। आज सभी वर्गों में स्त्री शिक्षा का समान प्रसार है। अब शिक्षित भारतीय नारियों को पतित, क्रूर और अनैतिक, पतियों को परमेश्वर अथवा पति–देवता के रूप में मानकर उनकी सेवा और पूजा करने के लिए नहीं बहकाया जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत में स्त्री–शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। जहां 1901 में 0.60 प्रतिशत महिलाएं शिक्षित थीं, अब इनका प्रतिशत 39.42 है। 1981 के

टिप्पणी

आंकड़ों के अनुसार देश में शिक्षा का कुल प्रतिशत 36.17 था। 1991 में यह प्रतिशत 52.21 हो गया। 1991 के जनगणना संबंधी आंकड़ों के अनुसार अब शिक्षा का प्रतिशत बढ़कर पुरुषों के लिए लगभग 63.11 तथा स्त्रियों के लिए 39.42 हो गया है। जहां तक व्यावसायिक शिक्षा का प्रश्न है, वहां भी स्त्रियों ने काफी प्रगति की है। बढ़ती हुई स्त्री–शिक्षा अनेक सामाजिक कुरीतियों से समाज को मुत्तफ करने में निश्चत रूप से सहायक सिद्ध हो रही है। आज बाल–विवाह प्रायः समाप्त होते जा रहे हैं, तथा पर्दा–प्रथा भी करीब–करीब समाप्त हो चुकी है। कहीं–कहीं ग्रामीण क्षेत्रों में पर्दे का रिवाज अब भी पाया जाता है। निम्न वर्ग की अशिक्षित मुस्लिम महिलाओं में अभी भी पर्दे का प्रचलन है। स्त्री–शिक्षा ने महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति विशेष रूप से सजग बनाया है। उनके विचारों में परिवर्तन लाने में योगदान दिया है। स्पष्ट है कि स्त्री–शिक्षा जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्त्री–शिक्षा ने जाति–पाति के बंधनों को शिथिल करने और मनुष्य को रूढ़िवादी विचारों के प्रभाव से छुटकारा दिलाने में सहायता पहुंचाई है।

मनुष्य चाहे या न चाहे, कुछ सामाजिक शक्तियां संस्थाओं एवं सामाजिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाती रही हैं। परिस्थितियों के बदलने पर परिवर्तन आता ही है चाहे लोग उसे उचित समझें या अनुचित। समाजशास्त्री परिवर्तन लाने वाली शक्तियों के विश्लेषण की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से चल रहे औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण ने स्त्रियों की स्थिति को परिवर्तित करने में योग दिया है। कृषक परिवार में स्त्री की आर्थिक उपयोगिता पाई जाती है।

परंतु औद्योगीकरण एवं बाजार वाली अर्थव्यवस्था के विकास के कारण परिवार द्वारा किए जाने वाले अनेक आर्थिक एवं अन्य कार्य विशेषीकृत संस्थाओं द्वारा किए जाने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि परिवार में स्त्री की आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता कम हो गई, वह आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर हो गई। स्पर्धा पर आधारित पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने स्त्री–पुरुषों को घर से बाहर विविध क्षेत्रों में नौकरी करने के लिए प्रेरित किया है। उपभोग की नई–नई वस्तुओं के आकर्षण, उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा एवं चीजों के बढ़ते हुए मूल्यों ने, मध्यम वर्ग की अनेक स्त्रियों को नौकरी करने को बाध्य–सा कर दिया है। आर्थिक दृष्टि से स्त्री की बढ़ती हुई स्वतंत्रता ने स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन और उनमें आत्म–विश्वास जाग्रत करने में सहायता पहुंचाई है।

औद्योगीकरण ने स्त्रियों को कारखानों में काम करने की सुविधा प्रदान की है। आधुनिक समय में मध्यम परिवारों की शिक्षित महिलाएं कार्यालयों, उद्योगों, शिक्षिण–संस्थाओं, चिकित्सालयों, समाज–कल्याण केंद्रों आदि में अधिकाधिक संख्या में कार्य करने लगी हैं। कुछ समय पूर्व जो भारतीय महिलाएं अपने आपको परदे में समेटे हुई थीं, घरों की चार–दीवारी में बंद थीं, वे अध्यापिका, नर्स, डॉक्टर, लिपिक, आशुलिपिक, विक्रेत्री, स्वागतिका और अनेक अन्य प्रस्थितियों में कार्य करने लगी हैं। पिछले कुछ वर्षों से सरकार व निजी क्षेत्रों में स्त्रियों के लिए नौकरी की सुविधा में विशेष वृद्धि हुई है। जीविका–उपार्जित करने वाली स्त्रियों की स्थिति उन स्त्रियों की परंपरागत स्थिति से निश्चित रूप से भिन्न है, जिनका कार्य–क्षेत्र आज भी घर के काम–काज तक ही सीमित है और जो आर्थिक दृष्टि से आज भी पुरुषों पर निर्भर हैं। नौकरी करने वाली स्त्रियों की बदली हुई स्थिति अन्य स्त्रियों को भी किसी न किसी रूप से आर्थिक क्रियाओं में सम्मिलित होने और अपने आपको किसी पेशे में लगाने को प्रोत्साहित कर रही है।

टिप्पणी

वर्तमान में स्त्रियों की राजनीतिक चेतना में वृद्धि हुई है। और अनेक स्त्रियां राजनीति में सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं। 1937 के विधान मण्डलों के चुनावों में 42 महिलाओं ने विजय प्राप्त की थी। सन् 1952 में संसद में 42 स्त्रियां सदस्य थीं। इसी वर्ष राज्यों के विधान–मंडलों में स्त्रियों की संख्या 58 थी। सन् 1957 में 50 स्त्रियां संसद की सदस्य बनीं। 343 स्त्रियों ने राज्य विधान–मण्डलों के लिए चुनाव लड़ा, जिनमें से 195 ने सफलता प्राप्त की। सन् 1962 और 1967 में संसद में स्त्रियों की संख्या क्रमशः 54 और 52 थी। सन् 1971, से 1991 तक हुए लोकसभा के आम चुनावों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों में अपने मत का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने की प्रवृत्ति और राजनीतिक चेतना बढ़ती जा रही है। डॉ. पणिक्कर ने कहा है, "जब स्वतंत्रता प्राप्त की गई, तब भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियों ने जो स्थान प्राप्त किया, उसे देखकर बाहरी दुनिया आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि वह तो यह सोचने की अभ्यस्त थी कि हिन्दू स्त्रियां पिछड़ी हुई, अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था में जकड़ी हुई हैं। भारत में जो बड़ा परिवर्तन हुआ, उसकी महत्ता यह थी कि भारतीय महिलाओं ने राज्यपालों, कैबिनेट स्तर के मंत्रियों और राजदूतों के रूप में यश प्राप्त किया। स्त्रियों की राजनीतिक चेतना तथा देश में फैल रहे लोकतंत्र और समानता के आधुनिक विचारों ने स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने और उनकी स्थिति उन्नत करने में काफी योगदान दिया है।"

आज स्त्रियों मे काफी सामाजिक जागरूकता आ चुकी है। अब वे पर्दे में सिमटी हुई अपने आपको घर की चारदीवारी में बंद नहीं रखतीं। आधुनिक स्त्रियों में जातीय–नियमों के प्रति भी उदासीनता पाई जाती है। वे ऐसे प्रतिबंधों की अधिक चिन्ता नहीं करतीं। आजकल अंतर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं, प्रेम–विवाहों की संख्या भी बढ़ रही है। आज भारतीय महिलाएं सामाजिक क्षेत्र में भी आगे आने लगी हैं। अब वे समाज–कल्याण कार्यक्रम में भाग लेती हैं, महिला–मण्डलों का निर्माण और क्लबों की सदस्यता भी ग्रहण करती हैं। आजकल अनेक स्त्रियां रूढ़ियों के चुंगल से मुक्त हो चुकी हैं और स्वतंत्रता के वातावरण में सांस ले रही हैं। पणिक्कर ने स्त्रियों की बदलती हुई सामाजिक स्थिति के संबंध में लिखा है, "भारत के लिए कुछ मेधावी स्त्रियों के द्वारा प्राप्त की गई उल्लेखनीय सफलता उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि वह परिवर्तन जो ग्रामीण क्षेत्रों, वर्गों और जातियों में, जिन्हें आज तक रूढ़िवादी या पिछड़ा हुआ माना जाता था, में हुआ है। वहां प्रथा और रूढ़िवादिता द्वारा लादे गए सामाजिक बंधनों से भी स्त्रियों को मुक्त किया जा चुका है।" डॉ. श्रीनिवास ने स्त्रियों की बदलती हुई स्थिति के लिए पश्चिमीकरण, वैश्वीकरण एवं जातीय गतिशीलता के बढ़ते हुए प्रभाव को उत्तरदायी माना है।

स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। अब हम 19वीं शताब्दी की स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि उस समय धर्म के नाम पर अनेक विधवाओं को जिन्दा चिता में जल कर भस्म होना पड़ता था, बहुत–सी बालिकाओं को जन्म लेते ही गला घोंट कर मार दिया जाता था, पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, किन्तु बाल–विधवा तक को पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित रखा गया था, वहां आज कम से कम लोगों के दृष्टिकोण में तो अवश्य अंतर आया है। वर्तमान में स्त्री–शिक्षा का प्रसार हुआ है। स्त्रियां नौकरी करने, राजनीति में भाग लेने और सामाजिक क्षेत्र में काम करने लगी हैं। अनेक स्त्रियों ने

विविध क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाते हुए प्रतिष्ठा प्राप्त की है। लेकिन स्त्रियों की स्थिति में होने वाले परिवर्तन अधिकांशः नगरीय क्षेत्रों से संबंधित हैं, ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति में भी अवश्य परिवर्तन आएगा।

टिप्पणी

आज जिस गति से परिवर्तन हो रहे हैं, स्त्रियों में जिस तेजी से चेतना बढ़ रही है, जिस उत्साह के साथ सामाजिक समानता की उनके द्वारा मांग की जा रही है, उन सबको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में हिन्दू समाज का पुनर्गठन करना आवश्यक हो गया है। देश में पिछले कुछ वर्षों में जो सामाजिक अधिनियम पारित किए गए हैं, शिक्षा के बढ़ने के साथ–साथ उनका हिन्दू समाज पर क्रान्तिकारी प्रभाव अवश्य पड़ेगा। आज कानून के द्वारा स्त्रियों की निर्योग्यताओं को दूर किया गया है, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कानून बनाना एक अलग बात है और उनका पालन करना दूसरी बात। संविधान लोगों को अधिकार प्रदान कर सकता है, न्यायालयों के द्वारा अधिकारों की रक्षा भी की जा सकती है, परंतु यह तभी संभव होता है, जब अपने अधिकारों की पूर्ण जानकारी और उनके लिए संघर्ष करने की स्वयं में दृढ़ता हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्र भारत में पारित किए गए सामाजिक अधिनियम स्त्रियों की स्थिति को परिवर्तित करने की दृष्टि से उठाये गए महत्वपूर्ण कदम हैं, परंतु उनका पूर्ण लाभ स्त्रियों को उसी समय मिल सकेगा जब ग्राम–ग्राम और घर–घर में शिक्षा का प्रसार होगा।

समाज के कल्याण को ध्यान में रखते हुए, परिस्थितियों के बदलने के साथ–साथ सामाजिक नियमों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। डॉ. अल्तेकर ने लिखा है कि हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि समय बदल चुका है, घोर तत्पश्चर्या के पुराने आदर्शों का आकर्षण समाप्त हो चुका है, सत्ता का युग जा चुका है और उसके स्थान पर तार्किकता और समानता का काल आ चुका है।

इसलिए हमें प्रस्तावित परिवर्तनों को लाते हुए नवीन परिस्थितियों के साथ स्त्रियों की स्थिति का समायोजन करना चाहिए। यदि ऐसा किया गया, तो भारतीय महिलाओं की क्षमता, कुलशता और प्रसन्नता (और इसलिए हिन्दू पुरुषों की भी) बढ़ेगी, परिणामस्वरूप, हमारा समुदाय राष्ट्रों के समुदाय में अपना उचित स्थान ग्रहण करने के योग्य बन सकेगा और मानव की प्रगति और प्रसन्नता में अपना महत्वपूर्ण योग दे पाएगा। स्पष्ट है कि समय के साथ–साथ विचारों, दृष्टिकोणों, व्यवहारों और क्रियाओं में परिवर्तन लाना समाज के हित में आवश्यक होता है और हिन्दू समाज आज परिवर्तन की ओर अग्रसर है।

एलफ्रेड डीसोजा ने बताया है कि यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम निर्धनता एवं उच्च प्रजनन क्षमता के दोषपूर्ण कुचक्र को तोड़ना है। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि पिछले करीब 45 वर्षों के नियोजित आर्थिक विकास के बावजूद ग्रामीण स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने का सामाजिक नियोजकों के द्वारा कोई सराहनीय प्रयत्न नहीं किया गया। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों को वस्तुओं के उत्पादन, उनकी खरीद–बेच, पोषण, स्वच्छता और स्वास्थ्य, भोजन बनाने तथा बालकों की उचित तरीके से देखभाल करने के संबंध में अनौपचारिक शिक्षा की सुविधाएं प्रदान की जाएं, तो वहां स्त्रियों की स्थिति को सुधारा जा सकता है।

टिप्पणी

कार्यशील महिलाओं की स्थिति सुधारने हेतु आवश्यक है कि बच्चों की देखभाल एवं गृह–कार्य जो 'महिलाओं के कार्य' समझे जाते हैं, के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जाए। विभिन्न अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि कार्यशील स्त्रियों को, व्यावसायिक कार्य के साथ–साथ पारिवारिक दायित्वों को पूर्णतः निभाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। डॉ. प्रोमिला कपूर ने बताया कि पतियों के इस विश्वास के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति कि गृहकार्य तथा बच्चों की देखभाल पत्नी का ही काम है, वैवाहिक कलह का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में भारतीय पतियों पर अपनी कार्यशील पत्नियों को गृहकार्य एवं बालकों की देखभाल में सहयोग देने के लिए दबाव बढ़ेगा। भारतीय स्त्रियों की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से आवश्यक है कि ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में स्त्रियों के जीवन से संबंधित विभिन्न पक्षों के बारे में अध्ययनों के माध्यम से प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जाए।

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति

जहां तक हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की तुलनात्मक स्थिति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि नगरीय क्षेत्रों में हिन्दू स्त्रियों की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत ही मामूली। मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में न तो नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ है और न ही ग्रामीण क्षेत्रों में कोई विशेष परिवर्तन आया है।

मुस्लिम स्त्रियों में आज भी पर्दा प्रथा पाई जाती है। आज भी नगरों तक में वे हिन्दू स्त्रियों के समान, जीवन की विविध गतिविधियों में भाग नहीं ले रही हैं, हिन्दू स्त्रियां प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाती जा रही हैं, पुरानी रूढ़ियों का विरोध करने लगी हैं, परंतु मुस्लिम स्त्रियों पर रूढ़ियों और परंपरागत धार्मिक व्यवस्थाओं का आज भी काफी प्रभाव है। मुस्लिम समाज में आज भी एक पुरुष को चार पत्नियां रखने का अधिकार है, वे लोग परिवार नियोजन को धर्म–विरुद्ध मानते हैं।

दिसम्बर, 1971 में महाराष्ट्र में महिला सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में यह मांग की गई कि संपूर्ण देश के लिए समान सिविल कोड, एक विवाह की प्रथा और परिवार नियोजन को उचित माना जाए। यह संकेत है कि मुस्लिम स्त्रियां भी परिवर्तन चाहती हैं। भारतीय संविधान में भी पूरे देश के लिए एक ही सिविल कोड बनाने की बात राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों में की गई है। हिन्दुओं में बहुपत्नी विवाह का कानून समाप्त किया जा चुका है। मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने, उनके पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने और संपूर्ण राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए सभी नागरिकों पर एक–विवाह प्रथा संबंधी कानून लागू करना लाभदायक प्रतीत होता है। आज इस ओर प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

हिन्दू स्त्रियों की प्रमुख समस्याएं

हिन्दू स्त्रियों को कई निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है, उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ा है, कई अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है। उनकी प्रमुख समस्याएं इस प्रकार हैं–

1. हिन्दुओं में सामान्यतः संयुक्त परिवार व्यवस्था पाई जाती रही है। जिसमें पुरुषों की प्रधानता है। स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए यह व्यवस्था काफी कुछ उत्तरदायी रही है। स्त्रियों का सारा समय तो परिवार की सेवा में ही व्यतीत हो

जाता है। उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का समुचित अवसर ही नहीं मिल पाता। विधवाओं की स्थिति तो ऐसे परिवारों में और भी दयनीय रही है।

टिप्पणी

2. स्त्रियों की विवाह से संबंधित कई समस्याएं रही हैं। ऐसी समस्याओं में बाल–विवाह की समस्या प्रमुख है। कम आयु में ही विवाह कर देना माता–पिता का धार्मिक कर्तव्य माना गया है। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया और वे चेतना–शून्य हो गईं।
3. यहां स्त्रियों की एक अन्य समस्या विधवा विवाह का निषेध रहा है। विधवाओं को सामान्यतः पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई, चाहे वे बाल–विधवाएं ही क्यों न हों। विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में कानून बन जाने के उपरांत भी ऐसे विवाह व्यवहार रूप से प्रचलित नहीं हो पाए। विधवाओं को अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है।
4. आज दहेज प्रथा में कारण माता–पिता के लिए लड़कियों का विवाह एक समस्या बन गया है। दहेज के कारण ही स्त्रियों को यातनाएं दी जाती हैं, जला दिया जाता है, मार दिया जाता है। दहेज पारिवारिक विघटन, ऋणग्रस्तता, निम्न जीवन स्तर, बेमेल विवाह, भ्रष्टाचार एवं अपराध के लिए भी उत्तरदायी हैं।
5. वर्तमान में यद्यपि स्त्री–पुरुषों को तलाक (विवाह–विच्छेद) का कानूनी अधिकार समान रूप से मिल गया है, परंतु व्यवहार रूप से देखा गया है कि स्त्रियां सामान्यतः इस अधिकार का प्रयोग लोक–लज्जा के डर से नहीं कर पातीं। पुरुष अपनी इच्छानुसार कभी भी अपनी पत्नी को छोड़ देता है, तलाक ले लेता है। पारिवारिक जीवन दुखी होने पर स्त्रियां अपने बच्चों के हित को ध्यान में रखकर और कई बार आर्थिक निर्भरता के कारण तलाक नहीं ले पातीं।
6. अनेक कारणों से भारत में अंतर्जातीय विवाहों पर प्रतिबंध पाया जाता रहा है। यहां अपनी जाति से बाहर विवाह करना पाप और अपराध तक समझा जाता रहा है। ऐसा विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। अपनी ही जाति के संकुचित दायरे में विवाह करने से विवाह या जीवन–साथी के चुनाव का क्षेत्र सीमित हो जाता है। इससे बेमेल विवाह बढ़ते हैं, तथा दहेज की समस्या गंभीर होती है। ऐसी स्थिति में विधवाओं के पुनर्विवाह का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

7 यहां मुस्लिम काल में पर्दा–प्रथा प्रारंभ हुई। इस प्रथा के कारण स्त्रियों की शिक्षा एवं उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ी है। इस कुप्रथा के कारण उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है।

8. स्त्रियों को कई कारणों से शिक्षा से सामान्यतः वंचित रहना पड़ा है। पर्दा–प्रथा, पुरुष प्रधानता, आर्थिक निर्भरता, कार्य–क्षेत्र का घर की चारदीवारी तक सीमित होना आदि कारणों से प्रारंभ से ही स्त्री–शिक्षा पर जोर नहीं दिया गया। यही कारण है कि जहां 1991 में पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत 63.86 था, वहां महिलाओं में केवल 39.42 था। राजस्थान में तो महिला साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक कम अर्थात 20.84 ही है। नगरों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में महिला साक्षरता काफी कम है। व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त महिलाओं की तो देश में काफी कमी है। अधिकांश स्त्रियों के अशिक्षित होने के कारण ही स्त्रियों से संबंधित उनकी समस्याएं पाई जाती हैं।

टिप्पणी

9. निम्न आर्थिक स्थिति के कारण भी स्त्रियों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भर हैं, वे पराश्रित हैं, सामान्यतः वे अर्जन का कार्य नहीं करती हैं। उनका कार्यक्षेत्र घर तक ही सीमित माना गया है। जहां स्त्रियां अर्जन करती हैं, वहां उन्हें पुरुषों की तुलना में कम–वेतन दिया जाता है, उनका शोषण किया जाता है। स्त्रियों को तो अपने भरण–पोषण तक के लिए पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार के साथ कई स्त्रियां नौकरी करने लगी हैं परंतु कार्यशील महिलाओं की अपनी समस्याएं हैं, उनमें भूमिका संघर्ष के पश्चात भी कार्यशील महिला से परिवार के क्षेत्र में वे सब अपेक्षाएं की जाती हैं जो नौकरी नहीं करने वाली स्त्री से की जाती हैं। ऐसी स्थिति में भूमिका–संघर्ष होना स्वाभाविक ही है।
10. राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियां पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई हैं। राजनीति में स्त्रियों की कम सहभागिता के प्रमुख कारण हैं–चुनावों का बढ़ता हुआ खर्च, हिंसा की धमकियां या डर तथा चरित्र हनन। कामकाजी महिलाओं में राजनीतिक चेतना तुलनात्मक दृष्टि से अन्य महिलाओं की तुलना में अधिक होती है। शिक्षा के बढ़ने से अब महिलाओं में राजनीतिक चेतना बढ़ती जा रही है।

स्पष्ट है कि भारतीय महिलाओं को आज भी पारिवारिक, वैवाहिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन क्षेत्रों में समस्याओं के कारण स्त्रियों की स्थिति में सरकारी एवं गैर–सरकारी प्रयत्नों के उपरांत भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

मुस्लिम स्त्रियों की प्रमुख समस्याएं

मुस्लिम स्त्रियों के अनेक समस्याओं से घिरे होने के कारण उनकी सामाजिक स्थिति पुरुषों की तुलना में काफी निम्न है। यहां उनकी समस्याओं पर अति संक्षेप में विचार किया गया है–

1. पर्दा प्रथा मुस्लिम समाज की एक प्रमुख समस्या है। मुस्लिम स्त्रियों को घर से बाहर निकलते समय बुरका ओढ़ना पड़ता है। इससे स्त्रियों की समुचित शिक्षा–दीक्षा नहीं हो पाती, वे घर की चारदीवारी तक ही सीमित रह जाती हैं। पर्दा प्रथा के कारण ही मुस्लिम स्त्रियों में पिछड़ापन, रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास पाए जाते हैं।
2. शिक्षा की कमी मुस्लिम स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या है। शिक्षा की कमी के कारण ही मुस्लिम स्त्रियां सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं, आर्थिक दृष्टि से पराश्रित हैं तथा पुरुषों की स्वेच्छाचारिता का शिकार हैं।
3. आर्थिक दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियां पूरी तरह पुरुषों पर आश्रित हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनका कार्य–क्षेत्र घर की चारदीवारी तक सीमित हो गया है। वे आर्थिक दृष्टि से उत्पादन में सामान्यतः कोई योगदान नहीं दे पाती हैं। अतः परिवार की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं रह पाती और बालकों का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता।
4. मुसलमानों में बहुपत्नित्व की समस्या भी प्रमुख है। इनमें एक पुरुष को चार स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार प्राप्त है। इससे पुरुषों की स्वेच्छाचारिता बढ़ जाती है और वे स्त्रियों पर अत्याचार करने लगते हैं। बहुपत्नी प्रथा के कारण

टिप्पणी

ही पारिवारिक वातावरण कलुषित हो जाता है। वहां आए दिन ईर्ष्या, द्वेष मनमुटाव, लड़ाई–झगड़े पाए जाते हैं। अधिक पत्नियां एवं अधिक सन्तान अक्सर परिवार पर बोझ बन जाती हैं। ऐसी दशा में उनके रहन–सहन का स्तर गिर जाता है तथा बालकों का चहुंमुखी विकास नहीं हो पाता।

5. मुस्लिम समाज में भी बाल–विवाह की प्रथा पाई जाती है। इस कुप्रथा के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य गिरा रहता है, दुर्बल सन्तानों का जन्म होता है तथा पारिवारिक सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई रहती है। साथ ही जनसंख्या वृद्धि को भी प्रोत्साहन मिलता है।
6. तलाक की समस्या मुस्लिम स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या है। यद्यपि सैद्धांतिक दृष्टि से स्त्री–पुरुष दोनों को ही तलाक का अधिकार समान रूप से प्राप्त है, परंतु पुरुष ही साधारणतः इस अधिकार का उपयोग कर पाते हैं, स्त्रियां नहीं। इसका कारण यह है कि अधिकांश स्त्रियां अशिक्षित हैं, आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भर हैं तथा समाज में पुरुषों की प्रधानता पाई जाती है।
7. अधिकारों की अव्यावहारिकता भी स्त्रियों के लिए एक समस्या बनी हुई है। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार अवश्य प्राप्त हैं परंतु अशिक्षा, संयुक्त प्रथा, पर्दा–प्रथा, बहुपत्नी प्रथा एवं आर्थिक निर्भरता के कारण वे अपने अधिकारों का सामान्यतया लाभ नहीं उठा पातीं। मेहर तक पर स्त्री का नहीं वरन् पुरुष या परिवार का ही अधिकार होता है। संपत्ति में भी कोई हिस्सा उन्हें नहीं दिया जाता और हिस्सा प्राप्त करने के लिए उन्हें न्यायालय के द्वार खटखटाने पड़ते हैं। परिवार संबंधी वास्तविक सत्ता तो पुरुषों के हाथों में ही केन्द्रित रहती है और स्त्रियों को तो आजीवन सेविका की ही भूमिका निभानी पड़ती है।

3.4.3 राजनीतिक भागीदारी

अब एक नजर राजनीतिक क्षेत्र पर डालें जहां पूर्व में स्त्रियां राजनीति से पूर्णतः वंचित रखी गईं, उनकी सहभागिता शून्य थी। राजनीति में 1952 के वयस्क मताधिकार द्वारा स्त्रियां प्रथम बार प्रशासन के माध्यम से सम्मिलित हुईं। किन्तु पद धारण करने से अब भी अछूती रहीं।

यह विदित है कि जनजातीय राजनीतिक संरचना में परंपरागत पंच सत्ता पर प्रभुत्व रखते थे, जिनके द्वारा चौकी वसूली, आपसी तथा अंतः ग्राम विवाद सुलझाए जाते थे। कुछ व्यक्ति भांजगड़िए के रूप में विशेषज्ञ बनते तो कुछ भैरूजी के स्थान पर भोपा के रूप में कष्ट निवारण करते।

भोपा अपनी तंत्रावस्था में प्रभावी रहता था। भोपा, भांजगड़िया, वाता वाले, पंच आदि जनजातीय परंपरागत सत्ता के उदाहरण हैं, जिनका वर्तमान में भी अस्तित्व है। सत्ता के पारम्परिक स्रोत और आधुनिक पंचायती राज दोनों इस समय विद्यमान है। जनजातीय संस्कृति के तात्विक अंश के रूप में परंपरात्मक ढांचा विद्यमान हैं, जिसे यकायक पुनर्स्थापन की ओर नहीं ले जाया जा सकता। परिवर्तन के अनुगामी संवेगों, उनसे उत्पन्न होने वाली निराशाओं को समझे बिना पुनर्स्थापन जाटिल कार्य है। स्त्रियों के लिए पंचायती राज विकेंद्रीकरण में आरक्षण प्रावधान ने एक नवीन द्वार खोला है।

राजस्थान में ग्राम पंचायत स्तर पर 492 अनुसूचित जनजाति महिला सरपंच यह व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं कि राजनीति में उनकी भागीदारी प्रारंभ हुई है। संक्रमण

टिप्पणी

की स्थिति में परंपरागत नेतृत्व की सहायता लेते हुए स्त्रियां कार्य कर रहीं हैं। उभरते हुए नए प्रकार के नेतृत्व के नियम समझने, कार्य संचालन करने में समय लगना स्वाभाविक है। संक्रमण काल में परंपरागत नेतृत्व को दरकिनार कर नया नेतृत्व नहीं किया जा सकता। वर्तमान पंचायती राज व्यवस्था औपचारिक निकाय है, वहीं परंपरागत पंच अनौपचारिक है। इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हुए ही वर्तमान में कार्य का सुचारू संचालन संभव है।

स्त्री की पारिवारिक अधीनस्थता वर्तमान में भी कायम है। जहां स्त्री, पुरुष सत्ता को स्वीकार कर जीवनयापन करती है। स्त्रियों के लिए वार्ड पंच, सदस्य, सरपंच और यहां तक कि जिला प्रमुख की भूमिका का निर्वहन करने में सबसे बड़ी बाधा उनके पति अथवा अन्य संबंधियों का परिवार में उन पर सत्ता रखना है। पति से विरोध के उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्त्री की निरक्षरता तथा आर्थिक तंगी उनकी राजनीतिक सहभागिता को कम करती है, फलतः वह परिवार के पुरुष पर आश्रित रहती है। चारों गांवों से संगृहीत तथ्यों की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि स्त्रियों में राजनीतिक जागरूकता आई है।

73 प्रतिशत स्त्रियों द्वारा वोट डाला जाना इसका सूचक है। जनजातीय स्त्री का स्वयं चुनाव लड़ना और ग्राम पंचायत में भागीदारी एक नवीन प्रयोग है। यद्यपि वर्तमान में स्त्रियों का पिछड़ापन, निरक्षरता, परंपरागत जीवन मूल्यों की जकड़न के रहते उन्हें कुशलतापूर्वक कार्य करने में सक्षम नहीं बनाता। विभिन्न पदों पर कार्य करने की प्रथम आवश्यकता योजनाओं के क्रियान्वयन में सफल होना है, जिसमें जनजातीय स्त्री अभी अपनी निरक्षरता के कारण अक्षम है। वे यह भी नहीं जानतीं कि योजना क्या है? उसका संचालन कैसे किया जाए फलतः वे पुरुष पर निर्भर हैं।

एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि यद्यपि स्त्रियों को राजनीतिक क्षेत्र में आंशिक सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु सदियों से जिस क्षेत्र में उनका पदार्पण नहीं हुआ उसमें उनकी भागीदारी ही महत्वपूर्ण है। यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में राजनीति में जनजातीय स्त्रियां महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेंगी। एक विशिष्ट पद पर रहते हुए, पद के अनुरूप व्यवहार करने के उद्देश्य को सम्मुख रख स्त्रियां कार्य हेतु तत्पर होने के साथ स्वयं के योगदान के लिए सचेत हुई हैं।

पारिवारिक अधीनस्थता से दबी हुई स्त्रियां अपनी स्थिति के प्रति विरोध को परंपराओं के पालन में ढिलाई करके अथवा उनकी उपेक्षा कर व्यक्त करने लगी हैं। सरपंच के रूप में स्त्री का पदस्थापित होना औपचारिक पद है, वहीं गांव में गमेती या पटेल की अनौपचारिक पद सत्ता भी विद्यमान है। एक ही काल में सरपंच और गमेती या पटेल की उपस्थिति एक प्रश्न जरूर खड़ा करती है कि इनका पारस्परिक संबंध क्या होगा? पारस्परिक सामंजस्य की संभावना होने के साथ विरोधाभासी स्थितियां भी उतनी ही संभावित हैं। स्त्रियों की कार्य क्षमता इससे अप्रभावित नहीं रह सकती। गांव में परंपरागत सत्ता के अंतर्गत कई बार जनजातीय परिवार को गांव छोड़ने को कहा जाता है। स्त्रियों पर आरोप लगाना उन्हें गांव छोड़ने को बाध्य किया जाना, परंपरागत कानून के अनुसार जनजातियां मानती हैं, किन्तु यह विधि सम्मत नहीं कहा जा सकता।

अर्थ यह है कि यह संक्रमण काल है, जिसमें दोनों में से एक का चयन ही यह निर्धारित करेगा कि जनजातीय समाज किधर जा रहा है। पंचायती राज महिला प्रतिनिधियों के माध्यम से महिला जो समाज के स्तर पर विकास प्रक्रिया में सबसे नीचे

क्रम पर आसीन रहीं उन्हें शासन सत्ता में ऊपरी क्रम में आने का अवसर मिला। जनजातीय स्त्रियों में सत्ता का एहसास और नवीन कार्यक्रमों के प्रति चौकन्ने रहने की यह स्थिति दूरगामी परिणाम उत्पन्न कर सकती है। इन महिला प्रतिनिधियों को अपने परिवार में पति–पिता, पुत्र या भाई का सहयोग भी मिला है, किन्तु राजनीतिक सत्ता की हिस्सेदार बनने से उन्हें पुरुष प्रतिनिधियों के विरोध का सामना भी करना पड़ा है।

टिप्पणी

स्त्रियों की निरक्षरता, सामाजिक प्रस्थिति में निम्नता, कमजोर आर्थिक स्थिति और राजनीतिक जागरूकता की कमी को आधार मान यह तर्क दिया जाता है कि स्त्रियां प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर सकतीं। फिर भी कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहां स्त्रियों ने पति की राय के विरुद्ध कार्य किया और अपने पति और ससुर के विरोध में आदेश भी जारी किया जबकि पंचायत भूमि के अतिक्रमण का मुद्दा था। महिला सरपंच द्वारा जानकारी मांगे जाने पर, घर के भीतर जाकर पति को बाहर भेज देना यह व्यक्त करता है कि स्त्रियों में राजनीतिक जागरूकता न्यून है, जिससे उन्हें परिवार के सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है।

जनजातीय क्षेत्र में पितृ सत्तात्मक ढांचा, महिलाओं को आर्थिक रूप से दयनीय तथा उनके प्रति संकुचित मानसिक दृष्टि रखने वाली सामाजिक कुरीतियां, जैसे कन्या भ्रूण–हत्या, पर्दा प्रथा, बाल विवाह आदि दोहरे मूल्यों के कारण स्त्रियां अनायास विवेकसंगत फैसले करने में फिलहाल स्वयं को अक्षम पा रही हैं।

जहां राजस्थान में महिला साक्षरता दर मात्र 44.30 है और जनजातीय महिलाओं में अति न्यून है, निरक्षरता के कारण वे अपने दायित्वों और अधिकारों से परिचित नहीं हो पर रही हैं। पारम्परिक पारिवारिक पृष्ठभूमि, स्वयं को घरेलू कार्यों तक सीमित रखकर महिला कार्यक्रम का सफल निष्पादन करने में स्वयं को अशक्त मान पति अथवा अन्य संबंधी का सहयोग लेने को विवश हैं।

राजनीति में महिलाओं की स्थिति

स्त्रियों को पुरुष का जीवन साथी माना जाता है। इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि राजनीति में स्त्रियों की भी प्रमुख भूमिका रही है। स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति इस बात से जानी जा सकती है कि सत्ता के स्वरूप निर्धारण और उसके भाग लेने के मामले में उन्हें कितनी समानता और आजादी प्राप्त है और इस संदर्भ में उनके योग को समाज कितना महत्व देता है।

भारतीय संविधान में स्त्रियों की राजनीतिक सत्ता को मान्यता दिया जाना न केवल परंपरागत भारतीय समाज से विरासत में प्राप्त प्रतिमानों की तुलना में एक बिल्कुल नया कदम था, अपितु उस समय के सर्वाधिक उन्नत देशों के राजनीतिक आदर्शों से भी बढ़कर था (समाजवादी देशों को छोड़कर संसार में किसी अन्य राज्य ने स्त्रियों की समता को स्वाभाविक रूप से स्वीकार नहीं किया) स्त्रियों की राजनीतिक समता की प्राप्ति में जिन दो प्रमुख शक्तियों ने उत्प्रेरक का काम किया वे थीं– राष्ट्रीय आंदोलन और महात्मा गांधी का नेतृत्व।

स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए महात्मा गांधी का प्रमुख योगदान है। इन्होंने इसके विकास का नेतृत्व किया, किन्तु 19वीं और 20वीं शताब्दी के संधि स्थल पर स्त्रियों का एक छोटा वर्ग अपने घरों से बाहर समाज कल्याण की गतिविधियों में विशेषतः स्त्री शिक्षा समाज में दुर्बल वर्गों के कल्याण और संकटग्रस्त लोगों की सहायता से कार्य में स्वेच्छा से भाग लेने लगा।

टिप्पणी

धीरे–धीरे इस दिशा में भी परिवर्तन होने लगा तथा लोगों की सहभागिता बढ़ने लगी। इससे भी छोटे एक समूह ने क्रान्तिकारी आंदोलन में भाग लिया। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में महिला संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने राजनीतिक अधिकारों की मांग शुरू की। 1917 में श्रीमती सरोजनी नायडू के नेतृत्व में भारतीय महिलाओं के एक प्रतिनिधि मंडल ने ब्रिटिश संसद में पुरुषों के साथ समता के आधार पर स्त्रियों के मताधिकार के लिए मांग पेश की। 1921 के सुधार अधिनियम ने केवल उन गृहिणियों को मताधिकार दिया जो संपन्न तथा शिक्षित थीं। विदेशी शासकों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि भारतीय समाज भी कभी स्त्रियों की पुरुषों के बराबर का साझीदार मानेगा।

विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा विकाशसील राष्ट्रों में महिलाओं की भागीदारी अधिक है। उन्होंने स्वयं को स्त्रियों के अधिकारों के मामले में किसी तरह का समझौता न करने वाला घोषित कर दिया था। उनका विश्वास था कि समाज के पुनर्निर्माण में स्त्रियों को एक सुनिश्चित भूमिका अदा करनी है और सामाजिक न्याय पाने के लिए उनकी समता के अधिकार को मान्यता देना एक अनिवार्य कदम है। स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में भी उन्होंने समर्थन किया।

स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों ने भारी संख्या में भाग लिया। गांधीजी के इस प्रयास ने राजनीतिक और सामाजिक संभ्रान्त वर्ग पर, जिसमें इन वर्गों की स्त्रियां भी सम्मिलित थीं, प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। 1930 में प्रतिनिधि महिला संगठनों की एक बैठक में स्त्री–पुरुष के भेदभाव के बिना वयस्क मताधिकार की तत्काल स्वीकृति की मांग की। यद्यपि सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया किन्तु 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कराची अधिवेशन ने इसे मान लिया और स्त्रियों की राजनीतिक समता के लिए उनकी स्थिति और योग्यताओं का विचार किए बिना प्रयत्न करने का बीड़ा उठाया। यह कार्य 1947 के पश्चात जब भारत स्वतंत्र हुआ तब पूर्ण हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात के वर्षों में भी इन अधिकारों को स्थिति व अवसरों की सामान्य समता तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय प्राप्त करने का साधन माना गया। स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति का निर्धारण निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत किया गया।

1. चुनावों में मतदाताओं और उम्मीदवारों की हैसियत से राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेना।
2. राजनीति में सजगता, वचनबद्धता और सक्रिय सहभागिता जैसे राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाना तथा राजनीतिक कार्यवाही और व्यवहार में स्वायत्तता का निर्वाह करना।
3. राजनीतिक प्रक्रिया पर उनका प्रभाव जानना।

विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा विकासशील राष्ट्रों में महिलाओं की भागीदारी अधिक है। कितने ही विकसित कहलाए जाने वाले राष्ट्रों में महिलाओं को मताधिकार की प्राप्ति आसानी से नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, न्यूजीलैण्ड में 1983 में महिलाओं को पूर्ण मताधिकार दिया गया, 1902 में आस्ट्रेलिया में, फिनलैण्ड में 1966 में और नार्वे में यह अधिकार 1913 में प्रदान किया गया। प्राचीनतम प्रजातांत्रिक देश इंग्लैण्ड में बहुत लंबे संघर्ष के पश्चात ही महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त हुआ।

1918 के पहले महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। 1918 में पुरुषों के मताधिकार की आयु 21 वर्ष तथा महिलाओं की 30 वर्ष थी। 1928 में यह आयु सबके लिए 21 वर्ष कर दी गई। कल्पना शर्मा के एक अध्ययन के अनुसार प्रथम विश्व के राष्ट्र विशेषतया अमेरिका में विभिन्न राजनीतिक कार्यालयों (अधिकतर राज्य तथा नगरपालिका स्तर पर) में से केवल 15% कार्यालयों में ही महिलाएं कार्य करती हैं। वहां की कांग्रेस में 535 सीटों में से केवल 47% प्रतिनिधित्व ही महिलाओं का है तथा 100 में से केवल दो सीनेटर ही महिलाएं हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम कब पारित हुआ?

   (क) 1944 (ख) 1956

   (ग) 1958 (घ) 1962

6. किसके नेतृत्व में भारतीय महिलाओं के प्रतिनिधि मंडल ने ब्रिटिश संसद में पुरुषों के साथ समता के आधार पर स्त्रियों के मताधिकार के लिए मांग पेश की?

   (क) एनी वेसेंट (ख) महात्मा गांधी

   (ग) सरोजनी नायडू (घ) इनमें से कोई नहीं

3.5 परंपरा और आधुनिकता

भारतीय परंपरा में महिलाओं को सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त था। वे गृह–कार्य के अलावा समाज के अन्य कार्यों में भी समान रूप से पुरुषों की भागीदार रहीं। महिलाएं शिक्षा, कला, संस्कृति के क्षेत्र में भी महती उपलब्धियों को प्रदर्शित करती रही हैं। गार्गी, मैत्रेयी, ऐसी ही विदुषी नारियां थीं।

लेकिन मध्यकाल में मुसलमानों के शासन की स्थापना के बाद स्त्रियों की दशा में गिरावट आई। इसके बाद ब्रिटिश काल आया जो अन्य क्षेत्रों में भारतीय जनजीवन की जागृति की तरह ही महिला उत्थान एवं विकास का युग रहा। इस काल में महिलाओं की दशा में सुधार हुआ। नई ब्रिटिश सरकार के द्वारा इस दिशा में कई प्रमुख कार्य किए गए। इसमें राजा राममोहन राय की भूमिका उल्लेखनीय थी। उन्हीं के प्रयासों से 1839 में सती प्रथा का भारत में उन्मूलन हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के नये संविधान में महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिए गए। उन्हें पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का अवसर दिया गया।

लेकिन अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, महिला दशक, अंतर्राष्ट्रीय बालिका वर्ष के बाद वर्ष 2001 महिला सशक्तीकरण वर्ष के रूप में मनाया गया। संवैधानिक प्रावधानों और कानूनों के बावजूद महिलाओं के उत्पीड़न की घटनाओं की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ रही है। महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों के अनेक रूप हैं, जैसे– कन्या भ्रूण हत्या, शिशु कन्या हत्या, परिवार में लड़कियों की शिक्षा और स्वास्थ्य की उपेक्षा, अल्पायु में विवाह, बलात्कार, बलात् वेश्याकरण आदि।

टिप्पणी

आधुनिक महिलाएं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की सहभागी रही हैं फिर भी वे पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत की 24.5 करोड़ महिलाएं निरक्षर हैं। 90% महिलाएं ऐसी हैं जिन्हें अपने स्वास्थ्य से संबंधित निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। रिपोर्ट में वर्तमान समय में भी नवजात बच्चियों की हत्या तथा भ्रूण हत्या पर भी प्रकाश डाला गया है। पुरुष वर्ग नारी को अपनी दासी के समान समझता है। समाज में आज भी नारी की सामाजिक दशा अच्छी नहीं है और पुरुष वर्ग इन्हें अपने से नीचा दर्जा देते हैं। भारतीय समाज में जितनी परंपराएं, रीति–रिवाज, धार्मिक अनुष्ठान पाए जाते हैं, वे सब पुरुषों द्वारा निर्मित हैं, इसके पीछे नारी का शोषण छिपा रहता है, परंतु इनको धार्मिक लिबास पहनाकर नारी को मानने के लिए विवश किया जाता है।

महिलाओं की परंपरागत शिक्षा

भारत में प्राचीन काल से ही नारियों को सम्मान दिया जाता रहा है। उनके संदर्भ में यह कहा गया है, ''यत्रा नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्रा देवताः'' अर्थात जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। भारत में कहीं नारी की पूजा रणचंडी दुर्गा के रूप में होती है तो कहीं मां सरस्वती के रूप में।

नारी सुन्दरता की प्रतीक होने के नाते तारीफ की पात्र रही हैं। धीरे–धीरे नारियों के स्थान में परिवर्तन होता गया। कई स्तरों पर पुरुषों द्वारा नारियों को दुर्बल समझकर उनके अधिकार व कार्य सीमा में हस्तक्षेप किया जाने लगा। परिवार में कन्या का जन्म अशुभ माना जाने लगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज में नारियों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। हमारे देश की नारियां आज हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी करने का प्रयास कर रही हैं। भारतीय समाज में नारियों की स्थिति या दशा का विवरण इन शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है।

वैदिक काल में शिक्षा

वैदिक काल में नारी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उन्हें समाज तथा परिवार में विशेष स्थान प्राप्त था। उन्हें शिक्षा, विवाह, धर्म आदि क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। पत्नी परिवार में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। इसीलिए उसे अर्द्धांगिनी का दर्जा प्राप्त था। पति एवं पत्नी साथ–साथ यज्ञ करते थे। नारी की सहभागिता के बिना धार्मिक कार्य अधूरा समझा जाता था।

उत्तर वैदिक काल (600 ई. पू. 300 ई. पू.) में शिक्षा

इस काल में नारियों की दशा में कुछ ह्रास हुआ। वेदाध्ययन से महिलाओं को वंचित किया जाना इस काल की महत्वपूर्ण घटना थी तथा उनके यज्ञ करने पर रुकावट लगाई गई। पति के परमेश्वर होने की भावना का बीजारोपण हुआ, विधवा पुनर्विवाह का पूर्ण निषेध हुआ और बाल–विवाह का आरंभ हुआ। धीरे–धीरे नारियों पर अनेक निषेध लगा दिए गए। जिससे उनकी दशा काफी निम्न हो गई। लड़की पैदा होना परिवार के लिए अभिशाप माना जाने लगा। लेकिन इन सबके बावजूद इस काल में नारियों की दशा ठीक ही रही।

धर्मशास्त्र युग में शिक्षा

तीसरी सदी से 11वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक को 'स्मृति युग' भी कहा जाता है। इस युग में नारियों के स्तर में गिरावट स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। पति की सेवा करना ही

धर्म बताया गया। वे पति का चयन नहीं कर सकती थीं। ऐसा माना गया है कि नारियों को बाल्यपन पिता के संरक्षण में, युवावस्था पति के तथा वृद्धावस्था अपने बेटे के संरक्षण में बितानी चाहिए। बाल विवाह का जोर, विवाह में कन्या की रुचि का अंत, पुरुष का नारी पर पूर्ण नियन्त्रण, विधवा पुनर्विवाह का निषेध, सती प्रथा आदि से नारी की गिरती हुई दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

टिप्पणी

मध्यकालीन युग में शिक्षा

मध्यकाल में नारियों की दशा में और ज्यादा गिरावट आ गई। इस काल में स्त्री शिक्षा पूरी तरह समाप्त कर दी गई। 8–9 वर्ष की होते ही कन्या का विवाह किया जाने लगा। विधवा पुनर्विवाह प्रतिबन्धित हो गया। परदा प्रथा शुरू हो गई। सती प्रथा पर पूर्णतया रोक लगा दी गई। इस युग में मुख्य रूप से नारियों की आर्थिक पराधीनता, कुलीन विवाह प्रथा, अंतर्विवाह बाल विवाह, अशिक्षा और संयुक्त परिवार प्रणाली ऐसे कारण माने गए हैं, जिनसे नारियों की स्थिति में अत्यधिक गिरावट आ गई।

वर्तमान युग में शिक्षा

इस युग के दौरान भारतीय समाज में नारियों की स्थिति का अध्ययन दो उपशीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद। आजादी प्राप्ति से पूर्व नारियां अनेक सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक व राजनीतिक निर्योग्यताओं का शिकार रहीं।

इस युग में नारियों की निम्न प्रस्थिति बनाए रखने में अशिक्षा, आर्थिक पराधीनता, बाल विवाह, संयुक्त परिवार प्रणाली, वैवाहिक प्रथाएं, कुलीन विवाह, बहुपत्नी प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, दहेज आदि तथा मुसलमानों के आक्रमण आदि कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अंग्रेजी शासनकाल में नारी की स्थिति में सुधार होना प्रारंभ हुआ। भारतीय समाज में नारियों की दशा स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व काफी सुदृढ़ हो चुकी थी। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, एनी बेसेन्ट तथा महात्मा गांधी ने नारी उत्थान के लिए काफी कार्य किए। आज भारतीय नारी को अपना जीवन साथी चुनने का पूरा अधिकार प्राप्त है। आर्थिक क्षेत्र में वे पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य कर रही हैं। उन्हें तलाक का अधिकार प्राप्त है। पारिवारिक संपत्ति में उन्हें उत्तराधिकार प्राप्त है। इतना ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र में भी नारियां पुरुषों से पीछे नहीं हैं।

वास्तव में हमारे देश में सामाजिक क्रियाकलापों से लेकर राजव्यवस्था तक के कार्यों में भारतीय महिलाओं का हस्तक्षेप निश्चित रूप से बढ़ा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात शिक्षा के प्रसार, औद्योगीकरण व नगरीकरण, एकाकी परिवारों की संख्या में वृद्धि, नारियों में सामाजिक चेतना, अंतर्जातीय व प्रेम विवाहों के प्रचलन, राजनैतिक चेतना तथा वैधानिक सुविधाओं जैसे कारकों ने नारियों की प्रस्थिति को पुरुषों के बराबर लाने में सहायता दी है। राजनीति में प्रवेश के कारण नारियां शक्ति सम्पन्न पदों पर भी पहुंचने में सफल रही हैं।

महिलाओं की आधुनिक शिक्षा

आज भारत में महिलाओं की दशा में काफी सुधार हुआ है और वे विकास के पथ पर अग्रसर हो रही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी वे पुरुषों से कम नहीं रह गई हैं। भारतीय समाज में

महिलाओं का भविष्य स्वर्णिम है और इनके सहयोग से समाज नवीन रूप प्राप्त कर रहा है। भारत में महिलाओं की प्रमुख समस्या का उल्लेख इस प्रकार हो सकता है।

टिप्पणी

पारिवारिक समस्याएं

यहां परंपरात्मक रूप से पितृसत्तात्मक पुरुष प्रभुत्व प्रधान समाज व्यवस्था पाई जाती है जिसमें परिवार के पुरुष सदस्यों को तो अनेक अधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त हैं, किन्तु स्त्रियों को उनसे वंचित किया गया है। संयुक्त परिवार व्यवस्था में स्त्रियां दासी की तरह जीवन व्यतीत करती हैं। उनका जीवन खाना बनाने, बच्चों को जन्म देने, उनकी देख–रेख करने एवं परिवार के सदस्यों की सेवा में ही व्यतीत हो जाता है। स्त्रियां घरेलू हिंसा व मानसिक उत्पीड़न का शिकार होती हैं।

वैवाहिक समस्याएं

भारत में महिलाओं की वैवाहिक समस्याएं इस प्रकार हैं–

1. भारत में तलाक का प्रचलन हाल के दशकों में बढ़ा है। इससे महिलाएं बेसहारा हो जाती हैं।
2. दहेज अथवा अभिशाप के रूप में स्त्री के विवाह पर समाज की देन।
3. बाल–विवाह अथवा कम आयु में विवाह कर देना।
4. पुरुषों के समान अधिकार स्त्रियों को प्राप्त नहीं हैं।

स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं

गरीबी, बेकारी, स्वास्थ्य के नियमों के प्रति अज्ञानता, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव एवं व्यापक बीमारियां महिलाओं की प्रमुख समस्याएं हैं।

चूंकि भारतीय समाज पुरुष–प्रधान है, अतः पुरुषों के स्वास्थ्य का तो फिर भी ध्यान रखा जाता है, किन्तु स्त्रियों के स्वास्थ्य की तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया जाता है। इसी कारण यहां लिंग अनुपात में पुरुषों की अधिकता, स्त्रियों में मृत्यु–दर की प्रबलता एवं जीवन अवधि कम है।

असमान लिंग अनुपात, स्त्रियों की औसत आयु में कमी एवं मृत्यु–दर की अधिकता के लिए, बाल–विवाह, प्रसव काल में स्त्रियों की मृत्यु, स्त्रियों की आर्थिक पराश्रितता, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को अधिक महत्व देना, कुपोषण एवं स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव आदि उत्तरदायी हैं। अधिकांशतः महिलाओं में यौन संबंधी रोग भी अधिक देखने को मिलते हैं।

आर्थिक समस्याएं

भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम वेतन एवं पारिश्रमिक दिया जाता है। चाहे वह कृषि का क्षेत्र हो, उद्योग हो या कोई अन्य क्षेत्र हो, अधिकांशतः महिलाएं कृषि–कार्य से ही संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त वे खनन, पशुपालन एवं श्रमिक कार्य में भी लगी हुई हैं। उच्च पदों पर आसीन स्त्रियां तो गिनती की हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली, पुरुषों पर निर्भरता, स्त्री अशिक्षा, अज्ञानता, परदा प्रथा, रूढ़िवादिता आदि कारणों से स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर तक ही सीमित है और वे अक्सर कमाने के लिए बाहर नहीं आतीं, फलस्वरूप उन्हें अपने भरण–पोषण तक के लिए पुरुषों से आशा रखनी होती है। निम्न आर्थिक दशा के कारण परिवार एवं समाज में भी उनकी प्रतिष्ठा उच्च नहीं हो पाती और उन्हें इसके कई दुष्परिणाम सहने पड़ते हैं।

टिप्पणी

सामाजिक समस्याएं

स्त्रियों की एक समस्या स्त्री–पुरुषों की भूमिका में विभेद करने की है। यद्यपि भारतीय संविधान में स्त्री–पुरुषों के मध्य अधिकारों की समानता पर बल दिया गया है। स्त्रियां चाहे खेतों में, कारखानों में, भवन–निर्माण एवं खदानों में काम करें और चाहे सफेदपोश नौकरियां करें, उनसे उसी प्रकार गृहकार्यों के निर्वाह की आशा की जाती है। बाहरी दुनिया में उनकी भूमिका को पुरुषों की भूमिका की भांति स्वीकार नहीं किया गया है। समुदाय के लिए निर्णय लेने, राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने, गांव एवं जाति–पंचायत में भाग लेने आदि कार्यों को पुरुषों तक ही सीमित किया गया है। घर के बाहर पुरुष चाहे शारीरिक श्रम का कार्य करे, लेकिन वही कार्य घर में करना उसके लिए अपमानजनक माना जाता है और स्त्री से ही उसे करने की अपेक्षा की जाती है।

पर्दा–प्रथा

स्त्रियों से यह उम्मीद की जाती है कि वे घूंघट निकालें और अन्य पुरुषों से दूरी बरतें, उनके सामने खुले मुंह बात न करें। पर्दा–प्रथा के कारण स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है। वे शिक्षा ग्रहण करने से वंचित रह जाती हैं तथा इससे स्वास्थ्य पर भी घातक असर होता है। वर्तमान समय में धीरे–धीरे यह प्रथा समाप्त होती जा रही है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. किसके प्रयास से भारत में सती प्रथा का उन्मूलन हुआ?

   (क) राजा राममोहन राय (ख) महात्मा गांधी

   (ग) स्वामी दयानंद (घ) ईश्वरचंद्र विद्यासागर

8. भारत में किस वर्ष को महिला सशक्तीकरण वर्ष के रूप में मनाया गया?

   (क) 1998 (ख) 2001

   (ग) 2003 (घ) 2005

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ग)
7. (क)
8. (ख)

3.7 सारांश

टिप्पणी

सामाजिक संरचना का आशय सामाजिक व्यवहार के किसी आवर्ती (अधिक आवृत्ति युक्त) प्रारूप से है अथवा 'सामाजिक तन्त्र' अथवा समाज के विभिन्न तत्वों के मध्य क्रमित अंतर्संबंधों से है। नृजातिविज्ञानी रेमॉण्ड फिर्थ के अनुसार सामाजिक संरचना एक विश्लेषकीय साधन है जिसे हमारे द्वारा यह समझने के लिए बनाया गया है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करता है। इस अवधारणा का सार यह है कि समाज के सदस्यों के व्यवहारों के लिए सामाजिक संरचना ऐसे सामाजिक संबंध हैं जिनका अत्यधिक महत्व प्रतीत होता है।

जातीय समूह मनुष्यों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य किसी वास्तविक या काल्पनिक सांझी वंश–परंपरा के माध्यम से अपने आप को एक नस्ल के वंशज मानते हैं। यह सांझी विरासत वंशक्रम, इतिहास, रक्त–संबंध, धर्म, भाषा, सांझे क्षेत्र, राष्ट्रीयता या भौतिक रूप–रंग (यानी लोगों की शक्ल–सूरत) पर आधारित हो सकती है। एक जातीय समूह के सदस्य अपने एक जातीय समूह से संबंधित होने से अवगत होते हैं; इसके अलावा जातीय पहचान दूसरों द्वारा उस समूह की विशिष्टता के रूप में पहचाने जाने से भी चिह्नित होती है।

19वीं शताब्दी में मुस्लिम समाज और धर्म सुधार के लिए एक और आंदोलन चलाया गया, जिसे 'अहमदिया आंदोलन' कहते हैं। मिर्जा गुलाम अहमद (1838–1908) इसके संस्थापक थे और उन्हीं के नाम पर इसे अहमदिया आंदोलन कहा जाता है। इसके नेता अपने को हजरत मुहम्मद की तरह का अवतार मानते थे।

19वीं शताब्दी का सुधार आंदोलन केवल धर्म तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका धर्म से ज्यादा सामाजिक क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज में कई ऐसी मान्यताएं व प्रथाएं विद्यमान थीं, जिनका आधार अंधविश्वास व अज्ञान था। इनमें से अनेक प्रथाएं अत्यंत क्रूर तथा अमानवीय थीं, जैसे, बाल विवाह, सती प्रथा, बाल हत्या इत्यादि। सारा सामाजिक ढांचा अन्याय और असमानता पर आधारित था। समाज भयंकर रूप से पिछड़ गया था। समाज में अशिक्षा व घोर अंधविश्वास था।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी इतनी ही दयनीय थी। समाज में सबसे निम्न स्थिति स्त्रियों की थी। लड़की का जन्म अपशकुन, उसका विवाह बोझ एवं वैधव्य श्राप समझा जाता था। जन्म के पश्चात् बालिकाओं की हत्या कर दी जाती थी। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अत्यंत दयनीय एवं संघर्षपूर्ण था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी तो उसे बलपूर्वक पति की चिता में जलने को बाध्य किया जाता था। उसे 'सती प्रथा' के नाम से जाना जाता था। राजा राममोहन राय ने इसे 'शास्त्र की आड़ में हत्या' की संज्ञा दी। सौभाग्यवश यदि कोई स्त्री इस क्रूर प्रथा से बच जाती थी तो उसे शेष जीवन अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं दुख में बिताने पर बाध्य होना पड़ता था।

भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव अंग्रेजों ने डाली। 1781 में वारेन हेस्टिंग्स ने 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य, मुस्लिम कानूनों तथा इससे संबंधित अन्य विषयों की शिक्षा देना था। 1791 में जोनाथन डंकन ने बनारस में 'संस्कृत कालेज' की स्थापना की। इसका उद्देश्य हिन्दू विधि एवं दर्शन का अध्ययन करना था। वर्ष 1800 में लार्ड वैलेजली ने कंपनी के अधिकारियों की शिक्षा के लिए फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। लेकिन 1802 में इसे बंद कर दिया गया।

टिप्पणी

महिलाओं की स्थिति पर नजर डालें तो हमें समाज में इनकी स्थिति के विषय में पता चलेगा। वैदिक काल में नारी प्रत्येक पग पर पुरुष की सहगामिनी हुआ करती थी। उसे शिक्षा प्राप्त करने व वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त था। वे सामाजिक नीतियों के निर्धारण, नियंत्रण व संचालन में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभा सकती थीं। मैत्रेयी, गार्गी व लीलावती के रूप में हमें उस युग के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो न केवल उच्च स्तरीय विदूषियां थीं, बल्कि उच्चतर गणित, पारिस्थितिकी तथा समाज विज्ञानों एवं मानवीय विज्ञानों में भी निपुण थीं।

भारतीय संविधान में स्त्रियों की राजनीतिक सत्ता को मान्यता दिया जाना न केवल परंपरागत भारतीय समाज से विरासत में प्राप्त प्रतिमानों की तुलना में एक बिल्कुल नया कदम था, अपितु उस समय के सर्वाधिक उन्नत देशों के राजनीतिक आदर्शों से भी बढ़कर था (समाजवादी देशों को छोड़कर संसार में किसी अन्य राज्य ने स्त्रियों की समता को स्वाभाविक रूप से स्वीकार नहीं किया) स्त्रियों की राजनीतिक समता की प्राप्ति में जिन दो प्रमुख शक्तियों ने उत्प्रेरक का काम किया वे थीं– राष्ट्रीय आंदोलन और महात्मा गांधी का नेतृत्व।

आज भारत में महिलाओं की दशा में काफी सुधार हुआ है और वे विकास के पथ पर अग्रसर हो रही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी वे पुरुषों से कम नहीं रह गई हैं। भारतीय समाज में महिलाओं का भविष्य स्वर्णिम है और इनके सहयोग से समाज नवीन रूप प्राप्त कर रहा है।

3.8 मुख्य शब्दावली

- **पृथक** : अलग।
- **अभिकरण** : एजेंसी, साधन।
- **अवरोध** : रुकावट।
- **मिथक** : काल्पनिक, मान्यता।
- **ईर्ष्या** : जलन, चिढ़ना।
- **पारिश्रमिक** : मेहनताना, मजदूरी।
- **दक्षता** : निपुणता।
- **दासता** : गुलामी, परतंत्रता।
- **निकृष्ट** : तुच्छ, नीचा।
- **हेय** : घृणित।

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक संरचना से क्या अभिप्राय है? परिभाषित कीजिए।
2. जनजाति की पांच विशेषताएं बताइए।
3. मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार समुदाय की क्या परिभाषा है?

4. सुधार आंदोलन में किन–किन लोगों की मुख्य भूमिका है? उनके नाम बताइए।
5. राजनीति में महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक संरचना के अंतर्गत जातीय समूह, वर्ग एवं समुदाय की क्या भूमिका है? विश्लेषण कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन में आधुनिक शिक्षा व सुधार आंदोलन की क्या स्थिति रही? विस्तार से समझाइए।
3. समाज में महिलाओं की स्थिति पर टिप्पणी कीजिए।
4. सामाजिक सुधार आंदोलन के परिणाम क्या रहे? स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय परंपरा में महिलाओं की शिक्षा पर अपना दृष्टिकोण व्यक्त कीजिए।
6. निम्न पर टिप्पणी कीजिए–

   (क) राजनीतिक भागीदारी

   (ख) मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
3. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
4. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
6. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
6. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 4 राष्ट्रीय आंदोलन

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण : वैचारिक बहस
4.3 संगठित राष्ट्रवाद का उदय
  4.3.1 भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण
  4.3.2 भारत में राष्ट्रवाद का विकास
4.4 1919 तक की स्थिति
4.5 गांधीवादी आंदोलन
4.6 क्रांतिकारी और वामपंथी आंदोलन
  4.6.1 क्रांतिकारी आंदोलन
  4.6.2 वामपंथी आंदोलन
4.7 राज्य के लोगों के आंदोलन
4.8 सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन
4.9 सुभाषचंद्र बोस और आई.एन.ए.
4.10 तेलंगाना आंदोलन
4.11 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.12 सारांश
4.13 मुख्य शब्दावली
4.14 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.15 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

राष्ट्रवाद उन्नीसवीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली विचार कहा जा सकता है। राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद अपने मूल रूप में एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विचार है। राष्ट्रवाद विभिन्नता में एकता का तत्व रूप है। राष्ट्रवाद भाषा, परंपरागत रीति–रिवाज तथा संस्कृति आदि के प्रति मानवीय भावनाओं का समन्वित रूप है। वर्तमान काल में राष्ट्रवाद का अर्थ हम एक ऐसी आध्यात्मिक भावना से लेते हैं जो किसी भूभाग के नागरिकों के जीवन तथा आदर्शों से सम्बन्ध रखती है और सम्पूर्ण समाज का शारीरिक, राजनीतिक, मानसिक तथा आत्मिक कल्याण चाहती है।

आमतौर माना जाता है कि आजादी की लड़ाई में क्रांतिकारी आंदोलन की कोई भूमिका नहीं रही क्योंकि इसे कभी सफलता नहीं प्राप्त हुई। किंतु आंदोलन का आशय फौरन उद्देश्य की पूर्ति से न होकर जनता में जागृति, देश के प्रति कर्तव्य, देश के लिए त्याग की भावना तथा उसके लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना से भी है। यदि इस पहलू को ध्यान में रखकर हम क्रांतिकारियों की भूमिका पर विचार करें तो यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने देश के लिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए भारत के युवाओं को तैयार किया। इन्होंने नौजवानों को स्वतंत्रता–संघर्ष में भागीदार बनने के लिए उत्साहित किया। इनका अनन्य देशप्रेम, अदम्य साहस, अटूट प्रतिबद्धता और गौरवमय बलिदान भारतीय जनता के लिए प्रेरणा–स्रोत बना। इन्होंने देश में राष्ट्रीय

चेतना का प्रसार किया। उत्तर भारत में समाजवादी विचारधारा के प्रचार–प्रसार में इनका योगदान अमूल्य एवं अतुलनीय है। इंकलाब (यह नारा भगत सिंह ने दिया था) का नारा देश के इन क्रांतिकारियों की ही देन है।

टिप्पणी

प्रस्तुत इकाई में भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण, राष्ट्रवाद का उदय, गांधीवादी, क्रांतिकारी वामपंथी आंदोलन, सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन, सुभाष चंद्र बोस और आई.एन.ए. तथा तेलंगाना आंदोलन आदि तथ्यों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास के कारणों को समझ पाएंगे;
- भारत की 1919 तक की स्थिति और गांधीवादी आंदोलन के बारे में जान पाएंगे;
- सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन के पहलुओं को समझ पाएंगे;
- क्रांतिकारी और वामपंथी आंदोलनों के बारे में जान पाएंगे;
- आई.एन.ए. तथा तेलंगाना आंदोलन की भूमिका को समझ पाएंगे।

4.2 भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण : वैचारिक बहस

आधुनिक संदर्भ में राष्ट्रवाद का विकास एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है जिसके कारण अनेक नवोदित राष्ट्रों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए भारत में राष्ट्रवाद का उदय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों और कारणों के संयोग का परिणाम था। राष्ट्रवाद का विकास राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की प्राथमिक एवं अनिवार्य शर्त है। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के पूर्व राष्ट्र और राष्ट्र निर्माण के आशय का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

राष्ट्र : अर्थ एवं परिभाषाएं

शाब्दिक दृष्टि से राष्ट्र अंग्रेजी शब्द 'नेशन' का हिन्दी रूपान्तर है। 'नेशन' लैटिन भाषा के 'नेटीओ' से बना है जिसका अर्थ है एक ही स्थान पर जन्म लेना अथवा एक ही प्रजाति में जन्म लेना। अतः शाब्दिक दृष्टि से राष्ट्र का अर्थ सामान्य प्रजाति अथवा समान स्थान पर जन्म लेने वाले लोगों से है। अर्थात राष्ट्र द्वारा हमें एक तो निश्चित भौगोलिक सीमा तथा दूसरे न सीमाओं में उत्पन्न लोगों का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र व्यक्तियों का वह समूह है जो एक निश्चित भौगोलिक सीमा में निवास करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यह अर्थ अपूर्ण है क्योंकि राष्ट्र के लिए स्वतंत्र सम्प्रभुता का होना अनिवार्य है। पहले सामान्य संस्कृति को भी राष्ट्र का एक अनिवार्य तत्व माना जाता था, परन्तु आज ऐसा नहीं है क्योंकि अधिकांश राष्ट्रों में विभिन्न लोगों तथा समूहों का रहन–सहन, भाषा, जीवन–शैली, धर्म आदि भिन्नता लिए हुए हैं।

कार्ल फ्रेडरिक के अधिगमों के आधार पर कार्ल ड्यूक ने राष्ट्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'राष्ट्र' किसी भी वृहदाकार जनसंख्या अथवा व्यक्तियों के समूह को कहते हैं जिसमें–

टिप्पणी

1. वे स्वतंत्र हैं अर्थात बाहर से उन पर शासन नहीं किया जाता।
2. प्रभावकारी सामाजिक संचार एवं सहयोग पाया जाता है।
3. वे राजनीतिक रूप से संगठित हैं तथा वह प्रभावी शासन का उपयोग करने वाली सरकार के लिए निर्वाचन क्षेत्र प्रदान करते हैं।
4. वे स्वायत्व हैं और सरकार के शासन को प्रभावी बनाने के लिए उन्हें सहमति, अभिनन्दन, अनुपालन तथा समर्थन प्रदान करते हैं।

इस अर्थ में राष्ट्र आन्तरिक रूप से वैध है कि उसके अनुपालन एवं सरकार को समर्थन देने की आदतें अथवा कम से कम राजनीतिक सहयोग एवं राष्ट्र की सदस्यता, विश्व के बारे में व्यापक विश्वासों तथा उनकी अपनी प्रकृति व्यक्तियों एवं संस्कृति से सम्बन्धित है जिससे उनके समर्थन द्वारा कठिन समय में भी इसके स्थायित्व को बनाए रखने की संभावना रहती है।

लार्ड ब्राइस ने राष्ट्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है जिसने अपने को एक राजनीतिक समूह में संगठित कर लिया है। चाहे वह समूह स्वतंत्र हो अथवा स्वतंत्रता की उत्कंठा रखता हो।"

प्रो. वर्गेस ने राष्ट्र के जातीय आधार पर बल देते हुए राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है– "राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बंधी हुई वह जनता है जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती हो।" वर्गेस ने आगे कहा है कि "जातीय एकता से उनका अभिप्राय ऐसी आबादी से है जिसकी एक सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परंपरा अथवा इतिहास, सामान्य रीति–रिवाज तथा उचित और अनुचित की सामान्य चेतना है।"

आशीर्वादम के अनुसार, एक राष्ट्र या राष्ट्र–राज्य राष्ट्रीयता, एकता तथा सर्वोपरि स्वतंत्रता के बराबर होता है।

गार्नर, वाकर, स्टालिन तथा अन्य विद्वानों ने राष्ट्र को एक ऐसा समुदाय माना है जो सामान्य भौगोलिक क्षेत्र, भाषा, आर्थिक जीवन एवं मनोवैज्ञानिक मेल–मिलाप व संस्कृति जैसे लक्षणों से युक्त हो। किन्तु राष्ट्र को इस प्रकार परिभाषित करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकांश राष्ट्रों में उक्त सामान्य लक्षणों में समानता के स्थान पर काफी विषमता दिखलाई देती है। व्यापक अर्थ में हम राष्ट्र को एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

1. जिसका एक निश्चित भू–भाग हो या पृथक भौगोलिक स्थान का दावा करता हो।
2. जिसकी अपनी सरकार हो या पृथक सरकार बनाने के लिए प्रयत्नशील हो।
3. जनता में निष्ठा तथा राष्ट्र सम्मान की भावना पाई जाती हो।

इस प्रकार राष्ट्र शब्द वस्तुनिष्ठ नहीं वरन् भावात्मक है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर राष्ट्र को निम्नलिखित रूप से सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

राष्ट्र = राष्ट्रीयता + राजनीतिक एकता

राष्ट्र निर्माण

राष्ट्र निर्माण क्या है? क्या वह केवल आधुनिकीकरण का पर्याय है अथवा एकीकरण का दूसरा नाम? वास्तव में राष्ट्र निर्माण राजनैतिक पद्धति के विकास से सम्बद्ध एक विशेष

टिप्पणी

प्रकार की धारणा है, जो लोगों की दृढ़ निष्ठा पर आधारित होती है। इस निर्माण प्रक्रिया में आधुनिकीकरण अपनी समस्त विशेषताओं के साथ प्रभावोत्पादक एवं सारयुक्त योगदान करता है। राष्ट्र निर्माण में सामाजिक एवं राजनैतिक अभियंत्रण कौशल का उपयोग सन्निहित होता है। राजनैतिक समन्वयन एवं एकता ही मात्र राष्ट्र निर्माण का सूचक है। राष्ट्र निर्माण का कोई भी कार्यक्रम शून्य से प्रारम्भ नहीं होता। किसी भी मूर्त समाज की एकता का कोई शून्य बिन्दु भी नहीं होता। इस प्रकार कोई भी राष्ट्र निर्माण कार्यक्रम, संरचना को अधिक प्रकार्यात्मक एवं संगठित बनाने का कार्यक्रम होता है।

राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीयता दो अलग–अलग चीजें हैं। राष्ट्रीयता राष्ट्र निर्माण की पूर्वगामी प्रक्रिया है। राष्ट्रीयता में "सम्बद्ध होने की भावना" निहित रहती है और वह अपनी पहचान स्थापित करने की इच्छा लोगों में उत्पन्न करती है। लोग उस पहचान को निर्मित करने के लिए अपने साधनों को एकत्रित करते हैं। जब उक्त भावना किसी निर्माणात्मक कार्य को जन्म देती है तो वह राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया बन जाती है। यही वह प्रक्रिया है जो राष्ट्रवादी भावनाओं को समायोजित करती है।

अतः पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति में लोगों में एकात्मकता की वृद्धि करने में राष्ट्रीय भावना एक आवश्यक शिला है जिस पर राष्ट्र निर्माण का न्यास होता है। राष्ट्र निर्माण एकीकृत संगठन के निर्माण की ओर उन्मुख प्रक्रिया है। समग्रता का संवहन करने में वे आवश्यक उपकरण भी उस प्रक्रिया के भाग होते हैं। इस प्रक्रिया की तुलना संरचना के पुनर्नवीनीकरण की योजना से की जा सकती है। विभिन्न अध्येतताओं ने राष्ट्र निर्माण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

सोयेमार्डजन के अनुसार, "राजनीतिक स्तर पर राष्ट्र निर्माण का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों में इस प्रकार की एक आन्तरिक चेतना उत्पन्न करना है कि गणतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति समान प्रकार का नागरिक है। राष्ट्रीय समाजीकरण की इस प्रक्रिया के लिए इतना ही महत्व व्यक्तियों में यह तत्परता उत्पन्न करना है कि वह अपने आपको राज्य की सत्ता तथा इसकी विभिन्न संस्थाओं के अधीन समझे।"

वेनडिक्स ने राष्ट्र निर्माण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''राष्ट्र निर्माण से यह अभिप्राय है कि अनेक समस्याओं का, जैसे एक राष्ट्रीय संस्कृति की तलाश, भाषाई एकता, प्रान्तीय तथा धार्मिक अन्तरों में समझौता करना, भ्रष्टाचार को दूर करना, संकीर्ण निष्ठाओं से मुक्ति पाना, कानूनों का निर्माण करना आदि का इस प्रकार निराकरण करना जिससे सम्पूर्ण समाज में विभिन्नता में एकता दिखाई पड़े।"

आलमण्ड और पावेल ने राष्ट्र निर्माण को परिभाषित करते हुए कहा है कि, "राष्ट्र निर्माण उस समुदाय की प्रतिबद्धता एवं निष्ठा का ऐसा संयोग है जिसमें लोग अपने छोटे समूहों के लगावों की सीमा से निकलकर राष्ट्र–राज्य की ओर उन्मुख होते हैं।"

ड्यूक ने राष्ट्र निर्माण की आवधारणा को एक ऐच्छिक तथा निर्माणात्मक अथवा यांत्रिक अवधारणा माना है। इसका तात्पर्य यह है कि एक मकान के विभिन्न हिस्सों को ईंट, चूने, सीमेंट, लोहे तथा लकड़ी से बनाया जा सकता है, तीव्रता अथवा शिथिलता से विभिन्न साधनों के विभिन्न क्रमों के संयोग से इनकी संरचना को बनाया जा सकता है, उसी प्रकार राष्ट्र निर्माण विभिन्न योजनाओं के अनुरूप विभिन्न साधनों के द्वारा तीव्र अथवा मन्द गति से इन अवस्थाओं को तथा इसके पर्यावरण से स्वतंत्र रख कर बनाया जा सकता है।

शेफन स्टीन ने राष्ट्र निर्माण की सीमाओं के एकीकरण, राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राष्ट्रीय पहचान के विकास की एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है।

हार्डग्रेव के अनुसार, "राष्ट्र निर्माण का उद्देश्य समुदाय में एक नयी भावना का उदय करना तथा उन व्यक्तियों में एक समान भविष्य का निर्माण करना होता है जिन्हें पहले एक समान उपनिवेशवादी शासक का उत्पीड़न सहना पड़ता था।''

टिप्पणी

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में हम कह सकते हैं कि राष्ट्र निर्माण दो शब्दों राष्ट्र तथा निर्माण पर आधारित है। राष्ट्र की विशेषताओं में जनसंख्या, क्षेत्र, सम्प्रभुता और राष्ट्रीय चेतना की भावना प्रमुख है। अर्थात राष्ट्र वह है जो स्वतंत्र है, जिसमें प्रभावशाली संचार तथा सहयोग पाया जाता है, जो राजनीतक रूप से संगठित है तथा जिसमें शासकीय नियमों का प्रभावशाली प्रयोग पाया जाता है तथा जो आन्तरिक रूप से विधान सम्मत आधार पर राष्ट्र के नागरिकों के बीच राजनीतिक सहयोग निर्मित करता है।

राष्ट्र के संदर्भ में राष्ट्र निर्माण संकेत देता है कि किस प्रकार राष्ट्र अपने बनने की प्रक्रिया में राष्ट्र की विशेषताओं को ग्रहण करता है जिससे कि उसका एक सशक्त राष्ट्र के रूप में अभ्युदय हो तथा वह आधुनिक राष्ट्र का दर्जा प्राप्त करे। इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र निर्माण किसी एक राष्ट्र के विकास की वह प्रक्रिया है जिसमें उस राष्ट्र के समुचित साधनों को जुटाकर राष्ट्र के विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उसका आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक उत्थान करने का प्रयास किया जाता है।

राष्ट्र निर्माण के आवश्यक तत्व

राष्ट्र निर्माण के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं।

1. **स्वतंत्र अस्तित्व**—राष्ट्र निर्माण की एक अनिवार्य शर्त यह है कि राष्ट्रीय समुदाय का स्वतंत्र अस्तित्व हो। राष्ट्रीय समुदाय का एक निश्चित भूभाग होता है तथा लोगों में सामुदायिक भावना पाई जाती है साथ ही राजनीतिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है। वह राष्ट्र कभी भी राष्ट्र निर्माण के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता जो विदेशी अथवा उपनिवेशवादी हो। वास्तविकता यह है कि राष्ट्र निर्माण की समस्या उन राष्ट्रों की है, जिन्होंने अपने को उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद से मुक्त कर लिया है। अर्थात अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर लिया है। अतः राष्ट्र निर्माण के लिए स्वतंत्र अस्तित्व एक आवश्यक तत्व है।
2. **राजनीतिक स्वायत्तता**—राष्ट्र निर्माण के लिए राष्ट्रीय समुदाय के स्वतंत्र अस्तित्व के साथ ही लोगों में स्वायत्तता के प्रति जागरूकता भी आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो राष्ट्र बालू की दीवार की भांति बिखर जाएगा। अतः राष्ट्र के लोगों में राजनीतिक स्वायत्तता के प्रति दृढ़ इच्छा शक्ति का होना आवश्यक है। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वायत्तता के लिए राष्ट्र को अपने आन्तरिक साधनों पर निर्भर होना चाहिए विदेशी साधनों पर नहीं।
3. **राष्ट्रीय जागरूकता**—राष्ट्र निर्माण का एक आवश्यक तत्व राष्ट्रीय जागरूकता है। इसके लिए राष्ट्र के सदस्यों को सम्बन्धित राष्ट्र के प्रति लगाव होना आवश्यक है। राष्ट्र निर्माण में राष्ट्रीय भावना का पाया जाना अनिवार्य है। जब तक किसी राष्ट्र में यह अनिवार्यता नहीं होगी तब तक वह राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता। राष्ट्रीय एकता के अभाव में राष्ट्र निर्माण की कल्पना

नहीं की जा सकती। अतः राष्ट्र निर्माण में पर्याप्त राष्ट्रीय जागरूकता होना आवश्यक है।

टिप्पणी

4. **वैधानिक सार्वजनिक सत्ता**–राष्ट्र निर्माण का उद्देश्य एक ऐसी सत्ता की स्थापना करना है जो वैध हो। तात्पर्य यह है कि किसी देश का राष्ट्र निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रव्यापी वैध सत्ता की स्थापना आवश्यक है, जिसके द्वारा जन कल्याण का कार्य किया जा सके। लोकहित की दृष्टि से लोगों के व्यवहारों पर वैध रूप से नियंत्रण आवश्यक है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वैध सत्ता द्वारा लोगों में इस तरह की जागरूकता उत्पन्न करना आवश्यक है जिसमें लोगों की निष्ठा छोटी इकाइयों से बड़ी इकाइयों की तरफ उन्मुख हो।
5. **राष्ट्रीय एकीकरण**–राष्ट्र निर्माण का एक आवश्यक तत्व राष्ट्रीय एकीकरण है। इसका अर्थ यह नहीं कि उस राष्ट्र में विभिन्नता नहीं होगी क्योंकि विभिन्नता के अभाव में भी राष्ट्रीय एकीकरण के माध्यम से यदि समरूपता उत्पन्न कर दी जाए तो राष्ट्र निर्माण का वांछित उद्देश्य पूरा हो सकता है।

राष्ट्र निर्माण के निर्धारक तत्व

ऐसे अनेक कारकों की व्याख्या की जा सकती है जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को निर्धारित अथवा प्रभावित करते हैं। इस संदर्भ में कुछ प्रमुख निर्धारक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. **औद्योगीकरण**–राष्ट्र निर्माण को औद्योगीकरण की प्रक्रिया महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। किसी देश का जैसे–जैसे औद्योगिक विकास होता जाता है। वैसे–वैसे वहां के लोगों का जीवन स्तर, रहन–सहन का स्तर ऊंचा होता जाता है, लोग पुरानी आदतों, परंपराओं तरीकों को छोड़कर नए तरीकों का अभिग्रहण करने लगते हैं। औद्योगिक विकास के साथ–साथ लोगों में यह विश्वास दृढ़ होने लगता है कि पर्याप्त औद्योगिक विकास के अभाव में राष्ट्रीय निर्माण संभव नहीं है। यद्यपि औद्योगीकरण के कुछ दुष्परिणाम भी होते हैं परन्तु इन्हें तार्किक रूप से तथा शिक्षा से दूर किया जा सकता है।
2. **नगरीकरण**–औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ–साथ नगरीकरण भी होता रहता है। उद्योगों की स्थापना सामान्यतया नगरों में ही होती है और जब गांव के लोग रोजगार की तलाश में नगरों या औद्योगिक केन्द्रों में जाते हैं तो उनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों और दृष्टिकोणों के लोगों से होता है। परिणामस्वरूप लोगों के मूल्यों एवं मनोवृत्तियों में बदलाव आ जाता है और यह बदलाव इस स्तर तक आ जाता है कि लोग शहरों में बस जाना चाहते हैं। इस प्रकार लोगों का शहरों में स्थायी रूप से बस जाने से एक नई संस्कृति का विकास होता है और यह विकास राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सहायक होता है।
3. **शैक्षिक प्रसार**–राष्ट्र निर्माण के तत्वों में एक महत्वपूर्ण तत्व जागरूकता है और इस जागरूकता के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। किसी देश में शिक्षा का प्रसार जितना ही अधिक होगा उस देश के लोगों में असमानता तथा उदासीनता में कमी आएगी तथा राष्ट्रीय जागरूकता में वृद्धि होगी।
4. **सम्प्रेषण**–राष्ट्र निर्माण के लिए शैक्षिक विकास के साथ सम्प्रेषण के साधनों का विकास होना भी आवश्यक है। सम्प्रेषण के विभिन्न साधन जैसे अखबार, रेडियो,

टेलीविजन, डाक एवं तार, आवागमन, के विभिन्न साधन आदि के विकास से लोगों के दृष्टिकोणों को अधिक व्यापक बनाया जा सकता है तथा उनमें राष्ट्रीय, सामाजिक–राजनीतिक चेतना का विकास किया जा सकता है। ये सभी राष्ट्रीय निर्माण के आधार एवं प्रतीक हैं।

टिप्पणी

5. **लौकिकीकरण**–जिस समाज में धार्मिक कट्टरता अधिक होती है उनमें एकता का अभाव, अलगाववाद आदि प्रवृत्तियां विकसित होने लगती हैं। इसलिए राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों को धार्मिक संकीर्णता के इस दायरे से बाहर किया जाए और उन्हें लौकिक संस्कृति का अंग बनाया जाए। इस प्रकार लौकिकीकरण के द्वारा राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को गतिशील बनाया जा सकता है।

6. **राजनीतिक सहभागिता**–राजनीतिक सहभागिता से तात्पर्य है राजनीतिक गतिविधियों में अधिक सहभागी होना। यदि अधिकाधिक नागरिकों में राजनीतिक सहभागिता होगी तो वह सार्वजनिक नीति के निर्धारण में योग्यता को अधिक महत्व देगी। नागरिकों में यह समझ अवश्य होनी चाहिए कि सभी को राजनीतिक हिस्सेदारी में समान अवसर प्राप्त है। इस प्रकार राजनीतिक सहभागिता की भावना का जितना विकास होगा राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया उतनी ही दृढ़ होगी।

7. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि**–राष्ट्रीय विकास के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। किसी देश का आर्थिक विकास वहां के कृषि, उद्योग, तकनीक एवं विज्ञान की प्रगति पर निर्भर करता है। यदि किसी राष्ट्र में आर्थिक विकास के विभिन्न साधनों में वृद्धि होती है तो यह उम्मीद की जाती है कि प्रति व्यक्ति में राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी। इस प्रकार आर्थिक विकास के द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके राष्ट्र निर्माण को अधिक दृढ़ बनाया जा सकता है।

भारत में राष्ट्रीयता

भारत में राष्ट्र निर्माण का इतिहास अधिक पुराना नहीं है क्योंकि यह प्रक्रिया अंग्रेजी शासन काल में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के साथ प्रारम्भ हुई तथा 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से इसमें तीव्रता आई। भारतीय संदर्भ में इस प्रक्रिया को दो चरणों में विभाजित करके समझा जा सकता है। ये दो चरण हैं– 1. स्वतंत्रतापूर्व राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया, 2. स्वतंत्रता पश्चात राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया।

1. स्वतंत्रतापूर्व राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया

भारत में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के साथ राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप भारतीयों ने स्वतंत्रता की मांग तथा स्वदेशी सरकार बनाने के प्रयास शुरू कर दिए। इस आंदोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीयता का भी विकास हुआ। भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण अंग्रेजी शासनकाल में ही हो चुका था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भारत के राष्ट्र निर्माण में निम्नलिखित कारकों का विशेष योगदान था–

(क) परंपरागत शक्तियां

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में दो प्रमुख परंपरागत शक्तियां राष्ट्र निर्माण में सहायक थीं। ये दो शक्तियां हैं–

(i) भौगोलिक एकता।

(ii) हिन्दू सभ्यता।

टिप्पणी

औपनिवेशक शासन प्रणाली में भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक मौलिक एवं स्थायी परिवर्तन हुए। वह शासन व्यवस्था इस अर्थ में भिन्न थी कि अंग्रेज अपने साथ नवीन प्रौद्योगिकी, संस्थाएं, विश्वास ज्ञान एवं मूल्य लेकर आए थे। इन नवीन तत्वों के प्रभाव के कारण आवागमन एवं सम्प्रेषण में होने वाले विकास के फलस्वरूप देश का ऐसा एकीकरण हुआ जैसा पूर्व के इतिहास में कभी नहीं हुआ था। इस प्रकार अंग्रेजों ने नियोजित शासन व्यवस्था के माध्यम से भौगोलिक एकता को पहले की अपेक्षा और अधिक दृढ़ किया। भौगोलिक सीमा का निर्धारण तथा भौगोलिक एकीकरण राष्ट्र निर्माण के प्राथमिक कारक हैं। राष्ट्र निर्माण के द्वितीय कारक के रूप में हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता का स्थान है क्योंकि हिन्दू सभ्यता की दृष्टि प्रारम्भ से ही समन्वयवादी रही है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलन में भारत के सभी सम्प्रदाय के लोगों ने समान रूप से सहभागिता की।

(ख) क्रान्तिकारी एवं नवीन शक्तियां

उपर्युक्त परंपरागत शक्तियों के अतिरिक्त कुछ क्रान्तिकारी एवं नवीन शक्तियों ने भी भारत के राष्ट्र निर्माण में योगदान दिया है। ऐसी शक्तियां निम्नलिखित हैं–

1. **धार्मिक एवं पुनर्जागरण आंदोलन**–धार्मिक तथा पुनर्जागरण आंदोलनों ने राष्ट्र निर्माण को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, पी.सी. सरकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, एनी बेसेन्ट, रामकृष्ण परमहंस, रानाडे, स्वामी विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन समाज सुधारकों ने भारतीयों को भारत की महानता एवं गौरव को समझाने तथा पुनर्जागरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। दयानन्द का यह विचार कि "विदेशी राज्य से चाहे वह कितना भी अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य अच्छा है।" भारतीयों में एक नवीन चेतना विकसित की। ए.आर. देसाई ने इन आंदोलनों को आंदोलन न कहकर कम या अधिक मात्रा में व्यक्तिगत एवं सामाजिक समता के लिए संघर्ष बताया है जिसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीयता का विकास करना है।
2. **स्वतंत्रता संघर्ष**–1857 के स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन को भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। यद्यपि वह आंदोलन असफल रहा परन्तु फिर भी इसके दमन के लिए अंग्रेजों ने जिस नीति को अपनाया उससे राष्ट्रीयता की भावना और अधिक प्रबल बन गई तथा भारतीय जनता में अंग्रेजों के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न हो गए।
3. **पश्चिमी शिक्षा**–अंग्रेजों ने भारत में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया। प्रथम उद्देश्य भारतीयों को निम्न पदों पर नियुक्त करना तथा दूसरा अंग्रेज भारतीय अभिजात वर्ग के लोगों को पश्चिमी संस्कृति तथा सभ्यता से प्रभावित करके अपने शासन को अधिक मजबूत करना चाहते थे परन्तु पश्चिमी शिक्षा के कारण भारत में एक नवीन वर्ग का उदय हुआ जिसे मध्य वर्ग कहा जाता है। इस मध्य वर्ग ने पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित होकर राष्ट्रीयता तथा स्वतंत्रता संग्राम के बारे में अध्ययन किया तथा यही वर्ग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का बौद्धिक नेता बन गया। राजा राममोहन राय, दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले आदि नेता पश्चिमी शिक्षा की ही देन हैं।

टिप्पणी

4. **सम्प्रेषण के साधनों का विकास**–भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने से जन संचार साधनों तथा आवागमन के साधनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन साधनों का विकास अंग्रेजी शासनकाल में सर्वाधिक हुआ। संचार साधनों में प्रेस के विकास की भूमिका महत्वपूर्ण रही क्योंकि इसके माध्यम से भारतीय समाचार पत्रों तथा देशी साहित्य को प्रोत्साहन मिला जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र के प्रति एक नवीन चेतना विकसित हुई।

2. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में राष्ट्र निर्माण

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया मन्दगति से परन्तु योजनाबद्ध तरीके से प्रारम्भ हुई। इस क्रम से राष्ट्र निर्माण के लिए चार परिस्थितियां पहले से ही विद्यमान थीं। ये चार परिस्थितियां क्रमशः एक राष्ट्रीय नेता, एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल, राष्ट्रीय प्रशासनिक संरचना तथा भारतीय सेना थीं।

प्रो. एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, ''नवीन राष्ट्रों में भारत एक ऐसा देश है जिसमें राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया अधिक सफल रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के 30 महीने के अन्दर भारतीय संविधान सभा ने सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान तैयार कर दिया जिसमें राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विविधताओं को ध्यान में रखा गया।''

26 जनवरी, 1950 को भारत को एक प्रजातांत्रिक गणतंत्र घोषित कर दिया गया। इस प्रजातांत्रिक व्यवस्था में समान वयस्क मताधिकार, विधान सभाओं, लोक सभाओं तथा सरकारी नौकरियों से अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के प्रतिनिधित्व के लिए आरक्षण की नीति के द्वारा विभिन्न जातीय समूहों में असमानता को दूर करने का प्रयास किया गया। अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों को भी अनेक सुविधाएं प्रदान की गई हैं। भाषा के आधार पर राष्ट्रों के पुनर्गठन से स्थानीय समुदायों को स्वायत्तता प्रदान की गई। भारत में राष्ट्रीय आयोग की स्थापना तथा पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा किए जाने वाले समयबद्ध विकास ने भी भारत को एक सबल राष्ट्र बनाने में सहायता प्रदान की है।

भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में महात्मा गांधी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गांधी जी का विश्वास प्रजातंत्र तथा अशिक्षित भारतीय जनता के स्वशासन क्षमता में था। इनका सर्वाधिक ध्यान ग्रामीण और स्थानीय स्तर पर गरीब एवं शोषित लोगों के हितों की रक्षा तथा अस्पृश्यता उन्मूलन पर था। गांधी जी का सम्पूर्ण जीवन अंग्रेजी शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा निम्न वर्गों के उत्थान में व्यतीत हुआ। स्थानीय स्वशासन क्षमता तथा आत्म निर्भरता के संदर्भ में पंचायतों का प्रचलन महत्वपूर्ण कदम था। इस प्रकार गांधी जी ने साम्प्रदायिक समन्वय, हरिजनों तथा कृषकों की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में जनतांत्रिक प्रतिमान को राष्ट्र निर्माण के संदर्भ में अपनाया गया। इस प्रतिमान को अपनाने में पश्चिमी अनुभवों एवं इसमें आने वाली बाधाओं को समझ और समाधान को भी ध्यान में रखा गया। भारत को एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया जिसमें यह अपेक्षा की गई कि सभी धर्म के लोग साथ मिलकर कार्य करेंगे। समाजवादी गणराज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य यह था कि आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक असमानताएं दूर की जा सकें। भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को नियोजित विकास द्वारा प्रोत्साहित करने के लिए विविध कार्यक्रम चलाए गए।

टिप्पणी

भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया सूझबूझ और दीर्घकालीन योजना के आधार पर प्रारम्भ की गई जिसमें संवैधानिक अधिकार, पंचवर्षीय योजनाएं, चुनाव, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, जनसंचार एवं परिवहन साधनों का तीव्र विकास तथा शिक्षा का विस्तार आदि पर अधिक ध्यान दिया गया। कृषि प्रधान समाज व्यवस्था के कारण भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ ग्रामीण स्तर पर किया गया। जमींदारी उन्मूलन पंचायती राज का पुनर्गठन, सामुदायिक विकास योजनाएं और सहकारी समितियों ने ग्रामीणों से सहयोग राजनीतिक जागरूकता एवं राष्ट्रीयता की भावना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में निम्नलिखित प्रमुख कारकों की मुख्य भूमिका रही है–

1. **संविधान का निर्माण**–भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ढाई वर्ष के अन्दर ही संविधान सभा ने सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान तैयार कर दिया जिसमें देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं को ध्यान में रखा गया। संविधान निर्माण के फलस्वरूप भारत को 26 जनवरी, 1950 को जनतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया। संविधान में प्रत्येक वयस्क को मत देने का स्वतंत्र अधिकार दिया गया है। परिणामस्वरूप जनसंख्या के प्रत्येक वर्ग में राजनीतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। प्रो. एम. एन. श्रीनिवास ने नवीन राष्ट्रों को ऐसा देश माना है जिसमें राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया सर्वाधिक सफल रही है।

2. **लौकिक एवं समाजवादी समाज का निर्माण**–राष्ट्रीय विकास के लिए सम्पूर्ण भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया जिसमें संविधान के आधार पर जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग तथा आयुगत भेदभाव को समाप्त किया गया। संवैधानिक शर्तों के अनुसार प्रत्येक भारतीय नागरिक को सुविधा या पद प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की गई। इस प्रकार समता के आधार पर समाजवादी समाज की कल्पना की गई। भारत में राष्ट्रीय विकास के लिए सहकारी समितियों को मान्यता दी गई जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को अपनी क्षमता के अनुसार लाभान्वित होने का अवसर उपलब्ध हुआ।

3. **पंचवर्षीय राष्ट्रीय योजनाएं**–राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को सदृढ़ करने तथा स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से मार्च 1950 में राष्ट्रीय योजना आयोग का गठन किया गया। इस प्रकार के आयोग के गठन के पीछे यह भावना थी कि राष्ट्र के समस्त साधनों को जुटाकर राष्ट्रीय प्राथमिकता के आधार पर राष्ट्र की सम्पत्ति का विनियोग किया जाए जिससे अधिक से अधिक उत्पादन हो, देश को आर्थिक दृष्टि से आगे बढ़ाया जा सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि पर अधिक ध्यान दिया गया। वेनडिक्स के अनुसार, भारत के राष्ट्र निर्माण में गांवों की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है। जल, विद्युत शक्ति, इस्पात मशीन, खाद तथा प्रतिरक्षा उद्योगों को बढ़ावा दिया गया। साथ ही अणु शक्ति आयोग तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन वैज्ञानिक तथा शैक्षिक विकास को ध्यान में रखकर किया गया। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विभिन्न देशों को नियोजित ढंग से विकसित किया गया।

4. **सामुदायिक विकास कार्यक्रम**–1947 के पश्चात भारत में अंग्रेजी राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रजातांत्रिक साधनों का प्रयोग करके राष्ट्र निर्माण के लिए संगठित

टिप्पणी

प्रयास प्रारम्भ हुए। इस प्रयास में ग्रामीण जनता के सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर को ऊंचा करने के लिए तीव्र औद्योगीकरण एवं सामुदायिक विकास की नीति को अपनाया गया। विभिन्न सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के द्वारा समाज में व्याप्त विषमता को समाप्त करने के प्रयास प्रारम्भ किए गए जो आज भी चल रहे हैं।

5. **जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण**–1959 में क्षेत्रीय स्तर पर क्षेत्रीय समिति (पंचायत समिति) तथा जिला स्तर पर जिला परिषद का निर्माण करके प्रशासनिक एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाया गया। इस नीति के द्वारा गांवों को आत्म–निर्भर तथा स्वावलम्बी बनाने के लिए पंचायतों का पुनर्गठन करके उन्हें और अधिक अधिकार प्रदान किए गए।

6. **नवीन प्रगतिशील कानून**–भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए नवीन कानूनों का निर्माण किया गया। इन कानूनों में जमींदारी उन्मूलन कानून, अस्पृश्यता निवारण कानून आदि प्रमुख हैं। महात्मा गांधी ने छुआछूत की भावना को दूर करने के लिए आंदोलन छेड़ा था इसलिए आजादी मिलने के बाद अस्पृश्यता निवारण हेतु एक कानून पारित किया गया जिसमें छुआछूत मानने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई।

भारत की राष्ट्रीयता संबंधी बाधाएं

यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में तीव्रता आई परन्तु फिर भी यह प्रश्न उठता है कि क्या हम 45 वर्षों की आजादी की अवधि में राष्ट्र निर्माण कर पाए हैं? यदि हां तो उसकी सीमा क्या है, और नहीं तो वह कौन से कारक हैं जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को अवरुद्ध किए हुए हैं।

जहां तक राष्ट्र निर्माण की सफलता का प्रश्न है इसका मूल्यांकन कुछ सांकेतिक सूचकों द्वारा किया जा सकता है लेकिन अभी तक इन सूचकों का निर्माण नहीं हो पाया है। भारत में राष्ट्रीयता, राष्ट्र निर्माण एवं राष्ट्रीय एकता लाने के लिए जो प्रयास किए गए हैं उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल पाई है। आज भी भारत अन्य पश्चिमी देशों की तुलना में राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। इसका प्रमुख कारण राष्ट्र निर्माण के मार्ग में आने वाली कुछ बाधाएं हैं। ये बाधाएं निम्नलिखित हैं–

क. **जातिवाद**–भारत में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार जाति व्यवस्था रही है। यहां की सम्पूर्ण सामाजिक संरचना असंख्य जातियों तथा उपजातियों में विभाजित है। प्रभु जातियों ने ग्रामीण स्तर पर राष्ट्र निर्माण एवं विकास कार्यों में सहयोग नहीं दिया तथा कहीं–कहीं समस्त लाभ प्रभु जातियों तक ही सीमित रहे हैं। जातिगत भावना में वृद्धि के कारण जातिवाद की समस्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। चुनावों, नौकरियों, शिक्षा संस्थाओं आदि में जातिवाद का बोलबाला है। जातिवाद की वृद्धि के कारण व्यक्ति की निष्ठा अपनी जाति तक सीमित रह जाती है। परिणामस्वरूप राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं प्रतिबद्धता की भावनाओं की भी उपेक्षा की जाती है जो राष्ट्र निर्माण के लिए उचित नहीं है। जाति संरचना पर संस्कृतिकरण का प्रभाव नगण्य रहा है।

ख. **धार्मिक साम्प्रदायिकता**–साम्प्रदायिकता एक निम्न कोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है जिसके कारण पहले देश का विभाजन हुआ तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात साम्प्रदायिक तनावों तथा उपद्रवों ने राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में बाधा

टिप्पणी

डाली है। भारत सरकार के गृह विभाग की रिपोर्ट से यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक तनाव, गौ–वध, मस्जिद के सामने संगीत, होली के अवसर पर मुसलमानों पर रंग फेंकने तथा मन्दिर या मस्जिद के अपमान के कारण होते हैं। आधुनिक साम्प्रदायिक तनाव धर्म की उच्चता, द्वेष, बदले की भावना के कारण होते हैं जिसके कारण राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र निर्माण की भावना प्रभावित होती है। धार्मिक अंधविश्वास की जड़ें इतनी गहरी हैं कि लोग अपने को इस मानसिकता से ऊपर नहीं ला पाते तथा इस दिशा में लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने भी समुचित योगदान नहीं दिया।

ग. **प्रान्तीयता**–प्रान्तीयता भी भारत में राष्ट्र निर्माण के विकास में एक अवरोधक तत्व है। प्रदेशों का विभाजन भौगोलिक, आर्थिक, भाषाई एकीकरण, जाति, जन–जाति आदि द्वारा हो सकता है। भारत में 1956 में राज्यों का पुनर्गठन मुख्य रूप से भाषाई आधार पर किया गया है। प्रान्तीयता संकीर्ण भावना है। कभी–कभी लोग यह महसूस करने लगते हैं कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं संवैधानिक अधिकारों की उपेक्षा की जा रही है। इस प्रकार लोग अपने क्षेत्र या प्रदेश के विकास के लिए उन विशेषाधिकारों की मांग करने लगते हैं जो उन्हें सम्पूर्ण समाज के संदर्भ में करना चाहिए। ऐसी भावना का विकास संकीर्णता के कारण होता है। इस प्रकार की भावना राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में बाधक होती है।

घ. **भाषावाद**–भारत में राष्ट्र निर्माण के मार्ग में भाषावाद की समस्या भी बाधक रही है। स्वतंत्रता संग्राम के समय ही भारतीय कांग्रेस ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के सिद्धान्त को स्वीकार कर चुकी थी तथा इसी आधार पर 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। परन्तु इससे देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो सका। भारत में अनेक भाषाएं हैं। 1971 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार भारत में 15 मान्यताप्राप्त भाषाएं तथा 1652 अन्य भाषाएं हैं। भाषागत विभिन्नता के कारण एक सम्पर्क भाषा का विकास नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में तीव्रता नहीं आ सकी।

घ. **आर्थिक विषमता**–भारतीय समाज की आर्थिक संरचना कृषि पर आधारित रही है। कृषिक क्षेत्रों के विभाजन का आधार भी भारत में विषम रहा है। कुछ विशिष्ट वर्गों के पास भूमि स्वामित्व केन्द्रित रहा है और अन्य वर्ग कृषक मजदूर के रूप में रहे हैं। इस प्रकार की विषमता के कारण भारत की अधिकांश जनसंख्या का स्तर काफी भिन्न है। निर्धन खेतिहर मजदूरों को मेहनत करने के बावजूद भी भरपेट भोजन उपलब्ध नहीं हो पाता। निर्धनता, बेरोजगारी तथा आर्थिक संकट ने भी भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित किया है क्योंकि आर्थिक असमानता के कारण विभिन्न वर्गों के बीच द्वेष की भावना में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष, अशान्ति एवं अमीरों के प्रति घृणा बढ़ती है। इस प्रकार का वातावरण राष्ट्र निर्माण के मार्ग में अवरोधक का कार्य करता है।

च. **भ्रष्टाचार**–राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार भी एक अवरोधक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात यद्यपि सरकारी प्रशासन में कुशलता आई परन्तु साथ ही भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई है। हर स्तर पर भाई–भतीजावाद, घूसखोरी आदि का बोलबाला है जिसके कारण जनता की भावना भी विकृत होती है। परिणामस्वरूप राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है।

टिप्पणी

छ. **नैतिकता का अभाव**–नैतिकता के अभाव के कारण भी राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया बाधित होती है। भारत के लोगों के नैतिक स्तर में बराबर गिरावट आती जा रही है और हिंसा तथा उपद्रवों में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। हिंसात्मक आंदोलन, असंवैधानिक साधनों का प्रयोग तथा राजनीतिक अवसरवादिता के परिणामस्वरूप नैतिक स्तर की गिरावट के साथ–साथ राष्ट्र निर्माण एवं राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न हो रही हैं।

ज. **जनजातिवाद**–भारत में अनेक जनजातियां हैं और वे निरन्तर अपने लिए पृथक एवं स्वतंत्र राष्ट्र की मांग कर रही हैं। नागालैण्ड, गोरखालैण्ड और पंजाब की स्थिति आज भी भारत के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है। इस प्रकार परिस्थितियां राष्ट्र निर्माण के लिए बाधक हैं। जातिवाद की तरह जनजातिवाद भी व्यक्ति की निष्ठा तथा प्रतिबद्धता के विकास को अवरुद्ध करता है।

राष्ट्रीयता संबंधी बाधाओं के निराकरण के उपाय

भारत में राष्ट्रीयता की प्रक्रिया की क्रियाशीलता के लिए अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं और इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त करने के लिए निरन्तर प्रयास किए जा रहे हैं।

जातिवाद, जनजातिवाद, प्रादेशिकवाद तथा साम्प्रदायिकता आदि को समाप्त करने के लिए सरकार ने अनेक प्रयास किए हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत में इस प्रकार की कुरीतियों का विकास स्थानीय स्वायत्तता के कारण हुआ तथा राष्ट्रीय एकता परिषद एवं अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति तथा राष्ट्रीय एकता का कार्य दलों का निर्माण करके सरकार ने इनकी प्रकृति को समझाने तथा इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के प्रयास किए हैं। यहां यह भी स्मरणीय है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है, आधुनिक शिक्षा का प्रसार–प्रचार तथा सभी धर्मों को समानता का अवसर प्रदान करके भारतीय संविधान ने अल्पसंख्यकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की है तथा साम्प्रदायिकता और सामाजिक तनाव को समाप्त करने का प्रयास किया है।

प्रो. एम. एन. श्रीनिवास ने राष्ट्र निर्माण के मार्ग में उपरोक्त बाधाओं को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिए हैं। उनमें से कुछ प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं–

1. **छोटे राज्यों का निर्माण**–प्रो. श्रीनिवास ने छोटे राज्यों के निर्माण को राष्ट्र निर्माण तथा राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक बताया है क्योंकि इनसे वैयक्तिक कुशलता तथा विकास की वृद्धि होती है तथा लोगों को योजनाओं में सहभागिता के लिए प्रेरित करना सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए उत्तरी पूर्वी क्षेत्रों के छोटे राज्यों के निर्माण से राष्ट्रीय एकीकरण में वृद्धि हुई है तथा हरियाणा में हुआ विकास भी ऐसे राज्यों के प्रभावशाली प्रशासन का सूचक है।
2. **समान शैक्षणिक पाठ्यक्रम**–विभिन्न वर्गों एवं सम्प्रदायों में सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए तथा शैक्षणिक पाठ्यक्रम को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि इसके माध्यम से राष्ट्र के प्रति निष्ठा, समर्पण एवं प्रतिबद्धता की भावनाएं विकसित हों।
3. **शक्ति का विकेन्द्रीकरण**–केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का उचित विभाजन किया जाना चाहिए जिससे राज्य के प्रतिनिधि राष्ट्र निर्माण के कार्य में पूरी निष्ठा के साथ रुचि ले सकें।

टिप्पणी

4. **एक सम्पर्क भाषा**–भारत में एक सम्पर्क भाषा का विकास भी राष्ट्र निर्माण के लिए अनिवार्य है। एक सम्पर्क भाषा के माध्यम से सभी राज्यों को एक कड़ी में जोड़ा जा सकता है। जनसंचार साधनों के द्वारा एक भाषा के माध्यम से राष्ट्र की विभिन्न इकाइयों को एक साथ जोड़ा जाना सम्भव हो सकता है।
5. **जनजातीय राज्यों की स्थापना**–भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में कुछ जनजातीय राज्यों की स्थापना आवश्यक है। जनजातीय राज्यों के निर्माण के माध्यम से राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में जनजातीय समूहों को अधिकाधिक सहभागी बनाया जा सकता है।
6. **आरक्षण नीति की समाप्ति**–अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों को आर्थिक रूप से सबल बनाने के लिए आरक्षण नीति को यथाशीघ्र समाप्त करना होगा। इस प्रकार राष्ट्र निर्माण के लिए आधुनिकीकरण राष्ट्रीय एकीकरण केन्द्र राज्यों में मधुर सम्बन्धों तथा राजनीतिक दलों के समन्वित प्रयासों का आधार बनाया जाना चाहिए जिससे सभी वर्गों एवं सम्प्रदायों के लोग मिलकर राष्ट्र निर्माण में भाग ले सकें।

अपनी प्रगति जांचिए

1. राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय योजना आयोग का गठन कब किया गया था?

   (क) 1948 (ख) 1950

   (ग) 1952 (घ) 1954

2. राष्ट्र निर्माण के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधा कौन–सी है?

   (क) जातिवाद (ख) धार्मिक साम्प्रदायिकता

   (ग) भ्रष्टाचार (घ) उपरोक्त सभी

4.3 संगठित राष्ट्रवाद का उदय

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय एवं विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ। ब्रिटिश शासन और विश्व को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों की वजह से, साथ ही भारतीय समाज में उत्पन्न एवं विकसित विभिन्न आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ कारणों की क्रिया–प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिश काल में भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। भारत में राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। भारत विभिन्न धर्मों, भाषाओं और बहुत बड़ी आबादी वाला देश है। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की पृष्ठभूमि की यह विशेषता रही कि सामान्यतः सारा समाज खंडित और विभाजित रहा तथा इसका उदय राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ।

अब सवाल यह उठता है कि क्या भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की देन है? यह विचार बीसवीं सदी के साम्राज्यवादियों के हैं कि मानो भारत का राष्ट्रवाद उन्हीं की देन हो। भारत में भारतीयता की भावना इसलिए पैदा नहीं हुई कि ब्रिटिश शासक इसे पैदा करना चाहते थे। राष्ट्रीय भावना इसलिए पैदा हुई कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत

टिप्पणी

को बुरी तरह लूट रहे थे और भारत की गरीबी का मूल कारण वही था जो कि चरम सीमा तक पहुंची थी। ब्रिटिश की दमनकारी और शोषणपूर्ण नीतियों के विरोध स्वरूप भारत की राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। भारत की यह गरीबी इसकी भोगौलिक स्थिति या प्राकृतिक साधनों की कमी या भारतीय लोगों के चरित्र की किसी आनुवांशिकी कमी के कारण नहीं थी और न ही यह मुगल काल का अवशेष थी। यह तो पिछली शताब्दियों का अवशेष थी। इससे पूर्व भारत पश्चिमी देशों से पिछड़ा हुआ नहीं था और न ही यहां के लोगों के जीवन स्तर और अन्य देशों के जीवन स्तर में बहुत ज्यादा अंतर था। जिस समय पश्चिमी देश विकसित तथा समृद्ध हो रहे थे तब भारत को आधुनिक उपनिवेशवाद के अधीन रहना पड़ा और इसका विकास रोक दिया गया। सभी आधुनिक देश उस समय पनपे जब भारत गुलाम था। इंग्लैंड का विकास भारत के पिछड़ेपन का कारण बना। हर क्षेत्र में एक ठहराव आया और गरीबी बढ़ने लगी। जब यह तथ्य भारतीयों के समक्ष प्रकट हुआ तो वह समझने लगे कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़कर ही भारत को आगे बढ़ाया जा सकता है।

4.3.1 भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण निम्नलिखित थे–

1. **भारत की राजनैतिक एकता** : साम्राज्यवादी इंग्लैंड ने उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में बंगाल से पश्चिम में खैबर दर्रे तक भारत की विजय की। उन्होंने मौर्यों अथवा मुगलों से भी बड़ा राज्य स्थापित किया। इस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्य ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संपूर्ण भारत में एक राजनैतिक एकता स्थापित की। इससे मानसिक एकता को बढ़ावा मिला।
2. **अंग्रेजी राज्य का प्रभाव** : अंग्रेजी औपनिवेशिक शासकों ने भारत पर अपनी पकड़ दृढ़ करने तथा भारत के आर्थिक शोषण के लिए राजनैतिक, आर्थिक, सैनिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों में आधुनिक पद्धतियों का प्रयोग किया। इस आधुनिकीकरण ने कुछ प्रभाव उत्पन्न किए जिनमें से एक था भारतीय राष्ट्रवाद का उदय।
3. **भारत में प्रशासनिक एकता तथा शांति की स्थापना** : 18वीं शताब्दी की अव्यवस्था के उपरांत अंग्रेजों ने यहां शांति तथा व्यवस्था स्थापित कर ली थी। अंग्रेजों द्वारा पहली बार भारत में इतनी दीर्घकालिक शांति की स्थापना की गई।

   इसी प्रकार एक सुव्यवस्थित तथा शक्तिशाली सरकार का भी गठन हुआ। स्पीयर के अनुसार, अंग्रेजी प्रशासन का सबसे प्रमुख अंग था। उसकी अवैयक्तिकता (impersonality) अर्थात् प्रशासकों के परिवर्तित होने पर उनकी न परिवर्तित होने वाली प्रशासनिक व्यवस्था। भारतीय जनपद सेवा के वरिष्ठ एवं अनुभवी प्रशासक प्रशासन का संचालन करते थे। इसी प्रशासनिक एकता के अंतर्गत एक ही प्रकार का न्यायिक ढांचा, संहिताबद्ध फौजदारी तथा दीवानी कानून, जिन पर दृढ़ता से अमल होता था, भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक लागू थे। इसने भारत की पुरानी चली आ रही सांस्कृतिक एकता को नए प्रकार की राजनैतिक एकता भी प्रदान की।
4. **आधुनिक शिक्षा का प्रसार** : आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रचलन से आधुनिक पाश्चात्य विचारों को अपनाने में सहायता मिली जिससे भारतीय राजनैतिक सोच

टिप्पणी

को एक नई दिशा प्राप्त हुई। जब ट्रेवेलियन, मैकाले तथा बैंटिक ने 1835 ई. में देश में अंग्रेजी शिक्षा का श्री गणेश किया तो वह एक अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय था।

पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार यद्यपि प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए किया गया था परंतु इससे नव–शिक्षित वर्ग हेतु पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गए। मिल्टन, शैली, बेंथम, मिल, रूसो, स्पेंसर तथा वाल्टेयर ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनाएं जगा दीं और उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य का विरोधाभास खलने लगा।

इसके साथ ही अंग्रेजी भाषा ने संपूर्ण भारत के विभिन्न प्रांतों एवं स्थानों के लोगों के लिए संपर्क भाषा का कार्य भी किया। इसने सभी भाषाओं के लोगों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया, जिससे इस राष्ट्रवादी आंदोलन को अखिल भारतीय स्वरूप मिल सका।

5. **तीव्र परिवहन तथा संचार साधनों का विकास** : प्रशासनिक सुविधाओं, आर्थिक व्यापार, सैनिक रक्षा के उद्देश्य तथा व्यापारिक शोषण की बातों का ध्यान रखते हुए परिवहन के तीव्र साधनों का विकास हुआ। पक्के मार्गों का निर्माण हुआ जिससे एक स्थान दूसरे स्थान से जुड़ गए। परंतु देश को बांधने वाला सबसे बड़ा साधन था रेल। 1850 के बाद रेल लाइनें बिछाने का कार्य प्रारंभ हुआ। रेलवे के बहुत से अन्य लाभों के अतिरिक्त रेलवे ने देश में राष्ट्रीयता की भावना जगाई।

   1850 के उपरांत आरंभ हुई आधुनिक डाक व्यवस्था ने देश को समेकित करने में सहायता दी। इस प्रकार आधुनिक संचार के साधनों ने भारत के भिन्न–भिन्न भागों में रहने वाले लोगों को एक–दूसरे से संबंध बनाए रखने में सहायता दी, जिससे राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला।

6. **आधुनिक समाचार–पत्रों की स्थापना** : भारत में अंग्रेजी राज्य का एक अन्य प्रभाव आधुनिक समाचार–पत्रों का उभरना था। यूरोपियों ने ही भारत में सर्वप्रथम मुद्रणालय स्थापित किए तथा पत्र एवं सस्ता साहित्य प्रकाशित करना प्रारंभ किया। धीरे–धीरे भारतीय भाषाओं के समाचार–पत्र भी प्रकाशित होने लगे। इन भारतीय समाचार–पत्रों ने जनमत बनाने तथा राष्ट्रीयता के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन समाचार–पत्रों ने अंग्रेज शासकों द्वारा किए गए अत्याचारों को प्रकाशित किया। साथ ही इन्होंने स्वतंत्र, प्रतिनिधि सरकार तथा प्रजातंत्रीय संस्थाओं को जनता में लोकप्रिय बनाया।

   इस प्रकार भारतीय समाचार–पत्र भारतीय राष्ट्रवाद का दर्पण और जनता को शिक्षित करने का माध्यम बन गए।

7. **इतिहास के शोध का प्रभाव** : सर विलियम जोन्स, कनिंघम तथा मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास में शोध करने के फलस्वरूप भारत की सांस्कृतिक विरासत का वह महान एवं गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया, जो यूनान तथा रोम की सभ्यताओं से किसी भी रूप में कम गौरवशाली नहीं था। इससे शिक्षित भारतीयों के मन में राष्ट्रीयता एवं आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई। इन सभी तत्वों ने इनमें एक नया आत्म–विश्वास जगाया और उनकी देशभक्ति तथा राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया।

टिप्पणी

8. **मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का उत्थान** : अंग्रेजों की प्रशासनिक तथा आर्थिक क्षेत्र की प्रक्रिया से नगरों में एक मध्यमवर्गीय नागरिकों की श्रेणी भी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली जिससे इसे नौकरी तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों प्राप्त होते थे। यह नवीन श्रेणी समाज में अपने उच्च स्थान, शिक्षा तथा प्रशासक वर्ग के समीप होने के कारण आगे आ गई।

   यह मध्यम वर्ग भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा बाद में उसने समस्त भारत में शक्ति का संचार कर दिया। इसी वर्ग ने अखिल भारतीय राष्ट्रीयता को उसके विकास के सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

9. **सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलनों का प्रगतिशील स्वरूप** : 19वीं शताब्दी में होने वाले धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों ने भारतीयों को सिखाया कि भारतीय धर्म और संस्कृति श्रेष्ठ हैं और हमें पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए। इन्होंने समाज के धार्मिक दोषों को ही दूर नहीं किया वरन् भारतीयों में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके उन्हें अपने देश और राष्ट्र के प्रति प्रेम करना भी सिखाया। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में अत्यधिक लाभ हुआ।

10. **समकालीन यूरोपीय आंदोलनों का प्रभाव** : राष्ट्रवाद की उन तेज लहरों ने, जो समकालीन समस्त यूरोप तथा दक्षिण अमरीका को प्रभावित कर रही थीं, भारतीय राष्ट्रवाद को भी स्फूर्ति प्रदान की। इस यूरोपीय राष्ट्रवाद ने उभरते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को नई सामाजिक चेतना प्रदान की।

11. **आर्थिक शोषण** : अंग्रेजी शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव अत्यंत विनाशकारी था, जिसका परिणाम था अगाध निर्धनता तथा अधःपतन। अंग्रेजी नीतियों का साधारण प्रयोजन परंपरागत भारतीय अर्थव्यवस्था का योजनाबद्ध विनाश था। अंग्रेजों की इस पक्षपातपूर्ण आर्थिक तथा राजस्व नीति की प्रतिक्रिया के रूप में आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

12. **जातीयतावाद** : 1857 के विद्रोह का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि शासकों तथा शासित के मध्य एक जातीय कटुता आ गई थी। एंग्लो–इंडियन नौकरशाही ने भारतीयों के प्रति एक अहंकारयुक्त तथा घृणापूर्ण रुख अपनाना प्रारंभ कर दिया। उनकी मनोधारणा में अंग्रेज श्रेष्ठ तथा भारतीय निकृष्ट थे, जिन्हें केवल बल प्रयोग के द्वारा ही अपने अधीन रखा जा सकता है। अंग्रेजों के इस संकीर्ण दृष्टिकोण के फलस्वरूप भारतीय मत में प्रतिक्रिया हुई जिससे शिक्षित भारतीय प्रतिरक्षात्मक स्थिति में हो गए।

    भारतीय राष्ट्रवादियों ने 'भारत में बढ़ती हुई दरिद्रता का सिद्धांत' प्रतिपादित किया और इसका मुख्य कारण अंग्रेजों की भारत विरोधी आर्थिक नीतियों को बताया। उन्होंने दरिद्रता तथा विदेशी दासता को आपस में संबद्ध कर दिया। इस मनोवृत्ति से भारतीयों में विदेशी राज्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई और स्वदेशी माल तथा स्वदेशी राज के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ। इससे राष्ट्रवाद को अत्यंत बढ़ावा मिला।

13. **लॉर्ड लिटन की नीतियां** : लॉर्ड लिटन की अफगान नीति, दुर्भिक्ष और महामारी के बीच दिल्ली दरबार का आयोजन, रानी विक्टोरिया को भारत की रानी घोषित

करना, आई.सी.एस. की उम्र 21 से घटाकर 19 वर्ष करना, भारत के जन–आंदोलन को समाप्त करने के लिए वर्नाकुलर प्रेस एक्ट तथा शस्त्र कानून का निर्माण इत्यादि प्रतिक्रियावादी नीतियां भारत में जन–आंदोलन का कारण बनीं।

टिप्पणी

14. इलबर्ट बिल घटना : 1883 में लॉर्ड लिटन के जाने के बाद लॉर्ड रिपन के समय इलबर्ट बिल को लेकर भारत में एक विशिष्ट समस्या खड़ी हो गई। लॉर्ड रिपन के इस प्रस्ताव द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अधिकारियों के मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार देना चाहा। इस बात पर संपूर्ण भारत और इंग्लैंड में अंग्रेजों ने संगठित होकर ऐसा तीव्र आंदोलन किया कि इस प्रस्ताव का संशोधित रूप ही कानून बन सका। इसमें काले और गोरे को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ उससे स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज रंग के आधार पर भारतीयों से कितनी घृणा करते थे। इससे भारतीयों में अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा उत्पन्न हुई तथा उनमें संगठित होकर आंदोलन करने की प्रेरणा जागी।

4.3.2 भारत में राष्ट्रवाद का विकास

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के अनेक कारण हैं, उन कारणों से ही राष्ट्रवाद का विकास हुआ। राष्ट्रवाद के उदय के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

बदलता हुआ आर्थिक ढांचा

भारत में अंग्रेज सौदागरों के आगमन के समय ग्राम्य व्यवस्था आत्मनिर्भर थी। भारत पहले भी कई बार विभाजित हो चुका था तथा विदेशी विजेताओं ने यहां पर अपने राज्य स्थापित किए थे किन्तु इन विजयों ने केवल राजनीतिक स्थिति में ही परिवर्तन किया था। मूलभूत आर्थिक ढांचे या भारत की ग्राम्य व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन नहीं आया तथा इन्होंने इसे अपना आधार बनाया। लेकिन ब्रिटिश विजेता पूंजीवादी थे जिन्होंने अपने देश में सामंतवाद को खत्म करके आधुनिक पूंजीवादी समाज आधुनिक राष्ट्र की स्थापना कर ली थी। इन विजेताओं के भाप के इंजन तथा मुक्त व्यापार ने भारत के चरखे और करघे तोड़ दिए जो ग्राम्य समाज का आधार थे। ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज के पुरातन आर्थिक आधार को नष्ट कर दिया क्योंकि यह ब्रिटेन की अपनी पूंजीवादी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरी था। भारत पर अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार की दिशा में उठाया गया प्रत्येक कदम पुरानी अर्थव्यवस्था के विघटन और नए आर्थिक रूपों की दिशा में ही अगला कदम था।

पुराने उत्पादन संबंध और वर्ग तेजी से नष्ट होने लगे और नए वर्ग तथा संबंध पैदा होने लगे। 1813 में यह प्रक्रिया और भी तेज हो गई जब ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी ने भारत को लूटना आरंभ किया। इसी वर्ष ब्रिटिश कल–कारखानों में बने माल ने भारत पर अपना आक्रमण शुरू किया। इस आक्रमण ने भारत की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। कृषि–व्यवस्था में दो नई प्रथाओं का जन्म हुआ– जमींदारी प्रथा तथा रैयतवाड़ी प्रथा। इन प्रथाओं के कारण अब जमीन व्यक्तिगत संपत्ति बन गई जिसे बाजार में खरीदा व बेचा जा सकता था। इस नई भू–व्यवस्था ने गांव को कृषि संबंधी आर्थिक व न्यायिक कार्यों से वंचित कर दिया। गांव की स्वाधीनता समाप्त कर दी गई तथा गांव के सारे काम केंद्रीय राज्य को दे दिए गए। वे सारे बंधन तोड़ दिए गए जो किसान को सामूहिक तौर पर गांव से बांधे रखते थे। इसी बीच आवागमन में विकास तथा पूंजी के प्रभाव के

टिप्पणी

कारण किसान को बाजार की सुविधा प्राप्त हुई और अब वह मुख्य रूप से बाजार की दृष्टि से सामान पैदा करने लगा। लगान की राशि बहुत अधिक होने के कारण किसान को अधिक पैसा अर्जित करने की आवश्यकता हुई तथा वह सूदखोरों के चंगुल में फंसता चला गया और इस कारण भी उसे बाजार के लिए उत्पादन करने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ। पहले गांव अपने आसपास के चरागाहों की भूमि का इस्तेमाल मुफ्त में करते थे, किंतु ब्रिटिश शासकों ने जंगल कानून पास करके ग्राम–समाज का यह अधिकार छीन लिया। ये आर्थिक परिस्थितियां राजनीतिक सत्ता के प्रति असंतोष का कारण बनीं। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि नए भूमि संबंधों के कारण संकीर्ण ग्राम–समाज का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया तथा अब किसानों की समस्याएं सारे राष्ट्र की समस्या बन गईं।

अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण

भारत में ब्रिटिश नीति का दोहरा उद्देश्य था। एक तो ब्रिटेन के औद्योगिक उत्पादनों की खपत के लिए भारत को मूल्यवान मंडी बनाना। दूसरे, ब्रिटेन के तेजी से बढ़ते उद्योगों के लिए भारत को सस्ता तथा अधिक मात्रा में कच्चे माल के उत्पादक कृषि–देश के रूप में बदलना। बी.डी. बसु के अनुसार भारत पर सत्ता स्थापित करने के बाद ब्रिटेन ने भारतीय उद्योगों को नष्ट करने के निम्न तरीके अपनाए–

1. भारत में मुक्त ब्रिटिश व्यापार शुरू करना।
2. भारत में निर्मित वस्तुओं पर ब्रिटेन में बिक्री पर भारी कर लगाना।
3. भारत से कच्चे माल का निर्यात करना।
4. सीमा शुल्क तथा परिवहन कर लगाना।
5. भारत में रहने वाले अंग्रजों को विशेष सुविधाएं देना।
6. भारत में रेलवे का निर्माण करना।
7. भारतीय कारीगरों को अपने रोजगार की गुप्त बातें बताने के लिए मजबूर करना।
8. प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

उन सबके परिणामस्वरूप पहले भारत का वस्त्र उद्योग नष्ट हुआ और भारत के बाजार पर ब्रिटिश पूंजीपतियों के कारखानों में बना कपड़ा छा गया। इसी तरह रेशमी, ऊनी, लोहे, कांच, चमड़े, चीनी आदि के उद्योग भी नष्ट कर दिए गए। जो भारत पहले अपने उद्योगों में तैयार माल ब्रिटेन और अन्य देशों को भेजता था, वह अब ब्रिटेन के कारखानों में बने माल का बाजार बन गया और उन्हें कच्चा माल भेजने लगा। 1882 ई. तक केवल शराब तथा नमक जैसे माल को छोड़ बाकी सब चीजों पर आयात शुल्क खत्म कर दिया गया।

अतः राष्ट्रवादियों ने स्वदेशी उद्योगों के पतन को भारत की दरिद्रता का मूल कारण मानते हुए जनता की भौतिक स्थिति में और अधिक गिरावट को रोकने के लिए कई कदम उठाए। देश के आर्थिक पुनर्जागरण के लिए भारतीय हस्तउद्योगों की सुरक्षा, पुनःस्थापना, पुनःनिर्माण तथा आधुनिकीकरण को अपने कार्यक्रम का आधार बनाया। इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण ऐसी सामाजिक शक्तियों का जन्म हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित किया।

टिप्पणी

नए सामाजिक वर्ग का उदय

भारत में आए आर्थिक परिवर्तनों के कारण नए वर्गों का उदय हुआ। गांवों में– (1) जमींदार (2) जमींदारों से लगान पर जमीन लेकर काम करने वाले किसान (3) जमीन के मालिक धनी, मध्यम और गरीब किसान। (4) खेतिहर मज़दूर (5) आधुनिक व्यापारी और सूदखोर आदि।

शहरों में– (1) आधुनिक पूंजीवादी अर्थतंत्र से जुड़े छोटे व्यापारी तथा दुकानदार (2) औद्योगिक, व्यावसायिक और वित्तीय पूंजीपति (3) कल–कारखानों में काम करने वाले मजदूर (4) कारीगर, डॉक्टर, वकील, अध्यापक, मैनेजर आदि बुद्धिजीवी और वृत्तिजीवी लोगों का मध्यम वर्ग।

इन सभी वर्गों की विशेषता थी कि वे राष्ट्रीय थे। प्रत्येक नए सामाजिक वर्ग के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक हितों का एकीकरण हुआ। ये सभी वर्ग अपने अलग–अलग स्वार्थ लेकर स्वाधीनता की लड़ाई में शामिल हुए थे। लेकिन इन सबका उद्देश्य था– राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति।

यातायात के आधुनिक साधन

आधुनिक यातायात के साधनों का भारतीय राष्ट्र के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा। रेलवे, नई डाक व्यवस्था तथा प्रेस ने, जिनका जन्म ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप हुआ था, देश को एक सूत्र में बांधने में बहुत सहायता की। इन्हें भारत में अंग्रेजों के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए स्थापित किया था। अगर ये साधन भारत में अंग्रेजों के शासन को सुदृढ़ और सुरक्षित रखने का माध्यम बने तो दूसरी तरफ इन्होंने इस शासन के विरुद्ध भारतीयों को संगठित करने का काम भी किया।

शिक्षा

आधुनिक शिक्षा ने एक सीमा तक शिक्षित भारतीयों के दृष्टिकोण तथा हितों में एकजुटता और समानता पैदा की। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में भारतीयों ने बुद्धिसंगत, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाया। विदेशी दासता के अपमान की चुभन को सबसे पहले शिक्षित भारतीयों ने ही महसूस किया। विचारों से आधुनिक बनकर इन्होंने विदेशी शासन की बुराइयों के अध्ययन की योग्यता भी प्राप्त कर ली। कालांतर में इन्हीं में से बेहतर तत्व राष्ट्रीय आंदोलन के नेता और संगठनकर्ता बने। हालांकि एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राष्ट्रीय आंदोलन आधुनिक शिक्षा की देन नहीं था, बल्कि यह ब्रिटेन तथा भारत के हितों के टकराव के परिणामस्वरुप उत्पन्न हुआ।

प्रेस

भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में प्रेस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रेस द्वारा प्राप्त राजनीतिक शिक्षा और प्रचार की सुविधा के कारण ही राष्ट्रीय आंदोलन का रूप उजागर हुआ। इसकी मदद से ही भारतीय राष्ट्रवादी लोगों के बीच प्रतिनिधि सरकार, स्वतंत्र लोकतांत्रिक संस्थाओं, स्वाधीनता जैसे विचारों का प्रचार कर सके। प्रेस ने भारतीय साहित्य और संस्कृति के विकास में भी सहायता दी। प्रेस के माध्यम से ही बाल विवाह, जातिप्रथा, विधवा विवाह आदि कुरीतियों का विरोध किया जा सका। इसके माध्यम से ही भारत के लोगों को दुनिया में होने वाली घटनाओं का पता चलता रहा।

टिप्पणी

राष्ट्रीय साहित्य

1878 ई. तक भारत में नवजागरण के चिह्न उसकी विभिन्न भाषाओं में देखे गए। इनसे राष्ट्रीय साहित्य का जन्म हुआ जो एक तरफ भारतवासियों के बढ़ते आंदोलन का दर्पण था और दूसरी तरफ उसे बढ़ाने का प्रयास। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने भारत दुर्दशा नाटक में अंग्रजों के राज में भारत की दुर्दशा का चित्र खींचा। अन्य रचनाकार जैसे बदरीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, आदि की रचनाओं में भी देशप्रेम की झांकी मिलती है। अन्य भाषाओं में, बांग्ला में बंकिमचंद्र, मराठी में चिपलूकर, गुजराती में नर्मद, तमिल में सुब्रह्मण्यम् भारती आदि साहित्यकार हुए जिन्होंने राष्ट्रीय साहित्य की रचना की।

ब्रिटिश मिशनरियों की भूमिका

अंग्रेज उपनिवेशवादियों तथा व्यापारियों की मदद से मिशनरियों ने भारतवासियों के धर्म, संस्कृति, इतिहास, वगैरह पर तेजी से हमला किया। पादरियों के साथ–साथ बहुत से प्रभावशाली अंग्रेजों ने कहना शुरू कर दिया कि भारतवासी तभी सभ्य होंगे जब वे ईसाई हो जाएंगे। इस आक्रमण ने भारतीयों को अपने धर्म और संस्कृति के पक्ष में खड़े होने को बाध्य कर दिया। इसी बीच जोंस प्रिंसेप, कोलब्रुक, रोजेन, बर्नाफ तथा मैक्समूलर जैसे यूरोपियन प्राच्य विशेषज्ञों ने भारत के प्राचीन इतिहास, कला, संस्कृति आदि पर शोध कर उसकी महानता पर प्रकाश ड़ाला। राजा राममोहन राय, राधाकांत देव, राजेन्द्रलाल मिश्र, विश्वनाथ नारायण, गोविंद रानाडे जैसे भारतीय विद्वानों ने उनके काम को आगे बढ़ाया। इससे भारतीयों ने भी अपने इतिहास पर गर्व करना सीखा और ईसाई धर्म प्रचारकों तथा भारत के निंदकों को उन्होंने कड़े से कड़े शब्दों में जवाब देना शुरू किया। उन्हें अपने देशप्रेम का आधार मिला।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार

अनेक इतिहासकारों ने भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के उदय के लिए मुख्य श्रेय ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी को दिया। राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी दयानंद, विवेकानंद, रानाडे आदि ने धर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के अलावा लोकतंत्र के सिद्धांत का भी प्रवेश करवाया। शुरू के धर्म सुधारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के सिद्धांत को धर्म के क्षेत्र में भी प्रचारित किया। भारत के प्रारंभिक धर्म सुधार आंदोलनों ने ऐसे धार्मिक दृष्टिकोण को विकसित करने की कोशिश की जो हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि सभी संप्रदायों में एकता कायम कर सके।

प्रशासनिक एकता

अंग्रजों ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि भारत में केंद्रीय सत्ता की स्थापना की जिसके कारण भारतीय इतिहास में पहली बार वास्तविक और आधारभूत राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण हुआ। ब्रिटिश पूर्व भारत में ऐसी एकता का अभाव था और यह निरंतर विभिन्न सामंती प्रदेशों में बंटा रहा जो अपनी सीमाएं बढ़ाने के लिए प्रायः आपस में लड़ते रहे। भारत में भौगोलिक एकता और धार्मिक एकता पहले भी थी लेकिन अंग्रेजों की वजह से राजनीतिक एकता स्थापित हुई। राष्ट्रीय आंदोलन ने अंग्रेजों द्वारा स्थापित भारत के राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण को रखना चाहा क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह आगे बढ़ा हुआ कदम था।

टिप्पणी

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव

अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं भी इस आंदोलन के जन्म में सहायक सिद्ध हुईं। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा (4 जुलाई, 1776) और फ्रांसीसी क्रांति (1789) तथा 1830 और 1848 ई. में यूरोप के कई देशों में हुई क्रांति ने भारतीय जनतांत्रिक और राष्ट्रीय क्रांति को भी प्रभावित किया। मेजनी और गेरीबाल्डी आदि युवाओं के आदर्श बन गए।

संगठित आंदोलन

संगठित आंदोलन के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद का उदय उन्नीसवीं सदी के अंतिम कुछ दशकों में हुआ लेकिन इसके प्रथम चिह्न उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में भी दिखाई देते हैं। 1875 ई. की क्रांति के बाद भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रथम चिह्न दिखाई दिए जो कि भारतीयों की ओर से अंग्रेजों को निकाल भगाने का प्रयास था। 1857 ई. में भारतीय इतिहास में पहली बार यह सिद्ध हुआ कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हिन्दुओं और मुसलमानों की व्यापक एकता संभव है। इससे भारतीय जनता के संयुक्त आंदोलन की परंपरा बनी।

जातीय भेद

ब्रिटिश की जातीय भेद की भावना ने भारतीयों को राष्ट्रीय स्वरूप में एक होने को प्रेरित किया। जातीय भेद के आधार पर अंग्रेज भारतीयों से घृणा करते थे। अंग्रेज केवल स्वयं को ही नहीं बल्कि समस्त यूरोपियन जाति को एशियाई जाति से ऊंचा मानते थे तथा चाहते थे कि भारतीय भी इस बात को स्वीकार करें कि अंग्रेज जातीय और सांस्कृतिक रूप में उनसे ऊंचे हैं। ब्रिटिश सरकार और अंग्रेजों की जातीय भेद की नीति भारतीयों को विशेष रुप से नापसंद थी तथा उनके हृदय में भी अंग्रेजों के प्रति समान रूप से घृणा पैदा हो चुकी थी।

लॉर्ड लिटन की नीति

भारत की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में लॉर्ड लिटन की नीतियों ने नमक छिड़कने का काम किया। दूसरे अफगान युद्ध के वित्तीय बोझ और 1877 ई. के विलासितापूर्ण और भव्य दिल्ली दरबार के कारण लोगों का असंतोष बढ़ा क्योंकि यह अकाल और भुखमरी का जमाना था। फिर 1878 ई. के वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट, 1879 ई. के इंडियन प्रेस एक्ट और आर्म्स एक्ट के कारण लोगों में असंतोष की ज्वाला भड़क उठी और स्थिति लगभग विस्फोटक हो गई।

इलबर्ट बिल

फरवरी 1883 में लॉर्ड रिपन के कार्यकारिणी–परिषद के कानूनी सदस्य सी.पी. इलबर्ट ने लॉर्ड रिपन की इच्छा से एक बिल पास किया जिसे इलबर्ट बिल के नाम से जाना गया। इस प्रस्ताव के द्वारा भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अपराधियों के मुकदमों का अधिकार दिया जाना था। इस बात पर सम्पूर्ण भारत तथा इंग्लैंड में अंग्रेजों ने संगठित होकर ऐसा तीव्र विरोध किया कि इसका संशोधित रूप ही कानून बन सका। इससे काले और गोरे के प्रश्न को लेकर जो वाद–विवाद खड़ा हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज रंग के प्रश्न पर भारतीयों से कितनी घृणा करते हैं। इससे भारतीयों के मन में भी अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की भावना को बल मिला।

लॉर्ड कर्जन का शासन

टिप्पणी

लॉर्ड कर्जन का भारतीयों पर अविश्वास करना, उनको सम्मानित पदों से हटाना और उनके विरुद्ध निरंतर कटु भाषा का प्रयोग करना भारतीयों के असंतोष का कारण बना। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्जन द्वारा लागू कलकत्ता विश्वविद्यालय कानून, स्थानीय संस्थाओं का कानून और मुख्यतः बंगाल विभाजन भारतीयों के गंभीर असंतोष का कारण बना।

जापान द्वारा रूस की पराजय

1904 ई. में एशिया के छोटे से देश जापान ने एक बड़े देश रूस को युद्ध में पराजित कर दिया। यह पहला अवसर था जब एशिया के एक देश ने यूरोप के किसी देश को पराजित किया था। इससे पहले यूरोप के देश अजेय माने जाते थे और इस कारण एशिया के देशों और नागरिकों में नैतिक साहस की कमी थी। इस युद्ध से सम्पूर्ण एशिया में नैतिक साहस की वृद्धि हुई तथा इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय राष्ट्रवाद का उदय कब हुआ था?

(क) मुगल काल में (ख) ब्रिटिश काल में

(ग) वैदिक काल में (घ) आधुनिक काल में

4. भारत में राष्ट्रवाद के उदय का क्या कारण था?

(क) अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण

(ख) बदलता हुआ आर्थिक ढांचा

(ग) नए सामाजिक वर्ग का उदय

(घ) उपरोक्त सभी

4.4 1919 तक की स्थिति

भारत में पाश्चात्य प्रभुत्व ने कुछ ऐसी शक्तियों को जन्म दिया जिन्होंने अंत में उसी पाश्चात्य साम्राज्यवाद को चुनौती दी। वास्तव में उन शक्तियों या राजनैतिक संगठनों ने भारत को आधुनिक संसार में प्रवेश दिलाया। इन संगठनों की विशेषता यह थी कि ये धर्म और जाति की परिधि से दूर अन्य हितों के लिए बनाए जा रहे थे। इस समय भारत के विभिन्न भागों में अनेक आधुनिक राजनैतिक संगठनों की स्थापना हुई, जो निम्नानुसार थे–

1. बंगाल : बंगाल में राजनैतिक आंदोलनों के सबसे पहले प्रवर्तक थे राजा राममोहन राय। वे पाश्चात्य विचारों से प्रभावित व्यक्ति थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम अंग्रेजों का ध्यान भारतीयों की शिकायतों की ओर आकर्षित किया। ऐसा माना जाता है कि 1836 के चार्टर एक्ट में अनेक उदारवादी धाराएं उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम थीं। लेकिन सर्वप्रथम राजनैतिक संगठन बनाने का श्रेय उनके साथियों को मिला। ऐसा प्रथम संगठन 'बंग भाषा प्रकाशक सभा' थी जो 1836 में बनी। जुलाई 1838 में एक 'जमींदार एसोसिएशन' बनाई गई। यह पहली सभा थी जिसने संगठित राजनैतिक चेष्टा का श्री गणेश किया। 1843 में एक अन्य राजनैतिक सभा 'ब्रिटिश बंगाल इंडिया सोसायटी' बनाई गई। 1875

टिप्पणी

के सितंबर में शिशिर बाबू घोष ने एक 'इंडियन लीग' बनाई, जिसका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रवाद की भावना जगाना तथा राजनैतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना था। 26 जुलाई, 1876 को इंडियन लीग का स्थान 'इंडियन एसोसिएशन ऑफ कलकत्ता' ने ले लिया। इस एसोसिएशन ने आईसीएस की परीक्षा लंदन की जगह भारत में कराने के लिए आंदोलन प्रारंभ किया, जिसे 'भारतीय जनपद सेवा आंदोलन' कहते हैं।

2. मद्रास : कलकत्ता की ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन की शाखा के रूप में 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' बनाई गई। यह ज्यादा प्रभावी न हो सकी।

मई 1884 में 'मद्रास महाजनसभा' अस्तित्व में आई जिसका उद्देश्य स्थानीय संगठनों के कार्यों को समन्वित करना था।

3. बंबई : बंबई प्रेसीडेंसी में सर्वप्रथम राजनैतिक संस्था 'बंबई एसोसिएशन' थी, जिसका गठन 26 अगस्त, 1852 को कलकत्ता की ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन के नमूने पर किया गया था। इसका उद्देश्य सरकार को ज्ञापन देना था ताकि बुराइयों को दूर किया जा सके और जिन सरकारी नीतियों अथवा प्रस्तावित नियमों को वे हानिकारक समझते थे उसके विरुद्ध सरकार को सुझाव दे सकें।

1885 में 'बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' बनाई गई जिसका श्रेय मेहता तेलंग और तैयबजी को है। 1867 में पूना में 'पूना सार्वजनिक सभा' बनाई गई। इसका उद्देश्य सरकार और जनता के बीच सेतु का कार्य करना था।

1857 का विद्रोह

ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में दो प्रमुख कार्य थे– व्यापारिक शोषण और साम्राज्य बढ़ाना। इस समस्त नीति के संचित प्रभाव से भारत के सभी वर्गों, रियासतों के राजाओं, जमींदारों, सैनिकों, कृषकों, व्यापारियों, ब्राह्मणों तथा मौलवियों आदि सभी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जैसा कि लखनऊ घोषणा में कहा गया कि अंग्रेजों की इस नीति के कारण हिंदू तथा मुस्लिम दोनों के प्रिय चार प्रमुख तत्वों, धर्म, मान, जीवन तथा संपत्ति, को भय उत्पन्न हो गया था। भारतीयों का रोष समय–समय पर भारत के भिन्न–भिन्न भागों में सैनिक विद्रोह अथवा परिद्रोहों के रूप में प्रकट होता रहा था। इनमें से कुछ इस प्रकार थे, वैल्लोर में 1806 ई. में, बैरकपुर में 1824 ई. में, फिरोजपुर में फरवरी 1842 ई. में, 34 रेजिमेंट का विद्रोह 1849 ई. में, 64वीं रेजिमेंट और 22वीं एनआई का विद्रोह 1850 ई. में, 66वीं एनआई का विद्रोह 1852 इत्यादि। इसी प्रकार 1816 ई. का बरेली उपद्रव, 1831–33 ई. का कोल विद्रोह, 1848 ई. में कांगड़ा, जसवार और दातारपुर के राजाओं का विद्रोह, 1855–56 ई. का संथाल विद्रोह। यह समस्त विद्रोह अनेक प्रशासनिक, राजनैतिक तथा आर्थिक कारणों से हुए थे। धीरे–धीरे सुलगती हुई अग्नि 1857 में धधक उठी और उसने अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया।

विद्रोह का यथार्थ स्वरूप और चरित्र

इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के स्वरूप के विषय में भिन्न–भिन्न मत प्रकट किए हैं। कुछ इतिहासकारों ने इसे केवल सैनिक विद्रोह कहा जो केवल सैनिकों तक ही सीमित था और इसे जन–साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं था। अनेक लोगों ने इसे 'ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह' या 'श्वेत और काले लोगों के बीच सर्वश्रेष्ठता का संघर्ष' बताया। कुछ इसे 'पाश्चात्य तथा पूर्वी सभ्यता के बीच का संघर्ष कहते हैं' तो कुछ इसे अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए 'हिंदू–मुस्लिम षड्यंत्र' का नाम देते हैं। कुछ राष्ट्रवादी भारतीय इसे 'सुनियोजित राष्ट्रीय आंदोलन' की संज्ञा देते हैं।

विद्रोह के कारण

टिप्पणी

एंग्लो–इंडियन इतिहासकारों ने सैनिक असंतोष तथा चर्बी वाले कारतूसों को ही 1857 के विद्रोहों का सबसे प्रमुख कारण माना है। परंतु आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चर्बी वाले कारतूस ही इस विद्रोह का एकमात्र कारण न थे बल्कि इसके प्रमुख कारण कुछ और थे और वे सभी प्लासी की 1757 की लड़ाई से 29 मार्च, 1857 को मंगल पांडे द्वारा अंग्रेज एजुटेंट की हत्या के मध्य तक के विभिन्न कारणों में निहित थे। चर्बी वाले कारतूसों ने तो इस विद्रोह में चिंगारी का काम किया था। संक्षेप में इस विद्रोह के कारण इस प्रकार थेः

1. प्रशासनिक कारण : अंग्रेजों के शासन से भारतीय संतुष्ट न थे। प्रथम उन्हें नवीन शासन पद्धति को समझने में कठिनाई थी। जिस शासन को वे सदियों से देखते आ रहे थे वह समाप्त कर दिया गया था। नवीन शासन पद्धति को वे शंका की दृष्टि से देखते थे। द्वितीय नवीन शासन से अनेक व्यक्तियों को हानि हुई। ताल्लुकदार, जागीरदार एवं राजवंश के व्यक्ति, जो शासन से संबंधित थे और विशेष प्रकार के लाभ और एकाधिकार प्राप्त करते थे, हटा दिए गए। क्योंकि अंग्रेजी शासन में उनकी आवश्यकता न थी। वे सभी अंग्रेजों से असंतुष्ट थे। तृतीय, अंग्रेजों ने लगान व्यवस्था में जो परिवर्तन किए थे उससे भी भारतीय असंतुष्ट थे। किसानों को अधिक लगान देना पड़ता था और जमींदारों को विशेष अधिकार के उपभोग का अवसर न रहा था। चौथे, अंग्रेजों की न्याय व्यवस्था भारतीयों के अनुकूल न थी। पांचवें, अंग्रेजों की पुलिस व्यवस्था उस समय तक ठीक तरह से स्थापित नहीं हुई थी तथा नागरिकों को सदैव अपने धन तथा जीवन की रक्षा का भय रहता था।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी प्रशासनिक व्यवस्था के अन्य दोष भी थे, जैसे–भारतीय अंग्रेज अधिकारियों से मिल नहीं सकते थे जैसा कि वे ताल्लुकदारों या जमींदारों के साथ करते थे। फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को शासन एवं न्यायालय की भाषा बना देने से भी भारतीय असंतुष्ट थे। अंग्रेजों का भारतीयों को प्रशासन में सम्मिलित न करना एक अन्य बड़ी बुराई थी। सैनिक और असैनिक सभी सेवाओं में उच्च पद केवल यूरोपियनों के लिए ही सुरक्षित थे। जब राजा राममोहन राय के पुत्र राजाराम को आईसीएस के बराबर पद प्रदान किया गया तो सभी अंग्रेजी अखबारों में चिंता व्यक्त की गई। इस प्रकार ये सभी प्रशासनिक कारण थे।

2. राजनैतिक कारण : कंपनी की भारतीय रियासतों पर क्षमतापूर्ण नियंत्रण और धीरे–धीरे समाप्ति की नीति ने लॉर्ड वैलेजली के अधीन सहायक संधि की प्रणाली के रूप में एक निश्चित आकार धारण कर लिया। इस कार्य का अंतिम रूप डलहौजी के काल में सामने आया, जिसने नैतिक एवं राजनैतिक आचार की सभी सीमाओं को छिन्न–भिन्न करके 'व्यपगत के सिद्धांत' को गढ़ा। डलहौजी की विलय नीति ने सभी राजाओं को व्याकुल कर दिया। हिंदू राजाओं से दत्तक पुत्र लेने का अधिकार भी छीन लिया गया। उत्तराधिकार का अधिकार उनको नहीं रहा, जिनकी धमनियों में वंश के प्रवर्तक का रक्त नहीं बह रहा होता था। विवादास्पद मामलों में कंपनी का निर्णय मान्य एवं बाध्य होता था। पंजाब और सिक्किम जहां विजय के अधिकार द्वारा विलय किए गए वहीं संभलपुर, सतारा, जैत, बघाट, झांसी, उदयपुर और नागपुर व्यपगत के सिद्धांत के अंतर्गत अवध का कुशासन के आधार पर विलय कर लिया गया। तंजौर और कर्नाटक के नवाबों की राजकीय उपाधियां समाप्त कर दी गईं। अतः भारतीय राजा यह मानने

टिप्पणी

लगे कि सभी रियासतों का अस्तित्व खतरे में है तथा इन सब का विलय होना केवल समय का प्रश्न है। इन रियासतों का भय निराधार न था, जो कि ब्रिटिश साम्राज्य के एक निर्माता सर चार्ल्स नेपियर के पत्र व्यवहार से स्पष्ट होता है। उसने लिखा था, ''यदि मैं 12 वर्ष के लिए भारत का सम्राट होता....तो कोई भी भारतीय राजा शेष न रहता. ..निजाम का नाम भी नहीं सुनाई देता...नेपाल हमारा होता।'' मालेसन ने ठीक ही कहा कि, डलहौजी की नीति तथा ऊंचे पदाधिकारियों के पत्रों एवं लेखों ने एक प्रकार का अविश्वास का वातावरण उत्पन्न कर दिया था और भारतीयों को यह प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज मेमने के रूप में भेड़िए की भूमिका निभा रहे हैं।

मुसलमानों की भावनाएं भी गंभीर रूप से आहत हुई थीं। 1856 में शहजादा फखरुद्दीन की मृत्यु के बाद लॉर्ड कैनिंग ने घोषणा की कि फखरुद्दीन द्वारा तिलांजली दिए हुए मामलों के अतिरिक्त नवीन उत्तराधिकारी शहजादे को राजकीय उपाधि और महल दोनों ही छोड़ने होंगे। इस घोषणा से मुसलमान बहुत चिंतित हो गए तथा उन्होंने समझा कि अंग्रेज तैमूर के वंश को नीचा दिखाना चाहते हैं।

यह तर्क भी प्रस्तुत किया गया कि एक और राजनीतिक कारण भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप 'अनुपस्थित प्रभुसत्ता' के रूप में था और अंग्रेजों के विरोध के लिए इसका भारतीयों के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों के विषय में भारतीय यह अनुभव करते थे कि उन पर हजारों मील दूर से शासन किया जाता है और देश के धन का धीरे–धीरे निकास हो रहा है।

इसके अतिरिक्त गत 40 वर्षों से अनुसरण की हुई शांति की नीति के कारण पिंडारी तथा अन्य अनियमित सैनिक, जो भारतीय रियासतों की सेना का अंग होते थे, बेकार हो गए और ये सभी विद्रोह में शामिल हो गए। इस प्रकार ये सभी राजनैतिक कारण थे।

3. सामाजिक और धार्मिक कारण : सभी विजेता जातियों की भांति अंग्रेज शासक विजित लोगों के प्रति बहुत रूखे तथा प्रगल्भ थे। इसके अतिरिक्त वे जातिभेद की भावना से भी प्रेरित थे। वे भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे तथा हिंदुओं को बर्बर एवं मुसलमानों को कट्टरपंथी, निर्दयी और बेईमान समझते थे।

यूरोपीय अधिकारी वर्ग, भारतीयों के प्रति बहुत कठोर तथा असहनशील था। वे भारतीयों को काले अथवा सुअर की संज्ञा देते थे। उनमें उत्तम से उत्तम लोग भी बर्ट तथा टॉमसन की भांति प्रत्येक अवसर पर भारतीयों का अपमान करने से नहीं चूकते थे।

शिकार पर जाते समय अंग्रेज पदाधिकारी और यूरोपीय भारतीयों से दुर्व्यवहार करते थे। यूरोपीय ज्यूरियां जो इन मामलों की सुनवाई करती थीं प्रायः उन लोगों को बहुत थोड़ा दंड देकर छोड़ देती थीं। इस प्रकार का व्यवहार सभी भारतीयों के लिए असहनीय था।

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारत में ईसाई मिशनरी आए जिन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करना प्रारंभ कर दिया। सरकार खुलकर इन मिशनरियों को सहयोग देती थी। अस्पतालों, स्कूलों तथा छावनियों में ईसाई धर्म का प्रचार किया जाता था। ईसाई धर्म पर आधारित नवीन शिक्षा नीति के कारण भी जनता में असंतोष बढ़ा। मौलवी तथा पंडित बेरोजगार हो गए। स्कूलों में ईसाई धर्म के प्रचार के कारण जनता इनको संदेह की दृष्टि से देखती थी। पुनः इन स्कूलों में सभी जातियों के बालक एक साथ बिठाए जाते थे, जिससे ऊंची हिंदू जाति के बालक असंतुष्ट थे।

टिप्पणी

1850 ई. में पास किए गए धार्मिक अयोग्यता अधिनियम द्वारा हिंदू रीति–रिवाजों में परिवर्तन लाया गया। इस नियम के द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण करने से पुत्र अपने पिता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता था। इस कानून का लाभ मुख्य रूप से ईसाई बनने वालों के लिए था। शिक्षा संस्थाओं में बाइबिल का अध्ययन कराया जाता था तथा स्त्रियों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी।

सैनिकों को ईसाई धर्म अपनाने पर पर्याप्त सुविधाएं तथा पदोन्नति के अवसर प्राप्त थे। मूर्ति पूजा को बुरा कहा जाता था। उपरोक्त सभी कारणों से भारतीय असंतुष्ट थे।

4. आर्थिक कारण : भारत में अंग्रेजों के शासन का मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण था। अंग्रेजों के शासन का प्रारंभ बंगाल से हुआ और 18वीं सदी तक बंगाल की जनसंख्या एक–तिहाई रह गई थी। साथ ही सूबे की एक–तिहाई भूमि जंगलों में परिणित हो गई थी, जहां जंगली जानवरों के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। यही स्थिति लगभग संपूर्ण भारत की हो गई थी। अंग्रेजों ने अपनी राजनैतिक सत्ता का पूर्ण लाभ उठाया और प्रत्येक प्रकार से भारतीयों के हितों के प्रति उदासीन होकर अपने व्यापार एवं उद्योगों को काफी बढ़ाया।

अंग्रेजों की नवीन राजस्व नीति के कारण पुराना जमींदार वर्ग नष्ट हो गया तथा उनका स्थान नए जमीदारों ने ले लिया जो अंग्रेजों के भक्त थे। दान तथा ईनाम में दी गई जमीनों को कंपनी द्वारा जब्त कर लिए जाने के कारण लाखों लोग नष्ट हो गए।

नवीन राजस्व व्यवस्था में किसानों की ओर उदासीनता का व्यवहार किया गया। लगान की दरें इतनी बढ़ा दी गईं जितनी कि इससे पूर्व कभी न थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि किसान, साहूकारों के चंगुल में फंस गए तथा उन्हें अपनी जमीनों से हाथ धोना पड़ा।

कंपनी की सरकार द्वारा खेती की ओर ध्यान न देने के कारण अनेक दुर्भिक्ष पड़े जिससे लाखों लोग मर गए।

अंग्रेजों के भारत आने से पहले भारत एक कृषि प्रधान देश ही न था बल्कि यहां के उद्योग एवं व्यापार भी अत्यधिक उन्नतशील अवस्था में थे, जिससे भारत विदेशों से अपार धन प्राप्त किया करता था। लेकिन अंग्रेजों की व्यापारिक नीति ने भारत के उद्योग एवं धंधों को नष्ट कर दिया।

अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण पुराना व्यापारिक वर्ग नष्ट हो गया क्योंकि वे कंपनी से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा न कर सके। भारत की घरेलू दस्तकारी भी नष्ट हो गई क्योंकि इंग्लैंड से मशीनों से बना हुआ माल आयात किया जाने लगा जो सस्ता था। इसके कारण लाखों लोग बेरोजगार हो गए। इस संदर्भ में विलियम बैटिंक ने लिखा था, ''व्यापार के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा कष्टप्रद उदाहरण न रहा था। भारत का मैदान सूती कपड़ा बुनने वालों के अस्थि पंजरों से भरा हुआ है।''

5. सैनिक कारण : भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार से सैनिकों की सेवा शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कंपनी, अंग्रेज तथा भारतीय सैनिकों के बीच मतभेद रखती थी। एक ही पद पर कार्य करने वाले एक अंग्रेज सैनिक का वेतन भारतीय सैनिक के वेतन से कई गुना अधिक होता था। इसके अतिरिक्त भारतीयों को सेना में उच्च पद प्राप्त नहीं हो सकता था।

टिप्पणी

1854 में डाकघर अधिनियम के पारित होने पर सैनिकों की निःशुल्क डाक सुविधा समाप्त कर दी गई। इसके अतिरिक्त सेना में भारतीय तथा यूरोपीय सैनिकों का अनुपात दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। सैनिकों का वितरण भी दोषपूर्ण था। इसके अतिरिक्त क्रीमिया युद्ध में विनाश के कारण सैनिकों का साधारण मानसिक बल भी काफी कम हो गया था। अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के कारण सैनिक असंतुष्ट थे क्योंकि उनमें से बंगाल सेना के सैनिक मुख्यतया उसी राज्य के थे।

1856 में कैनिंग की सरकार ने 'सामान्य सेना भर्ती अधिनियम' पास किया जिसके अनुसार बंगाल सेना के सभी भावी सैनिकों को यह स्वीकार करना आवश्यक था कि जहां कहीं भी सरकार को अवश्यकता होगी वे वहीं कार्य करेंगे। इस अधिनियम का प्रभाव पुराने सैनिकों पर नहीं था परंतु सैनिक सेवाएं प्रायः वंशानुगत होती थीं। अतएव नए सैनिकों के लिए यह अधिनियम बहुत अप्रिय था। इसके अतिरिक्त जो सैनिक 1839–42 ई. तक अफगानिस्तान में सेवा कर आए थे उन्हें उनके समाज में उनकी जाति में पुनः नहीं लिया गया। साथ ही जिन सैनिकों को विदेश सेवा के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया गया था उन्हें पेंशन सहित निवृत्त होने की आज्ञा न थी, बल्कि उन्हें छावनियों में नियुक्त कर दिया जाता था।

इसी प्रकार पंजाब को जीतने के पश्चात् अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों को विश्वास दिलाया था कि उन्हें अपनी दाढ़ी या बाल साफ करने के लिए नहीं कहा जाएगा। परंतु बाद में अंग्रेजों ने बाल साफ करने के आदेश जारी कर दिए। बंगाल की सेना में निम्न जातियों की भर्ती किए जाने से सेना के उच्च वर्ग के लोगों ने इसे अपना अपमान समझा।

1856 में सेना में पुरानी राइफलों के स्थान पर नई इनफील्ड राइफलों का प्रयोग शुरू हुआ जिनमें चर्बीयुक्त कारतूसों को प्रयुक्त किया जाता था। अतः इन सभी कारणों से सैनिक असंतुष्ट थे।

6. तात्कालिक कारण : सेना में चर्बीयुक्त कारतूसों का प्रयोग ही इस विद्रोह का तात्कालिक कारण था। इन्हें पुरानी ब्राउन बैस बंदूकों की जगह नई इनफील्ड राइफलों में प्रयोग किया जाता था।

विद्रोह की असफलता के कारण

विद्रोह की असफलता के अनेक कारण थे, जो निम्नानुसार हैं–

1. कुशल एवं संगठित नेतृत्व का अभाव।
2. विद्रोह का स्वरूप देशव्यापी न होकर सीमित था। बंबई और मद्रास की सेनाएं राजभक्त रहीं। नर्मदा नदी के दक्षिण के प्रदेश में बहुत थोड़ी–सी अशांति फैली। सिंध और राजस्थान शांत रहे। नेपाल की सहायता उपयोगी सिद्ध हुई। अफगानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद भी मित्रवत बना रहा। जॉन लॉरेंस ने पंजाब को सफलतापूर्वक नियंत्रण में रखा। पश्चिमी बिहार, रुहेलखंड, अवध, नर्मदा तथा चंबल के मध्य क्षेत्र ही अधिक प्रभावित हुए।
3. 1857 के विद्रोह का स्वरूप मुख्य रूप से सामंती था जिसमें कुछ राष्ट्रवादी तत्व भी विद्यमान थे। रुहेलखंड, अवध तथा उत्तरी भारत के अन्य सामंतवादी तत्वों ने जहां विद्रोह का नेतृत्व किया वहीं हैदराबाद, जींद, ग्वालियर तथा पटियाला के

राजाओं ने उसे समाप्त करने में मदद की। ग्वालियर के मंत्री सर दिनकर राव तथा हैदराबाद के मंत्री सालारजंग की अंग्रेजों ने प्रशंसा की। निजाम को बराड़ का प्रांत लौटा दिया गया।

टिप्पणी

4. अंग्रेजी साम्राज्य के साधन विद्रोहियों के साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। रेल, तार, डाक व्यवस्था तथा आधुनिक हथियारों का अंग्रेजों को भारी लाभ मिला।
5. विद्रोहियों के सम्मुख विरोधी विदेशी भावना के अतिरिक्त कोई अन्य उद्देश्य नहीं था। हिंदू–मुस्लिम मतभेद शत्रु के सम्मुख निष्क्रिय तो हो गए लेकिन समाप्त नहीं हुए। कृषकों और निम्न जाति के लोगों ने कोई सहानुभूति नहीं दिखाई।
6. विद्रोह का गठन ठीक न था। विद्रोह के नेताओं में वीरता की कमी नहीं थी परंतु संगठन क्षमता, अनुभव तथा मिलकर कार्य करने की शक्ति की कमी थी।
7. सौभाग्यवश कंपनी के पास लॉरेंस बंधु, निकलसन, आउट्रम, हैवलॉक तथा एडवर्डस जैसे विशेष योग्य व्यक्तियों की सेवाएं थीं। ये सभी उत्तम, वीर और अनुभवी सैनिक थे, जिन्होंने प्रारंभिक काल में कठिनतम युद्ध लड़े थे तथा विदेश से सहायता आने तक स्थिति को संभाले रखा।

उदारवादी चरण (1885–1905)

आंदोलन के इस चरण को 'उदारवादी चरण' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इस चरण में आंदोलन का नेतृत्व मुख्यतया उदारवादी नेताओं के हाथ में रहा। इनमें बंगाल के डब्ल्यू.सी. बनर्जी, आनंद मोहन बोस, लालमोहन बोस, रासबिहारी घोष, ए.सी. मजूमदार, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, आर.सी. दत्त, बंबई के फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयबजी, आप्टे, अगरकर, रानाडे, तैलंग, गोपाल कृष्ण गोखले, डी.ई. वाचा और चंद्रावरकर; मद्रास के पी.आर. नायडू, सुब्रह्मण्यम अय्यर और आनंद चारलू; उत्तर प्रदेश के मदन मोहन मालवीय और पंडित धर जैसे लोग थे। कांग्रेस और उसके क्रियाकलापों के विकास में वेडरवर्न ह्यूम और हेनरी कॉटन जैसे उदारवादी लोगों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन नेताओं को भारतीय राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के नेताओं के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

ये राष्ट्रवादी अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास करते थे और सोचते थे कि यदि प्रार्थना–पत्रों के माध्यम से अपनी मांगें सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करते रहेंगे तो वे उन्हें अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

इस समय कांग्रेस पूर्णतया वैधानिक कार्यप्रणाली पर विश्वास करती रही। उसका कार्य सरकार से प्रार्थना करना, प्रस्ताव स्वीकार करना और अपने विचारों का प्रसार करना, इन तीनों बातों तक ही सीमित रहा। उस समय तक सरकार से विरोध करने का उसका कोई उद्देश्य न था तथा उसकी मांगें भी अत्यंत सीमित थीं। उन्होंने सरकार से निरंतर मांग की कि–

1. इंडिया काउंसिल समाप्त की जाए।
2. भारत में प्रतिनिधि सभाएं स्थापित की जाएं।
3. व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान की जाए।
4. अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाए।
5. विदेशी वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाए।

टिप्पणी

6. भारतीयों को उच्च से उच्च सरकारी पद प्राप्त हो।

7. शासन और सैनिक व्यय में कमी की जाए।

इस प्रकार कांग्रेस की नीति निरंतर सरकार से प्रार्थना की रही। उस समय के उदार राष्ट्रीय नेताओं का ब्रिटेन के न्याय में विश्वास था। इस समय तक कांग्रेस ने सरकार से विरोध की नीति को नहीं अपनाया। लेकिन कुछेक अवसरों पर उसने सरकार के कुछ कार्यों का विरोध किया, जैसे–वर्नाकुलर प्रेस एक्ट और शस्त्र कानून। परंतु यह विरोध भी पूर्णतया संवैधानिक था। लेकिन सरकार ने इनकी किसी मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया 1892 ई. का कानून भी जो बहुत कुछ कांग्रेस की मांगों के आधार पर बनाया गया था, संतोषजनक न था। प्रार्थना–पत्रों पर निर्भर रहने के कारण कांग्रेस के इस कार्य को 'राजनैतिक भिक्षावृत्ति' के नाम से पुकारा गया।

यह समय कांग्रेस का शैशवकाल था। कांग्रेस ने अपने प्रचार के लिए लंदन में इंडियन नेशनल कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति बनाई, जिसने भारतीय मामलों से अंग्रेजों को अवगत कराने के लिए 'इंडिया' नामक साप्ताहिक पत्रिका निकाली।

कांग्रेस के प्रति अंग्रेजों का रवैया: कांग्रेस के नरम रुख तथा राजभक्त होते हुए भी उसे सरकार की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। आरंभ में यह सरकारी रुख तटस्थता का था। इसी भावना से प्रेरित होकर लॉर्ड डफरिन ने इंडियन नेशनल कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के (1986) प्रतिनिधियों को एक 'गार्डन पार्टी'दी। 1887 ई. के मद्रास अधिवेशन में भी सरकार का सहयोग रहा। लेकिन 1887 के पश्चात् सरकार का रुख कठोर होता गया। सरकार ने कांग्रेस के प्रचार का प्रतिरोध करने के लिए सर सैयद अहमद खां और राजा शिव प्रसाद को प्रेरणा दी कि वे एक संगठित भारतीय देशभक्ति मंडल का गठन करें। डफरिन ने कांग्रेस की आलोचना की तथा उसे 'सूक्ष्मदर्शी अल्पसंख्या' का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था कहा। लॉर्ड कर्जन ने तो यहां तक कहा कि, ''कांग्रेस अपने पतन की ओर लड़खड़ाती जा रही है तथा उसकी इच्छा है कि वह कांग्रेस की शांतिमय मृत्यु में सहायता दे सके।''

उदारवादियों की नीतियों का मूल्यांकन

उदारवादियों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलू की कड़ी आलोचना की तथा लोगों में आर्थिक चेतना जागृत की। भारत की आर्थिक समस्याओं की तरफ उनकी वैज्ञानिक दृष्टि थी। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण को भारत की बढ़ती हुई गरीबी का कारण माना। उदारवादियों ने देश की निर्धनता हटाने के लिए कुछ आर्थिक सुझाव दिए–

1. देश का आधुनिक ढंग से औद्योगीकरण,
2. भारतीय उद्योगों की रक्षा के लिए टेरिक की दीवार खड़ी करना,
3. देश के आर्थिक विकास में राज्य का हिस्सा, तथा
4. उप–नियमों को निश्चित करना जिन पर टैक्स तथा आर्थिक प्रशासन निर्भर करते हैं।

कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं की एक महत्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होंने आधुनिक यूरोप में समृद्ध लोकतंत्र एवं वैज्ञानिक संस्कृति के भारत में प्रचार–प्रसार का समर्थन किया।

टिप्पणी

इसके साथ ही उदारवादी स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर भी बल देते थे। इसी के तहत महाराष्ट्र में 1896 ई. में एक 'स्वदेशी आंदोलन' शुरू किया गया जिसमें विद्यार्थियों ने खुले रूप में कपड़ों को जलाया।

उदारवादियों के प्रयत्न से ही 1886 ई. में एक लोक सेवा आयोग का गठन करवाया गया और 1892 ई. में भारतीय परिषद अधिनियम पारित हुआ। दादाभाई नौरोजी, रोमेश चंद्र दत्त तथा दिनशा वाचा ने मिलकर 'ड्रेन थ्योरी' (निकास सिद्धांत) का प्रतिपादन किया।

दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में यह वर्णन किया कि किस प्रकार भारत का धन इंग्लैंड पहुंचाया जा रहा है, जिससे भारत में निर्धनता बढ़ती जा रही है।

इस प्रकार, राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रथम चरण में भले ही उदारवादियों ने सरकार के प्रति राज्य भक्ति प्रदर्शित की हो लेकिन अनेक क्षेत्रों में उन्होंने उल्लेखनीय प्रयास किए, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन को बल मिला।

उग्र राष्ट्रवाद (1905–1919)

कांग्रेस की प्रार्थना–पत्रों की नीति से अंग्रेज सरकार पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और वे शासन में मनमानी करते रहे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारत में इस भावना का जन्म हुआ कि स्वराज्य मांगने से नहीं बल्कि संघर्ष से प्राप्त होगा। संवैधानिक आंदोलन से नागरिकों का विश्वास उठ गया। अतः संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की इस भावना को ही उग्र राष्ट्रवाद की भावना कहते हैं।

उग्र राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख कारण

आर्थिक असंतोष : भारत के नागरिकों की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ती ही जा रही थीं। समाज के सभी वर्ग अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों से असंतुष्ट थे। सरकार ने सूती कपड़े पर आयात कम कर दिया जिससे भारत के सूती कपड़ा उद्योग को अत्यधिक हानि हुई। ऐसी स्थिति में भारतीय पूंजीपति भी राष्ट्रवादियों के साथ मिल गए। डॉ. विपिन चंद्रा के अनुसार, ''अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार का सुधार न होना उग्र राष्ट्रवाद के उदय का सबसे प्रमुख कारण था।'' इस प्रकार सभी लोग समझने लगे कि भारत की निर्धनता के लिए ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी है। इस प्रकार राष्ट्रवाद की भावना को बल मिला।

अंग्रेजों की शासन में मनमानी : अंग्रेजों ने कांग्रेस के प्रार्थना–पत्रों पर कोई ध्यान न दिया और 1892 ई. के सुधार भारतीयों को संतुष्ट करने में सर्वथा असफल रहे। व्यक्तिगत व्यवहार की दृष्टि से भी अंग्रेजों में कोई परिवर्तन नहीं आया तथा चोरी, अपमान, स्त्री अपहरण जैसी घटनाएं यथावत् होती रहीं, जिन्हें रोकने के लिए शासन की ओर से कोई समुचित व्यवस्था न की जा सकी।

धार्मिक और सामाजिक प्रगति : धार्मिक और सामाजिक प्रगति का प्रवाह अभी तक समाप्त न हुआ था बल्कि अब उसका प्रयोग राष्ट्रवाद को तीव्र करने के लिए किया जाने लगा। बंगाल में विपिनचंद्र पाल, महाराष्ट्र में तिलक तथा पंजाब में लाला लाजपतराय धार्मिक राष्ट्रीयता के पोषण में लगे हुए थे और गणेश पूजा, शक्ति पूजा आदि के सहारे भारतीयों को जागृत कर रहे थे।

कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियां : कर्जन का भारत में 7 वर्ष का शासन भूलों, शिष्टमंडलों तथा आयोगों के लिए प्रसिद्ध था, जिसकी भारतीय मन पर कड़ी प्रतिक्रिया

टिप्पणी

हुई। कर्जन ने भारत को एक राष्ट्र नहीं माना और कांग्रेस के सभी कार्यों को केवल 'मन के उद्‌गार निकालना' माना। साथ ही कर्जन द्वारा मुख्यतया बंगाल विभाजन (1905 ई) एवं कटु भाषा के प्रयोग से भारतीयों में तीव्र असंतोष उत्पन्न हो गया। बंगाल विभाजन के विरोध में भारत में एक तीव्र आंदोलन हुआ और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए आंदोलन हुए।

1897–98 का प्लेग और अकाल : इन वर्षों में गुजरात और दक्षिण भारत में भीषण अकाल पड़ा तथा महाराष्ट्र व बंबई में भीषण प्लेग फैला। सरकार ने इसकी रोकथाम के लिए जो उपाय किए उससे भारतीयों में अत्यधिक असंतोष फैला। प्लेग के अवसर पर सरकार ने सैनिकों को जन–साधारण के घरों में घुसने की अनुमति दे दी, जिसका तीव्र विरोध हुआ।

कांग्रेस की उपलब्धियों से असंतोष : कांग्रेस की पहले 15–20 वर्षों की उपलब्धियों से युवा संतुष्ट न थे। वे कांग्रेस की क्षमा, याचना एवं शांतिपूर्ण प्रतिवाद की नीति के तीव्र आलोचक थे। उनका मानना था कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद को इस तरह की नीतियों से समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः वे इसके लिए उग्र आंदोलन के पक्षधर थे।

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं : इसी समय विदेश में होने वाली घटनाओं का युवाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। भारतीयों के साथ अंग्रेजी उपनिवेश विशेषकर दक्षिण अफ्रीका में हुए दुर्व्यवहार से अंग्रेज विरोधी भावनाएं जाग उठीं। इसके अतिरिक्त ईरान, मिस्र, तुर्की और रूस में राष्ट्रवादी आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इथियोपिया का इटली को (1896) तथा जापान का रूस को (1905 ई.) पराजित करने का भारतीय राष्ट्रवादियों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और भारतीयों पर से यूरोप की अजेयता का जादू टूट चुका था।

बढ़ते हुए पश्चिमीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया : नवीन नेता पीढ़ी ने बढ़ते हुए पश्चिमीकरण पर गहरी चिंता व्यक्त की क्योंकि भारतीय राजनीति में चिंतन और जीवन में पश्चिम का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। भारतीयों का सांस्कृतिक पहलू भी इससे अछूता न रहा। ऐसे समय में विवेकानंद, बंकिमचंद्र, स्वामी दयानंद जैसे विद्वानों ने भारतीय तथा वैदिक संस्कृति के प्रति लोगों में एक नया आत्मविश्वास जगाया तथा पश्चिमी संस्कृति की पोल खोल दी।

ब्रिटेन में उदारवादी सरकार : ब्रिटेन में 1905 में उदार दल की सरकार बनी। इससे नरम दल के नेताओं को पुनः आशा हुई कि वे ब्रिटेन से भारत के लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त करने में सफल होंगे। गरम दल के नेता इससे असंतुष्ट थे। इसी प्रकार 1906 ई. में कांग्रेस अध्यक्ष पद के चयन में दादाभाई नौरोजी की उम्मीदवारी को लेकर भी दोनों दलों में मतभेद बढ़े।

उग्र राष्ट्रवाद की उत्पत्ति

1907 ई. में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस का दो दलों में विभाजन हो गया–

1. नरम दल, और
2. गरम दल।

इसके बाद 1907 ई. से भारत में उग्र राष्ट्रवाद की उत्पत्ति हुई। इस उग्र राष्ट्रवाद की दो शाखाएं थीं–

अ. गरम दल या अतिवादी, तथा

ब. राष्ट्रवादी क्रांतिकारी।

टिप्पणी

(अ) गरम दल या अतिवादी

इस दल का प्रादुर्भाव कांग्रेस में 1906 से दिखाई देता है। इसके नेता लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल तथा अरविंद घोष थे। इसका उद्देश्य सरकार से संघर्ष करने का था। तिलक ने अपने समाचार–पत्र 'केसरी' तथा विपिनचंद्र ने 'न्यू इंडिया' के माध्यम से निरंतर इसी प्रकार के विचारों का प्रचार किया। इसके साथ ही इस दल के नेता 'पूर्ण स्वराज्य' के पक्षधर थे। परंतु फिर भी गरम दल का तरीका हिंसात्मक न था तथा वे सरकार से अहिंसात्मक विरोध ही करना चाहते थे। तिलक ने नारा दिया कि, 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।'

सर गुरुदास बनर्जी ने बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा परिषद बनाई। मद्रास में एक राष्ट्रीय कॉलेज स्थापित किया गया तथा पंजाब में डी.ए.वी. आंदोलन ने जोर पकड़ा।

गरम दल के कारण 1907 ई. में कांग्रेस का सूरत विभाजन हुआ, जो 1916 ई. तक बना रहा। परंतु फिर भी उग्र या गरम दल का कांग्रेस के उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों पर गंभीर प्रभाव पड़ा। अंत में कांग्रेस गरम दल के हाथों में ही आ गई और संघर्ष द्वारा पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति उसका उद्देश्य बन गया।

(ब) राष्ट्रवादी क्रांतिकारी

अंग्रेजों की नीतियों से असंतुष्ट होकर भारत में एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हुआ जो हिंसा में विश्वास रखता था। इसे ही 'राष्ट्रवादी क्रांतिकारी दल' कहा गया। यह भारत में नवयुवकों का क्रांतिकारी दल था, जिसके केंद्र स्थान महाराष्ट्र, पंजाब और बंगाल थे। यह संगठित हिंसात्मक साधनों द्वारा अंग्रेजी शासन को नष्ट करके स्वतंत्रता चाहते थे और इस कार्य के लिए विदेशी सहायता तक लेने को प्रयत्नशील थे। इन क्रांतिकारियों में भूपेंद्रनाथ दत्त, लाला हरदयाल, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु, सरदार अजीत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल और चंद्रशेखर आजाद के नाम उल्लेखनीय हैं। इन क्रांतिकारियों ने अनेक स्थानों पर लूटपाट तथा दंगे किए।

होमरूल लीग

1914 में तिलक जब 6 वर्ष की सजा काटकर रिहा हुए तथा पूना आए तो उनके नेतृत्व में राष्ट्रवादी पुनः सक्रिय हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर कई लोगों के मन में विचार आया कि एक संगठन बनाकर ब्रिटिश शासकों पर दबाव डाला जाए। उस समय उदारवादियों ने कांग्रेस पर अधिकार कर रखा था। ऐसे समय में उनके मन में आयरलैंड के नमूने पर एक संगठन 'होमरूल लीग' बनाने का विचार आया। अतः 1915 में 23 और 24 दिसंबर को पूना में सम्मेलन हुआ, जिसमें मध्य प्रदेश, बंबई और बराड़ के राष्ट्रवादी सम्मिलित हुए। इस प्रकार 28 अप्रैल, 1916 को होमरूल लीग की स्थापना की गई।

1915 में श्रीमती एनी बेसेंट ने आयरिश होमरूल लीग के नमूने पर 'होमरूल लीग' की स्थापना मद्रास में की। उनका राजनीति में प्रवेश 1914 ई. में हुआ था। उन्होंने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया। दोनों संस्थाएं तालमेल से कार्य कर रही थीं। इनका उद्देश्य था कि जनता को शिक्षित किया जाए तथा कांग्रेस को अपने आंदोलन तथा एकमात्र उद्देश्य के लिए आधार प्रदान किया जाए। उनका उद्देश्य सरकार पर दबाव डालकर भारत को स्वशासन दिलाना था।

लखनऊ समझौता (1916)

दिसंबर 1915 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग का अधिवेशन एक साथ बंबई में हुआ। इतिहास में पहली बार ऑल इंडिया मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक साथ कांग्रेस के

टिप्पणी

अधिवेशन में शामिल हुए थे। 1916 में कांग्रेस और लीग का पुनः सम्मिलित अधिवेशन हुआ और दोनों के बीच एक समझौता हुआ, जिसे 'लखनऊ समझौता' या 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। इस अधिवेशन में मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना तथा कांग्रेस के अध्यक्ष उदारवादी श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी के साथी अंबिका चरण मजूमदार थे।

इस अधिवेशन में कांग्रेस ने मु. अली जिन्ना की अल्पसंख्यकों को उनकी जनसंख्या से अधिक अनुपात में उन्हें व्यवस्थापिका सभाओं में स्थान देने, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाने तथा वीटो के अधिकार इत्यादि की मांगों को स्वीकार कर लिया। इनकी योजना को 'कांग्रेस–लीग योजना' के नाम से भी जाना जाता है। इस अधिवेशन में कांग्रेस तथा लीग ने मिलकर भारत के भावी शासन और स्वराज्य के बारे में एक मसौदा तैयार किया तथा इस मसौदे को ब्रिटिश सरकार के सम्मुख पेश करते हुए मांग की कि इसे स्वीकार कर सरकार भारतीयों को स्वराज्य देने की तरफ निश्चित कदम उठाए।' साम्राज्य के पुनर्गठन में भारत को पराधीनता की स्थिति से निकालकर वही स्थान दिया जाए जो एक स्वशासित अधिराज्य को प्राप्त है। कांग्रेस–लीग योजना के पक्ष में सारे देश में प्रचार आंदोलन का कार्यक्रम भी चलाया गया।

इस समझौते में तिलक का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उस अवसर पर यह समझौता हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए लाभदायक समझा गया, लेकिन बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हुआ कि यह कांग्रेस की एक बड़ी राजनैतिक भूल थी तथा इससे मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला।

मांटेग्यू घोषणा

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की स्थिति अत्यंत गंभीर हो गई। उधर भारत में अंग्रेजी शासन के निरंतर प्रयत्नों के बावजूद भी राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन समाप्त न हो सका। गरम दल एवं नरम दल के संयुक्त हो जाने के पश्चात् कांग्रेस की स्वशासन की मांग तथा कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य लखनऊ समझौता हो जाने से भी ब्रिटिश सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन की आवश्यकता हुई। इस अवसर पर भारतीय नागरिकों को संतुष्ट रखना अत्यंत आवश्यक समझा गया और इस आशय से भारत मंत्री मांटेग्यू ने ब्रिटिश संसद के निम्न सदन में एक घोषणा की कि, ''सम्राट की सरकार की नीति है कि भारत के प्रत्येक भागों में भारतीयों से अधिक सहयोग प्राप्त किया जाए और भारत में ब्रिटिश स्वशासित संस्थानों का विकास किया जाए।''

इस आधार पर 1919 के सुधारों की योजना की नींव रखी गई।

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष

कांग्रेस जनों को आशा थी कि महायुद्ध के बाद भारत को ब्रिटेन के अधीन वही स्तर प्राप्त हो जाएगा, जो उसके अन्य उपनिवेशों को प्राप्त था। किंतु ब्रिटेन महायुद्ध के समय राष्ट्रवादी क्रांतिकारी गतिविधियों को भुलाने को तैयार न था। कांग्रेस के उदारवादियों को संतुष्ट करने के लिए वह कुछ सुधार अवश्य करना चाहता था। अतः उसने एक ओर, भारत सरकार अधिनियम 1919 का निर्माण किया और दूसरी ओर 1919 में ही रोलेट कानून का निर्माण किया।

रोलेट एक्ट : 1919 का वर्ष भारत के लिए अत्यंत क्षोभ और असंतोष का था। देश में फैल रही राष्ट्रीयता की भावना एवं क्रांतिकारी गतिविधियों को कुचलने के लिए ब्रिटेन

को पुनः शक्ति की आवश्यकता थी, क्योंकि भारत के रक्षा अधिनियम की शक्ति समाप्त हो रही थी।

टिप्पणी

इसी संदर्भ में सर सिडनी रोलेट को नियुक्त किया गया जिन्हें इस बात की जांच करनी थी कि भारत में क्रांतिकारी आंदोलन से संबद्ध लोग कहां तक फैले हुए हैं और उनसे निपटने के लिए किस प्रकार के कानूनों की आवश्यकता है। रोलेट समिति ने जो सिफारिशें कीं, उसे ही रोलेट अधिनियम या एक्ट के नाम से जाना गया।

इस एक्ट के अंतर्गत एक विशेष न्यायालय की स्थापना की गई, जिसमें उच्च न्यायालय के तीन वकील थे। यह न्यायालय ऐसे साक्ष्यों को मान्य कर सकता था जो साक्ष्य विधि के अंतर्गत मान्य नहीं थे। इसके निर्णय के विरुद्ध कहीं पर भी अपील नहीं की जा सकती थी। इस निर्णय के अंतर्गत प्रांतीय सरकारों को बिना वारंट के तलाशी, गिरफ्तारी तथा जमानत मांगने आदि जैसी असाधारण शक्तियां दे दी गई थीं। युद्धकाल में तो इस विधेयक को उचित माना जा सकता था, किंतु शांति युग में यह पूर्णतया अनुचित था। इस विधेयक को जनता ने 'काला कानून' कहा तथा जगह–जगह पर उसका विरोध किया गया।

गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

मार्च 1919 में जब गांधीजी ने रोलेट एक्ट के खिलाफ सत्याग्रह का नारा दिया तो भारत में देशव्यापी संघर्ष छेड़ने की दिशा में यह उनका पहला प्रयत्न था।

उससे पहले गांधीजी 24 वर्ष की उम्र में 1893 ई. में द. अफ्रीका गए। वे इंग्लैंड से बैरिस्टर बनकर लौटे तथा एक गुजराती व्यापारी दादा अब्दुल्ला का मुकद्दमा लड़ने के लिए द. अप्रफीका गए। श्री गांधी द. अफ्रीका पहुंचने वाले पहले बैरिस्टर एवं पहले पढ़े–लिखे व्यापारी थे। वहां उन्होंने भारतीय लोगों पर गोरी सरकार के द्वारा ढाए जाने वाले जुल्मों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रतिज्ञा की। इसके लिए उन्होंने 'नाटाल भारतीय कांग्रेस' का गठन किया और 'इंडियन ओपीनियन' नामक एक अखबार निकालना शुरू किया। 1906 ई. के बाद गांधीजी ने अवज्ञा आंदोलन शुरू किया, जिसे 'सत्याग्रह' का नाम दिया गया। इसका सबसे पहले प्रयोग उस कानून के खिलाफ किया गया, जिसके तहत हर भारतीय को पंजीकरण प्रमाण–पत्र लेना जरूरी था।

1906 के बाद गांधीजी ने स्वयं तथा अन्य भारतीयों की आर्थिक तंगी के कारण 'टॉल्सटाय फार्म' स्थापित किया। इसी बीच सरकार ने एक और कानून बनाया जिसका मकसद प्रवासी भारतीयों के प्रवेश को रोकना था। अतः इसके लिए 1913 में फिर सत्याग्रह आंदोलन छेड़ा गया।

इसी बीच सरकार के एक फैसले ने आग में घी का काम किया। अदालत ने उन सभी विवाहों को, जो ईसाई पद्धति से सम्पन्न नहीं हुए थे और जिनका पंजीकरण नहीं हुआ था, अवैध करार दिया। इस कानून के तहत हिंदू, मुस्लिम एवं पारसी रीति–रिवाजों के अंतर्गत की गई सभी शादियां अवैध थीं और उनकी संतानें भी अवैध थीं। इसके बाद गांधीजी ने अपना आंदोलन और तीव्र कर दिया और अंततः उन्हें सफलता मिली। लॉर्ड हर्डिंग, गोखले, सी.एफ. एन्ड्रूज से कई बार लंबी बातचीत के बाद दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों की सभी प्रमुख मांगें मान लीं।

1915 ई. में गांधीजी वापस भारत पहुंचे। यहां उनका भव्य स्वागत किया गया। भारत में आने तक गांधीजी ने काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। भारत में 1917 ई. में

टिप्पणी

उन्होंने बिहार के चंपारण में नील की खेती करने वालों के पक्ष में सत्याग्रह चलाया जिसके फलस्वरूप वहां के किसानों को कुछ राहत मिली। 1918 ई. में अहमदाबाद के मिल मजदूरों एवं मालिकों में समझौता कराने तथा गुजरात के खेड़ा में किसान आंदोलनों में भाग लेने के कारण भारतीय समुदाय उनसे नेतृत्व की आशा करने लगा। 1919 ई. में वे कांग्रेस के सदस्य बने तथा भारतीय राजनीति से सक्रिय रूप से जुड़ गए।

जलियांवाला बाग हत्याकांड (1919)

रोलेट कानून बनने से पूर्व ही गांधीजी सरकार को चेतावनी दे चुके थे कि वह उसका विरोध करेंगे। रोलेट कानून के विरोध में 30 मार्च, 1919 का दिन संपूर्ण भारत में सत्याग्रह के रूप में मनाया गया। सत्याग्रह के अंतर्गत रोलेट एक्ट के विरोध में जगह–जगह सभाएं की गईं तथा शांतिपूर्ण जुलूस निकाले गए। पंजाब और दिल्ली के अतिरिक्त सभी स्थानों पर जुलूस शांतिपूर्ण रहा। पंजाब के गवर्नर ने डॉ. सत्यपाल तथा डॉ. किचलू नामक दो नेताओं को बलात् पंजाब से बाहर भेज दिया। महात्मा गांधी के दिल्ली प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 10 अप्रैल, 1919 को सत्याग्रहियों पर गोली चलाने के विरोध में अमृतसर के जलियांवाला बाग में 13 अप्रैल, 1919 को एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई, जिसमें लगभग 20 हजार स्त्री–पुरुष एवं बच्चे सम्मिलित हुए थे। उसी समय जनरल डायर नामक एक सैनिक अधिकारी ने बाग के सामने वाले टीले से बिना किसी पूर्व चेतावनी के लोगों पर उस समय तक गोलियां चलवाईं जब तक कि सैनिकों का गोला–बारूद खत्म नहीं हो गया। भीड़ ने इधर–उधर भागने का प्रयत्न किया लेकिन बाहर निकलने का कोई मार्ग न था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 379 व्यक्ति मारे गए, जबकि वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा थी।

इस घटना के बाद पंजाब में सैन्य कानून लागू कर दिया गया। सार्वजनिक स्थानों पर लोगों को कोड़े लगाए गए तथा दो महीने तक कर्फ्यू लगा रहा। बिजली तथा पानी की सप्लाई काट दी गई। अमृतसर की एक गली में एक ब्रिटिश महिला मि. शेरवुड के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण सभी को उस गली से रेंगकर जाने के लिए कहा गया। संपूर्ण भारत में इस नृशंसतापूर्ण कार्य का विरोध हुआ। रविंद्रनाथ टैगोर ने 'सर' की उपाधि त्याग दी तथा शंकरराम नागर ने वायसराय की कार्यकारिणी से त्याग–पत्र दे दिया। अनेक स्थानों पर सत्याग्रहियों ने अहिंसा के मार्ग को त्यागकर हिंसा का रास्ता अपनाया जिससे 18 अप्रैल, 1919 को गांधीजी ने अपना सत्याग्रह समाप्त घोषित कर दिया क्योंकि उनके सत्याग्रह में हिंसा का कोई स्थान न था।

इस प्रकार प्रथम सत्याग्रह आंदोलन असफल रहा। सरकार ने अत्याचारी अधिकारियों को दंडित करने के स्थान पर उनका पक्ष लिया। डायर को सम्मानित किया गया।

खिलाफत आंदोलन

प्रथम महायुद्ध (1919) में तुर्की पराजित हुआ था। युद्ध के पश्चात् तुर्की के खलीफा के पद को अंग्रेजों द्वारा समाप्त किए जाने तथा उस पर थोपी गई 'सैब्रीज की संधि' की शर्तें अत्यधिक कठोर होने के कारण भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो उठे। संधि के अनुसार तुर्की से सीरिया, अरब, इराक, फिलिस्तीन तथा अन्य देश ले लिए गए। अतः इस संधि से तुर्की के सुल्तान अर्थात् खलीफा का प्रभाव क्षेत्र घट रहा था अतः इसके विरोध में अली बंधुओं, मोहम्मद अली तथा शौकत अली, के नेतृत्व में खिलाफत आंदोलन प्रारंभ किया गया। इस आंदोलन के माध्यम से अंग्रेजों से यह मांग की गई कि वह

टिप्पणी

मुसलमानों के धार्मिक प्रधान, खलीफा के कार्यों या उसकी स्थिति में कोई हस्तक्षेप न करे। 31 अगस्त, 1919 को 'खिलाफत दिवस' मनाया गया। रोलेट कानून के विरुद्ध हिंदुओं तथा मुसलमानों ने मिलकर संघर्ष किया। कांग्रेस ने भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए खिलाफत आंदोलन में सहयोग प्राप्त किया। मुसलमान भी खिलाफत आंदोलन में हिंदुओं का सहयोग चाहते थे। इसीलिए दिसंबर 1919 में मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पास करके मुसलमानों से अपील की कि वे बकरीद के अवसर पर गोहत्या न करें। गांधीजी प्रारंभ से ही खिलाफत के समर्थक थे। 15 मई, 1920 को सैब्रीज की संधि प्रकाशित हुई तथा 9 जून को इलाहाबाद में केंद्रीय खिलाफत समिति की बैठक में निम्न चार प्रस्ताव पारित किए गए–

1. सरकारी असैनिक सेवाओं का परित्याग।
2. उपाधियों तथा अवैतनिक पदों का परित्याग।
3. सरकारी करों का भुगतान न करना।
4. सैनिक तथा पुलिस सेवाओं के पदों से त्याग–पत्र।

जुलाई 1920 में सिंध में हुए खिलाफत सम्मेलन में गांधीजी सम्मिलित हुए तथा उन्होंने हिंदू–मुस्लिम सहयोग पर बल दिया। इसके बाद 24 जुलाई, 1920 को गांधीजी ने 1 अगस्त, 1921 से असहयोग आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा कर दी। इससे पहले 4 सितंबर, 1920 को कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में उसे स्वीकार कर लिया गया, जिसका अनुमोदन दिसंबर 1920 में हुए नागपुर अधिवेशन में किया गया।

इस आंदोलन का सबसे बड़ा लाभ यह रहा कि इससे हिंदू–मुस्लिम एकता को बल मिला।

अपनी प्रगति जांचिए

5. 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।' यह नारा किसने दिया था?

   (क) लाला लाजपत राय (ख) विपिनचंद्र पाल

   (ग) बालगंगाधर तिलक (घ) अरविन्द घोष

6. 'होमरूल लीग' की स्थापना कब की गई थी?

   (क) 24 फरवरी, 1912 (ख) 28 अप्रैल, 1916

   (ग) 20 मई, 1918 (घ) 24 मार्च, 1920

4.5 गांधीवादी आंदोलन

दक्षिण अफ्रीका से गांधी जी जनवरी, 1915 ई. में भारत लौटे। दक्षिण अफ्रीका में उनकी सफलता के बारे में भारतीय जनमानस परिचित हो चुका था। अतः प्रत्येक व्यक्ति के दिल में उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव था। गांधी जी का विचार था कि किसी मुद्दे पर तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जब तक समूची स्थिति का अध्ययन न किया जाए। उनके राजनैतिक गुरु गोखले की भी यही सलाह थी। अतः गांधी जी का यह समय 'ठहरो और स्थिति का अध्ययन करो' का समय था।

टिप्पणी

1919 ई. में सर्वप्रथम मुसलमानों को अपने साथ रखने के लिए गांधी जी ने 'खिलाफत आंदोलन' का नेतृत्व किया। इसी समय असहयोग आंदोलन आरंभ किया। चौरी–चौरा कांड के पश्चात उन्होंने 'असहयोग आंदोलन' को को वापस ले लिया था। 1929 ई. में 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' शुरू किया। 1935 ई. में 'भारत सरकार अधिनियम' पारित हुआ तथा 1942 ई. में 'भारत छोड़ो आंदोलन' को आरंभ किया। लेकिन गांधी जी के इन विचारों का मतलब यह नहीं था कि वह चुपचाप बैठे रहेंगे। 1917 ई. और 1918 ई. के आरंभ में गांधी जी ने 3 संघर्षों– चंपारण, अहमदाबाद एवं खेड़ा आंदोलन का संचालन किया। गांधी जी ने उदारवादी नीति का हमेशा समर्थन किया तथा अपने आंदोलनों को सत्याग्रह का नाम दिया। अहिंसा और सत्याग्रह गांधी जी की विरोध की विशेष नीतियां थीं जिन्होंने अंग्रेजों को भारत को स्वतंत्रता देने के लिए विवश कर दिया।

खिलाफत आंदोलन

यूरोप में टर्की का खलीफा इसलामी संसार का धार्मिक नेता माना जाता था। टर्की ने प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी के पक्ष में युद्ध किया था। युद्ध समाप्ति पर वह हारे हुए देशों की श्रेणी में खड़ा हुआ। तुर्की के साम्राज्य का विभाजन कर, बड़े–बड़े भाग मित्र राष्ट्रों ने परस्पर बांट लिए एवं खलीफा के पद का अंत कर दिया।

चूंकि इससे पूर्व ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लॉयाड जॉर्ज ने भारतीय मुसलमानों को, उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था, किंतु सेव्रे की संधि उनके वचन के ठीक विपरीत थी।

इस कार्य से 1918–19 ई. में भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो उठे। उन्होंने खिलाफत आंदोलन प्रारंभ किया। इसका उद्देश्य इस्लाम के खलीफा सुलतान की शक्ति को पुनः स्थापित करना था। 31 अगस्त, 1919 ई. को सारे देश में 'खिलाफत दिवस' मनाया गया था।

लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने भी खिलाफत आंदोलन को हिंदू–मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने और मुस्लिम जनता को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का सुनहरा मौका समझा।

अतएव 23 नवंबर, 1919 ई. में गांधी जी ने हिंदू और मुस्लिम दोनों वर्गों के नेताओं का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया और खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया। अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी के प्रमुख नेता– अली बंधु, मौलाना आजाद, हकीम अजमल खां, हसन मोहानी थे।

मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली खिलाफत की धार्मिक संस्था और खलीफा के धार्मिक नेतृत्व की आवश्यकता और महत्व पर जोर देते थे, जबकि मौलाना आजाद इसके राजनीतिक पक्ष पर जोर देते थे।

जब मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की में खलीफा की सत्ता समाप्त कर दी गई तो 1922 ई. में यह आंदोलन स्वतः ही समाप्त हो गया।

इस आंदोलन का प्रभाव खलीफा की स्थिति पर तो किंचित भी नहीं पड़ा, पर इससे गांधी जी और कांग्रेस को असहयोग आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग और समर्थन अवश्य प्राप्त हो गया।

असहयोग आंदोलन : अवलोकन, संरचना और दृष्टिकोण

टिप्पणी

असहयोग आंदोलन के अवलोकन हेतु इसके संपूर्ण स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। इसके दो स्वरूप थे– एक रचनात्मक तो दूसरा विध्वंसात्मक।

रचनात्मक स्वरूप– इसके अंतर्गत (1) स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन, (2) असहयोग आंदोलन के संचालन के लिए तिलक कोष में एक करोड़ रुपये जमा करना, (3) अनेकानेक स्वयं–सेवकों को भर्ती करना, (4) 20 लाख चरखों को बेरोजगारों में वितरित करवाना।

विध्वंसात्मक स्वरूप– इसके अंतर्गत विदेशी वस्तुओं और अंग्रेजी न्यायालयों, शिक्षण संस्थाओं आदि का बहिष्कार करना था।

असहयोग आंदोलन की संरचना

असहयोग आंदोलन की संरचना को सकारात्मक एवं नकारात्मक दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. सकारात्मक संरचना : असहयोग आंदोलन की सकारात्मक संरचना निम्न पंक्तियों में वर्णित है–

(क) संपूर्ण भारत में राष्ट्रीय स्कूल, कॉलेजों की स्थापना तथा राष्ट्रीय पंचायत के द्वारा आपसी विवादों का निपटारा।

(ख) खादी और अन्य हस्तशिल्पों के माध्यम से 'स्वदेशी' को लोकप्रिय बनाना।

(ग) हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता व समरसता का विकास करना।

(घ) अस्पृश्यता को समाप्त करना तथा हरिजन व दलित वर्ग के उत्थान के लिए सक्रिय प्रयास करना।

(ङ) महिलाओं को राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करना तथा उनके उत्थान का प्रयास करना।

2. नकारात्मक संरचना : असहयोग आंदोलन की नकारात्मक संरचना निम्न पंक्तियों में वर्णित है–

(क) सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, न्यायालयों तथा विधान सभाओं का बहिष्कार।

(ख) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

(ग) सभी प्रकार की सरकारी उपाधियों, प्रतिष्ठापूर्ण पदों तथा स्थानीय निकायों के मनोनीत पदों का समर्पण।

(घ) सरकारी तथा अर्द्धसरकारी समारोहों में भाग न लेना।

(ङ) सेना में लिपिकीय तथा कार्मिक वर्ग के लोगों द्वारा मेसोपोटामिया में अपनी नियुक्ति को अस्वीकार करना।

आंदोलन के बढ़ते चरण

1. 1920–21 ई. में यह आंदोलन प्रारंभ हुआ और सारे देश में फैल गया।
2. सैकड़ों व्यक्तियों ने सरकार द्वारा प्राप्त उपाधियां लौटाईं।
3. सहस्त्रों वकीलों ने अंग्रेजी न्यायालयों में वकालत करना छोड़ दिया।
4. असंख्य विद्यार्थियों ने अंग्रेजी स्कूल और कॉलेज छोड़ दिए एवं राष्ट्रीय शालाएं और विद्यापीठ स्थापित किए गए।

टिप्पणी

5. विदेशी व्यापार और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया और अनेकानेक लोगों ने चरखा कात कर सूत बनाना और खादी पहनना आरंभ किया।
6. नवंबर, 1921 ई. में इंग्लैंड के प्रिंस ऑफ वेल्स (ज्येष्ठ राजकुमार) भारत भ्रमण के लिए आए, परंतु भारतीयों ने उनका बहिष्कार किया और हड़तालों से विभिन्न नगरों में उनका स्वागत हुआ।
7. 1921 ई. में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में आंदोलन को और अधिक तेज करने का निर्णय लिया गया।

असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने के कारण निम्नलिखित थे–

1. रौलेट एक्ट का पारित होना।
2. जलियांवाला बाग हत्याकांड एवं हंटर आयोग की जांच के बावजूद दोषियों को सजा न दिलाया जाना।
3. मॉन्टेग्यू–चेमस्फोर्ड सुधारों का आशानुकूल नहीं होना।
4. तुर्की के खलीफा के खिलाफ अंग्रेजी दुर्व्यवहार।
5. राष्ट्रवादियों द्वारा स्वराज्य की मांग के लिए एक संगठित आंदोलन प्रारंभ करने की इच्छा।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप महात्मा गांधी एक विस्तृत अहिंसात्मक आंदोलन प्रारंभ करने की दिशा में अग्रसर हुए।

असहयोग आंदोलन का दृष्टिकोण

असहयोग आंदोलन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने हेतु कलकत्ता और नागपुर में अधिवेशन हुए–

1. **कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन**– यह अधिवेशन सितंबर, 1920 ई. में लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में गांधी जी ने असहयोग आंदोलन का एक प्रस्ताव रखा। चितरंजन दास एवं मदन मोहन मालवीय ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, परंतु मोतीलाल नेहरू एवं अली बंधुओं के प्रयास से यह प्रस्ताव पारित हो गया।
2. **नागपुर अधिवेशन**– यह अधिवेशन दिसंबर, 1920 ई. में हुआ। नागपुर के पूर्णकालिक अधिवेशन में इस प्रस्ताव को पास कर दिया गया। यह प्रस्ताव चितरंजन दास द्वारा रखा गया था। मोहम्मद अली जिन्ना, विपिन चंद्र पाल, श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कांग्रेस छोड़ दी।

असहयोग आंदोलन शुरू करने से पूर्व गांधी जी की मांग

असहयोग आंदोलन को प्रारंभ करने से पूर्व गांधी जी ने अंग्रेजों के सम्मुख तीन मांगें रखीं–

1. अंग्रेज सरकार अमृतसर हत्याकांड के लिए खेद प्रकट करे।
2. टर्की के प्रति अपने व्यवहार को नर्म करे।
3. कोई नवीन संवैधानिक सुधार की योजना प्रकट करे।

जब अंग्रेजों ने इन मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तो 31 अगस्त, 1920 ई. को गांधी जी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ कर दिया।

चौरी–चौरा कांड और असहयोग आंदोलन की समाप्ति

टिप्पणी

1922 ई. में गांधी जी ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड रीडिंग को एक पत्र लिखकर सरकार की कठोर दमनकारी नीति की आलोचना की और यह चेतावनी दी कि यदि सरकार अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करेगी, तो वे 9 दिन के अंदर बारदोली में ''सविनय अवज्ञा आंदोलन'' प्रारंभ करेंगे, जिसमें कर न देना भी शामिल है।

गांधी जी द्वारा दी गई समयावधि से पूर्व ही उत्तर प्रदेश स्थित गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा ग्राम में विरोधस्वरूप कांग्रेस के द्वारा एक जुलूस निकाला जा रहा था। पुलिस ने घेराबंदी करके अहिंसात्मक आंदोलनकारियों पर गोली चला दी, जिससे जनता अनियंत्रित हो गई। जब पुलिस की गोलियां समाप्त हो गईं तो पुलिस भागकर थाने में छिप गई, अब उत्तेजित भीड़ ने थाने को घेर कर आग लगा दी। जनता की इस हिंसात्मक कार्यवाही में एक थानेदार व 21 सिपाही जलकर राख हो गए।

इस घटना से गांधी जी को बहुत दुःख पहुंचा, क्योंकि वे अहिंसा के पुजारी थे। गांधी जी ने 12 फरवरी, 1922 ई. में बारदोली में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक बुलाई। सामूहिक सत्याग्रह व असहयोग आंदोलन स्थगित करने का प्रस्ताव पारित कराया एवं रचनात्मक कार्यक्रमों को जारी रखने का फैसला किया गया।

प्रतिक्रियाएं

सुभाष चंद्र बोस– जब सारे देश की स्थिति सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए बहुत ज्यादा अनुकूल है तब गांधी जी ने आंदोलन को स्थगित करके भारी भूल की।

जवाहरलाल नेहरू– ऐसे समय में जब हम सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे इसे स्थगित नहीं करना चाहिए था।

चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, आसफ अली एवं रजनी पामदत्त ने भी इसकी आलोचना की। गांधी जी कुछ समय के लिए अलोकप्रिय हो गए। उनकी अलोकप्रियता का लाभ उठाकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर 6 वर्ष के लिए जेल भेज दिया। बीमारी के कारण उन्हें समय से पूर्व 5 फरवरी, 1924 ई. को रिहा कर दिया गया। उनकी गिरफ्तारी के साथ ही आंदोलन स्वतः समाप्त हो गया।

समीक्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अनेक मामलों में यह आंदोलन पूर्णतः सफल नहीं हुआ–

1. न्यायालयों, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, विधान मंडलों के बहिष्कार और उपाधियों को त्यागने का कार्यक्रम पूर्णतः सफल नहीं रहा। सरकार के वफादार भारतीय विधानसभाओं के लिए चुने गए।
2. आंदोलन को एकदम स्थगित करने से हिंदू–मुस्लिम तनाव बढ़ा। मुस्लिम लीग ने यह प्रचार किया कि गांधी जी ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मुसलमानों को बेवकूफ बनाया है। परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे हुए।
3. आंदोलन को स्थगित करने से जनता में निराशा फैली।

इन असफलताओं के होते हुए भी असहयोग आंदोलन की निम्नलिखित उपलब्धियां सराहनीय रहीं–

1. इसने कांग्रेस के चरित्र को पूर्णतः बदल दिया, अब कांग्रेस व्यापक पैमाने पर संगठित संघर्ष छेड़ने को तैयार हो गई थी। इससे पूर्व कांग्रेस वार्षिक अधिवेशन

बुलाने, प्रस्ताव पास करने तथा सरकार की आलोचना करने जैसी निष्क्रिय गतिविधियों तक ही सीमित थी।

टिप्पणी

2. इस आंदोलन में प्रथम बार व्यापक रूप से आम जनता ने भाग लिया। किसान, मजदूर तथा महिलाओं की व्यापक भागीदारी ने इस आंदोलन को बिना क्रांतिकारी हिंसा के एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। अतः अब कांग्रेस का आंदोलन पढ़े–लिखे लोगों तक सीमित नहीं रहा।
3. जनता का डर मिट गया और जेल जाना अब सबसे बड़ी देशभक्ति मानी जाने लगी। बच्चे–बच्चे की जबान से स्वराज्य का शब्द सुनाई देने लगा।
4. कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों से देश को भारी लाभ हुआ। स्वदेशी के प्रचार ने कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। खादी आंदोलन ने जनता व नेताओं को एकता के सूत्र में पिरोया।
5. प्रथम बार कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वतंत्र भारत के संविधान में भी इसे राष्ट्रभाषा माना गया।
6. कांग्रेस के संविधान में परिवर्तन– असहयोग आंदोलन आरंभ करने के पहले गांधी जी ने कांग्रेस के संविधान में परिवर्तन कराया।

आंदोलन निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा था। किंतु मंजिल के करीब होकर उससे अचानक बहुत दूर हो जाना बहुत कष्टकारी होता है। महात्मा गांधी के इस फैसले से सभी बड़े नेताओं में भी रोष व्याप्त था।

उपर्युक्त कारणों का परिणाम असहयोग आंदोलन की समाप्ति के रूप में हमारे सामने आया, लेकिन यह आंदोलन भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखता है। उल्लेखनीय है कि भारत के गुलाम होने से लेकर इस आंदोलन तक इस तरह का कोई भी आंदोलन नहीं हो सका था। इस आंदोलन के महत्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम हुए, जिन पर चलकर ही हमने स्वतंत्रता का रास्ता तय किया। इस आंदोलन ने सबसे पहले तो उस डरी, सहमी भारतीय जनता के मन से ब्रिटिश सरकार का खौफ हटा दिया। भारतीय जनता ने सरकार के आगे झुकना छोड़कर संघर्ष करने का साहस जुटाया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

1929 ई. के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसके अनुसार कांग्रेस के संविधान की धारा में स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वतंत्र कर दिया गया।

1929 ई. की लाहौर कांग्रेस कार्यकारिणी ने गांधी जी को यह अधिकार दिया कि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें। 1930 ई. में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। इसमें यह पुष्टिकरण किया गया कि गांधी जी जब चाहें और जैसे चाहें सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें। इस तरह गांधी जी ने दांडी मार्च के साथ सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कारण

सविनय अवज्ञा आंदोलन की ओर ले जाने वाली परिस्थितियां निम्नलिखित थीं–

1. **साइमन कमीशन का बहिष्कार**– साइमन कमीशन के बहिष्कार के समय जनता के उत्साह को देखकर कांग्रेसी नेताओं को विश्वास हो गया कि अब जनता किसी भी आंदोलन हेतु तैयार है।

टिप्पणी

2. **अधिराज्य दर्जे की मांग को सरकार द्वारा न मानना**– नेहरू रिपोर्ट के अंतर्गत की गई यह मांग सरकार द्वारा अस्वीकार कर दी गई थी, अतएव असंतोष व्याप्त था।
3. **श्रमिक व कृषकों के अवरोध**– 1928 व 1929 ई. के बीच श्रमिक व कृषकों के अवरोध को देखते हुए यह आंदोलन चलाना अनिवार्य हो गया।
4. **जनता में व्याप्त निराशा**– 1922 ई. में यकायक असहयोग आंदोलन स्थगित किए जाने से जनता में निराशा फैल गई थी। इसे दूर किया जाना आवश्यक था।
5. **महंगाई**– 1929 ई. की आर्थिक मंदी ने भारत को भी प्रभावित किया था। वस्तुओं के दाम बढ़ रहे थे। जनता में इससे भी निराशा व्याप्त थी।
6. **हिंसा की आशंका**– क्रांतिकारियों की गतिविधियां बढ़ रही थीं, अतएव गांधी जी को चिंता थी कि कहीं देश पुनः हिंसात्मक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर न हो जाए।
7. **सांप्रदायिकता पर अंकुश**– 1923 ई. के बाद देश सांप्रदायिकता की आग में झुलसता जा रहा था, इस पर अंकुश लगाने हेतु भी आंदोलन आवश्यक था।
8. **पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति**– 31 दिसंबर, 1929 ई. को कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य रखा था, इसकी प्राप्ति के लिए भी आंदोलन आवश्यक था।

वास्तव में जनता के अनेक वर्गों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असंतोष तथा कांग्रेस के कार्यों के प्रति इनमें बढ़ते उत्साह को देखकर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निर्णय किया।

लाहौर अधिवेशन

कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के बाद कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने फरवरी, 1930 में गांधी जी को यह अधिकार प्रदान किया था कि वे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें।

फलतः गांधी जी ने 2 मार्च, 1930 ई. को तत्कालीन गवर्नर जनरल इरविन को एक पत्र लिखकर उसमें मांगें प्रस्तुत कीं। ये 11 सूत्रीय मांगें निम्नलिखित थीं–

1. रुपये की विनियम दर घटाकर 1 शिलिंग 4 पैसे की जाए।
2. लगान में 50 फीसदी कमी की जाए।
3. सिविल सर्विसेज के अधिकारियों के वेतन आधे कर दिए जाएं।
4. सेना के व्यय में कम से कम 50 प्रतिशत की कमी की जाए।
5. रक्षात्मक शुल्क लगाए जाएं तथा विदेशी कपड़ों का आयात नियंत्रित किया जाए।
6. तटीय यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाए।
7. सी.आई.डी. खत्म की जाए या उस पर सार्वजनिक नियंत्रण हो।
8. भारतवासियों को आत्मरक्षा के लिए आग्नेय अस्त्र रखने का लाइसेंस दिया जाए।
9. नमक पर सरकारी इजारेदारी और नमक कर समाप्त किया जाए।
10. नशीली वस्तुओं का विक्रय बंद किया जाए।
11. उन राजनैतिक बंदियों को छोड़ दिया जाए जिन पर हत्या करने या हत्या का प्रयत्न करने का अभियोग नहीं था।

टिप्पणी

इन 11 सूत्रीय मांगों के साथ गांधी जी ने चेतावनी दी थी कि यदि इन मांगों को स्वीकार नहीं किया तो वे 12 मार्च, 1930 ई. को नमक कानून का उल्लंघन करेंगे और गुजरात के समुद्री तट पर दांडी नामक गांव में नमक बनाना प्रारंभ केरेंगे। वायसराय का उत्तर अत्यंत असंतोषजनक था। गांधी जी ने लिखा, ''मैंने रोटी मांगी थी और मुझे पत्थर मिला।''

इस प्रकार 12 मार्च, 1930 ई. को सविनय अवज्ञा आंदोलन अंततः दांडी यात्रा के साथ आरंभ हो गया।

दांडी यात्रा

12 मार्च, 1930 ई. को गांधी जी ने अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से गुजरात के समुद्र तट पर स्थित दांडी गांव तक की लगभग 240 मील की यात्रा पैदल चलकर 24 दिनों में तय की। मार्ग में हजारों लोगों ने उनका स्वागत किया। 6 अप्रैल, 1930 ई. को गांधी जी ने स्वयं नमक तैयार करके नमक कानून तोड़ा।

सुभाष चंद्र बोस ने ''गांधी जी की दांडी यात्रा को नेपोलियन की एल्बा से पेरिस यात्रा एवं मुसोलनी की रोम यात्रा के समान बताया है।'' बॉम्बे क्रॉनिकल समाचार पत्र में लिखा कि ''मनुष्य जाति के हृदय में राष्ट्रभक्ति की लहर ने इतने जोर से कभी हिलोर नहीं ली, जो इस अवसर पर ली। भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में इसे एक महान आंदोलन का आरंभ कहा जाएगा।''

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम

1. प्रत्येक गांव में नमक कानून तोड़कर नमक बनाया जाए।
2. विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में जाना छोड़ दें।
3. राज्य कर्मचारी सरकारी नौकरियों को छोड़ दें।
4. शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर स्त्रियां धरना दें।
5. विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाए।
6. जनता कर अदा न करे।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की प्रगति व कुछ घटनाएं

1. महिलाओं ने इसमें उत्साह के साथ भाग लिया, शराब की दुकानों पर धरना दिया। दिल्ली में 1,600 स्त्रियों को धरना देने पर कैद किया गया।
2. नमक कानून को जगह–जगह तोड़ा गया। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया गया।
3. उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत में 'सीमांत गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में पठानों ने 'खुदाई खिदमतगार' नामक संगठन की स्थापना की, जो लाल कुर्ती के नाम से मशहूर हुआ।
4. नागालैंड की एक वीर बाला रानी गोडिनल्यू ने 13 वर्ष की आयु में ही गांधी जी के आह्वान पर विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा लिया। 1932 ई. में इसे आजीवन कारावास की सजा मिली।
5. 5 मई, 1930 ई. को गांधी जी को गिरफ्तार करने के बाद 'कर बंद करो' को भी उपर्युक्त कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया।

6. सरकारी दमन–चक्र काफी तेज हुआ। निहत्थी भीड़ पर लाठियों व गोलियों की बौछार की गई। लगभग 90,000 से अधिक सत्याग्रही व प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिए गए।

टिप्पणी

सविनय अवज्ञा आंदोलन का प्रभाव

तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल इरविन देशव्यापी आंदोलन की तीव्रता से अत्यधिक चिंतातुर हो गया और उसने भारत सचिव पर संवैधानिक सुधारों की घोषणा करवाने एवं गोलमेज परिषद बुलाकर विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों से विचार–विमर्श के लिए दबाव डाला।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की तीव्रता को देखते हुए ब्रिटेन की सरकार ने भारत को औपनिवेशिक स्वतंत्रता देने की घोषणा की। इसके अतिरिक्त यह भी घोषणा की कि भारत के विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों और ब्रिटेन के विशिष्ट राजनीतिज्ञों का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा जो साइमन कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत की राजनीतिक समस्या पर विचार करेगा।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन

भारत की संवैधानिक समस्या को सुझलाने के लिए लंदन में प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड की अध्यक्षता में प्रथम गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें भाग लेने वाले कुल 89 प्रतिनिधियों में से 16 प्रतिनिधि ब्रिटिश संसद से, 16 भारतीय रियासतों से तथा 57 ब्रिटिश भारत के थे। कांग्रेस के इस सम्मेलन में भाग न लेने से कोई निर्णय नहीं लिया जा सका। अतएव सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। डॉ. अंबेडकर ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। जिन्ना ने भी सम्मेलन में भाग लिया। कांग्रेस की अनुपस्थिति पर ब्रेल्सफोर्ड ने कहा– ''सेंट जेम्स महल में भारत नरेश, हरिजन, सिख, मुसलमान, हिंदू, ईसाई और जमींदारों, मजदूर संघों, वाणिज्य संघों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए पर भारत माता वहां अनुपस्थित रहीं।''

गांधी–इरविन समझौता (8 मार्च, 1931 ई.)

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में यह सिद्ध हो गया कि कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की समस्या का हल होना संभव नहीं है, अतएव सरकार ने अच्छा वातावरण तैयार करने के लिए महात्मा गांधी व अन्य नेताओं को 26 जनवरी, 1931 ई. को बिना शर्त छोड़ दिया।

तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर एवं भोपाल के नवाब के प्रयास से 8 मार्च, 1931 ई. को गांधी–इरविन समझौता हुआ। इसे दिल्ली समझौता भी कहते हैं। इसके अनुसार इरविन द्वारा स्वीकार शर्तें इस प्रकार थीं–

1. केवल उन्हीं राजनैतिक बंदियों को जेल में रखा जाएगा, जिन पर हिंसा के आरोप हैं। शेष बंदियों को रिहा किया जाएगा।
2. भारतीय समुद्र के किनारे नमक बना सकते हैं।
3. शराब एवं विदेशी कपड़ों की दुकानों पर भारतीय धरना दे सकते हैं।
4. आंदोलन के दौरान त्यागपत्र देने वालों को उनके पूर्व पद पर बहाल करने में सरकार उदारता दिखाएगी एवं सत्याग्रहियों की जब्त की गई संपत्ति उन्हें वापस दी जाएगी।

टिप्पणी

कांग्रेस की ओर से गांधी जी द्वारा स्वीकार की जाने वाली शर्तें इस प्रकार थीं–

1. सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया जाएगा।
2. लंदन में आयोजित होने वाले द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस भाग लेगी।
3. कांग्रेस ब्रिटिश सामान का बहिष्कार नहीं करेगी।
4. गांधी जी पुलिस द्वारा की गई ज्यादतियों के बारे में जांच की मांग नहीं करेंगे।

1931 ई. के कराची अधिवेशन में गांधी–इरविन समझौते को मंजूरी प्रदान की गई। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने गोलमेज परिषद में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी को भेजना स्वीकार कर लिया।

सुभाष चंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरू इस गांधी–इरविन समझौते से रुष्ट हुए। कांग्रेस के वामपंथ ने इसे आत्मसमर्पण माना। जनता गांधी जी से इसलिए नाराज हुई, क्योंकि वे न तो भगत सिंह को छुड़ा सके और न ही उनकी फांसी को आजन्म कारावास में तब्दील करा सके।

इस समझौते के विशिष्ट महत्व का कारण यह है कि प्रथम बार अंग्रेज सरकार ने कांग्रेस के नेताओं के साथ समानता के स्तर पर चर्चा कर समझौता किया। ब्रिटेन में राजनैतिक परिवर्तन के दौरान एक ओर वैलिंगटन नया वायसराय बनकर भारत आया जो गांधी–इरविन समझौते के समर्थन के बजाय उल्लंघन में रुचि रखता था तथा दूसरी ओर ब्रिटेन में कंजरवेटिव मंत्रिमंडल बना जो भारत को किसी प्रकार के अधिकार देने और संवैधानिक सुधार करने के पक्ष में नहीं था।

भारत छोड़ो आंदोलन

अगस्त प्रस्ताव एवं क्रिप्स प्रस्ताव में अनेक दोष होने के कारण कांग्रेस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया था। क्रिप्स ने भी कांग्रेस को संकेत दे दिया था कि अगर इसके प्रस्ताव पर कांग्रेस विचार नहीं करती है तो भविष्य में ब्रिटिश सरकार भारत में राजनैतिक गतिरोधों को समाप्त करने के लिए कोई बातचीत नहीं करेगी। अतः क्रिप्स की असफलता के बाद आंदोलन ही एकमात्र रास्ता था, जिससे राजनैतिक गतिरोध समाप्त किया जा सकता था।

अतः विवश होकर 14 जुलाई, 1942 ई. को वर्धा में कांग्रेस की कार्यसमिति ने प्रस्ताव पारित किया, जिसका शीर्षक था 'भारत छोड़ो प्रस्ताव'। इस प्रस्ताव में कहा गया कि यदि अंग्रेज भारत पर से अपना नियंत्रण हटा लें तो भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपना योगदान देने को तैयार है।

मुंबई में ऐतिहासिक ग्वालिया टैंक मैदान में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा 7 अगस्त, 1942 ई. को इस प्रस्ताव की पुष्टि की गई एवं घोषणा की कि यदि ब्रिटिश सरकार तत्काल भारत छोड़ने से मना करती है तब गांधी जी के नेतृत्व में सामूहिक आंदोलन आरंभ किया जाएगा। कार्यकारिणी ने गांधी जी को सर्वाधिक व्यापक स्तर पर अहिंसात्मक साधनों से सामूहिक आंदोलन आरंभ करने के लिए अधिकृत किया।

उसी दिन सायंकाल मुंबई के ग्वालिया टैंक मैदान में जनसमूह को संबोधित करते हुए गांधी जी ने कहा– ''इसी क्षण आप में से प्रत्येक को स्वयं को स्वतंत्र समझना चाहिए और ऐसे व्यवहार करो कि जैसे तुम स्वतंत्र हो। मैं पूर्ण स्वतंत्रता से कम किसी चीज से संतुष्ट होने वाला नहीं हूं।"

जनसमुदाय का आह्वान करते हुए गांधी जी ने कहा कि "जेल भरने से ही काम नहीं चलेगा, वरन् 'करो या मरो' के मूल मंत्र को कार्यान्वित करो। हम स्वतंत्र होंगे अथवा इस प्रयास में मर जाएंगे।"

टिप्पणी

ब्रिटिश सरकार बहुत अधिक घबरा गई। सुबह होने से पहले ही (8–9 अगस्त की रात) कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी सदस्यों को ऑपरेशन जीरो आवर के तहत गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया।

अधिकांश नेता अहमदनगर के किले में बंद कर दिए गए। गांधी जी और सरोजिनी नायडू को पूना के आगा खां पैलेस में नजरबंद किया गया। राजेंद्र प्रसाद को पटना में कैद किया।

घटनाक्रम

1. इन गिरफ्तारियों की खबर ने देश को भौंचक्का कर दिया और हर जगह विरोध आंदोलन व्यापक तौर पर शुरू हो गए।
2. नेताओं और संगठन के अभाव में जनता ने अपनी प्रतिक्रिया जिस रूप में चाही उस रूप में व्यक्त की।
3. जनता ने सरकारी दमनकारी नीति से उत्तेजित होकर ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों– थानों, डाकघरों, रेलवे स्टेशनों आदि पर हमले किए। उन्होंने टेलीग्राफ तथा टेलीफोनों के तार काट दिए, रेलवे लाइन उखाड़ दी, तथा सरकारी इमारतों को जला दिया। इस दृष्टि से मद्रास व बंगाल काफी प्रभावित हुए।
4. उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और महाराष्ट्र के कई हिस्सों में ब्रिटिश सत्ता लुप्त हो गई। कुछ क्षेत्रों में क्रांतिकारियों ने समानांतर सरकार बनाई।

   (क) बलिया में चित्तू पांडे के नेतृत्व में।

   (ख) बंगाल–मिदनापुर जिले में जातीय सरकार गठित हुई।

   (ग) 72 घंटे तक नागपुर निवासियों ने नागपुर पर राज किया।

   (घ) सतारा की समानांतर सरकार सर्वाधिक दीर्घजीवी रही।
5. सरकार का दमन–चक्र भी इतना भीषण था कि 10,000 से अधिक लोग मारे गए। 1857 ई. के बाद इतना घोर दमन नहीं हुआ था।
6. आमतौर पर छात्र, छात्राएं, महिलाएं, मजदूर और किसान विद्रोह के मुख्य आधार थे, जबकि उच्च वर्ग और अफसरशाही सरकार के प्रति निष्ठावान रहे।
7. भूमिगत आंदोलन भी हुए जिनकी बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, राम मनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका, जयप्रकाश नारायण आदि ने संभाली। उनका काम चोरी छिपे, हथियार, बारूद आदि का वितरण करना था।
8. सुमति मोरारजी ने (उद्योगपति) अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ्तार होने से बचाया।
9. राम मनोहर लोहिया ने गुप्त रूप से रेडियो का संचालन कर सूचनाओं का प्रसार किया।

टिप्पणी

10. ब्रिटिश दमन से नाराज होकर गांधी जी ने 10 फरवरी, 1943 ई. को जेल में उपवास प्रारंभ कर दिया और घोषणा की कि यह 21 दिन तक चलेगा। इससे आंदोलन में और तेजी आई। ब्रिटिश सरकार पर गांधी जी से समझौते के लिए दबाव पड़ने लगा।

6 मई, 1944 ई. को गांधी जी को गंभीर अस्वस्थता के कारण मुक्त कर दिया गया। जून, 1945 ई. में आयोजित शिमला सम्मेलन से पूर्व कांग्रेस के समस्त प्रमुख नेताओं को मुक्त किया जा चुका था। इस प्रकार यह आंदोलन समाप्त हो गया।

परिणाम एवं महत्व

1942 ई. के आंदोलन की निम्न उपलब्धियां स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं–

1. इस विद्रोह में साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत के आक्रोश और स्वतंत्र होने के संकल्प को प्रभावशाली और सुनिश्चित ढंग से व्यक्त किया गया था।
2. इस विद्रोह के पश्चात शासकों ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के सिर्फ गिने–चुने दिन ही शेष रह गए हैं।
3. इस आंदोलन ने 1947 ई. में भारत की स्वतंत्रता की दिशा में एक प्रमुख कदम उठाया।
4. अब स्वशासन की मांग पूर्णतः समाप्त हो गई। आंदोलनकारियों का एकमात्र ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता हो गया।
5. गांधी जी जैसे अहिंसावादी व्यक्ति द्वारा 'करो या मरो' का नारा देना यह संकेत देता है कि गांधी जी अब किसी भी कीमत पर भारत की स्वतंत्रता चाहते थे।

डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा था– "यह अगस्त क्रांति निरंकुशता तथा दमनात्मक अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह था। इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बास्टील के पतन से की जा सकती है।"

अपनी प्रगति जांचिए

7. गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत कब लौटे थे?

   (क) जनवरी 1915 (ख) फरवरी 1917

   (ग) मार्च 1919 (घ) अप्रैल 1921

8. 1929 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव किसके द्वारा प्रस्तुत किया गया?

   (क) मुहम्मद अली जिन्ना (ख) जवाहर लाल नेहरू

   (ग) महात्मा गांधी (घ) सुभाष चंद्र बोस

4.6 क्रांतिकारी और वामपंथी आंदोलन

देश को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के लिए कई तरीके अपनाए गए जिनमें से एक सशस्त्र विद्रोह था। 1857 का विद्रोह सबसे सशक्त विद्रोह था जिसने अंग्रेजों की नींव को हिला दिया था। यह विद्रोह यद्यपि असफल रहा किन्तु इसके बाद भी युवाओं के

संगठन बने जो शक्ति का प्रयोग करके देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने में विश्वास करते थे। ये युवा क्रांतिकारी कहलाए तथा इनका आंदोलन क्रांतिकारी आंदोलन। भारत की स्वतंत्रता में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ–साथ क्रांतिकारियों के योगदान की भी सक्रिय भूमिका रही है।

टिप्पणी

कांग्रेस के अंदर ही एक नए वर्ग का उदय हुआ जो समाजवादी विचारधारा से प्रभावित था तथा समाजवाद के आधार पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित करना चाहता था। यह वर्ग वामपक्ष कहलाया।

दूसरे दशक के अंतिम वर्षों और तीसरे दशक के दौरान भारत में एक शक्तिशाली वाम पक्ष का उदय हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन में दूरगामी परिवर्तन लाने में इसका योगदान काफी महत्त्वपूर्ण था। अब तक लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल करना था। इसमें अब अत्यंत धारदार और सुस्पष्ट सामाजिक और आर्थिक अंतर्वस्तु का प्रवेश हुआ। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की धारा और दलित शोषितों की सामाजिक आर्थिक मुक्ति की धारा एक दूसरे के नजदीक आने लगी। समाजवादी विचारों ने भारत की धरती पर पैर जमाने शुरू कर दिए और समाजवाद भारतीय युवकों का मान्य विश्वास बन गया। धीरे–धीरे वामपक्ष में दो ताकतवर दल उभरे : भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई) और कांग्रेस समाजवादी पार्टी (सी.एस.पी.)।

4.6.1 क्रांतिकारी आंदोलन

भारत में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ के साथ ही उनके विरुद्ध संघर्ष भी शुरू हो गया था। 1857 तक लोगों ने अपने राजाओं, धार्मिक नेताओं और बेदखल जमीदारों के नेतृत्व में अधिकतर सशस्त्र संघर्ष किया। 1857 में यह संघर्ष अपने चरम पर पहुंच गया। इसके अलावा ब्रिटिश राज्य की तानाशाही और अत्याचार के विरुद्ध कई जनवादी संघर्ष भी हुए जैसे 1855 में संथाल विद्रोह, 1860 का नील विद्रोह, 1870 का किसान जागरण (दक्षिण भारत), कुका विद्रोह (पंजाब), वहाबी आंदोलन आदि। 1857 के बाद 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में कई प्रकार के सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन आए जिनसे लोगों में एक नई राजनीतिक चेतना का विकास हुआ। 19वीं सदी के अंत में हुए कई जातिगत विद्रोहों से यह साफ जाहिर होता है कि भारत में आजादी की लड़ाई केवल इंडियन नेशनल कांग्रेस ने शुरु नहीं की और न ही संघर्ष केवल शांतिमय तरीकों से ही चलाया गया।

19वीं शताब्दी के अंत में अकाल और प्लेग से बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु हुई जिससे एक निराशा तथा दुःख का माहौल बन गया। किंतु यूरोप तथा एशिया में ऐसी घटनाएं घटीं जिनसे लोगों को नया दृष्टिकोण मिला। 1894 में अबिसीनिया ने इटली को हरा दिया, बालकन राज्य आटोमन राज्य से आजाद हो गया। 1905 में जापान ने रूस को हरा दिया। इन घटनाओं से भारत के लोगों का पश्चिम की श्रेष्ठता से विश्वास उठ गया। बेकारी और अंग्रेजों की नस्लवादी भेदभाव की नीति से भारत के शिक्षित, नौजवानों में असंतोष बढ़ा तथा ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध क्रांतिकारी आंदोलन का जन्म हुआ। क्रांतिकारियों के तरीकों तथा सिद्धांतों के आधार पर क्रांतिकारी आंदोलन को दो भागों में बांटा गया है।

प्रथम चरण

अंग्रेजों की नीतियों से असंतुष्ट होकर भारत में एक वर्ग ऐसा भी उत्पन्न हुआ जिनका विश्वास हिंसा में हो गया। वह भारत के नवयुवकों का क्रांतिकारी वर्ग था जिनके केंद्र

पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल थे। वे संगठित होकर हिंसात्मक साधनों द्वारा अंग्रेजी शासन को नष्ट करके स्वतंत्रता चाहते थे और इसके लिए विदेशी सहायता लेने तक के लिए प्रयत्नशील थे।

टिप्पणी

क्रांतिकारियों में इस समय दो विचारधाराएं थीं–

1. कुछ नेता अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र आंदोलन करने के लिए भारतीय सेना की और यदि संभव हो तो अंग्रेजों की विरोधी विदेशी ताकतों से भी सहायता लेने में विश्वास रखते थे। इनका केंद्र पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रांत में था।
2. कुछ नेता देश में हिंसात्मक कार्यक्रम, जैसे कि ब्रिटिश अफसरों, पुलिस और क्रांतिकारी नेताओं के विरुद्ध सूचना देने वाले लोगों को कत्ल करने की नीति में विश्वास करते थे। इनका केन्द्र बंगाल और महाराष्ट्र में था।

बंगाल

बंगाल में क्रांतिकारी घटनाएं बंग भंग और उसके विरुद्ध आंदोलन के साथ शुरू हुई। अनुशीलन समिति बंगाल की पहली क्रांतिकारी संस्था थी। इसे 1907 में बारींद्र घोष (अरविंद घोष के भाई) और भूपेंद्र दत्त ने स्थापित किया था। साधना समाज शक्ति समिति, युगांतर समिति आदि अन्य गुप्त समितियां भी शुरू की गईं। इन्होंने युगांतर और संध्या जैसी पत्रिकाओं के जरिए सशस्त्र विद्रोह का प्रचार किया। कलकत्ता के पास मानिक तला में बम बनाने शुरू कर दिए। ये संस्थाएं रूस और इटली की गुप्त संस्थाओं के आधार पर स्थापित की गई थीं। क्रांतिकारी गतिविधियां चलाना इनका मुख्य उद्देश्य था। 6 दिसम्बर, 1907 को मिदनापुर के पास लेफ्टिनेंट गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने का प्रयास किया। ढाका के मजिस्ट्रेट ऐलन की हत्या का प्रयास किया। इसके बाद प्रेसिडेंट मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर (30 अप्रैल, 1908) खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने मुजफ्फरपुर में बम फेंका किंतु उसमें दो महिलाएं (श्रीमती कैनेडी तथा उनकी पुत्री) मारी गईं। प्रफुल्ल चाकी ने पुलिस की कैद में आत्महत्या कर ली तथा खुदीराम बोस को फांसी पर चढ़ा दिया गया। ये दोनों युवक बंगाल में वीरता के प्रतीक बन गए तथा नवयुवकों ने धोतियों और पोशाकों के बॉर्डर पर खुदीराम का नाम तक छपवाया। क्रांतिकारियों की इन हरकतों से अंग्रेज सरकार बहुत भयभीत हुई तथा इन्हें खत्म करने के लिए दमनात्मक कार्रवाई शुरू की। मुजफ्फरपुर हत्याकांड के बाद कानिकतला में पुलिस ने छापे मारे जिसमें अरविंद घोष तथा उनके भाई बारींद्र घोष सहित 34 लोगों को गिरफ्तार किया गया। मुकदमे के दौरान ही सरकारी वकील तथा पुलिस के डिप्टी सुपरिटेंडेंट की कचहरी में ही हत्या कर दी गई। 15 क्रांतिकारियों को सजा हुई जिनमें से कुछ को काला पानी की सजा दी गई। इसमें बारींद्र घोष भी शामिल थे। कन्हाईलाल दत्त तथा सत्येंद्र बोस ने सरकारी गवाह बन गए नरेंद्र गोसाईं की हत्या कर दी। इन दोनों को भी फांसी की सजा दे दी गई। 1917 के मध्य इन क्रांतिकारियों ने हिंसात्मक गतिविधियों को प्राथमिकता दी।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन का प्रारंभ चापेकर बंधुओं ने किया। इन्होंने तरुण–समाज नाम की गुप्त संस्था का गठन किया। ये युवकों को शस्त्र संचालन की शिक्षा देते थे। पूना में 1846 में अकाल पड़ा तथा 1847 में प्लेग फैल गया। सरकार ने फिर भी सख्ती से कर वसूला। इससे महाराष्ट्र में असंतोष फैला। बालगंगाधर तिलक तथा उनके

टिप्पणी

सहयोगियों ने भी गांवो में जाकर सभाएं की तथा किसानों को ब्रिटिश राज के विरुद्ध उठ खड़े होने की शिक्षा दी। 22 जून, 1897 को चापेकर बंधुओं (दामोदर, बालकृष्ण तथा वासुदेव) ने इन सब अत्याचारों के लिए जिम्मेदार ब्रिटिश अधिकारी रैंड तथा एमहर्स्ट की हत्या कर दी। इन तीनों भाइयों को फांसी की सजा दे दी गई। बाल गंगाधर तिलक को भी लोगों को भड़काने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया तथा उनके दोनों पत्र केसरी तथा मराठा पर प्रतिबंध लगा दिया। तिलक को भी एक माह का कारावास दे दिया। महाराष्ट्र में कई गुप्त सभाओं का उदय हुआ किंतु इनका आपस में कोई संबंध नहीं था। ये संस्थाएं बंबई, पूना, नासिक, कोल्हापुर, सापूतारा, नागपुर आदि में स्थापित हुईं। विनायक दामोदर सावरकर महाराष्ट्र के प्रमुख क्रांतिकारियों में से थे। महाराष्ट्र में जब क्रांतिकारियों को सरकार ने पकड़ना शुरु किया तो ये लंदन भाग गए। वहां पर अभिनव भारत नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था की शाखाएं भारत में भी स्थापित की गईं।

पंजाब

पंजाब सरकार ने उपनिवेश बिल द्वारा जमीन–संबंधों को बदलने का निश्चय किया तो इस बिल के विरोध में पंजाब के क्रांतिकारी आंदोलन का जन्म हुआ। इसका नेतृत्व अजीत सिंह, सूफी अंबा प्रसाद और लाला लाजपत राय ने किया। इन नेताओं ने सभाओं तथा साहित्य द्वारा क्रांतिकारी विचारधारा फैलाने का प्रयत्न किया तथा अंग्रेजी राज को सशस्त्र विद्रोह द्वारा उलटने की योजना बनाई। क्रांतिकारी गतिविधियों के तेजी से बढ़ने से सरकार ने दमनकारी कदम उठाए तथा कई नेताओं को कैद कर लिया तथा अजीत सिंह और लाजपत राय को जून 1907 में मांडले (बर्मा) भेज दिया। इन नेताओं के कैद हो जाने से देश में रोष की लहर फैल गई तथा सरकार को जनता के दबाव के कारण इन्हें रिहा करना पड़ा। रिहा होने के बाद अजीत सिंह तथा उनके साथियों ने पुनः क्रांतिकारी गतिविधियां शुरू कर दीं। सरकार ने उनके कई साथियों को कैद कर लिया तथा उनके साहित्य को भी जब्त कर लिए। विवश होकर अजीत सिंह और सूफी अंबा प्रसाद देश छोड़कर अफगानिस्तान चले गए वहां से उन्होंने यूरोप को प्रस्थान किया।

पूरे देश में क्रांतिकारी आंदोलन पर काबू पाने के लिए सरकार ने अनेक अधिनियम पारित किए जैसे–

1. विस्फोटक पदार्थ अधिनियम (1908)
2. समाचार पत्र (अपराध–प्रेरक) अधिनियम (1908)
3. राजद्रोहात्मक सभा–निवारण अधिनियम (1911)
4. भारतीय दंड संशोधन अधिनियम (1908)
5. भारतीय प्रेस अधिनियम

विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियां

ब्रिटिश सरकार के क्रांतिकारियों के विरुद्ध दमनकारी अभियान चलाने के कारण बहुत से क्रांतिकारी नेता देश छोड़कर विदेश चले गए तथा वहीं पर उन्होंने अपने संगठन स्थापित किए। विदेशों में आंदोलन के प्रचार–प्रसार का श्रेय श्यामजी कृष्ण वर्मा को जाता है जो भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के अग्रणी नेताओं में से थे। वे तिलक की सिफारिश पर लंदन गए थे और 1904–14 के बड़े ही नाजुक दौर में उन्होंने लंदन, पेरिस और जिनेवा में भारत की स्वतंत्रता के लिए बड़े जोर–शोर से प्रचार अभियान चलाया।

टिप्पणी

भाई परमानंद, मैडम कामा, विनायक दामोदर सावरकर आदि उनके सहयोगी थे। उन्होंने इंडियन सोशियोलोजिस्ट नाम से एक अखबार शुरू किया तथा 1905 में होमरूल सोसाइटी तथा इंडिया हाउस की स्थापना की। यहां लंदन आने वाले विद्यार्थियों को रहने के लिए सस्ती जगह मिल जाती थी। कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में होमरूल आंदोलन को इंग्लैंड में लोकप्रियता मिली तथा इसके सदस्यों की संख्या 119 हो गई। जी.एस. परवपार्डे, लाजपत राय, लाला हरदयाल, रामभुजा दत्त और विपिन चंद्र पाल के लंदन आ जाने पर यह एक सक्रिय केंद्र बन गया। इन नेताओं में से लाला हरदयाल हिंसा की नीति के समर्थक थे। उन्होंने उन अधिकारियों को रास्ते से हटाने का निश्चय किया जो क्रांतिकारियों को रास्ते से हटाने के लिए अनुचित तरीके अपना रहे थे। उन्होंने लॉर्ड कर्जन, लॉर्ड किचनर तथा लॉर्ड कर्जन विली की हत्या की योजना बनाई। इसमें लॉर्ड कर्जन विली सबसे पहले निशाना बने। अमृतसर से आए इंजीनियरिंग के विद्यार्थी मदनलाल धींगरा ने कर्जन विली की हत्या कर दी। (1 जुलाई, 1909) मदन लाल धींगरा को फांसी की सजा दे दी गई। विली की हत्या को इंग्लैंड ने गंभीरता से लिया। इंग्लैंड के राजा ने एक पत्र में गवर्नर जनरल को चेतावनी दी कि वे ऐसे युवकों को ब्रिटेन न आने दें। किंतु भारत में सरकारी जुल्म के बावजूद हिंसा की घटनाएं होती रहीं। नासिक में जैकसन की हत्या कर दी गई जिसमें लंदन से आए ब्राउजिंग पर पिस्तौल का प्रयोग किया गया। इससे सरकार को यह प्रमाण मिल गया कि भारत तथा भारत से बाहर क्रांतिकारी संस्थाओं में घनिष्ठ संबंध है। भारत सरकार के आदेश पर विनायक दामोदर सावरकर को गिरफ्तार करके भारत भेज दिया गया और यहां पर नासिक षडयंत्र केस में उन्हें सजा हो गई। इसके बाद लंदन गुट के नेताओं ने जिनमें चट्टोपाध्याय, अय्यर तथा हरदयाल प्रमुख थे, लंदन छोड़ दिया। यूरोप के अन्य क्रांतिकारी संगठनों से इन लोगों ने संपर्क स्थापित किया। पेरिस की इंडियन सोसाइटी से जुड़े, जिनके नेता मैडम कामा, एस.एस. राणा, एम.पी.टी. आचार्य, के. आर. कोटपाल थे। इन्होंने 13 नवंबर 1909 को लॉर्ड और लेडी मिंटो पर अहमदाबाद में बम फेंका।

गदर आंदोलन

यूरोप से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन अमेरिका और कनाडा भी पहुंचा। पोर्टलैंड में मोहन सिंह भाकना ने 'हिंदुस्तान एसोसिएशन आफ द पैसिफिक कोस्ट' नामक संस्था की स्थापना की। इसका उद्देश्य विदेश में भारत के लोगों के अधिकारों की रक्षा करना था। इन्होंने 'गदर' नामक अखबार निकाला। इस अखबार के कारण इस पार्टी का नाम भी गदर पार्टी पड़ गया। इस संस्था से लाला हरदयाल, पंडित काशीराम, भाई परमानंद, करतार सिंह सराबा और रामचंद्र आदि नेता जुड़ गए। उत्तरी अमेरिका में बसे भारतीयों के बीच 'गदर' बहुत लोकप्रिय हुआ और कुछ ही समय में फिलीपींस, हांगकांग, चीन, मलय, सिंगापुर, त्रिनिदाद में बसे भारतीयों के बीच पहुंच गया। 25 मार्च, 1914 को अराजकतावादी गतिविधियों के कारण लाला हरदयाल को गिरफ्तार कर लिया। जमानत से छूटने के बाद वे चुपके से देश से बाहर चले गए और गदर आंदोलन को उनका सहयोग अचानक समाप्त हो गया।

इस बीच कामागाटामारू प्रकरण हुआ। यह एक जापानी जहाज था जो 367 लोगों को लेकर कनाडा पहुंचा किंतु कनाडा सरकार ने इसे बाहर ही रोक दिया। बाद में इस जहाज को अंग्रेजी हुकूमत ने भारत लाने का आदेश दिया। जब यह जहाज कलकत्ता के पास पहुंचा तो पुलिस के साथ जहाज में सवार लोगों का संघर्ष हुआ जिसमें 18 यात्री

टिप्पणी

मर गए, 202 को जेल भेज दिया तथा कुछ भाग निकले। इसी बीच प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया। इसका असर क्रांतिकारी योजनाओं पर भी पड़ा। आंदोलनकारियों ने भारत जाकर योजनाबद्ध तरीके से विद्रोह करने का फैसला किया। लगभग 8,000 प्रवासी भारतीय स्वदेश लौटे जिनमें से 5000 को तो घर जाने दिया गया। 1500 पर कड़ी नजर रखी, 184 को नजरबंद कर दिया लेकिन कुछ लोग बच निकले। ये लोग विद्रोही गतिविधियों में संलग्न हो गए। भारत के क्रांतिकारी नेताओं, शचीन्द्र, सान्याल, रासबिहारी बोस, विष्णु पिंगले इनसे आ मिले। रासबिहारी बोस ने नेतृत्व संभाला तथा 19 फरवरी, 1915 सैनिक विद्रोह की तारीख तय की गई। किंतु सी.आई.डी. को पता चल गया तथा उन्होंने बड़ी संख्या में क्रांतिकारी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। कुछ क्रांतिकारियों को फांसी दे दी गई जिनमें करतार सिंह सराबा भी थे। लगभग 200 क्रांतिकारियों को लंबी सजा दे दी गई। अफगानिस्तान में राजा महेंद्र प्रताप और बरकतुल्ला ने अफगानिस्तान के अमीर की मदद लेने की कोशिश की और काबुल में एक अंतरिम सरकार गठित की तथा गदर क्रांति की सहायता करने का प्रयास किया। किंतु सभी प्रयास असफल हो गए तथा गदर आंदोलन असफल हो गया।

यद्यपि यह आंदोलन असफल रहा लेकिन इसने उपनिवेशवाद के खिलाफ वैचारिक संघर्ष छेड़ा। 'गदर' अखबार के द्वारा अंग्रेजी हुकूमत के औपनिवेशिक चरित्र का विश्लेषण और पर्दाफाश किया और जो उनकी पीढ़ी का सबसे बहुमूल्य और स्थायी योगदान था। इस व्यापक प्रचार के फलस्वरूप ही ऐसे उत्साही राष्ट्रवादियों का आविर्भाव हुआ जो देश के लिए सब–कुछ न्योछावर करने को तैयार थे।

द्वितीय चरण

दूसरे चरण में क्रांतिकारी आंदोलन का स्वरूप कुछ भिन्न था। असहयोग आंदोलन के अचानक स्थगित किए जाने से नौजवानों का विश्वास गांधीवादी विचारधारा में नहीं रहा। पहली बार इन क्रांतिकारियों ने कांग्रेस का विकल्प ढूंढ़ने के उद्देश्य से आजादी के बाद एक नए समाज की रचना का कार्यक्रम दिया जो समाजवाद पर आधारित था। संयुक्त प्रांत में सबसे पहले भारत के क्रांतिकारी संगठित होने शुरू हुए। रामप्रसाद बिस्मिल, योगेश चटर्जी और शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अक्टूबर 1924 को कानपुर में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का गठन किया। इसका उद्देश्य सशस्त्र क्रांति के माध्यम से औपनिवेशिक सत्ता को उखाड़ फेंकना तथा एक संघीय गणतंत्र संयुक्त राज्य भारत की स्थापना करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम पैसा इकट्ठा करने के उद्देश्य से 9 अगस्त, 1925 को दस व्यक्तियों ने लखनऊ के पास एक गांव काकोरी में 8 ड्राउन ट्रेन को रोककर सरकारी खजाना लूट लिया। इस कांड के बाद भारी संख्या में युवकों को गिरफ्तार किया गया। और उन पर मुकदमा चलाया। अशफाकउल्ला खां, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशन सिंह और राजेंद्र लाहिड़ी को फांसी दे दी गई। चार को आजीवन कारावास की सजा देकर अंदमान भेज दिया गया और 17 अन्य लोगों को लंबी सजाएं सुनाई गई। चन्द्रशेखर आजाद फरार हो गए।

पंजाब में नौजवान भारत सभा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1926 में भगत सिंह, छबीलदास, यशपाल, भगवती चरण वोहरा आदि नवयुवकों ने नौजवान सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य लोगों में क्रांतिकारी चेतना लाना और सांविधानिक संघर्ष के विरुद्ध लोगों में प्रचार करना था। ये मजदूर और किसानों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध लाना चाहते थे। इन्होंने पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रांत के क्रांतिकारियों के साथ संबंध

टिप्पणी

स्थापित किया। उत्तर प्रदेश में विजय कुमार सिन्हा, शिव वर्मा और जयदेव कपूर तथा पंजाब के भगत सिंह, भगवती चरण वोहरा और सुखदेव ने चंद्रशेखर आजाद के नेतृत्व में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन को पुनः संगठित करने की योजना बनाई। 9 और 10 सितंबर, 1928 को फिरोजशाह कोटला मैदान (दिल्ली) में इन युवा क्रांतिकारियों की एक बैठक हुई। इन्होंने सामूहिक नेतृत्व को स्वीकारा और समाजवाद की स्थापना करने के लिए अपना लक्ष्य निर्धारित किया। संगठन का नाम बदलकर 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' रखा गया।

क्रांतिकारी युवा व्यक्तिगत और हत्या की राजनीति छोड़कर धीरे–धीरे संगठित क्रांतिकारी गतिविधियों में विश्वास करने लगे थे पर 30 अक्टूबर, 1928 को लाहौर में साइमन कमीशन के खिलाफ प्रदर्शन के दौरान लाला लाजपत राय पर बर्बर लाठीचार्ज कर हत्या की राह पकड़ने को मजबूर कर दिया। 17 दिसंबर, 1928 को भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद और राजगुरु ने लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठी बरसाने वालों में से एक पुलिस अधिकारी सांडर्स की हत्या कर दी। इसी समय अंग्रेजी सरकार जनता, विशेषकर मजदूरों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने के मकसद से दो विधेयक 'पब्लिक सेफ्टी बिल' और 'ट्रेड डिस्प्यूटस' बिल पास कराने की तैयारी में थी। इसके प्रति विरोध जताने के लिए भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त को सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली में बम फेंकने का काम सौंपा। बम फेंकने का उद्देश्य किसी की हत्या करना नहीं, बल्कि सत्ता के बहरे कानों में विरोध की आवाज पहुंचाना था। भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त पर बम कांड में तथा भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरू और अन्य क्रांतिकारियों पर अनेक 'षड़यंत्रों' में शामिल होने के आरोप में मुकदमा चला। यह लाहौर षड़यंत्र केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जेल में क्रांतिकारियों के लंबे अनशन से भी भारतीय जनता में रोश फैला। ये क्रांतिकारी जेल में अमानवीय दशाओं में सुधार के लिए अनशन कर रहे थे। लाहौर षड्यंत्र केस तथा अन्य मामलों में अनेक क्रांतिकारियों को लंबी सजाएं दी गईं। 23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, सुखदेव व राजगुरू को फांसी दे दी गई।

चटगांव विद्रोह

बंगाल में भी क्रांतिकारी आंदोलन संगठित होने लगे और भूमिगत गतिविधियां करने लगे। साथ ही साथ इनमें से कुछ लोग कांग्रेस संगठन में भी काम करते रहे। सूर्य सेन बंगाल में सबसे महत्वपूर्ण क्रांतिकारी नेता के रूप में उभरे। इनका संगठन चटगांव में सक्रिय था। इन्होंने चटगांव, मैमन सिंह, बारीसाल के सरकारी शस्त्रगारों पर एक ही समय में हमला करने की योजना बनाई। 18 अप्रैल 1930 को रात के दस बजे इस योजना पर अमल करना था। 50 युवक और युवतियों ने ब्रिटेन की भारतीय सेना की वर्दी पहनकर इन शस्त्रगारों पर हमला किया और यह हमला ''चटगांव आर्मरी रेड'' के नाम से मशहूर हुआ। यह हमला इंडियन रिपब्लिकन आर्मी चटगांव शाखा के नाम तले किया गया। लोग हमले के बाद जलालाबाद की पहाड़ियों में छुप गए। 22 मई को इन पहाड़ियों में क्रांतिकारियों तथा पुलिस के बीच संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में 64 सिपाही तथा क्रांतिकारी मारे गए, कुछ पकड़े गए तथा शेष भागने में सफल रहे। बाद में सूर्यसेन भी पकड़े गए तथा उन्हें फांसी दे दी गई।

सरकारी दमन ने धीरे–धीरे क्रांतिकारी आंदोलन को समाप्त कर दिया। भगत सिंह की फांसी तथा इलाहाबाद के एक पार्क में चंद्रशेखर आजाद की शहादत (फरवरी 1931) के बाद उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा बिहार में क्रांतिकारी आंदोलन लगभग समाप्त हो गया।

बंगाल में सूर्यसेन की शहादत के बाद क्रांतिकारी आंदोलन का गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया।

टिप्पणी

दो चरणों में अंतर

भारत का क्रांतिकारी आंदोलन राष्ट्र की आजादी के लिए शुरु किया गया था। दोनों स्तरों की क्रांतिकारी विचारधारा में यही उद्देश्य मुख्य रूप से मिलता है किंतु दोनों स्तरों की विचारधारा में कुछ अंतर भी दिखाई देता है–

1. पहले चरण के क्रांतिकारी नेता राष्ट्रवादी थे और उन्में से कुछ में विशेषतः बंगाल में, रहस्यवाद की झलक मिलती है। यह विशेषता दूसरे चरण में दिखाई नहीं देती।
2. पहले चरण में क्रांतिकारी गतिविधियां हत्या तथा लूट पर पर आधारित थीं। मगर दूसरे चरण में सरकारी संस्थाओं पर हमला करना प्रमुख उद्देश्य था।
3. पहले चरण के क्रांतिकारी ब्रिटिश राज को उलटना चाहते थे किंतु आजादी के बाद समाज की रचना कैसे करनी है, इस पर कोई विचार नहीं किया गया। किंतु दूसरे चरण के क्रांतिकारियों के पास समाजवादी विचारधारा थी। उन्हें, विशेष तौर पर पंजाब तथा उतर प्रदेश के क्रांतिकारियों का यह इरादा स्पष्ट था कि पूंजीवादी राज का अंत करके समाजवादी विचारधारा पर आधारित राज्य की स्थापना करनी है।

क्रांतिकारी दर्शन

क्रांतिकारी दर्शन के विकास में द्वितीय चरण के क्रांतिकारियों का अधिक योगदान रहा। विशेष रूप से भगत सिंह व उनके साथियों ने क्रांति को व्यापक ढंग से परिभाषित किया। उन्होंने पहली बार क्रांतिकारियों के समक्ष एक क्रांतिकारी दर्शन रखा। उन्हें बताया कि क्रांति का लक्ष्य क्या होना चाहिए। अब क्रांति का अर्थ हिंसा नहीं रह गया था। इसका पहला उद्देश्य साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना यानी स्वतंत्रता और बाद में समाजवादी समाज यानी एक ऐसे समाज का निर्माण था, जहां व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण न हो। 1929 से 1930 के दौरान अदालत के बाहर भगत सिंह तथा उनके क्रांतिकारी साथियों ने जो बयान दिए, उनका सार यह था कि क्रांति का अर्थ है क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में शोषित, दलित व गरीब तबकों के जनांदोलन का विकास। भगत सिंह ने समाजवाद को वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया, जिसका अर्थ था पूंजीवाद और वर्ग–प्रभुत्व का पूरी तरह खात्मा। क्रांतिकारी धर्मनिरपेक्ष थे तथा राष्ट्रीय आंदोलन के सम्मुख मौजूद सांप्रदायिकता के खतरे को पहचानते थे। वे सांप्रदायिकता को उतना ही खतरनाक मानते थे जितना उपनिवेशवाद।

4.6.2 वामपंथी आंदोलन

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब आधुनिक उद्योगों की शुरुआत हुई और रेलवे, पोस्ट ऑफिस और टेलीग्राफ जैसी उपयोगी सेवाओं का विकास हो रहा था, उस समय भारत में आधुनिक मजदूर वर्ग का उदय हुआ। देश के विभिन्न हिस्सों में संगठित, आत्मसजग मजदूरों के अखिल भारतीय वर्ग के रूप में पृथक समूहों के उदय की प्रक्रिया, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विकास और भारत के राष्ट्र बनने की प्रक्रिया से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है। प्रारंभ में आर्थिक कारणों से सूती मिलों, बागानों और रेलवे में छिटपुट

टिप्पणी

असंगठित आंदोलन हुए थे। इनमें राजनीतिक असर नहीं था। 19 वीं शताब्दी के अंतिम दौर में भारत के राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग ने मजदूर वर्ग के आंदोलनों से अपना रिश्ता जोड़ना प्रारंभ किया। 1870 में कई तरह के समाजसेवी व्यक्तियों ने मजदूरों की हालत सुधारने के संगठित प्रयास किए। किंतु ये समाजसेवी राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से अलग थे तथा राष्ट्रवादियों का मजदूरों के प्रति रुख काफी ढीला–ढाला था। उस समय मजदूरों की हालत पर बहुत कम ध्यान दिया गया था।

श्रमिक आंदोलन के इतिहास में 1903–1908 के दौरान स्वदेशी आंदोलन स्पष्टतः एक युगांतकारी घटना थी। इस दौरान कई स्वदेशी आंदोलन के नेता स्थायी ट्रेड यूनियनों, हड़तालों, कानूनी मदद तथा कोष एकत्र करने जैसे अभियानों में भाग लेने लगे। हड़ताली मजदूरों के समर्थन में आयोजित जनसभाओं में विपिनचंद्र पाल, चितरंजन दास और लियाकत हुसैन जैसे नेताओं ने भाषण दिए। स्वदेशी आंदोलन के चार नेताओं–अश्विनी कुमार दत्त, प्रभात कुमार रायचौधरी, प्रेमतोष बोस और अपूर्वकुमार घोष ने अपने को श्रमिक संगठनों में पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया। 1908 के बाद जब स्वदेशी आंदोलन का उभार कम हुआ तो इस आंदोलन को भी आघात पहुंचा।

1919 से 1920 के बीच मजदूर वर्ग का आंदोलन ताकत के साथ फिर उठ खड़ा हुआ। इस दौर में मजदूर वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा में काफी हद तक शामिल हुआ। 1920 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, एटक की स्थापना हुई। पंजाब के नेता लाला लाजपत राय इसके प्रथम अध्यक्ष बने। एटक ने मजदूरों के लिए एक घोषणा पत्र जारी किया तथा उनसे न केवल संगठित होने का आग्रह किया बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में हस्तक्षेप के लिए भी उनसे आग्रह किया गया था। तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में आकर वामपंथी वैचारिक प्रवृत्तियां सुदृढ़ हुईं और राष्ट्रीय आंदोलन पर उन्होंने महत्वपूर्ण प्रभाव डालना शुरू किया। 1927 के शुरू में वर्कर्स एंड पीजेंट पार्टी के रूप में मजदूर संगठित हुए। इसके नेता श्रीपद अमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, पूरनचंद जोशी तथा सोहन सिंह जोश थे।

कामगार किसान पार्टी में व्यापक वामपंथी मोर्चे के तहत काम करते हुए ट्रेड यूनियन आंदोलन में कम्यूनिस्टों का असर 1928 के अंत तक काफी अधिक शक्तिशाली हो गया था। बंबई में सूती मिलों के मजदूरों की छह महीने लंबी हड़ताल के बाद कम्यूनिस्टों के नेतृत्व वाली गिरना कामगार यूनियन ने महत्वपूर्ण स्थिति हासिल कर ली। रेलवे मजदूरों, सूत मिलों, जूट मिलों, नगरपालिकाओं, कागज मिलों आदि में काम करने वालों के बीच भी बंगाल और बंबई में कम्यूनिस्टों का प्रभाव फैला। 1928 के झरिया अधिवेशन के समय तक एटक में भी कम्यूनिस्टों समेत वामपंथियों की स्थिति काफी प्रभावशाली हो गई थी। इसके बाद के सत्र की अध्यक्षता जब जवाहर लाल नेहरू कर रहे थे, तभी एन. एम. जोशी के नेतृत्व में कुछ नेता इससे अलग हो गए और सही रूप में मजदूर आंदोलन में अर्थवाद की प्रवृत्ति पनपनी शुरू हुई। 1928 के अंत में सरकार ने चिंतित होकर यह रिपोर्ट देनी शुरू की कि, "मुश्किल से कोई जनसेवा अथवा उद्योग बचा होगा जिसमें पूरी तरह अथवा आंशिक रूप से कम्यूनिज्म का प्रभाव न पहुंचा हो, ऐसा कम्यूनिज्म जिसने देश को प्रभावित किया था।" कम्यूनिस्टों और क्रांतिकारियों के प्रभाव में काम करने वाले मजदूरों ने 1927 और 1929 के बीच सारे देश में बड़ी संख्या में हड़तालों और प्रदर्शनों में हिस्सा लिया। नवंबर 1927 में एटक ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निर्णय लिया। मई दिवस, लेनिन दिवस, रूसी क्रांति आदि की वर्षगांठ के

टिप्पणी

अवसर पर मजदूरों की सभाएं आयोजित की जाती थीं। मजदूर वर्ग की बढ़ती हुई उग्रता और राजनीति में उनकी सक्रियता से भयभीत होकर सरकार ने मजदूर वर्ग के आंदोलन पर दोतरफा आक्रमण शुरू कर दिया। एक ओर इसने दमनकारी कानून बनाए, जैसे पब्लिक सेफ्टी बिल तथा ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट और लगभग एक बार में मजदूर आंदोलन में सक्रिय सभी क्रांतिकारियों और नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था और उनके खिलाफ षड्यंत्र का मुकदमा चलाया गया, जिसे 'मेरठ षड़यंत्र केस' के नाम से जाना जाता है। दूसरी ओर मजदूरों को कुछ रियायतें देकर मजदूर आंदोलन को तोड़ने की कोशिश की गई, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। इससे मजदूर आंदोलन को बड़ा आघात लगा। इसी समय कम्यूनिस्टों के नेतृत्व वाले हिस्से के रुझान में परिवर्तन आ गया और उन्होंने अपने आप को राष्ट्रीय आंदोलन से स्वयं को अलग कर लिया।

1930 और 1936 के बीच मजदूर आंदोलन ढलान पर था। 1932–1937 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में मजदूरों ने भाग नहीं लिया। 1937–1939 के दौरान जब लोकप्रिय मंत्रिमंडलों का गठन हुआ और प्रांतों को स्वायत्तता हासिल हुई, तब जाकर मजदूर वर्ग पुनः सक्रिय हुआ। साम्यवादियों ने भी 1934 तक राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्यधारा में फिर से प्रवेश पा लिया। 1935 में वे फिर से एटक में मिल गए। राष्ट्रवादी राजनीति और ट्रेड यूनियन आंदोलन में वामपंथी प्रभाव एक बार फिर तेजी से बढ़ना शुरू हो गया। साम्यवादियों, कांग्रेसी समाजवादियों और वामपंथी राष्ट्रवादियों ने कांग्रेस के भीतर से तथा दूसरे जन संगठनों से मिलकर एक शक्तिशाली एवं सुदृढ़ वामपंथी गुट बनाया। कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों के कार्यकाल के दौरान ट्रेड यूनियनों के आंदोलन का अभूतपूर्व उत्थान हुआ। 1937 और 1939 के मध्य ट्रेड यूनियनों की संख्या 271 से 562 हो गई तथा इन यूनियनों की कुल सदस्यता 261047 से बढ़कर 399159 हो गई। इस बीच हड़तालों की संख्या में भी बहुत अधिक बढ़ोतरी हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध 3 सितंबर, 1939 को आरंभ हुआ और बंबई के मजदूर वर्ग ने 2 अक्टूबर, 1939 को सर्वप्रथम समूचे विश्व में युद्ध के विरोध में हड़ताल का आयोजन किया। इस हड़ताल में लगभग 90000 मजदूरों ने हिस्सा लिया। युद्ध के प्रयासों में किसी भी प्रकार के विघ्न को रोकने की इच्छुक सरकार द्वारा भंयकर दमन के बावजूद पूरे देश में आर्थिक मुद्दों को लेकर कई हड़तालें हुईं। इसी बीच सोवियत संघ पर नाजियों ने हमला कर दिया तथा इस स्थिति में साम्यवादियों ने घोषणा कर दी कि यह युद्ध अब साम्राज्यवादी युद्ध से जनता के युद्ध में बदल गया है अतः उन्हें अंग्रेजों का साथ देना चाहिए। नीति में इस परिवर्तन के कारण 1942 में गांधीजी द्वारा शुरू किए गए भारत छोड़ो आंदोलन में साम्यवादियों ने भाग नहीं लिया। उन्होंने मालिकों के साथ मिलकर औद्योगिक शांति की नीति का सफलतापूर्वक पालन किया ताकि उत्पादन और युद्ध प्रयासों में बाधा न आए।

भारत छोड़ो आंदोलन से साम्यवादियों के उदासीन होने तथा उसका विरोध करने के बाद भी मलदूर वर्ग इस आंदोलन से अछूता नहीं रहा। 9 अगस्त, 1942 को गांधीजी तथा दूसरे नेताओं की गिरफ्तारी के तत्काल बाद भारत छोड़ो प्रस्ताव के समर्थन में मजदूरों ने देश भर में – दिल्ली, इंदौर और बंगलौर आदि स्थानों पर हड़तालें की गईं। टाटा स्टील में 13 दिन तक हड़ताल रही। अहमदाबाद सूती मिल में भी लगभग तीन महीने हड़ताल रही। यद्यपि साम्यवादियों के प्रभावक्षेत्र में मजदूरों का सहयोग कम था फिर भी कई क्षेत्रों में पार्टी लाइन के बाद भी साम्यवादी दल–बल सहित भारत छोड़ो आंदोलन में तेजी से शामिल हुआ। 1945–1947 के दौरान मजदूर वर्ग की गतिविधियां

आश्चर्यजनक ढंग से फिर शुरू हो गईं। स्वतंत्रता मिलने की उम्मीद थी तथा उसके बाद सभी अधिकार उन्हें मिलेंगे, इस उत्साह में संपूर्ण मजदूर वर्ग आजादी की इस अंतिम लड़ाई में पूरी तरह सक्रिय रहा।

टिप्पणी

किसान आंदोलन तथा वामपंथ

किसानों में लगान तथा सरकार की नीतियों के विरुद्ध सदैव ही असंतोष रहा तथा सरकार के विरुद्ध छोटे–बड़े विद्रोह होते रहे किंतु 1930 के दशक में भारतीय किसानों में एक नया राष्ट्रवादी जागरण आया। उन्होंने अपनी शक्ति को पहचाना और अपने हालात बदलने के लिए एकजुट होकर कोशिश की। सविनय अवज्ञा आंदोलन में किसानों ने हिस्सा लिया तथा इसने टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप ले लिया। इस आंदोलन ने किसान आंदोलन के अभ्युदय में एक और तरह से भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई – इसके गर्भ से युवा लड़ाकू राजनीतिक कार्यकर्ताओं की पूरी पीढ़ी पैदा हुई। उन्हें राजनीतिक दीक्षा सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान ही मिली, लेकिन धीरे–धीरे वे वामपंथी विचारधारा के प्रभाव में आते चले गए, जिसका प्रचार जवाहर लाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, साम्यवादियों तथा अन्य वामपंथी नेताओं और संगठनों द्वारा किया जा रहा था। जब इस आंदोलन में उतार आया तो इनके कार्यकर्ताओं के सामने सवाल उठा कि वे अपनी राजनीतिक ऊर्जा को कहां लगाएं। इनमें युवक भी शामिल थे और युवतियां भी, नतीजा यह हुआ कि उनमें से बहुतों ने किसानों को संगठित करना शुरू कर दिया।

अप्रैल 1936 में लखनऊ में 'अखिल भारतीय किसान सभा' की स्थापना की गई। स्वामी सहजानंद सरस्वती इसके अध्यक्ष और एन.जी.रंगा इसके महासचिव चुने गए। किसान सभा के पहले सम्मेलन में स्वयं जवाहरलाल नेहरू आए। इसमें उपस्थित अन्य हस्तियां थीं– राममनोहर लोहिया, सोहन सिंह जोश, इंदुलाल यागनिक, जयप्रकाश नारायण, मोहन लाल गौतम, कमल सरकार, सुणीन प्रामाणिक तथा अहमद दीन। सम्मेलन में निर्णय लिया गया कि किसानों का घोषणापत्र निकाला जाए तथा इंदुलाल यागनिक के संपादन में एक बुलेटिन का नियमित प्रकाशन किया जाए। अखिल भारतीय किसान समिति के बंबई सत्र में किसान घोषणापत्र का मसविदा स्वीकृत किया गया और कांग्रेस कार्यसमिति को सौंप दिया गया ताकि वह उसे 1937 के चुनाव के अवसर पर प्रकाशित होने वाले घोषणा पत्र में शामिल कर सके। फौजपुर कांग्रेस में शामिल कृषि कार्यक्रम पर किसान घोषणापत्र का काफी प्रभाव देखा गया। कांग्रेस ने सरकार के सामने जो मांग रखी, उनमें मुख्य थीं, भूराजस्व और लगान में 50 प्रतिशत कमी, ऋणों की वसूली का स्थगन, सामंती वसूलियों की समाप्ति, काश्तकार को बेदखली से सुरक्षा, खेतिहर मजदूरों को गुजारे लायक मजदूरी और किसान यूनियन को मान्यता। 1937 के कांग्रेस सरकार के गठन से किसान आंदोलन का नया दौर शुरू हुआ। 1937 से 1939 के तीन वर्ष किसान आंदोलन के उत्कर्ष के वर्ष थे। कांग्रेस सरकार ने कृषि कानून में सुधार के लिए कुछ ठोस कदम भी उठाए– ऋणों में राहत देने के लिए, मंदी के दौरान जो किसान भूमिहीन हो गए थे, उन्हें उनकी जमीन वापस लौटाने के लिए, काश्तकारों की सुरक्षा के लिए। इससे किसानों को प्रेरणा मिली कि वे प्रस्तावित कानूनों के पक्ष में माहौल बनाएं तथा जरूरत पड़ने पर उनका स्वरूप बदलने की मांग करें।

किसान आंदोलन का उग्र होता ज्वार द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने के कारण थम सा गया। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया और वामपंथियों द्वारा अपने आप को

टिप्पणी

अलग कर लेने के कारण किसान सभा के साम्यवादियों और गैर–साम्यवादियों के बीच गंभीर मतभेद पैदा हो गए। किंतु युद्ध के दौरान किसान सभा निष्क्रिय नहीं रही। उसने विभिन्न कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। युद्ध की समाप्ति भारत के लिए एक नए सवेरे की तरह थी। स्वतंत्रता मिलने वाली है, इसका आभास होने लगा तथा सत्ता के हस्तांतरण के लिए बातचीत शुरू हो गई। इससे किसान–आंदोलन के विकास में गुणात्मक स्तर पर एक नया दौर आया। किसान उत्साह से भर गए और आजादी के बाद नई सामाजिक व्यवस्था कायम होगी इस चेतना ने समाज के अन्य वर्गों के साथ–साथ किसानों को भी काफी प्रेरित किया। उन्होंने नए जोश–खरोश के साथ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष शुरू किया।

रूसी क्रांति का प्रभाव इसके पीछे मुख्य प्रेरक शक्ति थी। 1917 के 7 नवंबर का लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी (कम्यूनिस्ट पार्टी) ने जार के राजशाही शासन को उखाड़ फेंका। इस क्रांति से लोगों को एक और शिक्षा मिली : यदि आम जनता यानी मजदूर, किसान और बुद्धिजीवी वर्ग संगठित होकर जार के शक्तिशाली साम्राज्य का तख्ता पलट सकते हैं और ऐसी सामाजिक व्यवस्था कायम कर सकते हैं जिसमें एक आदमी दूसरे का शोषण नही करता, तब ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करने वाली भारतीय जनता भी ऐसा कर सकती है। समाजवादी सिद्धांत की तरफ, विशेष रूप से मार्क्सवाद की ओर, जो कि बोल्शेविक पार्टी का मार्गदर्शक सिद्धांत था, लोग अचानक आकर्षित हुए। समाजवादी विचार अब तेजी से फैलने लगे। बहरहाल असहयोग आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले बहुत सारे नौजवान इसके नतीजों से खुश नहीं थे और गांधीवादी नीतियों, विचारों और यहां तक कि वैकल्पिक स्वराजवादी कार्यक्रमों से भी संतुष्ट नहीं थे, इसलिए मार्गदर्शन के लिए उन लोगों ने अपना रुख समाजवादी विचारों की ओर मोड़ा। सारे देश में समाजवादियों और कम्यूनिस्टों के कुछ दल अस्तित्व में आए। सारे देश में 1927 के बाद युवक संगठन स्थापित किए गए। 1928 और 1929 के दौरान पूरे देश में युवकों के सैकड़ों अधिवेशन आयोजित किए गए। जिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों से देश पीड़ित था, इसके वक्ताओं ने इनसे छुटकारा पाने के लिए क्रांतिकारी हल की वकालत की। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस ने पूरे देश का दौरा किया। अपने दौरे में उन्होंने साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और जमींदारी प्रथा की आलोचना की और समाजवादी विचारधारा को अपनाने की शिक्षा दी। भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद के नेतृत्व वाले अतिवादी क्रांतिकारी भी समाजवाद की ओर झुके। पूरे दूसरे दशक के दौरान ट्रेड यूनियन तथा किसान आंदोलन तेजी से फैलते रहे।

तीसरे दशक के दौरान सारा विश्व महान आर्थिक मंदी में डूबा हुआ था, इसलिए इस दौरान समाजवादी विचार और अधिक लोकप्रिय हुए। समूची पूंजीवादी दुनिया में बेरोजगारी आकाश छूने लगी। विश्वव्यापी मंदी के चलते पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा, इसलिए लोग मार्क्सवाद और समाजवाद की तरफ आकर्षित हुए।

नेहरू और समाजवाद

जवाहरलाल नेहरू ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को समाजवादी दृष्टि प्रदान की और 1929 के बाद भारत में वे समाजवाद और समाजवादी विचारों के प्रतीक बन गए। जवाहरलाल नेहरू जब 1920–21 के दौरान पूर्वी उत्तरप्रदेश के किसान आंदोलन के संपर्क में आए तब उनमें आर्थिक सवालों के प्रति दिलचस्पी पैदा हुई। 1922–23 के

टिप्पणी

दौरान जब वे जेल गए तब जेल में अवकाश के समय उन्होंने विस्तार से रूस और अन्य देशों की क्रांतियों का अध्ययन किया। 1927 में उन्होंने "उपनिवेशवादी दमन और साम्राज्यवाद" के विरोध में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में ब्रुसेल्स में हिस्सा लिया। जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्रता के लिए भारतीय संघ गठित करने के लिए सुभाषचंद्र बोस के साथ सहयोग का हाथ बढ़ाया ताकि पूर्ण स्वराज के लिए "समाज के आर्थिक ढांचे को समाजवादी रूप देने के लिए" संघर्ष किया जा सके। समाजवाद के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता को 1933–36 के दौरान अधिक स्पष्ट तथा धारदार अभिव्यक्ति मिली।

इसी दौरान जवाहरलाल नेहरू के गांधीजी के साथ संबंधों में उलझाव पैदा हुआ। वर्गों के संघर्ष को गांधीजी द्वारा अस्वीकार किए जाने पर उन्होंने गांधीजी की आलोचना की, शोषक तथा शोषितों के बीच शांति और समन्वय की शिक्षा देने के लिए तथा पूंजीपतियों और जमींदारों का हृदय परिवर्तन कर "ट्रस्टीशिप का" सिद्धांत प्रस्तुत करने के लिए भी गांधीजी की आलोचना की। हालांकि समाजवाद के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता का एक विशेष ढांचा था जिसमें राजनीतिक और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को तब तक प्रमुख स्थान दिया गया था, जब तक भारत पर विदेशी शक्ति का शासन था। नेहरू ने कोई ऐसा संगठन बनाने का प्रस्ताव नहीं माना जो कांग्रेस से अलग अथवा उससे स्वतंत्र हो अथवा गांधीजी तथा दक्षिणपंथी कांग्रेसियों से जो नाता ही न रखे। संगठन का मुख्य काम था कांग्रेस को प्रभावित करना अथवा पूरी तरह से उसका समाजवादी दिशा में रूपांतरण करना।

वामपक्ष की कमियां

कांग्रेस के प्रभावशाली नेतृत्व के साथ वामपक्ष की लड़ाई हमेशा गलत मुद्दों पर हुई और जब तनाव बिखराव के मोड़ तक पहुंचता था तब वामपक्ष या तो उनके पीछे चलने के लिए बाध्य होता था अथवा राष्ट्रीय आंदोलन में ऐन वक्त पर अलग–थलग पड़ जाता था। दक्षिणपथियों का विरोध ये लोग अत्यंत सरलीकृत सूत्रों और क्रांतिकारी लफ्फाजी के साथ करते थे। गलत और सतही आधार पर इनका दक्षिणपंथियों से झगड़ा होता था।

वामपंथी भारतीय यथार्थ का गहन अध्ययन करने में भी असफल रहे। सारे वामपंथी कांग्रेस के प्रभावशाली नेतृत्व को पूंजीपतियों का नेता मानते थे, बातचीत के जरिए समस्या सुलझाने की इनकी नीति को साम्राज्यवाद के साथ समझौते का प्रयास माना जाता था और संवैधानिक सीमा के अंतर्गत रहकर की जाने वाली किसी भी कोशिश को "स्वतंत्रता के लिए संघर्ष से मुंह मोड़ना" माना जाता था।

राष्ट्रीय आंदोलन को अनुशासित तरीके से संचालित और निर्देशित करने के सारे प्रयास को ये लोग आंदोलन पर अंकुश लगाना मानते थे।

वामपंथियों की एक बहुत बड़ी कमी यह भी थी कि थोड़े समय को छोड़ दें तो विभिन्न दल, धड़े तथा व्यक्ति संयुक्त रूप से काम करने में हमेशा असफल रहे। वामपंथियों के विभिन्न धड़ों को एक साथ लेकर संयुक्त मोर्चा कायम करने के सारे प्रयास निरर्थक हुए। उनके सैद्धांतिक मतभेद और झगड़े बहुत थे और उन मतभेदों के प्रति वे भावुकता के स्तर पर जुड़े थे।

जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस अधिक दिनों तक एक साथ काम नही कर सके और 1939 में वे जनता के बीच में भी झगड़ने लगे। जवाहरलाल नेहरू और समाजवादी आपस में राजनीतिक तालमेल नहीं कायम कर सके। 1939 के बाद कांग्रेस

टिप्पणी

और समाजवादी अलग हो गए थे। 1935–40 के बीच कांग्रेस समाजवादी और कम्यूनिस्टों ने एक साथ मिलकर काम करने की जबरदस्त कोशिश की। 1935 में कांग्रेस सोशलिस्टों ने कम्यूनिस्टों और राष्ट्रवादियों के लिए अपना दरवाजा खोल दिया था ताकि गैर कानूनी घोषित की गई कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य उनके साथ आ जाएं लेकिन ये कम्यूनिस्ट जल्दी ही अलग हो गए और एक दूसरे के कट्टर दुश्मन बन गए।

भारतीय समाज और राजनीति में प्रभाव

वामपंथियों को भारतीय समाज और राजनीति पर एक बुनियादी प्रभाव डालने में जरूर सफलता मिली। किसानों और मजदूरों के संगठन बने। यह इनकी महत्वपूर्ण उपलब्धियों में था। उतना ही महत्वपूर्ण कांग्रेस पर पड़ने वाला इसका प्रभाव था। यदि संगठन की दृष्टि से देखें तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में एक तिहाई मत महत्वपूर्ण मुद्दों पर वामपंथियों के प्रभाव में था। 1936 से 1939 के बीच नेहरू तथा बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। नेहरू अपनी कार्यकारिणी समिति के अंतर्गत तीन प्रमुख समाजवादियों आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन को नामित करने में सफल रहे। 1939 में वामपंथियों के प्रत्याशी के रूप में सुभाषचंद्र बोस अध्यक्ष के चुनाव में पट्टाभि सीतारमैया को पराजित करने में सफल रहे।

विचारधारा और संगठन दोनों ही दृष्टियों से देखा जाए तो कांग्रेस का वामपक्ष की ओर झुकाव बढ़ा। दक्षिणपंथियों समेत कांग्रेस ने यह स्वीकार किया कि भारतीय जनता की दरिद्रता और मुसीबतों की जड़ सिर्फ उपनिवेशवादी शासन नहीं है बल्कि भारतीय समाज का आंतरिक सामाजिक आर्थिक ढांचा भी है, इसलिए यथाशीघ्र इसको आमूलचूल बदलने की जरूरत है। राष्ट्रीय आंदोलन पर वामपक्ष का प्रभाव मूलाधिकार और आर्थिक नीति को लेकर पारित प्रस्तावों में भी झलकता है जिन्हें कांग्रेस के कराची अधिवेशन में 1931 में पारित किया था।

1936 के कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में, 1938 की राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना में तथा आर्थिक और वर्गीय मुद्दों के ऊपर गांधीजी के विचारों में क्रमशः हुए परिवर्तन में भी इसकी झलक मिलती है। ऑल इंडिया स्टूडेंट फेडरेशन और प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन (पी.डब्ल्यू.ए.) तथा ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस का आयोजन करना वामपक्ष की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां थीं। अखिल भारतीय महिलाओं के सम्मेलन में भी वामपंथी लोग काफी सक्रिय थे। इन सबके ऊपर जो बात है, वह यह कि दो महत्वपूर्ण पार्टियों का वजूद सामने आया : कम्यूनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी।

अपनी प्रगति जांचिए

9. महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन का प्रारंभ किसने किया था?

   (क) विनायक दामोदर सावरकर (ख) चापेकर बंधु

   (ग) बालगंगाधर तिलक (घ) इनमें से कोई नहीं

10. अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना कब की गई थी?

   (क) 1932 (ख) 1934

   (ग) 1936 (घ) 1938

4.7 राज्य के लोगों के आंदोलन

टिप्पणी

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था से पूरा भारतीय समाज रुष्ट हो गया। अंग्रेजों ने भारत में ऐसी नीतियां अपनाईं, जिससे देश के हर वर्ग को नुकसान हुआ। प्रारंभ में तो उन्होंने केवल एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ही काम किया लेकिन जैसे–जैसे समय आगे बढ़ता गया, वे देश पर अपना कब्जा करने लगे। इसके बाद धीरे–धीरे उन्होंने भारत में अंग्रेजी प्रशासन प्रारंभ कर दिया। अंग्रेजों की नीतियों से विरोध स्वरूप देश में लोगों के कई आंदोलन हुए, जिनमें जनजातीय आंदोलन एवं कृषक आंदोलन सबसे प्रमुख थे।

जनजातीय आंदोलन

औपनिवेशिक भारत में जनजातीय आंदोलन अन्य समुदायों के आंदोलन से इस परिप्रेक्ष्य में भिन्न थे कि ये अत्यधिक सीमित दायरे में सिमटे हुए, हिंसक एवं बिल्कुल अलग–थलग थे। इन जनजातीय आंदोलनों के प्रारंभ होने का कारण बाह्य शोषण एवं जुल्म था, चाहे ये शोषण स्थानीय साहूकारों, सूदखोरों या अन्य व्यक्तियों द्वारा किया गया हो या फिर तत्कालीन अंग्रेज शासकों द्वारा। ये जनजातीय आंदोलन मुख्यतया 18वीं शताब्दी में प्रारंभ हुए। 1778 से 1947 ई. तक की अवधि में ऐसे लगभग 70 जनजातीय विद्रोह हुए। इन विद्रोहों की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह थी कि इनमें जनजातीय लोगों ने पूर्ण उत्साह के साथ सक्रियता से भाग लिया तथा शोषण एवं दमन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष किया, जबकि दूसरी ओर सरकारी दमन चक्र भी इनके विरुद्ध तेजी से चला तथा अधिकांश विद्रोह निर्दयतापूर्वक कुचल दिए गए। इन प्रमुख जनजातीय या आदिवासी आंदोलनों का वर्णन निम्नानुसार है:

1. **पहाड़िया विद्रोह** : पहाड़िया राजमहल की पहाड़ियों में बसी एक लड़ाकू जनजाति थी। इसने अपने क्षेत्र का अतिक्रमण किए जाने के विरोध में 1778 ई. में सशस्त्र विद्रोह प्रारंभ कर दिया। स्थानीय जनजातीय सरदारों ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। यह विद्रोह अत्यंत हिंसक एवं खूनी था। अंग्रेजों ने विद्रोह को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया।
2. **चुआर विद्रोह** : यह चुआर जनजाति द्वारा 1776 ई. में किया गया विद्रोह था, जिसका प्रमुख कारण अंग्रेजों की शोषणपूर्ण आर्थिक नीतियां थीं। यह विद्रोह भी अंततः कुचल दिया गया।
3. **कोल विद्रोह** : छोटा नागपुर के कोलों ने बुद्धो भगत के नेतृत्व में 1831 ई. में यह विद्रोह किया। विद्रोह का प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा इस क्षेत्र में प्रसार तथा कोलों की भूमियों को दिकुओं (बाह्य व्यक्तियों) को हस्तांतरित किया जाना था। यह विद्रोह कुचल दिया गया।
4. **हो एवं मुण्डा विद्रोह** : राजा पराहत के नेतृत्व में हो जनजाति द्वारा सिंहभूम जिले को अंग्रेजों द्वारा हस्तगत कर लिए जाने के विरोध में 1827 ई. में सिंहभूम एवं छोटानागपुर के क्षेत्रों में जनजातियों का विद्रोह भड़क उठा। इसे दबा दिया गया। फिर हो तथा मुण्डा जनजातियों द्वारा संयुक्त रूप से 1831 ई. में अंग्रेजों की नई भू–राजस्व पद्धति के विरोध में यह विद्रोह प्रारंभ किया गया। तीसरा विद्रोह 1899–1900 ई. में रांची के दक्षिण में मुण्डाओं द्वारा बिरसा मुण्डा के नेतृत्व

में प्रारंभ किया गया। यह विद्रोह काफी समय तक चला, लेकिन इसे भी दबा दिया गया। बिरसा मुण्डा को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उसे जेल में डाल दिया गया।

टिप्पणी

इसी प्रकार का एक अन्य विद्रोह उल गुलान विद्रोह था, जिसे मुण्डा जनजाति ने समर्थन दिया। यह विद्रोह मुख्यतया सामंती एवं जमींदारी व्यवस्था प्रारंभ किए जाने तथा साहूकारों एवं ठेकेदारों द्वारा शोषण किए जाने के विरुद्ध प्रारंभ हुआ था। इसे भी अंग्रेजों ने कुचल दिया।

5. **संथाल विद्रोह** : संथालों द्वारा सीदो और कान्हो के नेतृत्व में 1855–56 ई. में बिहार में स्थानीय जमीदारों एवं महाजनों द्वारा किए जा रहे शोषण के विरोध में यह विद्रोह प्रारंभ हुआ। कालांतर में विद्रोह ने अंग्रेज विरोधी आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। अंततः यह विद्रोह भी कुचल दिया गया।

6. **खोंड विद्रोह** : चक्र बिसांई के नेतृत्व में पहले 1836–37 ई. में एवं पुनः 1914 ई. में तमिलनाडु से लेकर बंगाल तक फैले हुए पहाड़ी क्षेत्रों में यह विद्रोह हुआ। ठीक इसी प्रकार का खोंड विद्रोह 1914 ई. में उड़ीसा में जनजातीय रीति–रिवाजों में हस्तक्षेप किए जाने तथा नए कर आरोपित करने के विरोध में प्रारंभ हुआ। दोनों क्षेत्रों के विद्रोहों को अंग्रेजों ने दबा दिया।

7. **नैकदा आंदोलन** : 1860 ई. में यह मध्य प्रदेश एवं गुजरात के जनजातीय क्षेत्रों में अंग्रेजों एवं सवर्ण हिंदुओं के विरुद्ध प्रारंभ हुआ, यद्यपि अंग्रेजों ने इस विद्रोह को शीघ्र ही समाप्त कर दिया।

8. **रखाड़वाड़ विद्रोह** : रखाड़वाड़ों द्वारा 1860 ई. में बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में नयी भू–राजस्व नीतियों के विरोध में यह विद्रोह प्रारंभ हुआ।

9. **खोण्डा डोरा विद्रोह** : खोण्डा डोरा नामक जनजाति द्वारा कोरा मल्लाया के नेतृत्व में सन 1900 ई. में विशाखापट्टनम के डाबुर क्षेत्र में यह विद्रोह प्रारंभ हुआ। विद्रोह का नेतृत्व कर रहे कोरा मल्लाया ने स्वयं को अलौकिक शक्तिसंपन्न व्यक्ति घोषित किया। अंग्रेजों ने विद्रोहियों के प्रति कड़ा रुख अपनाया तथा सभी विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया गया।

10. **भील विद्रोह** : भीलों का यह विद्रोह 1817–19 ई. एवं पुनः 1913 ई. में पश्चिमी घाट के क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के विरुद्ध प्रारंभ हुआ। विद्रोहियों का उद्देश्य उस क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर भील राज्य की स्थापना करना था। विद्रोहियों का उद्देश्य सफल नहीं हुआ तथा विद्रोह को दबा दिया गया।

11. **भुयान एवं जुआंग विद्रोह** : भुयान, जुआंग एवं कोलों द्वारा यह विद्रोह दो बार किया गया। प्रथम विद्रोह का नेतृत्व रत्ना नायक ने किया, जबकि द्वितीय विद्रोह का नेतृत्व धरणीधर नायक द्वारा किया गया। यह विद्रोह मुख्यतया 1867–68 ई. में प्रथम बार एवं 1891–93 ई. में दूसरी बार उड़ीसा के क्योंझर क्षेत्र में हुआ। 1867 ई. में जब स्थानीय राजा की मृत्यु हो गई तो उत्तराधिकार के प्रश्न पर अंग्रेजों ने हस्तक्षेप प्रारंभ कर दिया। स्थानीय जनजातियों ने अंग्रेजों के हस्तक्षेप को अपनी संप्रभुता पर हमला माना एवं अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आए। यद्यपि विद्रोही सफल नहीं हुए तथा विद्रोह दबा दिया गया।

टिप्पणी

12. **कोया विद्रोह** : कोया एवं कोंडा सोरा जनजातियों द्वारा 1879–80 ई. में एवं पुनः 1886 ई. में यह विद्रोह किया गया। 1879–80 ई. के विद्रोह का नेतृत्व टोम्मा सोरा ने किया। इस विद्रोह के प्रमुख क्षेत्र आंध्र प्रदेश का पूर्वी गोदावरी क्षेत्र एवं उड़ीसा के कुछ क्षेत्र थे। लेकिन विद्रोह का सबसे मुख्य केंद्र चोडवरम का रम्पा क्षेत्र था।

    1886 ई. में यही विद्रोह फिर भड़क उठा। इस बार विद्रोहियों को राजा अन्नतैय्यार ने नेतृत्व प्रदान किया। इस विद्रोह के अनेक कारण थे, जैसे–पुलिस का दमन, महाजनों द्वारा शोषण, नए वन कानून तथा वनों में उनके प्रवेश पर लगी रोक इत्यादि। इस विद्रोह को बल का सहारा लेकर दबा दिया गया।

13. **बस्तर विद्रोह** : 1910 ई. में जगदलपुर क्षेत्र में नए सामंती एवं वन अधिनियमों के विरोध में यह विद्रोह प्रारंभ हुआ। विद्रोहियों का नेतृत्व बस्तर के राजा ने किया।

14. **ताना भगत आंदोलन** : मुण्डा एवं उरांव जनजातियों द्वारा चलाए गए इस आंदोलन का नेतृत्व जतरा भगत एवं बलराम भगत ने किया। उन्होंने कहा कि जनजातियों की रक्षा के लिए ईश्वर का एक अवतार पैदा होगा। यह आंदोलन 1914–15 ई. में छोटानागपुर क्षेत्र में प्रारंभ हुआ था। विद्रोह का मूल कारण बाह्य व्यक्तियों द्वारा स्थानीय क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाना था। यद्यपि यह विद्रोह सफल नहीं हुआ तथा शीघ्र ही उसे दबा दिया गया।

15. **रम्पा विद्रोह** : रम्पा जनजातियों द्वारा अलूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में पहले 1916 ई. एवं पुनः 1923–24 ई. में यह विद्रोह आंध्र प्रदेश के रम्पा क्षेत्र में हुआ। विद्रोह का मूल कारण उस क्षेत्र में अंग्रेजों का हस्तक्षेप था। 1924 ई. में राजू को गिरफ्तार कर लिया गया तथा फांसी की सजा दी गई। राजू की गिरफ्तारी से विद्रोह दुर्बल हो गया तथा धीरे–धीरे समाप्त हो गया।

16. **झारखंड आंदोलन** : यह एक अत्यंत व्यापक जनजातीय आंदोलन था, जो बिहार, उड़ीसा एवं पं. बंगाल के काफी बड़े भू–क्षेत्र में फैला हुआ था। यह आंदोलन 1920 ई. से प्रारंभ हुआ। आंदोलनकारियों की सबसे प्रमुख मांग बिहार, उड़ीसा, प. बंगाल एवं मध्य प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों को मिलाकर एक पृथक् झारखंड नामक राज्य बनाने की थी। इसी परिप्रेक्ष्य में 1937 ई. में आदिवासी महासभा एवं 1949 ई. में क्षेत्रीय झारखंड दल की स्थापना हुई। काफी लंबे समय तक चले इस आंदोलन को वर्ष 2001 में उस समय सफलता प्राप्त हुई, जब सरकार ने पृथक् झारखंड राज्य की स्थापना की।

17. **वन सत्याग्रह** : चेंचू जनजातियों द्वारा 1920 के दशक में आंध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में पहली बार एवं 1930 के दशक में बिहार के पलामू जिले के खारवाड़ों द्वारा दूसरी बार यह सत्याग्रह चलाया गया। इनका प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा वनों का अधिग्रहण एवं नए वन अधिकारों को लागू करना था। अंग्रेजों ने उसे समाप्त कर दिया।

18. **गोंड विद्रोह** : 1940 के दशक में गोंड धर्म के अनुयायियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए यह विद्रोह किया गया।

उत्तर–पूर्व के सीमांत जनजातीय आंदोलन

टिप्पणी

देश के अन्य भागों की भांति उत्तर–पूर्व क्षेत्र की सीमांत जनजातियों ने भी अनेक आंदोलन किए। इन आंदोलनों के कारण एवं प्रकृति लगभग वही थी जो अन्य जनजातीय आंदोलनों की थी। इस क्षेत्र के विभिन्न जनजातीय आंदोलनों का वर्णन निम्नानुसार हैः

1. **अहोम विद्रोह** : 1822–23 ई. में असम के अहोम क्षेत्र में बर्मा युद्ध के उपरांत ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपने वायदे को पूरा न करने के कारण यह विद्रोह हुआ। कंपनी ने बल का प्रयोग कर विद्रोह को कुचल दिया तथा राज्य का विभाजन कर दिया।
2. **खासी विद्रोह** : 1830 के दशक में जयन्तिया एवं गारो पहाड़ी क्षेत्रों में खासी जनजाति द्वारा यह विद्रोह किया गया। विद्रोह का नेतृत्व नुनक्लोव शासक तीरथ सिंह, बार माणिक एवं मुकुंद सिंह ने किया। विद्रोह का कारण अंग्रेजों द्वारा पहाड़ी क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया जाना था। विद्रोह शीघ्र ही दबा दिया गया।
3. **सिंगफो विद्रोह** : 1830 के दशक में असम में यह विद्रोह हुआ। इस विद्रोह का नेतृत्व रनुआ गोसांई ने किया। विद्रोह का कारण इस क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा अधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करना था। अंततः विद्रोह कुचल दिया गया।
4. **कूकी विद्रोह** : 1917–19 ई. में मणिपुर में प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजों द्वारा मजदूरों की भर्ती किए जाने की नीति के विरोध में कूकी जनजाति के लोगों ने यह विद्रोह किया। इस विद्रोह को लंबे समय के संघर्ष के पश्चात् ही दबाया जा सका।
5. **त्रिपुरा में विद्रोह** : इस क्षेत्र में बाहरी लोगों को बसाने एवं सरकार द्वारा गृह कर बढ़ाने के विरोध में यह विद्रोह प्रारंभ हुआ। यह विद्रोह मुख्यतया तीन चरणों में संपन्न हुआ। प्रथम चरण का विद्रोह 1863 ई. में परीक्षित जमातिया के नेतृत्व में हुआ। दूसरा 1942–43 ई. में रत्नमणि के नेतृत्व में हुआ एवं तीसरा विद्रोह 1920 के दशक में भारती सिंह के नेतृत्व में हुआ। हर बार अंगेजों ने बल का सहारा लेकर विद्रोह को कुचल दिया।
6. **जेलियान्गसंग विद्रोह** : 1920 के दशक में मणिपुर में लियांगमेई एवं रंगमेई जनजातियों ने यह विद्रोह किया। विद्रोहियों के रोष का कारण 1917–19 ई. में कूकियों के आक्रमण से अंग्रेजों द्वारा उनकी रक्षा करने में विफल रहना था।
7. **नागा आंदोलन** : यह प्रसिद्ध आंदोलन 1905–31 ई. के मध्य में मणिपुर में नागा जनजाति द्वारा किया गया। विद्रोहियों का मुख्य उद्देश्य उस क्षेत्र विशेष में अंग्रेजों का राज्य समाप्त कर नागा राज्य की स्थापना करना था। इस विद्रोह का नेतृत्व 'जदोनांग' नामक व्यक्ति ने किया। अंग्रेजों में जदोनांग को गिरफ्तार कर फांसी पर लटका दिया। जदोनांग के बाद एक युवा नागा महिला गैडिनलियु ने विद्रोह का नेतृत्व किया। कालांतर में यह आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जुड़ गया। आंदोलनकारियों ने गांधीजी को आदर्श मानकर लंबे समय तक आंदोलन को जारी रखा। आजाद हिंद फौज तथा जवाहरलाल नेहरू ने गैडिनलियु को 'रानी' की उपाधि से विभूषित किया।

नागा आंदोलन विभिन्न जनजातीय आंदोलनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध आंदोलन था। इसने तथा रानी गैडिनलियु ने पूरे देश में प्रसिद्धि पाई।

टिप्पणी

कृषक आंदोलन

अंग्रेजों द्वारा भारतीय कृषि व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए जाने से देश के कृषि जगत में हलचल पैदा हो गई तथा भारतीय कृषक निर्धनता की बेड़ियों से जकड़ गए। उपनिवेशवाद के अधीन भारतीय कृषि की निर्धनता के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे–

- उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियां।
- भारतीय हस्तशिल्प के विनाश से भूमि पर अत्यधिक दबाव।
- नई भूराजस्व व्यवस्था।
- उपनिवेशवादी प्रशासनिक एवं न्यायिक व्यवस्था।

भारतीय कृषक लगान की ऊंची दरों, अवैध करों, भेदभावपूर्ण बेदखली एवं जमींदारी क्षेत्रों में बेगार जैसी बुराइयों से त्रस्त थे। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में सरकार ने स्वयं किसानों पर भारी कर आरोपित कर दिए। इन विभिन्न कठिनाइयों के बोझ से दबे किसान अपनी जीविका के एकमात्र साधन को बचाने के लिए महाजनों से ऋण लेने हेतु विवश हो जाते थे। ये महाजन अत्यंत ऊंची दरों पर ऋण देकर उन्हें ऋण के जाल में फंसा लेते थे। अनेक अवसरों पर तो किसानों को अपनी भूमि एवं पशु भी गिरवी रखने पड़ते थे। कालांतर में जब वे इन्हें वापस नहीं ले पाते थे तो महाजन, मजदूरों द्वारा गिरवी रखी गई संपत्ति को भी जब्त कर लेते थे। इन सभी कारणों से कृषक धीरे–धीरे निर्धन लगानदाता तथा मजदूर बनकर रह गए। बहुत–से कृषकों ने कृषि कार्य छोड़ दिया। कृषि भूमि रिक्त पड़ी रहने लगी तथा कृषि उत्पादन कम होने लगा।

यदा–कदा किसानों ने अपने अत्याचारों का विरोध भी किया परंतु शीघ्र ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनका मुख्य शत्रु उपनिवेशवादी शासन है। कभी–कभी उत्पीड़न की पराकाष्ठा हो जाने पर किसानों ने आपराधिक कार्य भी किए। इन अपराधों में डकैती, लूट एवं हत्याएं जैसी घटनाएं शामिल थीं।

भारत के प्रमुख कृषक आंदोलनों का विवरण निम्नानुसार है–

नील आंदोलन (1859–60)

अंग्रेजों के शासनकाल में किसानों का पहला जुझारू एवं संगठित विद्रोह नील विद्रोह था। 1859–60 ई. में बंगाल में हुए इस विद्रोह ने प्रतिशोध की एक मिसाल ही स्थापित कर दी। यूरोपीय बाजारों की मांग की पूर्ति के लिए नील उत्पादकों ने किसानों को नील की अलाभकर खेती के लिए बाध्य किया। जिस उपजाऊ जमीन पर चावल की अच्छी खेती हो सकती थी, उस पर किसानों की निरक्षरता का लाभ उठाकर झूठे करार द्वारा नील की खेती करवाई जाती थी। करार के वक्त मामूली सी रकम अग्रिम राशि के रूप में दी जाती थी और धोखे से उसकी कीमत बाजार भाव से कम आंकी जाती थी और यदि किसान अग्रिम राशि वापस करके शोषण से मुक्ति पाने का प्रयास भी करता था तो ऐसा करने नहीं दिया जाता था।

कालांतर में सत्ता के संरक्षण में पल रहे नील उत्पादकों ने तो करार लिखवाना भी छोड़ दिया और लठैतों को पालकर उनके माध्यम से बलात् नील की खेती शुरू कर दी। वे किसानों का अपहरण, अवैध बेदखली, लाठियों से पीटना, उनकी महिलाओं एवं बच्चों को पीटना, उनके पशुओं को जब्त कर लेना तथा उनके घरों एवं फसलों को जलाने जैसे क्रूर हथकंडे अपनाने लगे।

टिप्पणी

नील आंदोलन की शुरुआत 1859 के मध्य बड़े नाटकीय ढंग से हुई। एक सरकारी आदेश को समझने में भूल कर कलारोवा के डिप्टी मैजिस्ट्रेट ने पुलिस विभाग को यह सुनिश्चित करने का आदेश दिया, जिससे किसान अपनी इच्छानुसार भूमि पर उत्पादन कर सकें। बस शीघ्र ही किसानों ने नील उत्पादन के खिलाफ अर्जियां देनी शुरू कर दीं। पर जब उन पर क्रियान्वयन नहीं हुआ तो दिगंबर विश्वास एवं विष्णु विश्वास के नेतृत्व में नादिया जिले के गोविंदपुर गांव के किसानों ने विद्रोह कर दिया। जब सरकार ने बलपूर्वक युक्तियां अपनाने का प्रयास किया तो किसान भी हिंसा पर उतर आए। इस घटना से प्रेरित होकर आसपास के क्षेत्रों के किसानों ने भी उत्पादकों के खिलाफ मुकदमे दायर करना शुरू कर दिए तथा मुकदमे लड़ने के लिए धन एकत्र करना प्रारंभ कर दिया। बदले में किसानों ने भी नील उत्पादकों की सेवा में लगे लोगों का सामाजिक बहिष्कार प्रारंभ कर दिया। इससे किसान शक्तिशाली होते गए तथा नील उत्पादक अकेले पड़ते गए।

बंगाल के बुद्धिजीवियों ने इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने किसानों के समर्थन में समाचार–पत्रों में लेख लिखे, जनसभाओं का आयोजन किया तथा उनकी मांगों के संबंध में सरकार को ज्ञापन सौंपे। हरीशचंद्र मुखर्जी के पत्र 'हिंदू पैट्रियॉट' ने किसानों का पूर्ण समर्थन किया। दीनबंधु मित्र ने 'नील दर्पण' द्वारा गरीब किसानों की दयनीय स्थिति का मार्मिक प्रस्तुतीकरण किया।

स्थिति को देखते हुए सरकार ने नील उत्पादन की समस्याओं पर सुझाव देने के लिए नील आयोग का गठन किया। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने एक अधिसूचना जारी की, जिसमें किसानों को यह आश्वासन दिया गया कि उन्हें नील उत्पादन के लिए विवश नहीं किया जाएगा तथा सभी संबंधित विवादों को वैधानिक तरीकों से हल किया जाएगा। कोई चारा न देखकर नील उत्पादकों ने बंगाल से अपने कारखाने बंद करने प्रारंभ कर दिए तथा 1860 ई. तक यह विवाद समाप्त हो गया।

पाबना विद्रोह (1873–76)

बंगाल में 1870 ई. और 1880 ई. के दशक में जमींदारों द्वारा किसानों पर कानूनी सीमा से बहुत अधिक करारोपण तथा उनकी मनमानी कारगुजारियां बड़े पैमाने पर हुईं। इन कारगुजारियों के खिलाफ बंगाल में 1873–76 ई. के बीच एक सफल किसान आंदोलन हुआ, जिसे पाबना विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

पाबना जिले के यूसुफशाही परगने में 1873 ई. में जमींदारों की मनमानी के प्रतिकार के लिए 'किसान–संघ' की स्थापना की गई। इस संघ के अधीन किसान संगठित हुए और उन्होंने 'लगान–हड़ताल' कर दी और बढ़ी हुई दर पर लगान देने से इनकार कर दिया। संघ ने जमींदारों के खिलाफ मुकदमे दायर किए तथा इसके लिए कोष भी स्थापित किए गए। शीघ्र ही इस प्रकार के संघ पाबना के अन्य भागों एवं पूर्वी बंगाल के दूसरे जिलों में भी स्थापित हो गए और जमींदारों के खिलाफ तेजी से मुकदमे दायर किए जाने लगे।

किसानों की यह लड़ाई मुख्यतया कानूनी मोर्चे पर ही लड़ी गई थी। दरअसल, तब तक किसान अपने कानूनी अधिकारों के प्रति काफी जागरूक हो चुके थे और कानूनी लड़ाई लड़ना सीख गए थे। एकता, संगठन और शांतिपूर्ण संघर्ष के द्वारा अधिकारों की बहाली का तरीका उन्हें ज्ञात हो चुका था। इतने बड़े पैमाने पर चले अहिंसक आंदोलन

के दौरान हिंसक वारदातें नाममात्र की हुईं। प्रायः जब अदालती फैसलों के लागू करने में बाधा पहुंचाई गई तभी किसानों ने लाठी आदि का सहारा लिया।

टिप्पणी

यद्यपि कृषक विद्रोह का यह चरण 1885 तक चला, जब बंगाल काश्तकारी कानून बना, तथापि अधिकांश विवाद इससे बहुत पहले ही निपटा लिए गए थे और किसानों को उनकी जमीनें वापस मिल चुकीं थीं। कई विवाद सरकारी दबाव और बीच–बचाव से हल कराए गए और कई जमींदारों ने तो स्वयं ही डर के कारण समझौते की पेशकश की। इन जमींदारों को किसानों की संगठित शक्ति से भय लगने लगा था, साथ ही मुकदमों के चक्कर में फंसने में वे अपनी हानि देख रहे थे।

जिन मामलों में हिंसक वारदातें हुईं, वहां सरकार ने जमींदारों का पक्ष लिया और किसानों की गिरफ्तारियां बड़े पैमाने पर की गईं। परंतु, जहां आंदोलन शांतिपूर्ण रहा तथा किसानों ने सिर्फ कानूनी मोर्चे पर लड़ाई लड़ी वहां सरकार ने तटस्थ रुख अपनाया। यह आंदोलन न तो जमींदारी प्रथा के खिलाफ था और न ही किसी भी स्तर पर यह उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति से जुड़ा था।

इस आंदोलन में भी बंगाल के बुद्धिजीवियों ने आंदोलनकारियों का भरपूर समर्थन किया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी, आनंद मोहन बोस और द्वारकानाथ गांगुली ने इंडियन एसोसिएशन के मंच से आंदोलनकारियों की मांगों का समर्थन किया। बंकिमचंद्र चटर्जी ने भी आंदोलन का समर्थन किया। राष्ट्रवादी अखबारों ने भी करों की वृद्धि को अनुचित बताते हुए स्थायी रूप से लगान निर्धारण का सुझाव दिया। इस आंदोलन में भी हिंदू तथा मुसलमानों ने मिलकर संघर्ष किया। यद्यपि अधिकांश किसान मुसलमान थे और अधिकांश जमींदार हिंदू।

दक्कन विद्रोह

पश्चिमी भारत के दक्कन क्षेत्र में होने वाले विभिन्न कृषक विद्रोहों का मुख्य कारण रैयतवाड़ी बंदोबस्त के अंतर्गत किसानों पर आरोपित किए गए भारी कर थे। उन क्षेत्रों में भी किसान करों के भारी बोझ से दबे हुए थे तथा साहूकारों के कुचक्र में फंसने को विवश थे। ये महाजन अधिकांशतया बाहरी लोग थे, जिनमें मारवाड़ी या गुजराती प्रमुख थे। 1864 ई. में अमेरिकी गृहयुद्ध के समाप्त हो जाने पर कपास की कीमतों में भारी गिरावट आ गई, जिससे महाराष्ट्र के किसान बुरी तरह प्रभावित हुए। 1867 ई. में सरकार द्वारा भू–राजस्व की दरों में 50 प्रतिशत वृद्धि का निर्णय तथा लगातार फसलों की बर्बादी से कृषकों की समस्याएं चरम स्थिति में पहुंच गईं।

महाजनों, सूदखोरों एवं किसानों के मध्य धीरे–धीरे तनाव बढ़ने लगा, जिसके फलस्वरूप 1874 ई. में किसानों ने बाह्य महाजनों के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ कर दिया। इस आंदोलन के तहत किसानों ने महाजनों की दुकानों से खरीदारी करने तथा उनके खेतों में मजदूरी करने से इनकार कर दिया। नाइयों, धोबियों तथा चर्मकारों ने भी महाजनों की किसी प्रकार की सेवा करने से इनकार कर दिया। किसानों का यह सामाजिक बहिष्कार शीघ्र ही पूना, अहमदनगर, शोलापुर एवं सतारा के गांवों में भी फैल गया। लेकिन यह सामाजिक बहिष्कार शीघ्र ही कृषि दंगों में परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप किसानों ने महाजनों एवं सूदखोरों के घरों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर हमले किए। उनके ऋण संबंधी कागजात तथा करारनामे लूट लिए गए तथा सार्वजनिक तौर पर उनको आग लगा दी गई।

सरकार ने आंदोलनकारियों के प्रति दमनकारी नीतियां अपनाईं तथा आंदोलन को कुचल दिया। 1879 ई. में दक्कन कृषक राहत अधिनियम बनने से आंदोलन पूर्णतया समाप्त हो गया।

टिप्पणी

इस आंदोलन के समय भी महाराष्ट्र के आधुनिक विचारों से प्रभावित बुद्धिजीवी वर्ग ने सराहनीय भूमिका निभाई तथा तर्कपूर्ण ढंग से किसानों की मांगों को सरकार के सम्मुख उठाया।

1857 ई. के पश्चात् किसान आंदोलनों का परिवर्तित चरित्र

- किसान आंदोलनों में किसान मुख्य शक्ति बनकर उभरे तथा अब उन्होंने अपनी मांगों के लिए सीधे लड़ना प्रारंभ कर दिया।
- उनकी मांगें मुख्यतया आर्थिक समस्याओं से संबद्ध थीं।
- किसानों के मुख्य दुश्मन विदेशी बागान मालिक, देसी जमींदार, महाजन एवं सूदखोर थे।
- इनके आंदोलन विशिष्ट तथा सीमित उद्देश्यों एवं उनकी व्यक्तिगत समस्याओं से संबद्ध होते थे।
- इन आंदोलनों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई गई।
- इन आंदोलनों में निरंतरता एवं दीर्घकालीन संगठन का अभाव था।
- इन आंदोलनों का प्रसार क्षेत्र सीमित था।
- इन आंदोलनों का उद्देश्य अधीनस्थ व्यवस्था को समाप्त करना नहीं था अपितु ये किसानों की तात्कालिक समस्याओं से संबद्ध थे।
- किसान अब अपने विधिक अधिकारों से परिचित हो गए थे तथा वे कानूनी तरीके से संघर्ष करने के पक्षधर थे।

दुर्बलताएं

- इन आंदोलनकारियों में उपनिवेशवाद के चरित्र को समझने का अभाव था।
- 19वीं शताब्दी के किसानों में नई विचारधारा का अभाव था तथा उन्होंने अपने आंदोलनों में नए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम सम्मिलित नहीं किए।
- इन संघर्षों का स्वरूप यद्यपि उग्रवादी था किंतु ये परंपरागत ढांचों पर ही अवलंबित थे।
- इनमें सकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव था।

बीसवीं शताब्दी के कृषक आंदोलन

बीसवीं शताब्दी के कृषक विद्रोह पिछली शताब्दी के विद्रोहों से अधिक व्यापक, प्रभावी, संगठित व सफल थे। इन परिवर्तनों के सूत्र, कृषक आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अन्योन्याश्रित संबंधों में थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने अपना संघर्ष तीव्र करने के लिए सामाजिक आधार बढ़ाने की कोशिश के क्रम में आंदोलनों से जुड़ने के लाभों को देखकर तन–मन–धन से उसे समर्थन देना प्रारंभ कर दिया।

टिप्पणी

किसान सभा आंदोलन

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अवध के तालुकदारों को उनकी भूमि लौटा दी गई। इससे प्रांतों में कृषि व्यवस्था पर तालुकदारों या बड़े जमींदारों का नियंत्रण और बढ़ गया। कृषकों का एक बड़ा वर्ग इन तालुकदारों या जमींदारों के मनमाने अत्याचारों से पीड़ित था, जिनमें लगान की ऊंची दरें, भूमि से बेदखली, अवैध कर तथा नजराना इत्यादि सम्मिलित थे। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत अनाज तथा अन्य आवश्यक चीजों के दाम बढ़ गए। इससे उत्तर प्रदेश के किसानों की दशा अत्यंत दयनीय हो गई।

मुख्यतया होमरूल लीग की गतिविधियों के कारण उत्तर प्रदेश में किसान सभाओं का गठन किया गया। फरवरी 1918 में गौरी शंकर मिश्र तथा इंद्रनारायण द्विवेदी ने 'उत्तर प्रदेश किसान सभा' का गठन किया। इस कार्य में मदन मोहन मालवीय ने इन्हें सराहनीय योगदान प्रदान किया। 1919 ई. के मध्य तक इसकी लगभग 500 शाखाएं गठित की जा चुकी थीं। किसान सभाओं के गठन से संबद्ध प्रमुख नेताओं में झींगुरी सिंह, दुर्गापाल सिंह एवं बाबा रामचंद्र के नाम भी सम्मिलित हैं। जून 1920 में बाबा रामचंद्र ने जवाहरलाल नेहरू से इन गांवों का दौरा करने का आग्रह किया। तत्पश्चात् नेहरू ने इस आग्रह को स्वीकार करते हुए इन गांवों का दौरा किया तथा गांववासियों से गहन संपर्क स्थापित किया।

राष्ट्रवादी नेताओं में मतभेद के कारण अक्टूबर 1920 में 'अवध किसान सभा' का गठन किया गया। अवध किसान सभा ने किसानों से बेदखल जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। सभा ने इन नियमों का पालन न करने वाले किसानों का सामाजिक बहिष्कार करने तथा अपने विवादों को पंचायत के माध्यम से हल करने का आग्रह किसानों ने किया।

जनवरी 1921 में कुछ क्षेत्रों में स्थानीय नेताओं की गलतफहमी एवं आक्रोश के कारण किसान सभा आंदोलन ने हिंसक रूप ग्रहण कर लिया। इस दौरान किसानों ने बाजारों, घरों एवं अनाज की दुकानों पर धावा बोलकर उन्हें लूटा तथा पुलिस के साथ उनकी हिंसक झड़पें हुईं। रायबरेली, फैजाबाद एवं सुल्तानपुर इन गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे।

धीरे–धीरे सरकारी दमन के कारण आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। इसी बीच सरकार ने 'अवध मालगुजारी रेंट संशोधन अधिनियम' पारित कर दिया। इसने भी आंदोलन को कमजोर किया। मार्च 1921 ई. तक आंदोलन समाप्त हो गया।

एका आंदोलन

1921 के अंत में उत्तर प्रदेश के उत्तरी जिलों–हरदोई, बहराइच तथा सीतापुर में किसान पुनः संगठित होकर आंदोलन पर उतर आए। इस बार आंदोलन से निम्न मुद्दे संबद्ध थेः

1. लगान की उच्च दरें : लगान की दरें लगभग 50 प्रतिशत से भी अधिक थीं।
2. राजस्व वसूली के कार्य में जमींदारों द्वारा अपनाई गईं दमनकारी नीतियां।
3. बेगार की प्रथा।

इस एका या एकता आंदोलन में प्रतीकात्मक धार्मिक रीति–रिवाजों का पालन किया जाता था तथा एकत्र किसानों को शपथ दिलाई जाती थी कि वेः

- केवल उचित लगान ही अदा करेंगे तथा लगान अदायगी में समय सीमा का पालन करेंगे,

टिप्पणी

- यदि उन्हें भूमि से बेदखल किया जाएगा तो वे भूमि नहीं छोड़ेंगे,
- बेगार करने से इंकार कर देंगे,
- अपराधियों से संबंध नहीं रखेंगे, तथा
- पंचायत के निर्णय स्वीकार करेंगे।

एका आंदोलन का मुख्य नेतृत्व समाज के निचले तबके के किसानों, मदारी, पासी एवं अन्य पिछड़ी जातियों के किसानों तथा छोटे जमींदारों ने किया।

मार्च 1922 के अंत तक सरकार ने इस आंदोलन को दमन का सहारा लेकर कुचल दिया।

मोपला विद्रोह

अगस्त 1921 में अवध जैसे कारणों से ही प्रेरित होकर केरल के मालाबार तट पर स्थानीय मोपला किसानों ने जब जबर्दस्त विद्रोह किया। मोपला, केरल के मालाबार तट के मुस्लिम किसान थे, जहां जमींदारी के अधिकार मुख्यतया हिंदुओं के हाथों में थे। 19वीं शताब्दी में भी जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित होकर मोपलाओं ने कई विद्रोह किए थे। मोपलाओं के विद्रोह का प्रमुख कारण लगान की उच्च दरें, नजराना एवं अन्य दमनकारी तौर–तरीके थे। किंतु इस बार के आंदोलन की विशेषता थी, इसका राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ संबंध स्थापित होना।

खिलाफत आंदोलन ने किसानों की मांग का समर्थन किया बदले में किसानों ने आंदोलन में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। यहां भी अवध के समान किसानों की बैठक और खिलाफत की बैठक में फर्क कर पाना कठिन था। गांधीजी, शौकत अली, मौलाना आजाद आदि राष्ट्रीय नेताओं ने इन क्षेत्रों का दौरा कर इनमें और भी सक्रियता ला दी। अंत में सरकार ने फरवरी 1921 में निषेधाज्ञा लागू कर खिलाफत के साथ किसानों की सभाओं पर रोक लगा दी और इसके सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय मोपला नेताओं के हाथों में आ गया और आंदोलन ने हिंसक रूप अपना लिया। हिंसक चरण की शुरुआत 20 अगस्त, 1921 को खिलाफत के एक प्रमुख नेता मुदलियार की गिरफ्तारी के लिए सेना के मस्जिद में प्रवेश करने के मुद्दे को लेकर हुई। इसे मोपलाओं ने अपने धर्म का अपमान समझा।

मोपला विद्रोह के हिंसक रूप लेने के साथ ही राष्ट्रवादी नेता आंदोलन से अलग हो गए। आंदोलन के सांप्रदायिक रूप ले लेने से वह और भी अलग–थलग पड़ गया। दिसंबर 1921 तक सरकार ने पूरी तरह आंदोलन का दमन कर दिया। इससे मोपलाओं का मनोबल पूरी तरह टूट गया तथा आजादी की पूरी लड़ाई में वे फिर कभी शामिल नहीं हुए, जबकि केरल में वामपंथी नेतृत्व में बड़े पैमाने पर किसान आंदोलन भी चलाया गया।

बारदोली सत्याग्रह

भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर गांधीजी के पदार्पण के पश्चात् गुजरात के सूरत जिले के बारदोली तालुके में राजनीतिक गतिविधियों में तेजी से सक्रियता आई। यहां परिस्थितियां उस समय तनावपूर्ण हो गईं, जब जनवरी 1926 में स्थानीय प्रशासन ने भू–राजस्व की दरों में 30 प्रतिशत वृद्धि की घोषणा की। यहां के कांग्रेसी नेताओं के नेतृत्व में स्थानीय लोगों ने इस वृद्धि का तीव्र विरोध किया। परिस्थिति की गंभीरता को

टिप्पणी

देखते हुए सरकार ने समस्या के समाधान हेतु 'बारदोली जांच आयोग' का गठन किया। आयोग ने संस्तुति दी कि भू–राजस्व की दरों में की गई वृद्धि अन्यायपूर्ण एवं अनुचित है। फरवरी 1926 में वल्लभभाई पटेल को आंदोलन की महिलाओं ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया।

इस काल में किसान आंदोलनों के अभ्युदय के कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन ने युवा एवं जुझारू राजनीतिक कार्यकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी पैदा की। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन में ठहराव आया तब इन कार्यकर्ताओं ने अपनी राजनीतिक ऊर्जा, किसान एवं मजदूर आंदोलनों में लगा दी। फिर, 1937 के चुनावों में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। 1937–39 के बीच 28 महीनों का कांग्रेसी शासनकाल किसान आंदोलनों का उत्कर्ष काल रहा। एक तो इस काल में आंदोलनों के लिए नागरिक स्वतंत्रताएं अधिक मिलीं; दूसरे, कांग्रेसी सरकारों ने कृषि–कानूनों में सुधार के लिए कुछ ठोस कदम भी उठाए।

अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा

इस सभा की स्थापना अप्रैल 1936 में लखनऊ में की गई। स्वामी सहजानंद सरस्वती इस सभा के अध्यक्ष तथा एन.जी. रंगा सचिव चुने गए। इस सभा ने किसान घोषणा–पत्र जारी किया तथा इंदुलाल याज्ञनिक के निर्देशन में एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का सम्मेलन फैलपुर में आयोजित किया गया। 1937 के प्रांतीय चुनावों हेतु जारी किए गए कांग्रेसी घोषणा–पत्र के अनेक प्रावधान, अखिल भारतीय किसान सभा के एजेंडे से प्रभावित थे।

कांग्रेसी सरकारों के अंतर्गत

1937–39 के मध्य किसान आंदोलनों की आवृत्ति बहुत बढ़ गई। कांग्रेसी सरकारों के सहयोगात्मक रवैये के कारण किसानों ने तेजी से अपनी मांगें उठानी प्रारंभ कर दीं। इस अवधि में जनसभाएं, प्रदर्शन, धरने आदि आयोजित किए गए तथा गांवों में भी किसान आंदोलनों का प्रसार किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वामपंथियों की विपरीत धारा की राजनीति के कारण कृषक आंदोलन में कुछ ठहराव सा आ गया। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान किसान सभा के साम्यवादियों और गैर–साम्यवादियों के बीच मतभेद बहुत गहरे हो गए। इसके परिणामस्वरूप कई प्रमुख नेता, यथा–सहजानंद, इंदुलाल याज्ञनिक तथा एन.जी. रंगा सभा से अलग हो गए तथा 1943 ई. में किसान सभा का विभाजन हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात्

तिभागा आंदोलन

यह आंदोलन बंगाल के सबसे प्रमुख कृषक आंदोलनों में से एक था। 1940 के लगान आयोग द्वारा की गई सिफारिश के अनुसार, इस आंदोलन में मांग की गई कि फसल का दो–तिहाई हिस्सा वर्गदारों (किसानों) को दिया जाए। यह आंदोलन बटाईदारों द्वारा जोतदारों के विरुद्ध चलाया गया था। इस आंदोलन में सबसे प्रमुख भूमिका 'बंगाल किसान सभा' की थी। इस सभा के नेतृत्व में सभाओं एवं प्रदर्शनों का आयोजन किया गया तथा 'तिभागा चाई' (हमें दो–तिहाई भाग चाहिए) एवं 'इंकलाब जिंदाबाद' जैसे नारे लगाए गए। शीघ्र ही तिभागा आंदोलन जलपाईगुड़ी, मिदनापुर एवं रंगपुर जिलों में भी

फैल गया। इस आंदोलन में सभी स्थानों पर बटाईदारों ने एक जैसी पद्धति अपनाई। वे लाठी लेकर प्रदर्शन करते थे तथा नारे लगाते थे एवं उपज को जोतदार के घर ले जाने की बजाय अपने घर ले जाते थे। वर्गदारों ने आंदोलनकारी किसानों को भरपूर समर्थन दिया। बंगाल की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों–मुजफ्फर अहमद, सुनील सेन तथा मोनी सिंह ने इस आंदोलन में मुख्य भूमिका निभाई।

टिप्पणी

स्वाधीनता के पश्चात् भी यह आंदोलन उस समय तक जारी रहा, जब तक 1949 में 'वर्गदार अधिनियम' नहीं बन गया।

अपनी प्रगति जांचिए

11. भारत में जनजातीय आंदोलन मुख्यतया किस शताब्दी में प्रारंभ हुए?

(क) 17वीं (ख) 18वीं

(ग) 19वीं (घ) 20वीं

12. 'अवध किसान सभा' का गठन कब किया गया था?

(क) 1920 (ख) 1922

(ग) 1932 (घ) 1942

4.8 सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन

आधुनिक भारत के इतिहास में सांप्रदायिक समस्या का अर्थ है विभाजन से पूर्व हिंदू समुदाय का मुस्लिम समुदाय के साथ संबंधों का विश्लेषण। भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या का वास्तविक रूप सांप्रदायिक है और इसे ब्रिटिश राज ने और अधिक जटिल बना दिया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत के दो प्रमुख समुदायों हिंदू और मुस्लिम में सांप्रदायिक संघर्ष के उदाहरण नहीं मिलते। इसका अर्थ यह नहीं है कि मुस्लिम शासकों के विरुद्ध कोई विरोध नहीं हुआ। सामंती विद्रोह की घटनाओं से मध्यकालीन इतिहास भरा पड़ा है परंतु मुस्लिम सत्ता धारियों के विरुद्ध इन चुनौतियों का आधार सांप्रदायिक नहीं था। विद्रोहों का नेतृत्व करने वाले हिंदू और मुस्लिम दोनों ही थे तथा उनके नेतृत्व में युद्ध करने वाले सैनिक भी दोनों ही समुदायों से थे। किसी विरोधी धर्म का अनुयायी होना उनकी स्वामिभक्ति में बाधक नहीं होता था। भारत की सांप्रदायिकता ब्रिटिश राज की देन है। इन तथ्यों की पुष्टीकरण स्वयं साइमन कमीशन की रिपोर्ट (1930) में की गई है। इस रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया था कि ब्रिटिश प्रांतों की तुलना में भारतीय रियासतों की सीमा क्षेत्रों में सांप्रदायिक वैमनस्य नहीं के बराबर है। सांप्रदायिक समस्या उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बिंदु बन गई। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सांप्रदायिकता की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, और यह भूमिका ही इसके महत्व की परिचायक है। यही सांप्रदायिकता अंततः देश के विभाजन का कारण बनी।

कुछ बुद्धिजीवी सांप्रदायिक समस्या को अतीत की देन मानते हैं किंतु सांप्रदायिकता प्राचीन और मध्ययुगीन विचारधारा प्रयोग जरूर करती है तथा उन पर आधारित भी होती

टिप्पणी

है, किंतु मूलतः यह आधुनिक विचारधारा तथा राजनीतिक प्रवृत्ति है, जो कि आधुनिक सामाजिक समूहों, वर्गों और ताकतों की सामाजिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती है और उनकी राजनीतिक जरूरतों को पूरा करती है। राष्ट्रवाद तथा समाजवाद जैसी अन्य दृष्टियों की तरह ही राजनीति तथा विचारधारा के रूप में सांप्रदायिकता का उदय तभी संभव हुआ जब जनता की भागीदारी, जनजागरण और जनमत के आधार पर चलने वाली राजनीति अपने पांव जमा चुकी थी। यद्यपि भारत में सांप्रदायिकता का विकास अनिवार्य नहीं था, ना ही यह सिर्फ सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञों या प्रशासकों के षड़यंत्रों का नतीजा थी। इसकी जड़ें सामाजिक–राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में थीं। पूरी सामाजिक स्थिति ही ऐसी थी, जो इसके लिए जमीन तैयार कर रही थी और उसके अभाव में यह लंबे समय तक टिक ही नहीं सकती थी। अब प्रश्न यह उठता है कि 20वीं सदी में सांप्रदायिकता का विकास किन कारणों से हुआ। तत्कालीन परिस्थिति में कौन से पहलू इसमें मददगार साबित हुए, और किन वर्गों तथा राजनीतिक ताकतों का हित साधन कर रही थी।

1857 का विद्रोह और मुस्लिम समुदाय

1857 के विद्रोह के बाद मुस्लिम समुदाय के प्रति ब्रिटिश प्रतिक्रिया का परिचय मिलता है। ब्रिटिश अधिकारियों ने इस विद्रोह के लिए मुसलमानों को जिम्मेदार माना। इस मत की पुष्टि करने में कई तथ्य सहायक थे। 11 मई को बहादुरशाह जफर को हिंदुस्तान का बादशाह घोषित करना, अवध के विद्रोह का नेतृत्व बेगम हजरत महल और उसके पुत्र विजरिस कादिर के हाथों में होना, रुहेलखंड क्षेत्र में खान बहादुर खान का विद्रोह आदि। इसी वजह से विद्रोह के बाद हिंदुओं की तुलना में मुसलमान ब्रिटिश दंडनीति के अधिक भुक्तभोगी बने। लॉर्ड पामर्स्टन द्वारा दिया गया यह वक्तव्य कि मुस्लिम संस्कृति से संबंधित हर भवन को, चाहे कला की दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य क्यों न हो, मिट्टी में मिला दिया जाए– ब्रिटिश मनोभावों का पर्याप्त परिचायक है। लेकिन यह ब्रिटिश दृष्टिकोण का केवल एक पक्ष है। विचारशील ब्रिटिश अधिकारियों का एक वर्ग, जिसमें सर जॉर्ज कैंबेल तथा लार्ड केनिंग के नाम सम्मलित हैं, किसी एक समुदाय को विद्रोह के लिए जिम्मेदार नहीं मानते थे। कैंबेल के अनुसार भारतीय समाज का प्रभुतासंपन्न वर्ग, जिसका ब्रिटिश शासन के अंतर्गत अहित हुआ था, विद्रोह के लिए जिम्मेदार था। लॉर्ड केनिंग ने लेफ्टीनेंट गवर्नर को लिखे एक पत्र में इस भूल से बचने की चेतावनी दी जिसमें विद्रोह के विरुद्ध शासन द्वारा की गई कार्रवाईयों के फलस्वरूप समाज का कोई वर्ग, विशेषतः मुस्लिम वर्ग, अपनी अवहेलना अनुभव करे। वास्तव में 1857 का विद्रोह हिंदू–मुस्लिम एकता का प्रतीक है। इस विद्रोह के बाद ही अंग्रेजों को इस एकता का अहसास हुआ तथा उन्होंने "फूट डालो राज करो" की नीति अपनाई। विद्रोह के असफल होने के कारण उत्तर–पश्चिम प्रांत के मुसलमानों के धन और जन की अपेक्षा राजनीतिक गौरव को अधिक हानि हुई।

उपनिवेशवाद की देन

भारत में सांप्रदायिकता का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की जरूरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस नई राजनीति का जन्म हुआ, उसके कारण यह सब आवश्यक हो गया। आधुनिक राजनीति का आधार ही था अधिक से अधिक भारतीयों में राजनीतिक चेतना का विकास

टिप्पणी

करना तथा उसे सक्रिय करना। राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक–भाषाई विकास तथा वर्ग संघर्ष की आधुनिक धारणाओं के प्रसार एवं प्रक्रिया का अनिवार्य नतीजा थी। हालांकि जहां भी इन धारणाओं का विकास धीमी गति से या आंशिक रूप से नहीं हुआ, वहां नए यथार्थ को अपनाने, संपर्क के नए दायरे बनाने और नई पहचानों और विचारधारा का विकास करने के लिए लोगों ने जाति, नस्ल, इलाके, अंचल, धर्म, संप्रदाय और पेशे जैसे आत्म–पहचान के पुराने, पूर्व आधुनिक तरीकों के प्रति रुझान प्रकट किया। इस तरह की परिस्थितियों में दुनिया भर में ऐसी घटनाएं हुईं, किंतु भारत के कुछ हिस्सों के कुछ वर्गों में धार्मिक चेतना सांप्रदायिक चेतना में बदल गई।

आर्थिक दबाव

सांप्रदायिकता के विकास में उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था तथा इसके कारण उत्पन्न पिछड़ापन भी एक कारण था। औपनिवेशिक शोषण के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में जो ठहराव आया तथा भारतीय जनता, खास तौर से मध्यम वर्ग, के जीवन पर इसका जो असर पड़ा, उसके कारण ऐसी स्थितियां पैदा हुईं, जो भारतीय समाज के विभाजन और कलह तथा उसके रूपांतरण में सहायक थीं। राष्ट्रवादी तथा अन्य जनांदोलन उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष के माध्यम से जन–समस्याओं के समाधान के लिए लंबी लड़ाई लड़ रहे थे। हालांकि जिनमें व्यापक सामाजिक दृष्टि तथा राजनीतिक समझदारी नहीं थी, वे अपने संकीर्ण तात्कालिक हितों और व्यक्तिगत तथा सामुदायिक समस्याओं के शीघ्र समाधान के लिए संप्रदाय, जाति या प्रांत के आधार पर नौकरियों या नगरपालिकाओं तथा विधायिकाओं में आरक्षण पाने के लिए संघर्ष करने लगे, जिसने सांप्रदायिक तथा जातीय विभाजन को बढ़ावा दिया।

विकृत वर्ग संघर्ष के रूप में अभिव्यक्ति

असंतोष या हितों का संघर्ष वास्तविक था और धर्म या संप्रदाय से उसका कुछ भी लेना–देना नहीं था, लेकिन राजनीतिक जागरूकता के अभाव में उन्हें सांप्रदायिक संघर्षों के रूप में विकृत अभिव्यक्ति मिली। वास्तविक समस्याओं को सांप्रदायिक समस्याओं के रूप में पेश करने के पीछे सामाजिक विकास की यह विशेषता भी थी कि देश के कई हिस्सों में धार्मिक विभाजन, सामाजिक तथा वर्गीय विभाजन के साथ–साथ चल रहे थे। इसमें ज्यादातर जगहों पर शोषक वर्ग, जमींदार, साहूकार सवर्ण हिंदू थे, जबकि गरीब और शोषितों में मुसलमान और नीची माने जाने वाली जातियों के हिंदू थे। यही कारण था कि जब मुसलमान सांप्रदायिकतावादी यह प्रचार करते थे कि हिंदू मुसलमानों का शोषण कर रहे हैं या हिंदू सांप्रदायिकतावादी यह प्रचार करते थे कि मुसलमानों के कारण हिंदुओं की संपत्ति या आर्थिक हित खतरे में हैं तो पूरी तरह गलत होते हुए भी यह प्रचार काम कर जाता था। एक और स्तर पर सांप्रदायिक सत्ता, विशेषाधिकार और आर्थिक लाभ के लिए दो उच्च वर्गों का संघर्ष भी थी। ये वर्ग अलग–अलग धर्मों को मानने वाले थे और इन्होंने अपने सामूहिक संघर्ष में अपने सह–धर्मावलंबियों को जोड़ने के लिए सांप्रदायिकता का प्रयोग किया। पश्चिमी बंगाल और पंजाब में यही हुआ।

ब्रिटिश नीति

भारत में ब्रिटिश राज की 'फूट डालो राज करो' की नीति भी सांप्रदायिकता के उदय तथा विकास में सहायक रही। उसने सांप्रदायिकता का इस्तेमाल राष्ट्रीय आंदोलन को

रोकने, उसे कमजोर करने तथा भारतीय जनता को राष्ट्र के रूप में उभरने न देने के लिए किया। इसके लिए शासकों ने बहाना यह बनाया कि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए सांप्रदायिक विभाजन जरूरी है।

टिप्पणी

इतिहास का सांप्रदायिक प्रयोग

भारतीय इतिहास, खास तौर से प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास की सांप्रदायिक तथा अवैज्ञानिक, विकृत व्याख्या सांप्रदायिक चेतना के फैलाव का प्रमुख कारण बनी। स्कूलों–कॉलेजों में भारतीय इतिहास बुनियादी रूप से सांप्रदायिक दृष्टि से ही पढ़ाया जा रहा था और इससे सांप्रदायिकता के उदय और विकास में सहायता मिली। आधुनिक स्कूल व्यवस्था की शुरुआत से भी पहले साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा और बाद में अन्य लेखकों द्वारा इतिहास की विकृत व्याख्याएं पेश की गईं। इसका असर इतना गहरा था कि कुछ कट्टर राष्ट्रवादियों ने भी, भले ही काफी अचेतन स्तर पर, इनमें से कुछ व्याख्याओं को स्वीकार कर लिया। उस समय के बहुत–से नेताओं को इसका अहसास भी था। जैसे कि गांधी जी ने कहा था– ''हमारे देश में सांप्रदायिक सौहार्द तब तक स्थायी रूप से नहीं लाया जा सकता, जब तक हमारे स्कूलों–कॉलेजों में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के जरिए इतिहास की बेहद विकृत व्याख्याएं पढ़ाई जाती रहेंगी।'' लेकिन इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्याएं केवल स्कूलों में ही नहीं पढ़ाई जा रही थीं, कविताओं, नाटकों, ऐतिहासिक उपन्यासों, कहानियों और समाचार पत्रों, सार्वजनिक व्याख्यानों, पारिवारिक और निजी चर्चाओं के माध्यम से भी यह जहर फैल रहा था। इतिहास को सांप्रदायिक रंग देने की शुरुआत सबसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स ने प्राचीन भारतीय इतिहास को हिंदू युग तथा मध्य काल को मुस्लिम युग कहा। आगे चलकर ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मामले में उसका अनुसरण किया। इन लेखकों ने यह घोषित किया कि मध्य युग में सभी मुसलमान शासक थे तथा सभी हिंदू शासित थे जबकि इस दौर में मुस्लिम जनता भी उतनी ही निर्धन, शोषित और दमन का शिकार थी जितनी हिंदू जनता और जमींदार तथा शासक वर्ग में भी हिंदू–मुसलमान दोनों ही थे। सभी सांप्रदायिकतावादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादियों की हां में हां मिलाते हुए, मध्ययुगीन इतिहास को हिंदू–मुस्लिम विवाद का एक दीर्घ अध्याय करार दिया। मध्य काल के मुसलमान शासकों को, उनके धर्म के कारण, विदेशी घोषित कर दिया गया। आजादी की लड़ाई के दिनों में 'हजार वर्षों की गुलामी' और 'विदेशी शासन जैसे मुहावरे आम हो गए थे और इनका प्रयोग कभी–कभी राष्ट्रवादियों द्वारा भी किया जाता था। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि इतिहास की हिंदू सांप्रदायिक दृष्टि इस मिथक पर बहुत बल देती थी कि भारतीय समाज प्राचीन काल में एक महान ऊंचाई पर पहुंच गया था और मध्य काल में मुस्लिम शासन तथा वर्चस्व के कारण उसका लगातार पतन होता गया। भारतीय अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी, धर्म और दर्शन, कला और संस्कृति तथा समाज में मध्य काल का जो मौलिक योगदान रहा, उसे पूरी तरह नकार दिया गया। मुस्लिम संप्रदायवादियों पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई। वे पश्चिम एशिया में 'इसलामी उपलब्धियों के स्वर्ण युग' की बातें करने लगे तथा उसके नायकों, मिथकों तथा सांस्कृतिक परंपराओं के गीत गाने लगे। वे मुस्लिम शासकों, यहां तक कि औरंगजेब जैसे मदांध शासकों को भी, महिमा मंडित करने की कोशिश करने लगे।

अलीगढ़ आंदोलन

टिप्पणी

ईस्ट इंडिया कंपनी ने सत्ता मुस्लिम शासकों से छीनी थी। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के राजनीतिक प्रभुत्व का प्रारंभ हुआ और आर्थिक दृष्टि से व्यापारिक पूंजीवाद का प्रारंभ हुआ। फलतः शासन के विभिन्न क्षेत्रों में नई संस्थाओं का जन्म हुआ। प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन का सबसे अधिक विनाशकारी प्रभाव मुस्लिम शासक वर्ग पर पड़ा। नए शासक तंत्र से सामंजस्य के प्रश्न पर मुस्लिम समाज में दो प्रतिक्रियाएं उभरकर आईं। एक तो वह वर्ग था जो किसी भी मूल्य पर ब्रिटिश शासन से समझौते के पक्ष में नहीं था तथा उसको उखाड़ फेंकना चाहता था। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व बहावी आंदोलन के प्रवर्तक सैयद अहमद बरेलवी ने किया। दूसरा वर्ग वह था जिसे ब्रिटिश राज की स्थिरता के संबंध में विश्वास था और मुस्लिम समुदाय के विकास में पश्चिमी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा के महत्वपूर्ण योगदान में विश्वास रखता था। इस विचारधारा ने अलीगढ़ आंदोलन को जन्म दिया जिसका नेतृत्व सर सैयद अहमद खां ने किया।

अलीगढ़ आंदोलन वह महत्वपूर्ण आंदोलन था जिसने मुस्लिम वर्ग को व्यापक रूप से प्रभावित किया। उच्च शिक्षा के प्रति उस मानसिक प्रतिरोध को, जिसका मुस्लिम शिकार बन गए, समाप्त करने में जिस मुस्लिम सामाजिक नेता का सबसे बड़ा योगदान है, वह थे सर सैयद अहमद खां। उन्होंने समुदाय को एक नई पहचान दी और यह सिद्ध किया कि पश्चिमी शिक्षा और विचारधारा इसलाम विरोधी नहीं है। उसके विपरीत आधुनिक शिक्षा इसलाम को सही समझने में मददगार सिद्ध होगी। अपने विचारों और कार्यक्रमों का केंद्र बिंदु उन्होंने अलीगढ़ को बनाया और उस स्थान से किए गए सभी प्रयासों का सामूहिक नाम 'अलीगढ़ आंदोलन' है। सर सैयद का जन्म दिल्ली के एक अभिजातवर्गीय परिवार में 17 अक्टूबर, 1817 को हुआ था। 1838 में उन्होंने फौजदारी अदालत में सिरेस्तदार के पद पर नौकरी कर ली। कई स्थानों पर पद परिवर्तन के उपरांत 1857 के विद्रोह के समय वे बिजनौर में सदर अमीन के पद पर नियुक्त थे। विद्रोह को दबाने में उन्होंने अधिकारियों की सहायता की और कई अंग्रेज परिवारों को शरण देकर उनकी जान बचाई। 19वीं शताब्दी के सातवें दशक में, जब ब्रिटिश शासक वर्ग में मुसलमानों के प्रति संदेह की भावना अपनी पराकाष्ठा पर थी, उनकी स्वामिभक्ति का विश्वास उन्हें कैसे दिया जाए, यह सैयद अहमद की सबसे बड़ी समस्या थी। इस दिशा में उन्होंने साइंटिफिक सोसाइटी की स्थापना की। 1864 में इसे अलीगढ़ लाया गया। इस सोसाइटी का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज्य के लाभों को बताना था, साथ ही पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान की प्रमुख पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करके उसे लोकप्रिय बनाना था। 1887 में अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट पत्रिका अलीगढ़ से प्रारंभ की गई। अलीगढ़ मुस्लिम नवचेतना का केंद्र बन गया। 1869–70 में सर सैयद इंग्लैड गए और पश्चिमी सभ्यता और संपन्नता देखकर एक आवासीय शिक्षण संस्था का निर्माण करने का निश्चय किया जो पश्चिमी शिक्षा का केंद्र बने। इसके लिए उन्होंने अलीगढ़ को चुना क्योंकि यह मुस्लिम बहुल क्षेत्र में स्थित था तथा बड़ी संख्या में संपन्न वर्ग विद्यमान था। दूसरे अलीगढ़ उर्दू भाषी क्षेत्र के केंद्र में था। तीसरे, रेल मार्ग से जुड़ा था तथा इसका संपर्क मुस्लिम बहुल क्षेत्रों, अवध, रुहेलखंड, पंजाब और दिल्ली से था।

मुसलमानों में शिक्षा के अधिक प्रसार के प्रश्न पर सुझाव देने के लिए सर सैयद ने 1870 में बनारस में एक समिति बनाई तथा आर्थिक साधन जुटाने के लिए एक समिति

टिप्पणी

बनाई जिसके सचिव वे स्वयं थे। इस समिति का उद्देश्य यह भी पता लगाना था कि आम मुसलमान स्वभावतः पश्चिमी शिक्षा से क्यों कतराता है। इस विषय पर मुस्लिम लेखकों से लेख आमंत्रित किए गए। प्राप्त लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि राजकीय संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का मुसलमानों में वहां की शिक्षा के प्रति विरक्ति का सबसे बड़ा कारण था। मुस्लिम वर्ग की यह अवधारणा बन गई थी कि इन संस्थाओं की शिक्षा नैतिकता के ह्रास में सहायक है। इस आधार पर एक नई शिक्षा की संस्था की स्थापना का निश्चय किया गया। संस्था के लिए आर्थिक साधन जुटाने के लिए एक और समिति बनाई गई। प्रारंभ से ही कॉलेज में दो विभाग खोले जाने का निश्चय किया गया (1) अंग्रेजी विभाग (2) प्राच्य शिक्षा विभाग। प्राच्य विभागों में अरबी और फारसी भाषा में से एक भाषा अनिवार्य थी तथा शिक्षा का माध्यम उर्दू को रखा गया। इसका नाम मोहम्डन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज रखा गया। महारानी विक्टोरिया के जन्म दिवस 24 मई 1875 को मदरसे की स्थापना हुई और एक जून 1875 को 11 विद्यार्थियों के साथ पहली कक्षा प्रारंभ हुई। मदरसे से कॉलेज के रूप में परिवर्तन 8 जनवरी, 1877 को हुआ और लॉर्ड लिटन ने कॉलेज की आधारशिला रखी। अलीगढ़ आंदोलन को और भी प्रचारित करने के लिए सर सैयद ने 1886 में ऑल इंडिया मोहम्डन एजुकेशन कांग्रेस की स्थापना की। भारतीय कांग्रेस से इस संगठन का अंतर स्पष्ट करने के लिए 1890 में इसका नाम आल इंडिया मोहम्डन एजुकेशन कांफ्रेंस कर दिया गया।

सर सैयद अहमद का राजनीतिक दृष्टिकोण

कांग्रेस के प्रति सर सैयद अहमद का दृष्टिकोण विरोधात्मक था। प्रारंभ में तो उन्होंने कांग्रेस की गतिविधियों पर ध्यान नहीं दिया, पर कुछ ही दिनों के बाद में इसके विरुद्ध बोलने लगे। सैयद अहमद अपने कांग्रेस विरोधी उद्‌गारों में संकुचित सांप्रदायिकता से नहीं वरन अपने सामंती दृष्टिकोण से प्रेरित थे। पश्चिमी सभ्यता से वे प्रभावित अवश्य थे पर स्वयं उनकी मानसिकता नहीं बदली थी। राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिनिधित्व प्रणाली की मांग वे निम्न वर्गों के हाथ में सत्ता का हस्तांतरण की कोशिश मानते थे। ब्रिटिश राज के प्रति अटूट स्वामिभक्ति और अपनी कौम की पृथक हित साधना सैयद अहमद का राजनीतिक दृष्टिकोण बनता जा रहा था। कांग्रेस विरोधी अभियान में एम.ए. कॉलेज के प्रिंसिपल थियोडर बेक के रूप में सैयद अहमद को एक सहयोगी मिल गया। अलीगढ़ के छात्रों को कांग्रेस से दूर रखने के लिए सैयद अहमद को पूरा सहयोग दिया। कांग्रेस विरोधी राजनीतिक विचारधारा को इंग्लैड में प्रचारित करने के लिए बेक की सहायता से अगस्त 1888 में यूनाइटेड इंडियन पैट्रियाट एसोसिएशन की स्थापना की गई। कांग्रेस के विरोध का एकमात्र लक्ष्य था कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की मांगों को स्वीकार न करे। फिर भी 1892 में इंडियन कांउसिल एक्ट पारित हो गया। मुस्लिम हितों की पुनः रक्षा की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए 1893 में मोहम्डन एंग्लो ओरिएंटल डिफेंस एसोसिएशन की स्थापना की गई।

उग्र हिंदू धार्मिक आंदोलन

अलीगढ़ आंदोलन ने जिस बौद्धिक जागरूकता का विस्तार किया, उससे मुसलमानों को अपनी पहचान स्थापित करने में सहायता मिली। इसी जागरूकता से आगे चलकर उन्हे राजनीतिक रूप में संगठिन होने का अवसर मिला। इस स्थिति को उत्पन्न करने में एक बहुत बड़ा सहयोगी तत्व था– हिंदू उग्रवादी धार्मिक आंदोलन, जिसके फलस्वरूप मुस्लिम सामुदायिक भावनाएं मुस्लिम सांप्रदायिक भावनाओं में परिवर्तित हो गईं।

टिप्पणी

यद्यपि हिंदू धार्मिक पुनरुत्थान का सूत्रपात राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना से हुआ, लेकिन हिंदू धर्म के जिस रूप ने उत्तर और पश्चिम भारत के बहुसंख्यक हिंदू समाज को प्रभावित किया, उसके प्रतिनिधि स्वामी दयानंद सरस्वती थे जिन्होंने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। भारत के इस भाग में आर्य समाज की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि इस क्षेत्र में अब भी सामाजिक दृष्टिकोण पर मुस्लिम प्रभाव विद्यमान था। आर्य समाज जहां एक ओर हिंदू कुरीतियों पर आक्रमण कर रहा था, वहीं इस आंदोलन का एक पक्ष था दूसरे धर्मों के प्रति, विशेषकर इसलाम के प्रति असहिष्णुता। इस असहिष्णुता का सबसे ज्वलंत प्रमाण हमें गोहत्या के विरुद्ध आंदोलन में मिलता है। 1882 में दयानंद ने गौरक्षिणी सभा की स्थापना की, जिसके फलस्वरूप लाहौर, अंबाला एवं फीरोजपुर में गोहत्या के विरुद्ध दंगे हुए। 1886 में लुधियाना और दिल्ली में कई दंगे हुए। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण वर्ष 1893 सिद्ध हुआ। दंगे पूर्वी उत्तर प्रदेश के मऊ स्थान से प्रारंभ हुए और जूनागढ़ तथा बंबई तक फैल गए। सितंबर 1893 में बंबई में दंगे होते रहे।

मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा और कांग्रेस

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने आप में पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष थी, पर उसके बहुत से सदस्य गोरक्षिणी सभाओं के भी सदस्य थे। उनको अनुशासित करने के लिए कांग्रेस के पास कोई साधन नहीं था, जिससे कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता की छवि पर असर पड़ा। हिंदू धार्मिक आंदोलनों की यही आक्रामक प्रवृत्ति पश्चिमी भारत, विशेषतः महाराष्ट्र में दिखाई पड़ी। इसका नेतृत्व बालगंगाधर तिलक ने किया। वे स्वयं सांप्रदायिकतावादी नहीं थे, परंतु विदेशी सत्ता के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिए उन्होंने जिन राजनीतिक प्रतीकों का प्रयोग किया, उससे हिंदू–मुस्लिम विद्वेष में वृद्धि हुई। उदाहरणार्थ, उन्होंनें शिवाजी महोत्सव का आयोजन किया। शिवाजी को गोरक्षा के संदर्भ में तो जाना ही जाता था, अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से तिलक ने मुस्लिम सुलतानों और मुगल शासकों के विरुद्ध शिवाजी के कारनामों का अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि मुस्लिम लेखक बीजापुर और औरंगजेब के समर्थन में तथ्य प्रस्तुत करने लगे।

उत्तर–पश्चिमी प्रांत में इसी काल में उर्दू भाषा के भविष्य को लेकर विवाद खड़ा हो गया। इस प्रांत में अरबी लिपि में उर्दू भाषा का प्रयोग, विशेषकर न्यायालयों और शासन के निम्न स्तरों पर, लंबी अवधि से किया जा रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में उर्दू के बदले देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी को शासन की भाषा के रूप मे प्रयोग की मांग की जाने लगी। बिहार और मध्य प्रांत में हिंदी को आठवें दशक में अपना लिया गया था। मुसलमानों के रुष्ट हो जाने के भय से उत्तर–पश्चिमी प्रांत में इस मांग को स्वीकार नहीं किया गया परंतु 1900 में प्रांत के लेफ्टीनेंट गवर्नर एंथनी मैक्डॉनेल ने बिना किसी पूर्व मंत्रणा के हिंदी को न्यायालयों की वैकल्पिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जो हिंदू–मुस्लिम संबंधों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

ब्रिटिश नौकरशाही की भूमिका

1905 के बंग विभाजन का राष्ट्रीय आंदोलन पर तो प्रभाव पड़ा ही, मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ाने में भी इसका बहुत योगदान रहा। लॉर्ड कर्जन ने विभाजन से पूर्व ही, पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को यह आश्वासन दिया था कि नए सूबे में उनकी वही प्रधानता

टिप्पणी

स्थापित हो जाएगी जो कभी मुस्लिम सूबेदारों के युग में थी। इसी समय इंग्लैड में लिबरल सरकार में भारत सचिव लॉर्ड मॉर्ले ने सांविधानिक सुधारों के संबंध में घोषणा की। इस घोषणा ने मुसलमानों को विभिन्न विधानसभाओं में अपने भविष्य के प्रति उद्वेलित कर दिया। 1892 के इंडियन कांउसिल्स एक्ट के पंद्रह साल के कार्यान्वयन ने पेशेवर वर्ग, विशेषकर वकील वर्ग का इन सभाओं में आधिपत्य स्थापित कर दिया था। 1893 से 1907 के मध्य केंद्रीय विधानसभा में केवल 12 प्रतिशत स्थान मुसलमानों को प्राप्त हुए थे जबकि जनसंख्या में वे 23 प्रतिशत थे। चुनाव प्रणाली के और भी विस्तार की संभावना ने शिक्षित मुसलमानों को एक 'उदासीन बहुमत' की दया पर निर्भर रहने की आशंका से भर दिया। इसलिए नए सुधारों में मुसलमानों को समुचित स्थान दिलाने के लिए वाइसराय के सम्मुख उनके विचारों को रखने का निश्चय किया गया। इस प्रयत्न में अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल डब्ल्यू.ए.वी. आर्कबोल्ड ने मुख्य भूमिका निभाई।

इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों में 1 अक्टूबर, 1906 को आगा खां के नेतृत्व में एक पैंतीस सदस्यीय शिष्टमंडल शिमला में वाइसराय से मिला। वाइसराय को दिए गए स्मृति पत्र में मुसलमानों की देश के हिंदू समुदाय के साथ कई समान हितों पर कार्य करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए उनके कुछ विशिष्ट हितों पर ध्यान आकर्षित किया गया। मुस्लिम सदस्यों के निर्वाचन के लिए केवल मुसलमानों द्वारा निर्मित पृथक चुनाव मंडलों की स्थापना की मांग की गई। इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया कि भविष्य में होने वाले किसी सांविधानिक परिवर्तन में न केवल मुसलमानों की संख्या, वरन उनके राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्व का भी ध्यान रखा जाए। उसने मुसलमानों को, एक समुदाय के रूप में, प्रशासन में किए गए परिवर्तनों में पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया। 1906 के इंडियन कांउसिल्स एक्ट के अंतर्गत ब्रिटिश भारत की प्रत्येक विधानसभा के लिए मुसलमानों को अपने समुदाय पर आधारित चुनाव मंडलों से अपने प्रतिनिधियों को, अपनी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक अनुपात में, चुनने का अधिकार मिला। इसके अतिरिक्त उन्हें साधारण चुनाव मंडलों से भी मत देने का अधिकार दिया गया था। यह अधिकार उनके विरुद्ध कटुता फैलाने में सहायक हुआ।

मुस्लिम लीग की स्थापना

अक्टूबर 1906 के मुस्लिम शिष्टमंडल के संगठन ने उन्हें एक राजनीतिक दल के रूप में परिवर्तित होने की सफल भूमिका निभाई। 30 दिसंबर, 1906 को जब ढाका में मोहम्डन एजुकेशनल कांफ्रेंस की बैठक हो रही थी, तभी उस अधिवेशन को ढाका के नवाब की अध्यक्षता में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नाम से घोषित कर दिया गया। 1908 में आगा खां को मुस्लिम लीग का स्थायी अध्यक्ष बनाया गया। उसी वर्ष अलीगढ़ के अधिवेशन में चालीस सदस्यीय एक केंद्रीय समिति की स्थापना की गई। लीग का नेतृत्व नवाबों और जमींदारों के हाथ में था। परंतु 1911 के बाद अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रभाव के कारण, जिसमें बालकन युद्ध और तुर्की में युवा तुर्क आंदोलन सम्मिलित थे, भारतीय मुसलमानों में सर्व इसलाम की विचारधारा की लोकप्रियता बड़ी जिसके परिणाम स्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। मुस्लिम समुदाय का एक युवा वर्ग कांग्रेस के उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखने लगा और 1913 में लीग ने अपने संविधान में परिवर्तन करके अपना उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक स्वशासन

टिप्पणी

(Dominion Status) की मांग करना निश्चित किया। कांग्रेस की नीतियों से क्रमशः निकटता कांग्रेस लीग समझौते में परिणत हुई। 1914 में ही बालगंगाधर तिलक मांडले से अपने कारावास की अवधि पूरी करके भारत वापस आए। अतीत के उग्रवादी तिलक अब कांग्रेस के दोनों गुटों में एकता स्थापित करने का प्रयास करने लगे। इसी नई राजनीतिक गतिविधि का दूसरा पक्ष था, कांग्रेस और मुस्लिम लीग का एक मंच पर एकत्रित होकर एक संयुक्त कार्यक्रम प्रस्तुत करना।

कांग्रेस और लीग में समझौते की बातचीत अक्टूबर 1915 से प्रारंभ हो गई थी। दिसंबर 1915 में लीग और कांग्रेस के बंबई में संयुक्त अधिवेशन हुए। 1916 में इन संगठनों के प्रतिनिधियों की कई संयुक्त बैठकें हुईं। बातचीत के मुख्य मुद्दे दो थे : प्रथम का संबंध मुसलमानों को पृथक चुनाव प्रणाली के माध्यम से अपने प्रतिनिधि चुनने की वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने से था और दूसरा प्रश्न ब्रिटिश भारत की विभिन्न विधानसभाओं में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात निश्चित करने से था। दिसंबर 1916 के अंतिम सप्ताह में लखनऊ में कांग्रेस और लीग की संयुक्त बैठक हुई जिसमें लीग के अध्यक्ष मोहम्मद अली जिन्ना थे। इस सभा में विभिन्न प्रांतीय विधानसभाओं में जनसंख्या के आधार पर मुसलमानों को निम्नांकित अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया : जहां तक केंद्रीय विधानसभा का संबंध था, वहां के लिए यह निश्चय किया गया कि चुनाव के लिए निर्धारित स्थानों में एक तिहाई स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे जाएंगे। कांग्रेस लीग समझौता एक राजनीतिक मोलभाव का परिणाम था। जहां एक ओर संयुक्त प्रांत में मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से दुगुने स्थान मिले, वहीं बंगाल में हिंदू कांग्रेसी नेता, मुसलमानों की 52 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या होने के बावजूद उन्हें 33 प्रतिशत से अधित स्थान नहीं देना चाहते थे। बहुत कठिनाई के बाद उन्हें 40 प्रतिशत स्थान मिल सके। इस व्यवस्था से उन्हें स्थायी रूप से असंतोष हो गया जिसका दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा।

कांग्रेस–लीग समझौता एक महत्वपूर्ण राजनीतिक मसौदा है। जब तक भारतीयों को शासन में भागीदारी न देने की ब्रिटिश नीति बरकरार थी, तब तक प्रतिनिधित्व के सांप्रदायिक आधार का कोई विशेष महत्व नहीं था, परंतु अगस्त 1917 के बाद स्थिति बदल गई। पहली बार ब्रिटिश राज ने शासन में भारतीयों को क्रमशः उत्तरदायी माना। परंतु नीति निर्माताओं ने भारत में विधानसभाओं के निर्माण के लिए जिस प्रतिनिधित्व प्रणाली को कार्यान्वित किया, उसका आधार कांग्रेस–लीग समझौता था। कांग्रेस–लीग समझौते के अन्य महत्वपूर्ण सुझावों को लागू करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात खलीफा के पद और सम्मान के प्रश्न को लेकर भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने खिलाफत आंदोलन में मुसलमानों को सहयोग दिया और 'असहयोग आंदोलन' में भी मुसलमानों ने हिस्सा लिया। यह अंतिम समय था जब हिंदू और मुसलमानों ने एक–दूसरे का सहयोग दिया।

1921 में मालाबार में हुए मोपला विद्रोह ने हिंदू–मुस्लिम सांप्रदायिकता को चिंगारी दी। 1922 में विभिन्न स्थानों पर हिंदू–मुस्लिम दंगे हुए। 1927 में अंग्रेज सरकार के नवीन सुधारों की रूपरेखा के निर्माण हेतु साइमन कमीशन भारत भेजा जिसके सभी सदस्य अंग्रेज थे। कांग्रेस ने इस कमीशन का विरोध किया परंतु लीग ने कांग्रेस का साथ नहीं दिया। 1928 में मोतीलाल नेहरू की नेहरू–रिपोर्ट के विरुद्ध मोहम्मद अली

टिप्पणी

जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। 1930 में लंदन में हुई प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस ने भाग लिया। 1931 में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में मोहम्मद अली जिन्ना ने लीग की मांगों को काफी बढ़ा–चढ़ा कर रखा, जिन्हें गांधीजी ने स्वीकार नहीं किया और 1932 में हुई तृतीय गोलमेज सम्मेलन में भी कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। इस प्रकार कांग्रेस तथा लीग में कोई समझौता नहीं हो सका। उस समय तक लीग पर मोहम्मद अली जिन्ना का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और उनकी विचारधारा बन चुकी थी कि लीग और कांग्रेस समझौता होना असंभव है। मोहम्मद अली जिन्ना का यह भी मानना था कि हिंदू और मुसलमान दो भिन्न राष्ट्र हैं और कांग्रेस केवल हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करती है।

जिन्ना और सांप्रदायिक राजनीति

जिन्ना उन व्यक्तियों में से थे जिन्होंने हिंदू–मुस्लिम एकता के दूत के रूप में अपनी यात्रा प्रारंभ की थी किंतु अंत में पाकिस्तान की मांग करने लगे। मोहम्मद अली जिन्ना बैरिस्टर बनने के बाद 1906 में जब भारत लौटे, तो वे धर्मनिरपेक्ष, उदार राष्ट्रवादी और दादाभाई नौराजी के समर्थक थे। भारत आते ही वे कांग्रेस में शामिल हो गए। 1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने दादाभाई के सचिव का काम किया। उन्हीं दिनों मुस्लिम लीग का गठन हुआ। जिन्ना इसके विरोधी थे। सांप्रदायिकता की दिशा में उनका पहला कदम बिना उनकी इच्छा के उठा, जब वे पृथक मतदाता मंडलों की व्यवस्था के तहत बंबई से केंद्रीय विधान परिषद के मुसलमान सदस्य चुने गए। वे शुद्ध राष्ट्रवादी से सांप्रदायिक राष्ट्रवादी तब हो गए, जब 1913 में वे मुस्लिम लीग में दाखिल हो गए। किंतु वे अब भी राष्ट्रवादी थे तथा कांग्रेस के सदस्य थे और पृथक मतदाता मंडल का इस आधार पर विरोध करते थे कि देश दो खेमों में विभजित हो जाएगा लेकिन अब वे मुस्लिम नेता की भूमिका निभाने लगे थे। उनकी यह भूमिका लखनऊ–समझौते के समय शीर्ष पर पहुंच गई। मुस्लिम सांप्रदायिकता के प्रवक्ता के रूप में जिन्ना ने कांग्रेस से पृथक मतदाता मंडलों और सांप्रदायिक आरक्षण का सिद्धांत मनवा लिया। 1919–1920 में कांग्रेस का रास्ता तत्कालीन कानूनों की शांतिपूर्ण अवज्ञा पर आधारित जन राजनीति की ओर मुड़ा। जिन्ना इससे सहमत नहीं थे और अन्य उदारवादी नेताओं के विपरीत इस आंदोलन में शामिल नहीं हुए। उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी लेकिन वे राजनीतिक निर्वासन का शिकार नहीं होना चाहते थे। अतः वे सांप्रदायिक राजनीति की ओर चले गए। इस तरह जिन्ना राष्ट्रवादी से सांप्रदायिक राष्ट्रवादी तथा फिर नरमपंथी सांप्रदायिक बन गए। उन्होंने 1924 में समाप्तप्राय मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित किया और मुसलमानों के हितों और अधिकारों की रक्षा के आधार पर उसे सुदृढ़ बनाने लगे। 1927–1928 में उन्होंने साइमन कमीशन के बहिष्कार का समर्थन तो किया लेकिन उसके खिलाफ आंदोलन में शामिल नहीं हुए। अब वे पूरी तरह सांप्रदायिक हो चुके थे। यदि अब वे इससे हट जाते तो उनका राजनीतिक जीवन खत्म हो जाता।

हिंदू महासभा

हिंदुओं के असंतोष, लीग की अतिरंजनापूर्ण मांगों तथा सांप्रदायिक रक्तपात ने देश में एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जो निष्क्रिय हिंदू महासभा को पुनर्जीवित करने में पर्याप्त सहायक हुई। 1923 में पंडित मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिंदू

टिप्पणी

सम्मेलन बनारस में हुआ। राजनीतिक रूप से प्रभावशाली बनाने के लिए हिंदू महासभा का पूरी तरह से पुनर्गठन किया गया। हिंदू सांप्रदायिक आंदोलन को नई दिशा देने के लिए इसके लक्ष्यों को फिर से परिभाषित किया गया। 1923 से 1933 तक महासभा का मुख्य कार्य मुस्लिम लीग की मांगों का विरोध करना और लखनऊ समझौते को संशोधित कराना था जिसने पंजाब और बंगााल के हिंदुओं को अल्पसंख्यकों के विशेषाधिकार से वंचित रखा था। हिंदू महासभा का सांप्रदायिक प्रचार न तो हिंदुओं को बड़ी संख्या में आकर्षित करने में सफल हुआ, न भारतीय राजनीति पर उसका कोई तात्कालिक प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी सरकार ने भी इसकी ओर तनिक सा भी ध्यान नहीं दिया। फिर भी हिंदू अधिकारों की रक्षा का उसका निश्चय अडिग बना रहा। उसके नेताओं को यह आशा थी कि लीग की बढ़ती मांगों और सांप्रदायिक दंगों के कारण देश में उभरता तनाव का वातावरण हिंदू महासभा को लोकप्रिय बना देगा और अंत में वह भारतीय राजनीति के मंच पर लीग और कांग्रेस के समकक्ष एक संतुलनकारी शक्ति के रूप में अवतरित होगी। लेकिन 1937 के चुनावों में महासभा की करारी पराजय हुई। 1937 में ही महासभा के संविधान को परिवर्तित और संशोधित किया गया था। इसका मुख्य ध्येय अब हिंदू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के साथ ही वैध साधनों द्वारा हिंदुस्तान की पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता भी था। इन महत्वपूर्ण वर्षों में हिंदू संप्रदायवाद का दायित्व विनायक दामोदर सावरकर के कंधों पर था। सावरकर ने कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित प्रादेशिक राष्ट्रवाद की परिकल्पना को अस्वीकार करके धर्म और संस्कृति पर आधारित हिंदू राष्ट्रवाद को उसके विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया।

हिंदू महासभा ने कांग्रेस के इस तर्क को भी अस्वीकार किया कि सांस्कृतिक और जातीय भेदों के बावजूद उस देश में रहने वाले सभी लोग भारतीय राष्ट्र के अभिन्न अंग हैं और इसलिए देश की सरकार में हिस्सा मांगने का उनका दावा वैध था। जनसमुदाय में अपना स्थान बनाने तथा शिक्षित हिंदुओं को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए 1937 में हिंदू महासभा ने आर्थिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया। यद्यपि इसका घोषित लक्ष्य आम जनता को संपन्न बनाना था किंतु यथार्थ में इसकी चिंता का विषय उच्च वर्ग था। हिंदू आर्थिक योजना का दूसरा मुख्य ध्येय गैर हिंदुओं के आर्थिक हितों से पैदा होने वाले खतरों से हिंदू हितों की रक्षा करना था। महासभा के नेता जानते थे कि उनकी सफलता दो बातों पर निर्भर है : (1) यह पूरी तरह से प्रमाणित करना कि कांग्रेस मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए हिंदू हितों का जान–बूझकर बलिदान कर रही थी, और (2) यह स्थापित करना कि मुसलमान भारत के जनसमुदाय में विदेशी तत्व हैं तथा उन्होंने अतीत में हिंदुओं को सताया और उनका शोषण किया था। महासभा का प्रचार इन दो उद्देश्यों की पूर्ति में लगा दिया गया : एक, कांग्रेस को हिंदुओं की दृष्टि में गिराना और दूसरा, हिंदुओं में मुसलमानों के प्रति भय और घृणा जगाना। सावरकर ने कांग्रेस पर सांप्रदायिक होने का दोषारोपण किया। हिंदू नेताओं के लिए कांग्रेस इसलिए असहनीय हो गई थी क्योंकि अपनी स्थापना के दिन से ही वह मुस्लिम समुदाय को संतुष्ट करने के प्रयासों में लगी थी। सांप्रदायिकतावादी मुस्लिम लीग से इस बात पर पूरी तरह सहमत थे कि हिंदू और मुसलमान दो शत्रु संप्रदाय हैं जिन्हें कभी भी एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में समन्वित नहीं किया जा सकता। हिंदू राष्ट्र के नाम पर महासभा की पुकार तभी व्यर्थ साबित हुई जब 15 अगस्त, 1947 को भारत का विभाजन इतिहास का एक तथ्य बन गया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

13. गौरक्षिणी सभा की स्थापना निम्न में से किसके द्वारा की गई?

(क) स्वामी विवेकानंद (ख) स्वामी दयानंद

(ग) बाल गंगाधर तिलक (घ) महात्मा गांधी

14. भारत में बंग विभाजन कब हुआ था?

(क) 1905 (ख) 1907

(ग) 1909 (घ) 1919

4.9

सुभाषचंद्र बोस (23 जनवरी 1897–18 अगस्त 1945 ई.), जो नेताजी के नाम से भी जाने जाते हैं, भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेता थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने के लिए, उन्होंने जापान के सहयोग से 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया था। उनके द्वारा दिया गया 'जय हिंद' का नारा, भारत का राष्ट्रीय नारा बन गया है।

1944 में अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर से बात करते हुए, महात्मा गांधीजी ने नेताजी को देशभक्तों का देशभक्त कहा था। नेताजी का योगदान और प्रभाव इतना बड़ा था कि कहा जाता है कि अगर नेताजी उपस्थित रहते, तो शायद भारत एक संघ राष्ट्र बना रहता और भारत का विभाजन नहीं होता। स्वयं गांधीजी ने इस बात को स्वीकार किया था।

[redacted]

नेताजी सुभाषचंद्र बोस का जन्म 23 जनवरी 1897 ई. को उड़ीसा के कटक शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम जानकीनाथ बोस और मां का नाम प्रभावती था। जानकीनाथ बोस शहर के मशहूर वकील थे। पहले वे सरकारी वकील थे, मगर बाद में उन्होंने निजी प्रैक्टिस शुरू कर दी थी। उन्होंने कटक की महापालिका में लंबे समय तक काम किया था और वे बंगाल विधान सभा के सदस्य भी रहे थे। अंग्रेज सरकार ने उन्हें रायबहादुर का खिताब दिया था। प्रभावती और जानकीनाथ बोस की कुल मिलाकर 14 संतानें थीं, जिसमें 6 बेटियां और 8 बेटे थे। सुभाषचंद्र उनकी नौवीं संतान और पांचवें बेटे थे। अपने सभी भाइयों में से सुभाष को सबसे अधिक लगाव शरदचंद्र से था। शरदबाबू प्रभावती और जानकीनाथ के दूसरे बेटे थे। सुभाष उन्हें मेजदा कहते थे। शरदबाबू की पत्नी का नाम विभावती था।

स्वतंत्रता संग्राम में प्रवेश और कार्य

स्वतंत्रता सेनानी, देशबंधु चितरंजन दास के कार्य से प्रेरित होकर, सुभाष उनके साथ काम करना चाहते थे। उन्होंने खत लिखकर, उनके साथ काम करने की इच्छा प्रकट की। रवींद्रनाथ ठाकुर की सलाह के अनुसार, भारत वापस आने पर वे सर्वप्रथम बंबई गए और महात्मा गांधीजी से मिले बंबई में गांधीजी मणिभवन में निवास करते थे। वहां, 20

टिप्पणी

जुलाई, 1921 ई. को महात्मा गांधी और सुभाषचंद्र बोस के बीच पहली बार मुलाकात हुई। महात्मा गांधी ने भी उन्हें देशबंधु चितरंजन दास के साथ काम करने की सलाह दी। इसके बाद सुभाषबाबू कलकत्ता आ गए और दासबाबू से मिले। दासबाबू उन्हें देखकर बहुत खुश हुए। उन दिनों गांधीजी ने अंग्रेज सरकार के खिलाफ असहयोग अंदोलन चला रखा था। दासबाबू इस आंदोलन का बंगाल में नेतृत्व कर रहे थे। उनके साथ सुभाषबाबू इस आंदोलन में सहभागी हो गए। 1922 ई. में दासबाबू ने कांग्रेस के अंतर्गत 'स्वराज पार्टी' की स्थापना की। अंग्रेज सरकार का विरोध करने के लिए, महापालिका का चुनाव स्वराज पार्टी ने लड़कर जीता। स्वयं दासबाबू कलकत्ता के महापौर बन गए। उन्होंने सुभाषबाबू को महापालिका का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी बनाया। सुभाषबाबू ने अपने कार्यकाल में महापालिका का पूरा ढांचा और काम करने का तरीका ही बदल डाला। कलकत्ता के रास्तों के अंग्रेजी नाम बदलकर, उन्हें भारतीय नाम दिए गए। स्वतंत्रता संग्राम में प्राण न्यौछावर करनेवालों के परिवार के सदस्यों को महापालिका में नौकरी मिलने लगी।

बहुत जल्द ही, सुभाषबाबू देश के एक महत्वपूर्ण युवा नेता बन गए। जवाहरलाल नेहरू के साथ सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अंतर्गत युवकों की 'इंडिपेंडेंस लीग' शुरू की। 1928 में जब साइमन कमीशन भारत आया, तब कांग्रेस ने उसे काले झंडे दिखाए। कलकत्ता में सुभाषबाबू ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। साइमन कमीशन को जवाब देने के लिए, कांग्रेस ने भारत का भावी संविधान बनाने का काम आठ सदस्यीय आयोग को सौंपा। मोतीलाल नेहरू इस आयोग के अध्यक्ष और सुभाषबाबू उसके एक सदस्य थे। इस आयोग ने नेहरू रिपार्ट पेश की। 1928 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में सुभाषबाबू ने खाकी गणवेश धारण करके मोतीलाल नेहरू को सैन्य तरीके से सलामी दी। गांधीजी उन दिनों पूर्ण स्वराज्य की मांग से सहमत नहीं थे। इस अधिवेशन में उन्होंने अंग्रेज सरकार से डोमिनियन स्टेटस मांगने की ठान ली थी लेकिन सुभाषबाबू और जवाहरलाल नेहरू को पूर्ण स्वराज की मांग से पीछे हटना मंजूर नहीं था। अंत में यह तय किया गया कि अंग्रेज सरकार को डोमिनियन स्टेटस देने के लिए, एक साल का वक्त दिया जाए। अगर एक साल में अंग्रेज सरकार ने यह मांग पूरी नहीं की, तो कांग्रेस पूर्ण स्वराज की मांग करेगी। अंग्रेज सरकार ने यह मांग पूरी नहीं की। इसलिए 1930 में जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ, तब तय किया गया कि 26 जनवरी का दिन स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा।

26 जनवरी, 1930 ई. के दिन कलकत्ता में राष्ट्रध्वज फैलाकर सुभाषबाबू एक विशाल मोर्चे का नेतृत्व कर रहे थे तब पुलिस ने उनपर लाठी चलाई और उन्हें घायल कर दिया। जब सुभाषबाबू जेल में थे, तब गांधी जी ने अंग्रेज सरकार से समझौता किया और सब कैदियों को रिहा किया गया। लेकिन अंग्रेज सरकार ने सरदार भगत सिंह जैसे क्रांतिकारियों को रिहा करने से इंकार कर दिया। सरदार भगत सिंह की फांसी माफ कराने के लिए, गांधीजी ने सरकार से बात की। सुभाषबाबू चाहते थे कि इस विषय पर गांधीजी अंग्रेज सरकार के साथ किया गया समझौता तोड़ दें लेकिन गांधीजी अपनी ओर से दिया गया वचन तोड़ने को राजी नहीं थे। अंग्रेज सरकार अपने स्थान पर अड़ी रही और सरदार भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी दी गई। सरदार भगत सिंह को न बचा पाने पर, सुभाषबाबू गांधीजी और कांग्रेस के तरीकों से बहुत नाराज हो गए।

टिप्पणी

कारावास

अपने सार्वजनिक जीवन में सुभाषबाबू को कुल ग्यारह बार कारावास हुआ। सबसे पहले उन्हें 1921 ई. में छः महीनों का कारावास हुआ। 1925 ई. में गोपीनाथ साहा नामक एक क्रांतिकारी कलकत्ता के पुलिस अधीक्षक चार्ल्स टेगार्ट को मारना चाहता था। उसने गलती से अर्नेस्ट डे नामक एक व्यापारी को मार डाला। इसके लिए उसे फांसी की सजा दी गई। उन्होंने गोपीनाथ का शव मांगकर उसका अंतिम संस्कार किया। इससे अंग्रेज सरकार ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि सुभाषबाबू ज्वलंत क्रांतिकारकों से न केवल संबंध रखते हैं, बल्कि वे ही उन क्रांतिकारकों की प्रेरणा हैं। इसी बहाने अंग्रेज सरकार ने सुभाषबाबू को गिरफ्तार किया और बिना कोई मुकदमा चलाए, उन्हें अनिश्चित काल के लिए म्यांमार के मांडले कारागृह में बंदी बनाया।

5 नवंबर, 1925 ई. के दिन देशबंधु चितरंजन दास कलकत्ता में चल बसे। सुभाषबाबू ने उनकी मृत्यु की खबर मांडले कारागृह में रेडियो पर सुनी। मांडले कारागृह में रहते समय सुभाषबाबू की तबीयत बहुत खराब हो गई। उन्हें तपेदिक हो गया। परंतु अंग्रेज सरकार ने फिर भी उन्हें रिहा करने से इंकार कर दिया। सरकार ने उन्हें रिहा करने के लिए यह शर्त रखी कि वे इलाज के लिए यूरोप चले जाएं। लेकिन सरकार ने यह तो स्पष्ट नहीं किया था कि इलाज के बाद वे कब लौट सकते हैं इसलिए सुभाषबाबू ने यह शर्त स्वीकार नहीं की। आखिर में परिस्थिति इतनी कठिन हो गई कि शायद वे कारावास में ही मर जाते। अंग्रेज सरकार यह खतरा भी नहीं उठाना चाहती थी, कि सुभाषबाबू की कारागृह में मृत्यु हो जाए। इसलिए सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। फिर सुभाषबाबू इलाज के लिए डलहौजी चले गए। 1930 ई. में सुभाषबाबू कारावास में थे तब उन्हें कलकत्ता का महापौर चुना गया। इसलिए सरकार उन्हें रिहा करने पर मजबूर हो गई। 1932 ई. में सुभाषबाबू को फिर से कारावास हुआ। इस बार उन्हें अलमोड़ा जेल में रखा गया। जेल में उनकी तबीयत फिर से खराब हो गई। वैद्यकीय सलाह पर सुभाषबाबू इस बार इलाज के लिए यूरोप जाने को राजी हो गए।

यूरोप प्रवास

1933 से 1936 ई. तक सुभाषबाबू यूरोप में रहे। यूरोप में सुभाषबाबू ने अपनी सेहत का ख्याल रखते समय, अपना कार्य जारी रखा। वहां वे इटली के नेता मुसोलिनी से मिले, जिन्होंने उन्हें भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सहायता करने का वचन दिया। आयरलैंड के नेता डी. वॅलेरा सुभाषबाबू के अच्छे दोस्त बन गए। जब सुभाषबाबू यूरोप में थे, तब जवाहरलाल नेहरू की पत्नी कमला नेहरू का ऑस्ट्रिया में निधन हो गया। सुभाषबाबू ने वहां जाकर जवाहरलाल नेहरू को सांत्वना दी। बाद में सुभाषबाबू यूरोप में बिठ्ठल भाई पटेल से मिले। बिठ्ठल भाई पटेल के साथ सुभाषबाबू का पटेल–बोस विश्लेषण प्रसिद्ध हुआ, जिसमें उन दोनों ने गांधीजी के नेतृत्व की बहुत गहरी निंदा की। बाद में बिठ्ठल भाई पटेल बीमार पड़ गए, तब सुभाषबाबू ने उनकी बहुत सेवा की। मगर पटेल का निधन हो गया। बिठ्ठल भाई पटेल ने अपनी वसीयत में करोड़ों की संपति सुभाषबाबू के नाम कर दी। मगर उनके निधन के पश्चात, उनके भाई ने इस वसीयत को स्वीकार नहीं किया और उन पर अदालत में मुकदमा चलाया। यह मुकदमा जीतकर, सरदार बल्लभ भाई पटेल ने वह संपत्ति, गांधीजी के हरिजन सेवा कार्य को भेंट दे दी।

टिप्पणी

1934 में सुभाषबाबू को पिता के मृत्युशय्या पर होने की खबर मिली। इसलिए वे हवाई जहाज से कराची होकर कलकत्ता लौटे। कराची में उन्हें पता चला कि उनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। कलकत्ता पहुंचते ही, अंग्रेज सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और कई दिन जेल में रखकर, वापस यूरोप भेज दिया।

हरिपुरा कांग्रेस का अध्यक्ष पद

1938 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हरिपुरा में होना तय हुआ था। इस अधिवेशन में गांधीजी ने अध्यक्षपद के लिए सुभाषबाबू को चुना। यह 51वां अधिवेशन था। इसलिए अध्यक्ष सुभाषबाबू का स्वागत 51 बैलों के रथ में किया गया। इस अधिवेशन में सुभाषबाबू का अध्यक्षीय भाषण बहुत ही प्रभावशाली था। किसी भी भारतीय राजकीय व्यक्ति ने शायद ही इतना प्रभावी भाषण कभी दिया हो। अपने अध्यक्षपद के कार्यकाल में सुभाषबाबू ने योजना आयोग की स्थापना की। इसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। सुभाषबाबू ने बेंगलोर में मशहूर वैज्ञानिक सर विश्वेश्वरैया की अध्यक्षता में एक विज्ञान परिषद भी स्थापित की। 1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया। सुभाषबाबू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने चीनी जनता की सहायता के लिए, डॉ. द्वारकानाथ कोटनीस के नेतृत्व में वैद्यकीय समूह भेजने का निर्णय लिया।

कांग्रेस के अध्यक्षपद से इस्तीफा

1938 में गांधीजी ने अध्यक्षपद के लिए सुभाषबाबू को चुना तो था, मगर गांधीजी को सुभाषबाबू की कार्यपद्धति पसंद नहीं आई। इसी दौरान यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल छा गए थे। सुभाषबाबू चाहते थे कि इंग्लैंड की इस कठिनाई का लाभ उठाकर, भारत का स्वतंत्रता संग्राम अधिक तीव्र किया जाए। उन्होंने अपने अध्यक्षपद के कार्यकाल में इस तरफ कदम उठाना भी शुरू कर दिया था। गांधीजी इस विचारधारा से सहमत नहीं थे। 1939 में जब नया अध्यक्ष चुनने का वक्त आया, तब सुभाषबाबू चाहते थे कि कोई ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष बन जाए, जो इस मामले में किसी दबाव के सामने न झुके। ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति सामने न आने पर, सुभाषबाबू ने खुद अध्यक्ष बने रहना चाहा लेकिन गांधीजी अब उन्हें अध्यक्ष पद से हटाना चाहते थे। गांधीजी ने पट्टाभि सीतारमैया को चुना। कविवर रविंद्रनाथ ठाकुर ने गांधीजी को खत लिखकर सुभाषबाबू को ही अध्यक्ष बनाने की विनती की। मेघनाथ साहा और प्रफुल्लचंद्र राय जैसे वैज्ञानिक भी सुभाषबाबू को फिर से अध्यक्ष के रूप में देखना चाहते थे। लेकिन गांधीजी ने इस मामले में किसी की बात नहीं मानी। कोई समझौता न हो पाने पर, बहुत सालों के बाद, अध्यक्ष पद के लिए चुनाव लड़ा गया। सब समझते थे कि जब गांधीजी ने पट्टाभि सीतारमैया का साथ दिया है, तब वे चुनाव आसानी से जीत जाएंगे। लेकिन वास्तव में, सुभाषबाबू को चुनाव में 1580 मत मिल गए और पट्टाभि सीतारमैया को 1377 मत मिले। गांधीजी के विरोध के बावजूद सुभाषबाबू 203 मतों से यह चुनाव जीत गए। मगर चुनाव के साथ बात खत्म नहीं हुई। गांधीजी ने पट्टाभि सीतारमैया की हार को अपनी हार बताकर, अपने साथियों से कह दिया कि अगर वे सुभाषबाबू के तरीकों से सहमत नहीं हैं, तो वे कार्यकारिणी से हट सकते हैं। इसके बाद कार्यकारिणी के 14 में से 12 सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। जवाहरलाल नेहरू तटस्थ रहे और अकेले शरदबाबू सुभाषबाबू के साथ बने रहे। 1939 ई. में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ। इस अधिवेशन के समय सुभाषबाबू तेज बुखार से इतने बीमार पड़ गए थे, कि उन्हें स्ट्रेचर पर लेटकर

टिप्पणी

अधिवेशन में आना पड़ा। इस अधिवेशन में गांधीजी उपस्थित नहीं रहे। गांधीजी के साथियों ने सुभाषबाबू से बिल्कुल सहयोग नहीं किया। अधिवेशन के बाद सुभाषबाबू ने समझौते की बहुत कोशिश की लेकिन गांधीजी और उनके साथियों ने उनकी एक न मानी। परिस्थिति ऐसी बन गई कि सुभाषबाबू कुछ काम ही न कर पाए। आखिर में तंग आकर, 29 अप्रैल, 1939 ई. को सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया।

फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना

3 मई 1939 ई. के दिन, सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अंतर्गत फॉरवर्ड ब्लाक के नाम से अपनी पार्टी की स्थापना की। कुछ दिन बाद, सुभाषबाबू को कांग्रेस से निकाला गया। बाद में फॉरवर्ड ब्लाक अपने आप एक स्वतंत्र पार्टी बन गई। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले से ही, फॉरवर्ड ब्लाक ने स्वतंत्रता संग्राम अधिक तीव्र करने के लिए, जनजागृति शुरू की। इसलिए अंग्रेज सरकार ने सुभाषबाबू सहित फॉरवर्ड ब्लाक के सभी मुख्य नेताओं को कैद कर दिया। द्वितीय विश्व के दौरान सुभाषबाबू जेल में निष्क्रिय रहना नहीं चाहते थे। सरकार को उन्हें रिहा करने पर मजबूर करने के लिए सुभाषबाबू ने जेल में आमरण उपवास शुरू कर दिया। तब सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। मगर अंग्रेज सरकार यह नहीं चाहती थी, कि सुभाषबाबू युद्ध के दौरान मुक्त रहें। इसलिए सरकार ने उन्हें उनके ही घर में नजरबंद कर के रखा।

नजरबंद से निकलने के लिए सुभाषबाबू ने एक योजना बनाई। 16 जनवरी, 1941 ई. को वे पुलिस को चकमा देने के लिए एक पठान मोहम्मद जियाउद्दीन का भेष धरकर, अपने घर से भाग निकले। शरदबाबू के बड़े बेटे शिशिर ने उन्हें अपनी गाड़ी से कलकत्ता से दूर, गोमोह तक पहुंचाया। गोमोह रेलवे स्टेशन से फ्रंटियर मेल पकड़कर वे पेशावर पहुंचे। पेशावर में उन्हें फॉरवर्ड ब्लॉक के एक सहकारी, मियां अकबर शाह मिले। मियां अकबर शाह ने उनकी मुलाकात, कीर्ति किसान पार्टी के भगतराम तलवार से करा दी। भगतराम तलवार के साथ में, सुभाषबाबू पेशावर से अफगानिस्तान की राजधानी काबुल की ओर निकल पड़े। इस सफर में भगतराम तलवार, रहमत खान नाम के पठान बने थे और सुभाषबाबू उनके गूंगे–बहरे चाचा बने थे। पहाड़ियों में पैदल चलते हुए उन्होंने यह सफर पूरा किया। काबुल में सुभाषबाबू दो महीनों तक उत्तमचंद मल्होत्रा नामक एक व्यापारी के घर में रहे। वहां उन्होंने पहले इटालियन रूसी दूतावास में प्रवेश पाना चाहा। इसमें नाकामयाब रहने पर, उन्होंने इटालियन और जर्मन दूतावासों में प्रवेश पाने की कोशिश की। इटालियन दूतावास में उनकी कोशिश सफल रही। इटालियन और जर्मन दूतावासों ने उनकी सहायता की। आखिर में ओर्लांदो मात्सुता नामक व्यक्ति बनकर, सुभाषबाबू काबुल से रेलवे से निकलकर रूस की राजधानी मॉस्को होकर जर्मनी की राजधानी बर्लिन पहुंचे।

नाजी जर्मनी में प्रवास एवं हिटलर से मुलाकात

बर्लिन में सुभाषबाबू सर्वप्रथम रिबनट्रोप जैसे जर्मनी के अन्य नेताओं से मिले। सुभाषबाबू ने जर्मनी में भारतीय स्वतंत्रता और आजाद हिंद रेडियो की स्थापना की। इसी दौरान सुभाषबाबू, नेताजी नाम से जाने जाने लगे। जर्मन सरकार के एक मंत्री एडॅम फॉन ट्रॉट सुभाषबाबू के अच्छे दोस्त बन गए। 29 मई, 1942 ई. के दिन, सुभाषबाबू जर्मनी के सर्वोच्च नेता हिटलर से मिले। लेकिन हिटलर को भारत के विषय में विशेष रुचि नहीं थी। उन्होंने सुभाषबाबू को सहायता का कोई स्पष्ट वचन नहीं दिया। अंत में, सुभाषबाबू

टिप्पणी

को पता चला कि हिटलर और जर्मनी से उन्हें कुछ और नहीं मिलने वाला है। इसलिए 8 मार्च, 1943 ई. के दिन, जर्मनी के कील बंदर में, वे अपने साथी अबिद हसन सफरानी के साथ, एक पनडुब्बी में बैठकर, पूर्वी एशिया की तरफ निकल गए। यह पनडुब्बी उन्हें हिंद महासागर में मेडागास्कर के किनारे तक लेकर आई। वहां वे दोनों समुद्र में तैरकर जापानी पनडुब्बी तक पहुंच गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में, किसी भी दो देशों की नौसेनाओं की पनडुब्बियों के दौरान, नागरिकों की यह एकमात्र पनडुब्बी थी। यह पनडुब्बी उन्हें पदांग के बंदरगाह तक लेकर आई।

पूर्वी एशिया पहुंचकर सुभाषबाबू ने सर्वप्रथम, वयोवृद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बोस से भारतीय स्वतंत्रता परिषद का नेतृत्व संभाला। सिंगापुर के फरेर पार्क में रासबिहारी बोस ने भारतीय स्वतंत्रता परिषद का नेतृत्व सुभाषबाबू को सौंप दिया। 21 अक्टूबर, 1943 ई. के दिन, नेताजी ने सिंगापुर में अर्जी–हुकूमत–ए–आजाद–हिंद (स्वाधीन भारत की अंतरिम सरकार) की स्थापना की। वे खुद इस सरकार के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और युद्धमंत्री बने। इस सरकार को कुल नौ देशों ने मान्यता दी। नेताजी आजाद हिंद फौज के प्रधान सेनापति भी बन गए। पूर्वी एशिया में नेताजी ने अनेक भाषण देकर वहां के स्थानीय लोगों से आजाद हिंद फौज में भरती होने का और उसे आर्थिक मदद करने का आह्वान किया। उन्होंने अपने आह्वान में संदेश दिया 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा'।

सुभाषचंद्र बोस और आजाद हिंद फौज

कांग्रेस कमेटी और गांधीजी से मतभेद होने के कारण सुभाषचंद्र बोस ने अप्रैल 1939 ई. में कांग्रेस कमेटी से त्याग पत्र देकर 'फॉरवर्ड ब्लॉक' का गठन किया। अंग्रेज सरकार ने उनकी क्रांतिकारी गतिविधियों पर रोकथाम लगाने के लिए उन्हें जुलाई 1940 ई. में कैद कर लिया। सुभाषचंद्र बोस ने जेल में अनशन आरंभ कर दिया और उनकी स्थिति बिगड़ती देखकर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। 1941 ई. में सुभाषचंद्र बोस कलकत्ता से भाग निकले। सुभाषचंद्र बोस पेशावर, काबुल, मास्को, होते हुए बर्लिन पहुंचे। बोस ने 1941 ई. में बर्लिन में इंडियन लीजन की स्थापना की, किंतु जब जर्मनी ने इसे रूस के विरुद्ध प्रयुक्त करने का प्रयास किया तब कठिनाई उत्पन्न हो गई और बोस ने दक्षिण–पूर्वी एशिया जाने का निश्चय किया। सुभाषचंद्र बोस जर्मन और जापानी पनडुब्बियों द्वारा 2 जुलाई, 1943 ई. को सिंगापुर पहुंचे। वहां से वे टोकियो गए और उसके बाद ही जापान के प्रधानमंत्री तोजो ने घोषणा की कि जापान भारत पर कब्जा करना नहीं चाहता। बोस जापान से सिंगापुर लौट गए और वहां उन्होंने 21 अक्टूबर, 1943 ई. को स्वाधीन भारत की सरकार गठित की तथा 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। इस सरकार ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, जापान तथा उनके समर्थक देशों ने इस सरकार को मान्यता भी दे दी। इसके बाद सुभाषचंद्र बोस ने आजाद हिंद फौज के मुख्यालय रंगून और सिंगापुर में बनाए और फौज को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया। नागरिकों में से भी भरतियां की गईं, पैसा जमा किया गया और रानी झांसी रेजीमेंट के नाम से महिला सैनिकों का भी एक दल बनाया गया। 6 जुलाई, 1944 ई. को सुभाषचंद्र बोस ने आजाद हिंद रेडियो पर बोलते हुए गांधीजी को संबोधित किया, "भारत की स्वाधीनता का आखिरी युद्ध शुरू हो चुका है। राष्ट्रपिता! भारत की मुक्ति के इस पवित्र युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएं चाहते हैं।" मार्च और जुलाई 1944 ई. के बीच आजाद हिंद फौज भारतीय भूमि पर सक्रिय रही। अगले वर्ष जापानियों के हार जाने पर आजाद हिंद फौज के

टिप्पणी

सैनिक बंदी बना लिए गए और सुभाषचंद्र बोस रहस्यमय ढंग से गायब हो गए। कहा जाता है कि वे विमान दुर्घटना में मारे गए। जापान के आत्मसमर्पण के बाद जब आजाद हिंद फौज के सिपाहियों को युद्ध बंदी के रूप में भारत लाया गया और उन्हें कठोर दंड देने की तजवीज होने लगी, तो एक और आंदोलन छिड़ गया।

महत्व

सैन्य दृष्टि से आजाद हिंद फौज का महत्व बहुत अधिक नहीं रहा और यदि वह अधिक प्रभावी होती तो भी उसका आगमन बहुत देर से हुआ था, क्योंकि 1944 ई. तक धुरी शक्तियां पीछे हटने लगी थीं। भारत का भूमिगत फॉरवर्ड ब्लॉक इंफाल तथा कोहिमा पर हुए आक्रमण को समर्थन दे सकता था, किंतु उसे पहले ही कुचला जा चुका था। फिर भी, अप्रभावी ढंग से ही सही, देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रही एक वास्तविक सेना ने देशभक्तों के मानस पर जो प्रभाव डाला, उसके महत्व को कम करके नहीं आंकना चाहिए। नवंबर 1945 ई. में अंग्रेजों द्वारा आजाद हिंद फौज के सैनिकों पर मुकदमा चलाए जाने के प्रयास के फलस्वरूप तत्काल सारे देश में भारी प्रदर्शन आरंभ हो गए। इससे भी अधिक अर्थपूर्ण यह था कि आजाद हिंद फौज के अनुभवों और 1945–46 ई. की शीत ऋतु में ब्रिटिश–भारतीय सेना में फैलने वाले असंतोष की लहर के बीच कदाचित कुछ संबंध अवश्य रहा होगा। स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम चरण में आंदोलन को अधिक तीव्र तथा प्रभावी बनाने में आजाद हिंद फौज की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

4.10 तेलंगाना आंदोलन

दक्षिण का तेलंगाना आंदोलन जिसे 'वेट्टी चखीरी आंदोलन' या 'रायथंगा सायुध पोराटम' के नाम से भी जाना जाता है, वह तेलंगाना क्षेत्र के सामंती लॉर्ड्स के खिलाफ विद्रोही किसानों का विद्रोह था। बाद में यही विद्रोह हैदराबाद रियासत के खिलाफ भी भड़का। इस विद्रोह का नेतृत्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। विद्रोह की अवधि 1946 से 1951 ई. तक रही। 1946 ई. में इस विद्रोह का प्रारंभ नालगोंडा जिले में सामंती लॉर्ड्स के दमन के खिलाफ हुआ और शीघ्र ही इसकी आग वारंगल और बीदर के 4000 गांवों में फैल गई। खेतिहर किसानों और मजदूरों ने उन स्थानीय सामंती जमींदारों और जागीरदारों के खिलाफ विद्रोह किया जो संस्थान के नाम से जाने जाते थे। इन संस्थानों पर प्रायः रेड्डियों और वेलमाओं का शासन रहा था। इनके अधिकार में प्रायः गांवों की सारी भूमि थी और ये सारी भूमि पर कर वसूलते थे। राजधानी हैदराबाद के अलावा निजाम का इन पर लगभग कोई नियंत्रण नहीं था। जब जमींदार रामचंद्र रेड्डी ने राजक नामक निम्न जाति के चकाली लामा की चार एकड़ जमीन पर कब्जा करने की कोशिश की तब उसने रामचंद्र रेड्डी के खिलाफ विद्रोह किया। उसके विद्रोह ने अनेक लोगों को आंदोलन में शामिल होने के लिए प्रेरित किया।

कम्युनिस्ट अगुआई वाला यह आंदोलन 3000 गांवों और 10,000 एकड़ उपजाऊ जमीन को मुक्त करवाने में सफल रहा। यह जमीन भूमिहीन किसानों में बांट दी गई। जमींदारों की निजी फौज से लड़ाई में लगभग 4000 किसानों को जान गंवानी पड़ी। लड़ाई का शुरुआती लक्ष्य बंधुआ मजदूरी को खत्म करवाना था। किसानों की यह भी मांग थी कि जमींदारों द्वारा शोषणात्मक तरीके से उन पर थोपे गए सभी कर्जे माफ किए जाएं।

टिप्पणी

कम्युनिस्ट पार्टी ने भी किसानों को 'रजाकर आंदोलन' के खिलाफ गुरिल्ला युद्ध के तौर तरीके सिखा रखे थे। लगभग 3000 गांव (41000 वर्ग किलोमीटर के लगभग क्षेत्र) किसानों के अधीन थे। जमींदार प्रायः मारे जा चुके थे। ये विजयी गांव सामुदायिक शासन के अंतर्गत कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा बनाई गई 'आंध्र महासभा' के तले अपना शासन प्रबंध चला रहे थे।

इस आंदोलन के मुखियाओं में सुद्दाल हनुमंतु, चंद्र राजेश्वर राव, रवि नारायण रेड्डी, अरुत्ला लक्ष्मी, नरसिंह रेड्डी, मल्लु स्वराज्यम, अरुत्ला रामचंद्र रेड्डी और उनकी पत्नी अरुतल्ला कमला देवी के नाम शामिल हैं।

इस आंदोलन का हिंसक स्वरूप 1951 ई. में तब समाप्त हुआ जब तेलंगाना क्षेत्र के आखिरी गुरिल्ला दस्ते को भी काबू कर लिया गया।

भारत में शामिल होने के लिए निजाम का विरोध

1945 में हैदराबाद के शासन के नाकाम रहने के बाद निजाम ने उच्च मुस्लिम वर्ग के दबाव के आगे घुटने टेक दिए। मुस्लिम वर्ग ने रज्जाकर नामक जबरन धर्म परिवर्तन का आंदोलन चलाया, जो बाद में हिंसक हो गया। इसी समय निजाम अपनी ताकत भारतीय प्रशासन की उन कोशिशों के विरोध में लगा रहा था, जिससे उसे हैदराबाद को भारत में मिलाना पड़ता। सरकार ने 1948 में हैदराबाद को भारत में शामिल करने के लिए फौजें भेजीं।

हैदराबाद राज्य का भारत से जुड़ना

विद्रोही आक्रमणों और साथ ही चली पुलिस की कार्यवाही से 17 सितंबर, 1948 ई. को हैदराबाद को निजाम से आजाद करा लिया गया। कुछ समय के अस्थायी सैन्य शासन के बाद हैदराबाद को भारत का अभिन्न अंग बना दिया गया। 1952 ई. से हुए चुनावों में कांग्रेस पार्टी को हैदराबाद में जीत मिली। तब बुर्गुला रामकृष्ण राव हैदराबाद के पहले मुख्यमंत्री बने। 1956 ई. के बाद हैदराबाद को आंध्र प्रदेश में शामिल कर लिया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

15. अपने सार्वजनिक जीवन में सुभाषबाबू को कितनी बार कारावास हुआ?

(क) 8 बार (ख) 10 बार

(ग) 11 बार (घ) 12 बार

16. 'फॉरवर्ड ब्लाक' का गठन निम्न में से किसने किया था?

(क) सरदार भगत सिंह (ख) चंद्रशेखर आजाद

(ग) रामप्रसाद बिस्मिल (घ) नेताजी सुभाषचंद्र बोस

4.11 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)

टिप्पणी

3. (ख)
4. (घ)
5. (ग)
6. (ख)
7. (क)
8. (ग)
9. (ख)
10. (ग)
11. (ख)
12. (क)
13. (ख)
14. (क)
15. (ग)
16. (घ)

4.12 सारांश

आधुनिक संदर्भ में राष्ट्रवाद का विकास एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है जिसके कारण अनेक नवोदित राष्ट्रों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए भारत में राष्ट्रवाद का उदय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों और कारणों के संयोग का परिणाम था। राष्ट्रवाद का विकास राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की प्राथमिक एवं अनिवार्य शर्त है। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के पूर्व राष्ट्र और राष्ट्र निर्माण के आशय का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय एवं विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ। ब्रिटिश शासन और विश्व को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों की वजह से, साथ ही भारतीय समाज में उत्पन्न एवं विकसित विभिन्न आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ कारणों की क्रिया–प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिश काल में भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। भारत में राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। भारत विभिन्न धर्मों, भाषाओं और बहुत बड़ी आबादी वाला देश है। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की पृष्ठभूमि की यह विशेषता रही कि सामान्यतः सारा समाज खंडित और विभाजित रहा तथा इसका उदय राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ।

इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के स्वरूप के विषय में भिन्न–भिन्न मत प्रकट किए हैं। कुछ इतिहासकारों ने इसे केवल सैनिक विद्रोह कहा जो केवल सैनिकों तक ही सीमित था और इसे जन–साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं था। अनेक लोगों ने इसे 'ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह' या 'श्वेत और काले लोगों के बीच सर्वश्रेष्ठता का संघर्ष' बताया। कुछ इसे 'पाश्चात्य तथा पूर्वी सभ्यता के बीच का संघर्ष कहते हैं' तो

कुछ इसे अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए 'हिंदू–मुस्लिम षड्यंत्र' का नाम देते हैं। कुछ राष्ट्रवादी भारतीय इसे 'सुनियोजित राष्ट्रीय आंदोलन' की संज्ञा देते हैं।

टिप्पणी

देश को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के लिए कई तरीके अपनाए गए जिनमें से एक सशस्त्र विद्रोह था। 1857 का विद्रोह सबसे सशक्त विद्रोह था जिसने अंग्रेजों की नींव को हिला दिया था। यह विद्रोह यद्यपि असफल रहा किन्तु इसके बाद भी युवाओं के संगठन बने जो शक्ति का प्रयोग करके देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने में विश्वास करते थे। ये युवा क्रांतिकारी कहलाए तथा इनका आंदोलन क्रांतिकारी आंदोलन। भारत की स्वतंत्रता में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ–साथ क्रांतिकारियों के योगदान की भी सक्रिय भूमिका रही है।

भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और अन्य वामपंथी गुट और नेता, सभी लोग एक आम राजनीतिक कार्यक्रम में भागीदार थे जिसकी वजह से विचारधारा और संगठन के स्तर पर मतभेदों के बावजूद उन लोगों ने 1935 के बाद साथ–साथ काम किया तथा भारतीय राजनीति में समाजवाद को एक ताकतवर धारा बनाया।

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था से पूरा भारतीय समाज रुष्ट हो गया। अंग्रेजों ने भारत में ऐसी नीतियां अपनाईं, जिससे देश के हर वर्ग को नुकसान हुआ। प्रारंभ में तो उन्होंने केवल एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ही काम किया लेकिन जैसे–जैसे समय आगे बढ़ता गया, वे देश पर अपना कब्जा करने लगे। इसके बाद धीरे–धीरे उन्होंने भारत में अंग्रेजी प्रशासन प्रारंभ कर दिया। अंग्रेजों की नीतियों से विरोध स्वरूप देश में लोगों के कई आंदोलन हुए, जिनमें जनजातीय आंदोलन एवं कृषक आंदोलन सबसे प्रमुख थे।

आधुनिक भारत के इतिहास में सांप्रदायिक समस्या का अर्थ है विभाजन से पूर्व हिंदू समुदाय का मुस्लिम समुदाय के साथ संबंधों का विश्लेषण। भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या का वास्तविक रूप सांप्रदायिक है और इसे ब्रिटिश राज ने और अधिक जटिल बना दिया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत के दो प्रमुख समुदायों हिंदू और मुस्लिम में सांप्रदायिक संघर्ष के उदाहरण नहीं मिलते।

दक्षिण का तेलंगाना आंदोलन जिसे 'वेट्टी चखीरी आंदोलन' या 'रायथंगा सायुध पोराटम' के नाम से भी जाना जाता है, वह तेलंगाना क्षेत्र के सामंती लॉर्ड्स के खिलाफ विद्रोही किसानों का विद्रोह था। बाद में यही विद्रोह हैदराबाद रियासत के खिलाफ भी भड़का। इस विद्रोह का नेतृत्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। विद्रोह की अवधि 1946 से 1951 ई. तक रही।

4.13 मुख्य शब्दावली

- **संप्रुभता** : सत्ताधारी होने की स्थिति।
- **अभ्युदय** : जन्म, उत्पत्ति।
- **कायम** : बनाए रखना।
- **स्वायत्तता** : स्वाधीनता, अपनी सरकार बनाने का अधिकार।
- **समन्वय** : तालमेल।

टिप्पणी

- **उन्मूलन** : निवारण, समाप्त करना।
- **अपेक्षा** : इच्छा।
- **अस्पृश्यता** : छुआछूत, न छूने योग्य।
- **अंकुश** : प्रतिबंध।
- **सूत्रपात** : आरंभ करना।

4.14 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रवाद से क्या तात्पर्य है? परिभाषित कीजिए।
2. भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कौन से प्रमुख कारण थे? बताइए।
3. राष्ट्रवादी क्रांतिकारी दल किसे कहा गया है?
4. कृषक आंदोलन क्या है? टिप्पणी कीजिए।
5. 1857 के विद्रोह के प्रमुख कारण बताइए।
6. आई.एन.ए. का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिए।
7. तेलंगाना आंदोलन को किस नाम से जाना जाता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास के कारणों की समीक्षा कीजिए।
2. भारत की 1919 तक की स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
3. क्रांतिकारी, वामपंथी एवं गांधीवादी आंदोलन पर टिप्पणी कीजिए।
4. सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन के प्रमुख बिंदुओं पर प्रकाश डालिए।
5. भारत की स्वतंत्रता में सुभाषचंद्र बोस एवं आजाद हिंद फौज की क्या भूमिका है?
6. तेलंगाना आंदोलन क्या है? विस्तार से समझाइए।

4.15 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
3. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
4. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
6. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
6. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 5 स्वतंत्र भारत

संरचना

टिप्पणी

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 नए भारत का सपना
5.3 रियासतों का एकीकरण
5.4 नियोजित अर्थव्यवस्था का प्रारंभ
5.5 भूमि अधिग्रहण और औद्योगिक नीति
  5.5.1 भूमि अधिग्रहण
  5.5.2 औद्योगिक नीति
5.6 शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
  5.6.1 शिक्षा
  5.6.2 स्वास्थ्य
  5.6.3 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
5.7 विदेश नीति : गुटनिरपेक्षता
  5.7.1 विदेश नीति
  5.7.2 गुटनिरपेक्षता
5.8 महिलाएं : हिंदू कोड बिल
5.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.10 सारांश
5.11 मुख्य शब्दावली
5.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.13 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

किसी भी देश एवं उसके मानव समाज की प्रगति को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक शक्तियां प्रभावित करती हैं। 1947 ई. में भारत की स्वाधीनता के पश्चात यह एक यक्ष प्रश्न था कि कि आखिर कैसे एक खुशहाल, समृद्ध एवं प्रगतिशील नए भारत का निर्माण किया जाए। वैसे तो इस प्रश्न के जबाव में हमें तत्युगीन भारतीय नेताओं के दृष्टिकोण मिलते हैं मगर इनमें महात्मा गांधी एवं जवाहर लाल नेहरू के दृष्टिकोण महत्वपूर्ण हैं।

पं. जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। उन्होंने एक प्रगतिशील विदेश नीति का अवलंबन किया। पंचशील के सिद्धात उनकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण आधार था। इस समय विश्व दो धड़ों में विभाजित था। जवाहर लाल नेहरू ने किसी भी धड़े को समर्थन न देकर गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई।

प्रस्तुत इकाई में नए भारत की कल्पना, रियासतों का एकीकरण, नियोजित अर्थव्यवस्था, औद्योगिक नीति, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं प्रौद्योगिकी तथा भारत की विदेश नीति एवं गुटनिरपेक्षता की नीति की सांगोपांग विवेचना प्रस्तुत की गई है।

टिप्पणी

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- स्वतंत्र भारत की रूपरेखा संबंधी दृष्टिकोणों से परिचित हो पाएंगे;
- रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया को समझ पाएंगे;
- शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिक नीति की समीक्षा कर पाएंगे;
- भारत के बारे में महात्मा गांधी एवं जवाहर लाल नेहरू के दृष्टिकोण से अवगत हो जाएंगे;
- स्वतंत्र भारत की विदेश नीति एवं उनके उद्देश्यों की विवेचना कर पाएंगे;
- गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उद्देश्यों से परिचय प्राप्त कर पाएंगे;
- वर्तमान में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता को समझ पाएंगे;
- महिलाओं के हिंदू कोड बिल के बारे में जान पाएंगे।

5.2 नए भारत का सपना

1757 से 1947 ई. तक अंग्रेजों ने लगभग दो सौ वर्षों तक भारत पर राज किया। इन दो सौ वर्षों में अंग्रेजों ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भारत का बहुविध शोषण किया। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला भारत दो सौ वर्षों में आर्थिक रूप से विपन्न हो गया। साम्प्रदायिकता का बीजारोपण कर अंग्रेजों ने भारत को साम्प्रदायिक दंगों की आग में झोंक दिया। 15 अगस्त, 1947 को एक ओर भारत स्वतंत्रता की सांस ले रहा था तो भारत के कई भाग सांप्रदायिक दंगों की आग में झुलस रहे थे। स्वतंत्र भारत के सामने एक नहीं अनेक भीषण समस्याएं मुंह बाये खड़ी थीं। स्वतंत्र भारत कैसा हो इसकी रूपरेखा तत्युगीन विभिन्न राजनायिकों ने अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत की। प्रख्यात मार्क्सवादी विचारक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'बाइसवीं सदी' पुस्तक लिखकर नए भारत की रूपरेखा संबंधी अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

नए भारत को जिस गाड़ी पर सवार होकर लंबा सफर तय करना था वह गाड़ी थी भारत का संविधान। पूरे 2 वर्ष 11 माह 18 दिन के अथक परिश्रम के उपरांत भारत का संविधान निर्मित हुआ। भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. भीमराव अंबेडकर एवं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अहम भूमिका थी। विश्व के विभिन्न संविधानों की अच्छाइयों को लेकर भारत का संविधान बना।

नए स्वतंत्र भारत के निर्माण का दर्शन भारतीय संविधान की प्रस्तावना में इस प्रकार दिया गया है।

भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सभी में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए, दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं, यह संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू कर दिया गया।

टिप्पणी

18वीं शताब्दी के एक प्रमुख समाज सुधारक, अर्थवेत्ता एवं नारी शिक्षा के महान उन्नायक महादेव गोविंद रानाडे थे। महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज के अंतर्गत उन्होंने समाज सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया। महादेव गोविंद रानाडे के शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले थे। सर्वेण्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना कर उन्होंने समाज सुधार के प्रयास को गति दी। वे 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी दल का नेतृत्व कर रहे थे। गोखले के योग्य शिष्य महात्मा गांधी थे। गांधी जी को गोखले ने गुरु मंत्र दिया था कि – 'ठहरो, स्थिति का अध्ययन करो एवं आगे बढ़ो।' महात्मा गांधी को पं. जवाहर लाल नेहरू अपना गुरु मानते थे। इन दोनों गुरु–शिष्य ने स्वतंत्र नए भारत की रूपरेखा संबंधी जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

एक कुशल अर्थव्यवस्था की समझ महात्मा गांधी एवं जवाहर लाल नेहरू को अपने गुरुओं से प्राप्त हुई थी। इन दोनों की आर्थिक समस्याओं की समझ स्वतंत्र भारत के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। व्यावहारिक स्तर पर आर्थिक नीतियां कैसे क्रियान्वित हों इनकी गूढ़ समझ इन्हें थी।

अपने गुरु महात्मा गांधी का एक प्रसिद्ध वाक्य जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कृति 'The Discovery of India, London, 1956 Page 367' में दोहराया है। यह वाक्य था – "I want the culture of lands to be blown about my house as freely as possible. But a refuse to be blown off my feet by any...."

इस तरह गांधी जी भारत के आर्थिक विकास में पश्चिमी अनुभवों को अपनाना तो चाहते थे मगर भारतीय परंपराओं के स्थायित्व के साथ। महात्मा गांधी एवं नेहरू दोनों की ही विकास दृष्टि में मानवतावादी आग्रह दिखाई देता है। इन्होंने व्यक्ति के समग्र विकास पर बल दिया न कि उसकी संपत्ति बढ़ोतरी पर। उन्होंने पूंजीवादी लालच के स्थान पर व्यक्ति एवं समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल दिया।

भारत विकास संबंधी दृष्टिकोण

नया भारत कैसा हो? नए भारत के विकास संबंधी दृष्टिकोण में विवाद की स्थिति निर्मित हुई। इस विवाद का प्रारंभिक संदर्भ था – 'गतिशील पश्चिम' एवं 'गुलाम भारत' का आपसी टकराव। इस विवाद के चलते भारत के दो खेमे थे। एक खेमा परंपरावादियों का था एवं दूसरा खेमा आधुनिकता प्रेमियों का था। यह परंपरा बनाम आधुनिकता का विवाद था।

परंपरावादी भारत के स्वर्णिम अतीत से प्रेरित थे तो आधुनिकतावादी पश्चिमी चकाचौंध से। परंपरावादी पश्चिमी संस्कृति की उच्छृंखलता को भारत की प्राचीन संस्कृति पर दुष्प्रभाव के रूप में देखते थे। आधुनिकतावादी पश्चिमी संस्कृति की बुनियादी श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे एवं प्राचीन भारतीय संस्थाओं एवं मूल्यों को प्रगति के मार्ग का अवरोधक मानते थे।

आधुनिकता के पक्षधरों की मान्यता थी कि पाश्चात्य संस्थाओं ने, मूल्यों ने विज्ञान एवं भौतिक जीवन के क्षेत्र में, प्रगति की अनंत संभावनाएं खोली हैं। इस आधार पर उनका दृष्टिकोण था कि किसी भी देश अथवा राष्ट्र की प्रगति के लिए पहली शर्त है – पाश्चात्यीकरण। इनका सीधा सटीक कहना था कि नए भारत के निर्माण हेतु विकास का पश्चिमी मॉडल अपनाया जाए। पश्चिम की भांति तीव्र औद्योगीकरण के मार्ग पर

टिप्पणी

चलकर ही भारत के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इतना ही नहीं औद्योगीकरण ही कृषि के क्षेत्र में भी उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

आधुनिकतावादियों का मानना था कि औद्योगीकरण द्वारा ही संभवतः भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों (जो जाति, भाषा, प्रांत एवं मजहब के नाम पर बंटे हुए हैं) को एक मंच पर लाया जा सकता है। यह सांप्रदायिक एकता नए भारत के निर्माण को एक विशिष्ट पहचान दे सकती है।

आधुनिकतावादियों ने भारत के लोगों से अपील की कि वे पश्चिम की 'गतिशीलता' को अपनाने के महत्व को समझें। भारत के विकास के लिए पूंजीवादी मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर होगा। पारंपरिक विचारधारा एवं परंपरागत संस्थाओं को त्यागकर ही भारत की प्रगति संभव है। भारत का समृद्ध वर्ग ही भारत की प्रगति का माध्यम बनेगा। आवश्यकता है कि समाज के समृद्ध वर्ग को कर्मठ उद्यमशीलता की ओर प्रवृत्त किया जाए। यदि इन आधुनिकतावादियों की विकास संबंधी अवधारणा के विरोध का कोई स्वर कहीं से उठता था तो वे उन्हें प्रगति एवं परिवर्तन के शत्रु के रूप में प्रस्तुत करते थे।

महात्मा गांधी का विकास संबंधी दृष्टिकोण–राष्ट्रीय आंदोलन में गांधी जी के प्रवेश के पश्चात भारतीय संभ्रांत वर्ग की सोच को एक नई दिशा मिली। अब नए भारत के निर्माण में 'आर्थिक विकास' के स्थान पर भारत के गरीबों की गरीबी का निवारण प्रमुख तत्व हो गया। गांधी जी का मानना था कि पाश्चात्य सभ्यता का आर्थिक विकास नैतिक मूल्यों को ताक पर रख कर हुआ है। गांधी जी भौतिक विकास एवं नैतिक विकास को एक सिक्के के दो पहलू मानते थे। पाश्चात्य पूंजीवाद ने गरीब एवं अमीरों के बीच की खाई को इतना चौड़ा कर दिया है जिसको पाटना मुश्किल है। पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतिफल ही गरीबी, भुखमरी एवं शोषण है। पाश्चात्य प्रगति ने लालच रूपी भस्मासुर को पैदा करते हुए गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दिया है। इसका प्रतिफल मानवता की आध्यात्मिक बदहाली है।

गांधी जी नैतिक मूल्यों को साथ रख कर आर्थिक विकास की बात करते थे। भारत की ग्रामीण जनता का विकास औद्योगीकरण में निहित न होकर स्वावलंबन में निहित है। गांधी जी के अनुसार भारत के लिए एक ऐसे आर्थिक ढांचे की दरकार थी जिसमें कृषि एवं लघु उद्योगों के बीच सामंजस्य हो। वे भारत की श्रमशक्ति के भरपूर उपयोग के पक्षधर थे। गांधी जी ने ट्रस्टीशिप का सिद्धांत प्रतिपादित कर बताया कि किस प्रकार समाज के अमीर एवं गरीब दोनों ही वर्गों की भागीदारी को राष्ट्र हित में उपयोग किया जा सकता है।

स्वराज एवं स्वदेशी की गांधी जी की अवधारणा नए भारत के निर्माण का एक मुख्य आधार थी। स्वदेशी का तात्पर्य था विदेशों से न तो कोई कर्ज लेना, न कोई सहायता लेना, बल्कि देश के उपलब्ध संसाधनों का भरपूर उपयोग करते हुए भारतीय कुटीर उद्योगों द्वारा देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के प्रयास करना। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो यह भारत की स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त करने की एक ऐसी रणनीति थी जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर त्याग एवं कष्ट सहने की क्षमता के विकास की संभावनाएं मौजूद थीं।

गांधी जी नए भारत के निर्माण में व्यक्ति एवं समाज में नैतिक मूल्यों की संस्थापना पर जोर देते थे। नैतिक मूल्य एवं चरित्र को वे व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ आभूषण

मानते थे। उनका मानना था कि इनके तहत राष्ट्र या संभ्रांत वर्ग अपने आचरण द्वारा समस्त भारतीय समाज के सामने उदाहरण प्रस्तुत करेगा। यह उदाहरण होगा त्याग का, चरित्र का, कर्मठता का, ईमानदारी का एवं एक सरल–सुखी जीवन का।

टिप्पणी

गांधी जी की स्पष्ट मान्यता थी कि कोई भी देश तब तक तरक्की नहीं कर सकता जब तक कि इसके संभ्रांत नागरिकों में सेवा, समर्पण, आत्मत्याग, आत्मबलिदान की प्रेरणा जागृत न हो। गांधीजी के अनुसार, एक अच्छे राष्ट्र–निर्माण की किसी भी सच्ची योजना में लौकिक लाभों (भौतिक लाभों) की इच्छा का अभाव होना ही पहली शर्त है। निष्कर्षतः ट्रस्टीशिप का सिद्धांत, स्वदेशी, स्वराज, श्रमशक्ति का भरपूर उपयोग, सेवा, समर्पण एवं त्याग की भावना ही नए भारत के निर्माण के लिए गांधी जी आवश्यक मानते थे।

जवाहरलाल नेहरू का विकास संबंधी दृष्टिकोण–1917 की रूस की क्रांति ने समस्त विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इस क्रांति के पश्चात आर्थिक नियोजन द्वारा रूस ने आर्थिक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की। 1930 के दशक में इस आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया ने पढ़े–लिखे प्रबुद्ध वर्ग को उसी प्रकार प्रभावित किया जिस प्रकार कि 18वीं सदी में औद्योगिक क्रांति ने पश्चिमी जगत को प्रभावित किया था। रूस के अद्‌भुत विकास ने प्रबुद्ध भारतीय वर्ग को भी प्रेरित किया। चूंकि इस विकास के मॉडल में पूंजीवादी विकास प्रक्रिया के प्रतिकूल परिणामों से बचने का विकल्प मौजूद था अतः भारत में भी प्रश्न उठा कि क्यों न यह मॉडल भारत में भी अपनाया जाए। जवाहरलाल नेहरू इसी विचारधारा के प्रमुख स्तंभ थे।

पुराने राष्ट्रवादियों की भांति पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी आधुनिकीकरण को नए भारत के निर्माण का महत्वपूर्ण आधार माना। उन्होंने औद्योगिक प्रगति की वकालत की। अपने राजनीतिक गुरु गांधी जी के विपरीत नेहरू जी का मानना था कि भारत की गरीबी मिटाने का प्रभावी विकल्प औद्योगीकरण ही है। औद्योगीकरण द्वारा ही वे कृषि की प्रगति संभव मानते थे। नेहरू ने ग्रामों में कुटीर उद्योगों की अहमियत को स्वीकार किया।

पं. नेहरू का कहना था कि – लंबे समय तक औपनिवेशक दासता झेलने के पश्चात भारत जैसे पिछड़े देश में पाश्चात्य समाज के उद्यम कौशल का विकास हो पाना संभव नहीं दिखाई देता। तेज विकास दर को प्राप्त करना तत्कालीन सामाजिक परिवेश में नेहरू जी के अनुसार सिर्फ पूंजीवादी मॉडल से भारत में संभव नहीं था। तेज विकास के साथ–साथ नेहरू जी सामाजिक न्याय एवं समानता को भी प्राप्त करना चाहते थे।

नए भारत के निर्माण संबंधी नेहरू जी की विचारधारा को ऑस्कर लैंज (Oscar Lange) ने विकास का राष्ट्रीय क्रांतिकारी तरीका (National Revolutionary pattern of Development) की संज्ञा दी। उनके अनुसार यह विकास संबंधी अवधारणा शुद्ध पूंजीवाद (Classical Capitalist) एवं विकास के समाजवादी तरीके (Socialist Pattern of Development) के बीच की विचारधारा कहा जा सकता है अर्थात् Middle Path Conception of Development.

महात्मा गांधी ने नए भारत संबंधी जो विचार प्रतिपादित किए, वे, उनकी 1948 ई. में मृत्यु के पश्चात आंशिक रूप से ही अमल में आ सके।

जवाहरलाल नेहरू चूंकि स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री बने अतः उन्हें नए भारत के निर्माण संबंधी अपने दृष्टिकोण पर अमल करने का पूरा मौका मिला। भारत

टिप्पणी

के आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाया गया। 1976 ई. में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में समाजवादी, पंथनिरपेक्षता एवं अखंडता शब्द जोड़े गए। स्वतंत्रता पश्चात भारत का औद्योगीकरण भी हुआ। पंचायती राज व्यवस्था अपना कर ग्राम स्वराज की कल्पना को भी साकार किया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना किसने की थी?
   (क) महादेव गोविंद रानाडे (ख) गोपाल कृष्ण गोखले
   (ग) पं. जवाहरलाल नेहरू (घ) महात्मा गांधी
2. भारतीय संविधान कितने दिनों में बनकर तैयार हुआ?
   (क) 2 वर्ष 11 माह 18 दिन (ख) 3 वर्ष 2 माह 10 दिन
   (ग) 1 वर्ष 8 माह 28 दिन (घ) इनमें से कोई नहीं

5.3 रियासतों का एकीकरण

1947 ई. में भारत की आजादी के पूर्व भारत में रियासतों की संख्या 562 थी एवं इनके अधीन भारत का लगभग 7,12,508 वर्गमील क्षेत्र था। कुछ रियासतों की जनसंख्या अत्यधिक थी जैसे कि हैदराबाद जहां की जनसंख्या 1,40,00,000 (1 करोड़ 40 लाख) थी एवं कुछ रियासतों की जनसंख्या अत्यधिक कम (मात्र 27 ही) थी। फरवरी 1921 ई. में ब्रिटिश सरकार द्वारा नरेंद्र मंडल (Chamber of Princes) की स्थापना की गई जिसके तहत रियासतों को नरेंद्र मंडल में प्रतिनिधित्व के लिए तीन श्रेणियों में बांटा गया–

- ऐसी 109 रियासतें जो पूर्ण वैधानिक और क्षेत्राधिकार रखती थीं, उन्हें सीधा प्रतिनिधित्व दिया गया।
- ऐसी 127 रियासतें जिनके वैधानिक और क्षेत्राधिकार सीमित थे, उनको आपस में चुने हुए 12 प्रतिनिधि भेजने थे।
- शेष 326 रियासतों को जागीरों अथवा सामंतशाही जागीरों के मालिकों को श्रेणी में रखा गया।

नरेंद्र मंडल एक परामर्शदात्री इकाई थी, इसे किसी रियासत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं था। इस प्रकार ये रियासतें ब्रिटिश साम्राज्य के अनुगृहीत पुत्र के रूप में स्थापित हुईं और उन्हें साम्राज्य का स्वतंत्र अंग मान लिया गया। 1927 ई. में बटलर समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह स्पष्ट कर दिया, कि यदि भविष्य में भारत में उत्तरदायी सरकार बन भी जाए तो भी ये रियासतें स्वतंत्र ही रहेंगी। 1942 ई. के क्रिप्स प्रस्ताव में भी रियासतों की सर्वोच्चता किसी और को देने का कोई प्रस्ताव नहीं था। नरेंद्र मंडल के चांसलर भोपाल के नबाब ने आशा व्यक्त की थी कि अंग्रेज भारत में अपने अनुगृहीत पुत्र के रूप में पालित रियासतों को अनाथ बालक के रूप में छोड़कर नहीं जाएंगे, किंतु 20 फरवरी, 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेण्ट एटली की घोषणा और 3 जून, 1947 ई. को माउंटबेटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि

सर्वोच्चता समाप्त हो जाएगी और रियासतों को भारत अथवा पाकिस्तान किसी एक के साथ मिलने का अधिकार होगा।

टिप्पणी

भारतीय रियासतों का एकीकरण एवं विलय

भारतीय रियासतों का एकीकरण एवं विलय कोई आसान काम नहीं था, मगर सरदार बल्लभ भाई पटेल के प्रयासों से यह कार्य संपन्न हो सका।

रियासतों के विलय में बाधाएं

1947 ई. में भारत की स्वतंत्रता के समय सर्वप्रमुख सवाल भारतीय रियासतों को लेकर उत्पन्न हुआ कि इनका क्या होगा। ब्रिटिश सत्ता द्वारा भारत को स्वतंत्र करने के निश्चय को देखकर कई बड़ी रियासतें भी स्वतंत्रता का स्वप्न संजोने लगीं। उनको अपना यह सपना उस समय साकार होता नजर आया जबकि 20 फरवरी, 1947 ई. को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि ''सम्राट की सरकार पैरामाउन्टेसी के अंतर्गत अपनी शक्तियों और कर्तव्यों को ब्रिटिश भारत की किसी सरकार को सौंपने का इरादा नहीं रखती है।'

इस घोषणा से उत्साहित होकर कई रियासतों के महत्वाकांक्षी शासकों ने दावा किया कि 15 अगस्त, 1947 को भारत की स्वतंत्रता के साथ वे भी स्वतंत्र हो जाएंगे। एटली के अलावा इन शासकों को मुहम्मद अली जिन्ना के 18 जून, 1947 ई. को दिए गए इस वक्तव्य से भी बल मिला कि '' पैरामाउन्टेसी की समाप्ति के बाद सभी रियासत स्वतंत्र सम्प्रभुता संपन्न राज्य होंगे और वे यदि चाहें तो स्वतंत्र रहने का चुनाव कर सकते हैं।''

रियासतों की स्वतंत्रता को लेकर ब्रिटिश नजरिये में उस समय परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ जबकि भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पर भाषण के समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने कहा कि ''सम्राट की सरकार से यह आशा है कि सभी रियासतें कुछ समय के दौरान धीरे–धीरे ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के एक या दूसरे अधिराज्य के अंदर अपना उचित स्थान तलाश लेंगी।'' इस प्रकार एटली की पूर्ववर्ती घोषणा, मुहम्मद अली जिन्ना के वक्तव्य से रियासतों के शासकों को स्वतंत्र होने का बल मिला और तद्नुसार ही उन्होंने अपनी रणनीति निश्चित करनी आरंभ की। स्वतंत्रता का सपना देख रहे रियासतों के महत्वाकांक्षी शासकों के विपरीत भारत के राष्ट्रवादी नेता यह कदापि मंजूर नहीं कर सकते थे कि स्वतंत्र भारत में सैकड़ों स्वतंत्र छोटी–छोटी रियासतें हों और भारत की एकता को हानि पहुंचाएं। यहां तक कि इन रियासतों की जनता भी भारत में विलय चाहती थी।

रियासतों के विलय के प्रयास

कांग्रेस द्वारा 1947 ई. की स्थिति के मद्देनजर रियासतों के विलय के प्रयास जानने से पूर्व यह वांछनीय होगा कि हम कांग्रेस द्वारा 1932 ई. में हरिपुरा अधिवेशन में पारित प्रस्ताव का अवलोकन करें जिसमें कहा गया था कि – कांग्रेस रियासतों में भी वही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आजादी चाहती है जो वह बाकी भारत में चाहती है और रियासतों को भारत का अखंड भाग समझती है। पूर्ण स्वराज्य, जो कांग्रेस का लक्ष्य है, रियासतों समेत सारे भारत के लिए है क्योंकि स्वतंत्र होने पर भी भारत की एकता और अखंडता कायम रहनी चाहिए। इसलिए कांग्रेस रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और नागरिक स्वतंत्रता की गारण्टी चाहती है और इस समय इनमें से बहुत–सी

टिप्पणी

रियासतों में मौजूद पिछड़ी हुई अवस्थाओं और स्वतंत्रता के अभाव पर दुःख प्रकट करती है।'' कांग्रेस द्वारा पारित इस प्रस्ताव से स्पष्ट है कि कांग्रेस ने रियासतों को भारत से पृथक् कभी भी नहीं माना और स्वतंत्रता आंदोलन में उन्हें साथ लेके चलने की रणनीति अपनाई अतः भारत की स्वतंत्रता के समय कांग्रेस रियासतों की स्वतंत्रता के दावों को कैसे स्वीकार कर सकती थी। 15 जून, 1947 ई. को कांग्रेस महासमिति ने रियासतों के प्रति अपनी नीति का निर्धारण किया।

अप्रैल 1947 ई. में संविधान सभा में शामिल होकर कुछ रियासतों ने तो देशभक्ति का परिचय दिया था मगर अधिकांश राजा इससे पृथक रहे थे। ट्रावनकोर, भोपाल एवं हैदराबाद आदि कुछ राजाओं ने तो सार्वजनिक रूप से यह तक घोषणा कर दी थी कि वे स्वतंत्रता का विकल्प चाहते हैं। इसी तारतम्य में कांग्रेस को रियासतों के प्रति अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ी। कांग्रेस ने रियासतों की स्वतंत्रता के दावों को अस्वीकार करते हुए प्रस्ताव पारित किया कि – कांग्रेस महासमिति भारत में किसी रियासत को अपनी स्वतंत्रता घोषित करने और शेष भारत से अलग–थलग रहने का अधिकार स्वीकार नहीं करती। कांग्रेस महासमिति को विश्वास है कि रियासतों के राजा मौजूदा स्थिति को पूरी तरह समझेंगे और अपनी प्रजा के साथ पूरा सहयोग करते हुए लोकतन्त्रीय इकाइयों के रूप में भारतीय संघ में शामिल होंगे और इस तरह अपनी प्रजा का और सारे भारत का हित साधन करेंगे।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी रियासतों की स्वतंत्रता के दावे को पूर्णतः नकारते हुए कहा था कि आजादी का दावा किसी रियासत की घोषणा मात्र पर निर्भर नहीं करता बल्कि अन्य राज्यों द्वारा उसे स्वीकार किए जाने पर निर्भर करता है। ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता खत्म हो जाने मात्र से रियासतें, स्वतंत्र नहीं हो जातीं। नेहरू जी ने कहा था कि रियासतों के सामने दो ही विकल्प हैं– या तो वे भारतीय संघ में शामिल हो जाएं और बराबरी के हिस्सेदार बन जाएं अथवा भारतीय संघ की सर्वोच्चता में रहें, वे शून्य में नहीं रह सकते। उन्होंने यह भी चेतावनी दी थी कि ''हम भारत में किसी रियासत की स्वाधीनता स्वीकार नहीं करेंगे और किसी विदेशी शक्ति द्वारा इस तरह की आजादी स्वीकार किया जाना अमैत्रीपूर्ण कार्य माना जाएगा।''

रियासतों का भारत में विलय

रियासतों का भारत में विलय का श्रेय मुख्यतः सरदार बल्लभ भाई पटेल को जाता है, उन्होंने रियासतों की समस्या को सफलतापूर्वक हल किया। रियासतों की समस्या के समाधान हेतु रियासत विभाग की स्थापना की गई। नवगठित रियासत विभाग का अतिरिक्त कार्यभार 27 जून, 1947 ई. को सरदार पटेल ने संभाला एवं वी. पी. मेनन इसके सचिव बने। पटेल रियासतों की स्वतंत्रता के खतरे से पूर्णतः वाकिफ थे, इस तारतम्य में वी. पी. मेनन से उन्होंने कहा था कि रजवाड़े स्वतंत्रता चाहते हैं मगर ''इस परिस्थिति में खतरनाक सम्भावनाएं भी छुपी हुई हैं और यदि इन्हें शीघ्र ही प्रभावी तरीके से संभाला नहीं गया तो हमारे द्वारा इतनी मुश्किल से अर्जित आजादी इन रजवाड़ों के दरवाजों से निकलकर गायब हो सकती है।'' अतः वे रजवाड़ों को नियन्त्रित करने के कार्य में जुट गए। सर्वप्रथम उन्होंने भारत के तहत आने वाले रजवाड़ों से अपील की कि उन्हें समस्त देश के हित से जुड़े हुए तीन मामले–प्रतिरक्षा, विदेशी संबंध एवं संचार साधन भारतीय संघ को सौंपने होंगे एवं अन्य मामलों पर उनको स्वायत्तता प्राप्त होगी। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे रियासतों के भीतरी मामले में कोई दखल नहीं देना चाहते।

टिप्पणी

सरदार पटेल ने इस नाजुक मौके पर अपनी देशभक्ति से परिपूर्ण आवाज में रजवाड़ों को भी प्रेरित करते हुए कहा कि ''भारत के इतिहास में हम एक महत्वपूर्ण स्थान पर खड़े हैं। मिल–जुलकर हम इस देश को बहुत ऊंचा उठा सकते हैं और अलग–अलग रहने से हमें नई मुसीबतों का खतरा रहेगा। मुझे आशा है कि रियासतें यह ध्यान रखेंगी कि सामान्य हित की दृष्टि से सहयोग करने के अलावा दूसरा रास्ता अराजकता और गड़बड़ी का है जो छोटे–बड़े सबको बरबाद कर देगा। ऐसा न हो कि भावी पीढ़ियां हमें यह कहकर गालियां दें कि हमें मौका मिला था पर उसे पारस्परिक लाभ के लिए प्रयोग में नहीं ला सके। इसके बजाय हम अभिमानपूर्वक अपने पीछे दोनों पक्षों के हितकारी संबंध छोड़ जाएं जिससे यह पवित्र देश संसार के राष्ट्रों में अपना ऊंचा स्थान प्राप्त कर सके और यह शांति और समृद्धि का घर बन सके।'' सरदार पटेल की इसी अपील को दोहराते हुए लॉर्ड माउंटबेटन ने भी 25 जुलाई, 1947 ई.को नरेंद्र मंडल में भाषण देते हुए रियासतों को 15 अगस्त, 1947 ई. के पूर्व किसी एक डोमीनियन में शामिल होने की सलाह दी।

यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कई रियासतों के राजा भले ही भारत से स्वतंत्र रहने की आकांक्षा रखते थे मगर उन रियासतों की राष्ट्रवादी जनता भारतीय संघ में सम्मिलित होने को आतुर थी। अतः सरदार पटेल ने अप्रत्यक्ष रूप से रजवाड़ों को चेतावनी भी दी थी कि यदि वे भारतीय संघ में शामिल न हुए तो रियासतों की बेकाबू हो रही जनता को नियन्त्रित करने में वे समर्थ न होंगे। 15 अगस्त, 1947 के बाद सरकार की शर्ते और अधिक कड़ी होती जाएंगी। इस प्रकार रजवाड़ों पर त्रिस्तरीय दबाव था– प्रथम तो कांग्रेस का प्रतिकूल रवैया एवं और अधिक कठोर नीति अपनाने का दबाव, द्वितीय रियासत की जनता का आंदोलन करने का भय और तीसरा सबसे महत्वपूर्ण सरदार पटेल का दृढ़ स्वभाव एवं कहे को कर दिखाने की क्षमता। अतः इस त्रिस्तरीय दबाब के मद्देनजर मात्र जूनागढ़, जम्मू–कश्मीर एवं हैदराबाद को छोड़कर 15 अगस्त, 1947 ई. तक बची हुई 136 क्षेत्राधिकारी रियासतें भारत में सम्मिलित हो गईं। रियासतों के इस विलय का पूर्ण श्रेय सरदार पटेल की दृढ़ नीति को ही जाता हे। इस विलय के मद्देनजर 15 अगस्त, 1947 को ही लॉर्ड माउंटबेटन ने सरदार पटेल को यह श्रेय देते हुए कहा कि 'रियासत मंत्रालय के अध्यक्ष और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ सरदार बल्लभ भाई पटेल के प्रयत्नों से एक ऐसी योजना बनाई गई जो मुझे रियासतों तथा भारतीय डोमीनियन के लिए लाभदायक प्रतीत हुई। यह भारत सरकार की तरह रियासतों के राजाओं और सरकारों की यथार्थवाद और उत्तरादायित्व की भावना की बड़ी भारी विजय है कि एक ऐसी प्रवेश–लिखित तैयार की जा सकी जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करने का तैयार हुए और यह इतनी सरल और सीधी थी कि तीन सप्ताह से भी कम समय में लगभग सब संबंधित रियासतों ने उसे स्वीकार कर लिया।''

जूनागढ़ रियासत का भारत में विलय

जूनागढ़, काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के तट पर बसी एक छोटी–सी रियासत थी और चारों ओर से यह भारतीय भू–भाग से घिरी हुई थी। इसका कहीं से भी पाकिस्तान के साथ कोई संपर्क नहीं था। इसकी बहुसंख्यक आबादी हिंदू थी मगर शासक मुसलमान था। इसीलिए सता हस्तांतरण से पूर्व यहां के मुस्लिम शासक ने जूनागढ़ रियासत के पाकिस्तान में विलय की घोषणा कर दी, जबकि यहां की बहुसंख्यक हिंदू जनता भारत

टिप्पणी

के साथ विलय चाहती थी। अतः प्रजा ने शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, समस्त क्षेत्र अशान्त एवं उपद्रवग्रस्त हो गया और शासक को पाकिस्तान भागने पर मजबूर होना पड़ा। इन परिस्थितियों में जूनागढ़ के दीवान शाह नवाज भुट्टो (जुल्फिकार अली भुट्टो के पिता) ने रियासत में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने हेतु भारत सरकार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। भारत के राष्ट्रवादी नेता रजवाड़ों के दावों के स्थान पर आम जनता की सम्प्रभुता का अधिक आदर करते थे। सरदार पटेल का मानना था कि जूनागढ़ के संदर्भ में निर्णायक मत जनता का ही होना चाहिए। इसके विपरीत बिना जनमत संग्रह के ही पाकिस्तान ने जूनागढ़ का विलय स्वीकार कर लिया था।

जूनागढ़ के नवाब के आमंत्रण पर जूनागढ़ रियासत में शांतिस्थापना के निमित्त भारतीय सेना वहां पहुंच गई। फरवरी 1948 ई. में वहां एक जनमत संग्रह कराया गया जो कि पूर्णतः भारत में विलय के पक्ष में था। रियासत के प्रतिनिधियों ने अपनी रियासत को काठियावाड़ के संयुक्त राज्य में विलय करने का निश्चय किया और तद्नुसार ही 20 जनवरी, 1949, ई. को जूनागढ़ का विलय भारत में हो गया।

कश्मीर का भारत में विलय

कश्मीर रियासत की सीमा भारत एवं पाकिस्तान दोनों से मिलती थी, इसका क्षेत्रफल 84,471 वर्गमील एवं जनसंख्या 44 लाख थी। यहां की तीन–चौथाई (75 प्रतिशत) आबादी मुस्लिम थी एवं शेष आबादी हिंदू, सिख या बौद्ध थी। कश्मीर रियासत का शासक हरिसिंह हिंदू था एवं वह भारत के जनवाद और पाकिस्तान के संप्रदायवाद दोनों से ही डरकर, दोंनो के ही साथ विलय से बचना चाहता था। इसके विपरीत यहां की राजनीतिक पार्टी नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला, कश्मीर का भारत के साथ विलय चाहते थे। जूनागढ़ एवं हैदराबाद की तरह भारतीय राजनीतिज्ञों ने यह अधिकार कश्मीर रियासत की जनता को ही सौंपा कि वह जनमत संग्रह कर भारत अथवा पाकिस्तान में विलय के पक्ष में निर्णय दे। महात्मा गांधी ने भी अगस्त 1947 ई. में कश्मीर की जनता से कहा कि वह अपनी इच्छानुसार भारत अथवा पाकिस्तान के साथ विलय हेतु स्वतंत्र है। लॉर्ड माउंटबेटन ने भी महाराज हरिसिंह को सलाह दी कि वह जनमत संग्रह अथवा प्रतिनिधि सार्वजनिक सभाओं के द्वारा अपनी प्रजा की इच्छा जाने बगैर किसी डोमीनियन में शामिल न हों।

पाकिस्तान जूनागढ़ और हैदराबाद की भांति कश्मीर में भी जनता मत के सिद्धांत को नकार रहा था। पाकिस्तान की मदद से वहां के कबायली लोग पाक सेना के अफसरों के नेतृत्व में कश्मीर की सीमा पर अतिक्रमण करने लगे। जब वे श्रीनगर पर कब्जा करने वाले थे तो 24 अक्टूबर, 1947 ई. को महाराज हरिसिंह ने भारत से इन पाकिस्तानी पठान कबायलियों के विरुद्ध सहायता मांगी। जवाहर लाल नेहरू कश्मीर की जनता की इच्छा जाने बगैर कश्मीर का भारत में विलय कराने के पक्ष में नहीं थे। उधर माउंटबेटन ने यह दलील दी कि अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार कश्मीर का भारत में औपचारिक विलय होने के उपरांत ही भारत वहां अपनी सेनाएं भेज सकता है। इन परिस्थितियों में 26 अक्टूबर, 1947 ई. को महाराज हरिसिंह ने विलय के प्रवेश–लिखित पर हस्ताक्षर कर दिए और शेख अब्दुल्ला को रियासत के प्रशासन का प्रमुख बनाने को तैयार हो गए। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस समय हरिसिंह और शेख अब्दुल्ला कश्मीर का भारत के साथ स्थायी विलय चाहते थे परंतु यहां भारतीय नेताओं की

जनवादी प्रतिबद्धता ने एकदम ऐसा नहीं किया, उन्होंने घोषणा की कि कश्मीर में शांति बहाली के उपरांत जनमत संग्रह द्वारा ही विलय कराया जाएगा।

टिप्पणी

26 अक्टूबर, को कश्मीर के राजा हरिसिंह द्वारा विलय हेतु प्रवेश–लिखित पर हस्ताक्षर करने के उपरांत 27 अक्टूबर, 1947 को लगभग 100 हवाई जहाजों में भरकर सैनिक और हथियार श्रीनगर पहुंचाए गए और आक्रमणकारियों को कश्मीर घाटी के अधिकांश हिस्सों से बाहर खदेड़ दिया परंतु कुछ छुट–पुट स्थानों पर वे बने रहे और मुठभेड़ होती रही। ऐसे में भारत–पाकिस्तान में युद्ध के आसन्न खतरे को देखते हुए लॉर्ड माउंटबेटन ने कश्मीर मामला संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में रखने की सलाह दी। भारत इसके निमित्त तैयार हो गया और उसने सुरक्षा परिषद से पाकिस्तान द्वारा अधिगृहीत किए गए कश्मीर के भू–भाग को खाली करवाने का आग्रह किया। भारत की यह बड़ी भारी भूल थी। क्योंकि ब्रिटेन एवं अमेरिका के निर्देश पर सुरक्षा परिषद ने पाकिस्तान का पक्ष लिया और कश्मीर प्रश्न को भारत–पाक विवाद में तब्दील कर दिया। नेहरू भी अपने पूर्व निर्णय पर बहुत पछताए। अंततः 31 दिसंबर, 1948 ई. को भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध विराम स्वीकार कर लिया गया।

1951 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक प्रस्ताव पारित कर कहा कि पाक अधिकृत कश्मीर में से पाकिस्तान की सेनाएं हटाये जाने के पश्चात वहां जनमत संग्रह कराया, जाएगा, परंतु पाकिस्तान ने अपनी सेनाएं हटाने से इनकार कर दिया। इस प्रकार कश्मीर समस्या तब से आज तक भारत पाक के बीच विवाद का प्रमुख मुद्दा बनी हुई है। एक ओर भारत कश्मीर के अपने साथ किए गए विलय को अंतिम मानता है तो दूसरी ओर पाकिस्तान इस विलय को स्वीकार नहीं करता।

रियासतों का एकीकरण

रियासतों के विलय एवं एकीकरण की प्रक्रिया चार सोपानों में पूर्ण की गई। ह्वाइट पेपर के अनुसार एकीकरण का लक्ष्य यह था कि देश के सब तत्वों का एकीकरण करके स्वतंत्र और लोकतन्त्रीय भारत का निर्माण किया जाए। यह एकीकरण निम्नानुसार था–

- छोटी–छोटी रियासतों को या तो आपस में मिलाकर केंद्र शासित प्रदेशों में बदल दिया गया या फिर पड़ोसी राज्य में मिला दिया गया। रियासतों का एकीकरण पांच नए समूहों में किया गया–

  (क) मध्य भारत संघ, (ख) राजस्थान संघ, (ग) पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य संघ, (घ) सौराष्ट्र संघ, एवं (ङ) ट्रावनकोर–कोचीन संघ।

- इस संघ में सम्मिलित सबसे बड़े राज्य के नरेश को राज प्रमुख बनाया गया जिनकी स्थिति प्रांतीय राज्यपाल के समान थी। कुछ छोटी रियासतों को समीपस्थ प्रांत में सम्मिलित किया गया, जैसे उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की 39 रियासतों का विलय उड़ीसा अथवा मध्य प्रांत में 1 जनवरी, 1948 ई. को कर दिया गया। गुजरात के राज्य बम्बई प्रांत में सम्मिलित कर दिए गए।

- कुछ रियासतों का एकीकरण कर उन्हें केंद्रशासित क्षेत्र बना दिया गया, जैसे कि ब्रिटिश शासन काल में चीफ कमिश्नर के प्रांत थे। हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, कच्छ, बिलासपुर, भोपाल, त्रिपुरा एवं मणिपुर ऐसे ही क्षेत्र थे। पूर्वी पंजाब की 21 रियासतों को मिलाकर हिमाचलप्रदेश संघ बनाया गया। बुंदेलखंड और बघेलखंड की 35 रियासतों को मिलाकर विंध्य प्रदेश बनाया गया।

टिप्पणी

- मैसूर, हैदराबाद और जम्मू एवं कश्मीर, चूंकि बड़ी रियासतें थीं, अतः ये ज्यों के त्यों भारत संघ के राज्य बना दिए गए।

इस प्रकार भारतीय रियासतों के एकीकरण का कार्य संपन्न हो गया। फ्रांसीसी आधिपत्य वाला पांडिचेरी 1954 ई. में फ्रांसीसियों द्वारा भारत को सौंप दिया गया। गोवा को 17 दिसंबर, 1961 ई. को पुर्तगाली आधिपत्य से मुक्त करा लिया गया। इस प्रकार भारत का क्षेत्रीय और राजनीतिक एकीकरण का महायज्ञ पूर्णतः संपन्न हो गया।

रियासतों का पुनर्गठन

भाषाओं के आधार पर रियासतों के पुनर्गठन की मांग को देखते हुए एक राज्य पुनर्गठन आयोग बनाया गया जिसके अध्यक्ष फजल अली एवं अन्य दो सदस्य पं. ह्रदय नाथ कुंजरू एवं सरदार के. एम. पणिक्कर थे। इसने सितम्बर 1955 ई. में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में 16 राज्य व 3 केंद्रशासित प्रदेश बनाने की सिफारिश की। 1956 ई. में संसद द्वारा राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार 14 राज्य और 6 केंद्रशासित प्रदेश बनाए गए। 1961 ई. में बम्बई को गुजरात और महाराष्ट्र में बांट दिया गया। 1962 ई. में नागालैंड को पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। 1966 ई. में पंजाब से हरियाणा अलग कर दिया गया। 1971 ई. में हिमाचल प्रदेश को राज्य बना दिया गया, उसी वर्ष मणिपुर, त्रिपुरा एवं मेघालय को राज्यों का दर्जा दे दिया गया। 1971 ई. में ही भारत के संविधान को बदल दिया गया और भारतीय रियासत के शासकों के विशेष अधिकारों एवं प्रिवीपर्स को समाप्त कर दिया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. रियासतों के भारत में विलय का श्रेय किसको दिया जाता है?

   (क) महात्मा गांधी (ख) पं. जवाहरलाल नेहरू

   (ग) सरदार वल्लभ भाई पटेल (घ) जी.बी. पंत

4. 1947 में भारत की आजादी से पूर्व भारत में रियासतों की संख्या कितनी थी?

   (क) 510 (ख) 562

   (ग) 573 (घ) 580

5.4 नियोजित अर्थव्यवस्था का प्रारंभ

भारत में आर्थिक विकास के लिए आयोजन के महत्व को स्वतंत्रता से पूर्व ही स्वीकार कर लिया गया था। आयोजन की दिशा में पहला अकादमिक कार्य एम. विश्वेश्वरैय्या ने 'भारत के लिए आयोजित अर्थव्यवस्था' नामक पुस्तक के माध्यम से किया जिसके अंतर्गत उन्होंने भारत के आर्थिक विकास की 10 वर्षीय योजना का प्रारूप सामने रखा था। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् एन.एस. सुब्बाराव की 'सम आस्पैक्ट ऑफ प्लानिंग', डॉ. पी.एस. लोकनाथ की 'प्रिंसीपल्स ऑफ प्लानिंग' व के.एन. सिंह की 'आर्थिक पुनर्निर्माण' नामक पुस्तकें सामने आईं।

1938 में कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना की, जिसे भारत के लिए राष्ट्रीय योजना बनानी थी। समिति के कार्य में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बाधा पहुंची तथा समिति 1948 में ही अपनी रिपोर्ट जारी कर

टिप्पणी

पाई। 1944 में आठ अग्रणी उद्योगपतियों ने भारत के आर्थिक विकास की योजना तेयार कर प्रकाशित की। 'ए प्लान ऑफ इकोनोमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया' नामक इस योजना में 15 वर्षों में 10,000 करोड़ रुपये के व्यय के माध्यम से प्रति व्यक्ति आय को दुगना करने की योजना थी। 'बॉम्बे प्लान' के नाम से विख्यात इस योजना में कृषि निर्गत में 130 प्रतिशत, औद्योगिक निर्गत में 500 प्रतिशत व सेवा क्षेत्र के निर्गत में 200 प्रतिशत वृद्धि की आशा की गई थी।

अगस्त 1944 में भारत सरकार ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सर ए. दलाल की अध्यक्षता में आयोजन व विकास विभाग का गठन किया।

बॉम्बे प्लान के अतिरिक्त एम.एन. राय ने भारतीय श्रमिक परिसंघ की ओर से 'पीपुल्स प्लान' तैयार किया। गांधीवादी सिद्धांतों पर आधारित 'गांधीवादी योजना' आचार्य श्री मन्नारायण ने सामने रखी। भारत में आयोजन के संस्थाकरण की सिफारिश आजादी के पश्चात् जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में गठित आर्थिक कार्यक्रम समिति ने 25 जनवरी, 1948 को की। इन्हीं सिफारिशों के आधार पर मार्च 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई।

भारत में योजना निर्माण संगठन

आयोजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसके लिए अर्थशास्त्र, कृषि, उद्योग, समाजशास्त्र, सांख्यिकी, परिवार नियोजन, आयोजन एवं प्रशासन संबंधी विषयों का विशेष ज्ञान होना अनिवार्य है। आयोजन की योजनाओं को सुव्यवस्थित, ठोस वास्तविकताओं, गंभीर बौद्धिक चिंतन–मनन एवं सुदृढ़ अकादमिक आधार पर निर्मित करने के उद्देश्य से 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग के अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास परिषद व राष्ट्रीय आयोजन परिषद भी योजनाएं तैयार करने में योगदान करती हैं।

योजना आयोगः योजना आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। योजना आयोग के दिन–प्रतिदिन का कार्य पूर्णकालिक उपाध्यक्ष देखता है। केंद्रीय वित्त मंत्री आयोग का पदेन सदस्य होता है। योजना आयोग एक गैर–संवैधानिक परामर्शदात्री संस्था है। आयोग के चार प्रमुख प्रभाग हैं, जिनके माध्यम से आयोग कार्य करता हैः

(अ) समन्वयन प्रभाग : यह दो अन्य उप–प्रभागों से बना है–

1. कार्यक्रम प्रशासन प्रभाग, तथा
2. योजना समन्वयन प्रभाग।

कार्यक्रम प्रशासन प्रभाग संतुलित राष्ट्रीय विकास को सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाने का सुझाव देता है, जबकि योजना समन्वयन प्रभाग आयोग के विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करता है एवं बैठकें आयोजित करता है।

(ब) सामान्य प्रभाग : योजना आयोग में छह सामान्य प्रभाग हैं। इसके अंतर्गत आर्थिक प्रभाग, परिदृश्य आयोजन प्रभाग, श्रम व रोजगार प्रभाग, सांख्यिकी व सर्वेक्षण प्रभाग, संसाधन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान प्रभाग एवं प्रशासन एवं प्रबंधन प्रभाग शामिल हैं।

(स) विषय प्रभाग : योजना आयोग में कृषि, सिंचाई, विद्युत उद्योग, खनिज, लघु व ग्रामीण उद्योग, शिक्षा, परिवहन, स्वास्थ्य, आवास तथा सामाजिक कल्याण से संबद्ध दस विषय प्रभाग हैं।

(द) विशिष्ट विकास कार्यक्रमों से संबद्ध एक पृथक् प्रभाग योजना आयोग में है।

टिप्पणी

राष्ट्रीय विकास परिषद

राष्ट्रीय विकास परिषद एक गैर–संवैधानिक निकाय है, जिसका गठन आर्थिक नियोजन के लिए राज्यों व योजना आयोग के बीच सहयोग का वातावरण कायम करने के लिए किया गया था। सरकार ने 6 अगस्त, 1952 में इसकी स्थापना की थी। भारत का प्रधानमंत्री इसका पदेन अध्यक्ष होता है एवं केंद्रीय मंत्रिमंडल के समस्त सदस्य, योजना आयोग के समस्त सदस्य, राज्यों के मुख्यमंत्री व संघ शासित प्रदेशों के प्रशासक इसके सदस्य होते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना सहकारी संघवाद का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

राष्ट्रीय विकास परिषद के निम्नलिखित कार्य हैं–

1. राष्ट्रीय योजना के संचालन का समय–समय पर मूल्यांकन करना।
2. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली नीतियों की समीक्षा करना।
3. राष्ट्रीय योजना में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना एवं राष्ट्रीय नियोजन में अधिक से अधिक जन सहयोग प्राप्त करना, प्रशासनिक दक्षता को सुदृढ़ता प्रदान करना, राष्ट्रीय विकास के संसाधनों का निर्माण करना।
4. योजना आयोग की योजना का अध्ययन करना व विचार–विमर्श के पश्चात् उसे अंतिम रूप प्रदान करना।

योजना निर्माण की प्रक्रिया

योजना निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है तथा प्रत्येक योजना के नेपथ्य में एक वृहत् तंत्र का योगदान होता है। योजना–निर्माण स्वीकृति से लेकर क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में विभिन्न निकायों एवं सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

योजना निर्माण स्वीकृति क्रियान्वयन में योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद, केंद्रीय तथा राज्य सरकारें शामिल होती हैं। योजना निर्माण की दृष्टि से योजना आयोग एक महत्वपूर्ण संस्था है। आयोग विभिन्न मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों से परामर्श करके कुछ निश्चित बिंदुओं तथा परियोजनाओं के लिए पूर्वानुमान लगाता है।

इसके अतिरिक्त आयोग, नियोजन प्राथमिकताओं को भी निश्चित करता है तथा देश में उपलब्ध नैतिक, पूंजीगत तथा मानवीय साधनों एवं संसाधनों का अनुमान लगाता है। इस प्रकार प्राक्कलन का यह पहला चरण समाप्त हो जाता है।

दूसरे चरण में केंद्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी–अपनी योजनाएं बनाते हैं। इन योजनाओं को योजना आयोग को प्रेषित कर दिया जाता है। आयोग, सरकारों द्वारा भेजी गई योजनाओं का अध्ययन करता है तथा विभिन्न सरकारों द्वारा प्रस्तावित योजनाओं का एकीकरण करता है। इस दौरान आयोग विभिन्न विशेषज्ञों तथा राजनीतिक दलों से गंभीर मंत्रणा भी करता है। इस प्रक्रिया के पश्चात् आयोग योजना का प्रारूप जारी कर देता है।

तृतीय चरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इस चरण की शुरुआत आयोग द्वारा 'योजना का प्रारूप' जारी करने के पश्चात् होती है। प्रारूप जारी हो जाने के बाद आयोग तथा विभिन्न सरकारों के मध्य चर्चा चलती है। इस चर्चा का उद्देश्य राज्य स्तरीय परियोजनाओं की प्रकृति को निर्धारित करना होता है। प्रकृति निर्धारित हो जाने

टिप्पणी

के पश्चात् आयोग केंद्रीय मंत्रिमंडल से परामर्श करता है तथा विभिन्न मंत्रालयों से परामर्श करने के पश्चात् योजना का अंतिम प्रारूप कैबिनेट के समक्ष प्रस्तुत करता है। कैबिनेट के अनुमोदन के पश्चात् योजना प्रारूप राष्ट्रीय विकास परिषद को भेज दिया जाता है। रा.वि.प. आयोग द्वारा प्रस्तावित योजना को अंतिम रूप से स्वीकृत करती हे। इसके उपरांत योजना संसद में पेश की जाती है, जहां अनुमोदन के पश्चात् यह 'सरकारी योजना' बन जाती है और उसका प्रकाशन कर दिया जाता है।

योजना निर्माण की इस जटिल प्रक्रिया के पश्चात् राज्य व केंद्रीय सरकारें योजना को क्रियान्वित करने के लिए प्रयास करती हैं। यहां राज्य स्तर पर नियोजन की प्रक्रिया को देखना भी आवश्यक होगा। राज्य स्तर पर नियोजन के निकाय योजना का प्रारूप बनाकर उन्हें योजना आयोग तथा राज्य व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक राज्य का अपना एक नियोजन विभाग होता है, जो राज्य सरकार की योजना का निर्माण करता है। यद्यपि इस दौरान राज्य सरकार लगातार योजना आयोग के संपर्क में रहती है। योजना का अधिकतम विकेंद्रीकरण करने के उद्देश्य से सातवीं योजना की अवधि में जिला स्तरीय नियोजन का प्रयोग किया गया और इस प्रयोग के लिए लगभग एक सौ जिलों को इस नियोजन के लिए चुना गया था।

भारतीय आयोजन की आधारशिला

जब भारत आजाद हुआ तब भारत गरीबी, बेरोजगारी व अल्परोजगार, अशिक्षित एवं अकुशल श्रम, गतिहीन कृषि, अर्द्ध–सामंती संबंधों, उद्योगों के अल्प–विकास तथा अपर्याप्त आधारभूत संरचना जैसी समस्याओं से ग्रस्त था। इन समस्याओं के उन्मूलन के लिए वृहत् प्रयासों के आयोजन की आवश्यकता थी।

उस काल में आर्थिक विचारधाराओं पर सोवियत रूस की सफलता का विशेष प्रभाव था। भारतीय आयोजन के शिल्पकार जवाहरलाल नेहरू स्वयं समाजवाद व सोवियत व्यवस्था से प्रभावित थे। समाजवाद के लिए सैद्धांतिक आधार कार्ल मार्क्स व फ्रेड्रिक एंजेल्स ने सर्वप्रथम रखा था जिनका मानना था कि विश्व से शोषण की समाप्ति के लिए उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व समाप्त होना चाहिए। इन विचारों से प्रभावित होकर सोवियत रूस में पहली बार पूर्ण राष्ट्रवाद पर आधारित आर्थिक आयोजन को विकास का माध्यम स्वीकार कर लागू किया गया था। सोवियत रूस ने गरीबी, बेरोजगारी व भूख की समाप्ति के लिए आर्थिक आयोजन को चुना। 1928 के पश्चात् रूस में ऐतिहासिक परिवर्तन हुए व रूस के आर्थिक विकास व औद्योगीकरण की दर ऐतिहासिक थी जिससे अनेक अल्पविकसित राष्ट्रों ने प्रेरणा ली। 1929 की महान मंदी से रूसी अर्थव्यवस्था के अप्रभावी रहने के कारण भी इस व्यवस्था के प्रति विश्वास बढ़ा एवं गरीबी, बेरोजगारी व भूख की समाप्ति में आयोजन की भूमिका को स्वीकारा जाने लगा। इन सबका प्रभाव भारतीय आयोजन पर भी हुआ।

भारत में पहली बार किसी लोकतांत्रिक राष्ट्र में आयोजन का प्रयोग किया गया। भारत में सोवियत रूस के आयोजन को पूंजीवादी लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ समायोजित कर आर्थिक व सामाजिक विकास का प्रयास किया गया। लोकतांत्रिक समाजवाद के निम्नलिखित मुख्य लक्षण हैं–

- सभी के लिए समान अवसर,
- गरीबी का उन्मूलन,

टिप्पणी

- आय एवं संपत्ति की असमानताओं में कमी,
- मिश्रित अर्थव्यवस्था में विश्वास,
- एकाधिकारिक प्रवृत्तियों एवं आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण को रोकना, तथा
- आर्थिक निर्णयों का आधार निजी लाभ न होकर सामाजिक लाभ होना।

आयोजन और भारत (1951–1966)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56): प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभ में भारतीय अर्थव्यवस्था के समक्ष अनेक संकट विद्यमान थे। जहां एक ओर गंभीर खाद्य संकट, शरणार्थियों की समस्या व मुद्रा–स्फीति की समस्या से भारतीय अर्थव्यवस्था को जूझना था, वहीं दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध व विभाजन से छिन्न–भिन्न भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण भी करना था। इसलिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्य संकट से निबटने के लिए कृषि पर मुख्य बल दिया गया था। साथ ही मुद्रा–स्फीति पर काबू पाने को भी उच्च प्राथमिकता दी गई थी।

उद्देश्य

- खाद्य उत्पादन बढ़ाना।
- विभाजन व द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण अर्थव्यवस्था में उत्पन्न असंतुलन को दूर करना।
- उपलब्ध कच्चे माल का अनुकूलतम प्रयोग करना।
- मुद्रा–स्फीति दबाव को नियंत्रण में रखना।
- सड़क, रेल, सिंचाई, विद्युत जैसी आधारभूत संरचना का निर्माण करना।
- आय व संपत्ति की असमानताओं को कम करना।

परिव्यय : प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल 3,870 करोड़ रुपये के परिव्यय की व्यवस्था थी, जिसमें से 2,070 करोड़ रुपये (जिसे बाद में बढ़ाकर 2,378 करोड़ रुपये किया गया), सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश के लिए रखा गया। परंतु वास्तव में 1960 करोड़ रुपये ही सार्वजनिक क्षेत्र पर व्यय किए गए। सार्वजनिक क्षेत्र के कुल परिव्यय का 44.6 प्रतिशत विकास कार्यों पर व्यय किया गया। इस दौरान निजी क्षेत्र में कुल 1800 करोड़ रुपये का निवेश किया गया।

उपलब्धियां : प्रथम पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियां उल्लेखनीय रहीं एवं इस योजना के दौरान अनेक क्षेत्रों में सुनिश्चित लक्ष्यों से अधिक की प्राप्ति की गई।

1. इस योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में मात्र 11 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था, जबकि कुल वुद्धि हुई थी 18 प्रतिशत। पहली योजना की समाप्ति के समय 8,850 करोड़ रुपये से राष्ट्रीय आय बढ़कर 10,480 करोड़ रुपये पहुंच गई। इस योजना काल में प्रति व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि प्रति व्यक्ति उपभोग में 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना की शुरुआत के पूर्व 1950–51 में विनियोग दर 5 प्रतिशत थी, जो योजना की समाप्ति के बाद के समय 1955–56 में लगभग 7.3 प्रतिशत हो गई।
2. खाद्यान्न उत्पाद 1951–52 के 52.2 मिलियन टन से बढ़कर 1955–56 में 65.8 मिलियन टन हो गया। योजना में लक्ष्य मात्र 61.6 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन का था। इस प्रकार, प्रथम योजना काल में खाद्यान्न उत्पादन में लगभग

टिप्पणी

20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कपास, जूट, गन्ना और तिलहन के उत्पादन लक्ष्यों को हासिल किया गया। इस योजना काल में 160 लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध कराई गईं। वृहत् सिंचाई परियोजनाओं द्वारा 60 लाख एकड़ भूमि तथा मध्यम एवं लघु सिंचाई परियोजनाओं द्वारा लगभग 100 लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराई गई।

3. इस योजना काल में औद्योगिक उत्पादों में पर्याप्त वृद्धि हुई। योजना की अवधि में औद्योगिक उत्पादन में 8 प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि हुई। मिल–निर्मित कपड़े और इंजन का उत्पादन लक्ष्य से अधिक हुआ। वस्त्रों का उपयोग 8.5 मीटर प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष से बढ़कर 14.3 मीटर प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष हो गया। इस योजना काल में तेल परिशोधन, जहाज निर्माण, वायुयान, रेल बोगी निर्माण आदि अनेक नए उद्योग स्थापित किए गए। विद्युत उत्पादन के स्तर को 3.6 मिलियन किलोवाट तक पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया था, जबकि इसे 3.4 मिलियन किलोवाट तक पहुंचाया गया। योजना की शुरुआत के समय विद्युत उत्पादन का स्तर 2.3 मिलियन किलोवाट था।
4. प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में शैक्षणिक क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। इस योजना काल में प्राथमिक विद्यालयों में छात्रों की उपस्थिति में 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक अनुमान के अनुसार, स्वास्थ्य सेवाओं पर 101 करोड़ रुपये का व्यय किया गया। बड़ी संख्या में चिकित्सालयों तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों की भी स्थापना की गई।
5. इस योजना काल में रेलवे एवं सड़क परिवहन का पर्याप्त विकास हुआ। लगभग 380 मील लंबी नई रेलवे लाइन का विकास किया गया और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान क्षतिग्रस्त हो गई 430 मील लंबी रेल लाइन को फिर से सुचारु बनाया गया। राष्ट्रीय राजमार्गों में 30 बड़े पुलों के साथ 636 मील का विस्तार किया गया और 4,000 मील लंबी वर्तमान सड़क में सुधार किया गया।
6. पहली पंचवर्षीय योजना में किसी भी क्षेत्र में स्पष्ट स्फीतिकारक परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई। ऐसा विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त उत्पादन से ही संभव हो सका (विशेषकर कृषि क्षेत्र के उत्पादन से)। योजना की समाप्ति के समय योजना के आरंभिक समय की अपेक्षा मूल्यों में 13 प्रतिशत की कमी आई थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956–61): द्वितीय पंचवर्षीय योजना, प्रथम योजना की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और उम्मीदों से परिपूर्ण थी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य औद्योगीकरण और आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक आधार विकसित करना था। 1948 की औद्योगिक नीति को जारी रखा गया और इसके साथ ही 1956 की नई औद्योगिक नीति घोषणा को ग्रहण किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र को और अधिक विकसित करते हुए समाजवादी समाज की स्थापना पर बल प्रदान करते हुए द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1956 में शुरू की गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य : इस योजना के निम्नांकित प्रमुख उद्देश्य थे–

1. जीवन स्तर को विकसित करने के लिए राष्ट्रीय आय में त्वरित वृद्धि।
2. देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण– विशेषकर उन उद्योगों का विकास, जो देश की मूलभूत आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में सक्षम हैं।

टिप्पणी

3. श्रम साध्य कार्यक्रमों एवं लघु उद्योगों का सृजन कर रोजगार में व्यापक पैमाने पर वृद्धि।
4. आय तथा संपत्ति की असमानताओं को कम करना तथा आर्थिक शक्ति के समान वितरण की व्यवस्था करना।
5. 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करना।

परिव्यय : द्वितीय पंचवर्षीय योजना को 'औद्योगिक एवं परिवहनीय योजना' की संज्ञा दी जाती है, जबकि पहली पंचवर्षीय योजना को 'कृषि एवं सिंचाई' योजना कहा गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में 4,800 करोड़ रुपये के परिव्यय का प्रावधान किया गया था, परंतु वास्तविक व्यय 4,600 करोड़ रुपये हुआ। इसमें से 3,600 करोड़ रुपये सरकारी विनियोग और 950 करोड़ रुपये सरकारी परिव्यय था। निजी क्षेत्र में 3,100 करोड़ रुपये के परिव्यय का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार, इस योजना में परिव्यय के लिए कुल राशि 6,750 करोड़ रुपये थी।

उपलब्धियां

- भारत की राष्ट्रीय आय में 19.5 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर कम रही। राष्ट्रीय आय 11,670 करोड़ से बढ़कर 14,140 करोड़ रुपये हो गई। इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय 299 रुपये से बढ़कर 326 रुपए हो गई (1960–61 के मूल्यों के आधार पर)। इस योजना काल में जनसंख्या वृद्धि 2 प्रतिशत वार्षिक से भी अधिक रही। राष्ट्रीय आय में वृद्धि लक्ष्य से 5.5 प्रतिशत कम रही और उसका कारण परिकल्पित आशावादी पूंजी–उत्पाद अनुपात था।
- खाद्यान्न उत्पादन 65 मिलियन टन से बढ़कर 75 मिलियन टन हो गया। इस प्रकार, इस क्षेत्र में लगभग 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। वस्त्रोत्पादन में 31.5 प्रतिशत, चाय उत्पादन में 9 प्रतिशत, गन्ना उत्पादन में 22 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। किंतु, जूट उत्पादन में कमी आई। 210 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि हेतु सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराई गई।
- द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने भारत को औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध बनाया। इस योजना काल से भारत ने व्यापक स्तर पर मशीनों, कृषि के लिए यांत्रिक उपकरणों, भारी अभियांत्रिक उपकरणों, वैज्ञानिक उपकरणों, औद्योगिक उपकरणों और परिवहन से संबद्ध उपकरणों का उपयोग शुरू कर दिया। इस योजना काल में 10 लाख टन लौह उत्पादन की क्षमता वाले तीन संयंत्रों की दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल), राउरकेला (ओडिशा) और भिलाई (मध्य प्रदेश) में स्थापना की गई। टाटा लौह एवं इस्पात संयंत्र (टिस्को), भारतीय लौह एवं इस्पात संयंत्र और मैसूर लौह एवं इस्पात संयंत्र की उत्पादन क्षमता क्रमशः 7 लाख टन, 5 लाख टन और 75 हजार टन तक पहुंच गई। औद्योगिक क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलबिध यह थी कि अब कुछ नवीन महत्वपूर्ण उत्पादों के उत्पादन की शुरूआत हुई, यथा– ट्रैक्टर, मुद्रण यंत्र, मोटर साइकिल, स्कूटर, एंटीबायोटिक औषधि, डी.डी.टी. आदि।
- विद्युत उत्पादन का स्तर पूर्व के 3.5 मिलियन किलोवाट से बढ़कर 5.7 मिलियन किलोवाट हो गया।
- इस योजना काल में 9.5 प्रतिशत रोजगार वृद्धि दर प्राप्त की गई।

टिप्पणी

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66): इस पंचवर्षीय योजना में दीर्घकालिक विकास पर ध्यान केंद्रित किया गया। आयोजना आर्थिक विकास की एक निरंतर प्रक्रिया है– इस बात को अनुभव करते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में द्वितीय योजना के ही अधूरे कार्यों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। तृतीय योजना में इस बात पर बल दिया गया कि जहां तक संभव हो सके कृषि–उत्पादन का विस्तार किया जाए और कृषि क्षेत्र से जनसंख्या का दबाव कम किया जाए।

उद्देश्य

तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित थे–

1. राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत से अधिक की वार्षिक वृद्धि प्राप्त करना। विनियोग की संरचना इस प्रकार से करना कि आगामी वर्षों में भी इस दर को कायम रखा जा सके।
2. खाद्यान्नों के उत्पादन तथा आपूर्ति में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योग और निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि उत्पादन बढ़ाना।
3. आधारभूत उद्योगों, यथा– लौह एवं इस्पात, रासायनिक उद्योगों, ईंधन तथा संचालन शक्ति का विस्तार करना और संयंत्र निर्माण की क्षमता विकसित करना ताकि औद्योगीकरण की आवश्यकताओं को आगामी दस वर्षों में देश के आंतरिक साधनों द्वारा पूरा किया जा सके।
4. देश की मानव–शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करना और रोजगार के अधिकाधिक अवसरों को सृजित करना।
5. समय के साथ–साथ अधिकाधिक मात्र में जनता को समान अवसर उपलब्ध कराना, आय तथा संपत्ति की असमानताओं को कम करना तथा आर्थिक शक्ति का समान वितरण करने की अधिकाधिक व्यवस्था करना।
6. राष्ट्रीय आय में 30 प्रतिशत की वृद्धि कर 1960–61 के 14,500 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1965–66 में 19,000 करोड़ रुपये करना तथा प्रति व्यक्ति आय में इसी अवधि में 17 प्रतिशत की वृद्धि कर 330 रुपये से 385 रुपये पर पहुंचाना।

योजना परिव्यय : तृतीय पंचवर्षीय योजना पर कुल 11,600 करोड़ रुपये के व्यय का प्रावधान था, जिसमें से 7,500 करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आवंटित थे। इस योजनावधि में सार्वजनिक क्षेत्र में वास्तविक व्यय 8,577 करोड़ रुपये किया गया। निजी क्षेत्र में कुल 10,400 करोड़ रुपये के विनियोग का लक्ष्य रखा गया था।

उपलब्धियां : तृतीय पंचवर्षीय योजना कई दृष्टियों से पूर्णतया असफल रही। परिवहन, संचार एवं सेवाओं के क्षेत्र में लक्ष्य को प्राप्त किया जा सका। कृषि उत्पादन का स्तर 82 मिलियन टन से गिरकर 72 मिलियन टन पर पहुंच गया। खाद्यान्नों के मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई। औद्योगिक क्षेत्र में आशा से कम उत्पादन हुआ।

इस योजना काल में राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था, जबकि आय में मात्र आधी मात्र हासिल की जा सकी। 1965–66 में तो राष्ट्रीय आय में 4.2 प्रतिशत की कमी ही आ गई थी। योजना की समाप्ति पर कर–आय अनुपात कुल राष्ट्रीय आय का 14 प्रतिशत हो गया, परंतु बचत–आय अनुपात 10.5 प्रतिशत तक ही बढ़ सका।

टिप्पणी

तीसरी पंचवर्षीय योजना की असफलता के निम्नांकित प्रमुख कारण थे–

- 1962 का चीनी आक्रमण,
- 1965 का भारत–पाकिस्तान युद्ध,
- 1964–65 तथा 1965–66 में मानसून के असफल हो जाने के कारण आया भयंकर अकाल,
- भू–सुधार उपायों को लागू न करना और कृषकों को कृषि आदानों की अनुपलब्धता, और
- केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोगात्मक रुख का अभाव।

अपनी प्रगति जांचिए

5. योजना आयोग का गठन कब किया गया था?

   (क) 12 फरवरी, 1948 (ख) 15 मार्च, 1950

   (ग) 18 अप्रैल, 1952 (घ) 21 जनवरी, 1954

6. द्वितीय पंचवर्षीय योजना का काल कब से कब तक रहा?

   (क) 1947–1951 (ख) 1951–1956

   (ग) 1956–1961 (घ) 1961–1966

5.5 भूमि अधिग्रहण और औद्योगिक नीति

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों ने भूमि के प्रश्न पर कभी ध्यान नहीं दिया तथा उनका मुख्य उद्देश्य किसानों से ज्यादा से ज्यादा भू–राजस्व अर्जित करना था। इसीलिए उन्होंने भूमि के सुधार के लिए कोई कदम नहीं उठाया। यहां तक कि उन्होंने भूमि का वास्तविक मालिक ऐसे बिचौलियों एवं जमींदारों को बना दिया, जो अंग्रेजों को ज्यादा भू–राजस्व दे सकते थे। ये लोग भी भूमि में कोई रुचि नहीं रखते थे तथा वे किसानों से ज्यादा से ज्यादा भू–राजस्व एकत्रित करने के प्रयास में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्ति अंग्रेजों ने भूमि या कृषि का वाणिज्यीकरण किया अर्थात वे किसानों को ऐसी फसलों को उगाने के लिए विवश करते थे, जिनका वाणिज्यिक महत्व हो, जैसे–नील। इन सभी से देश में भूमि का निम्नीकरण होता गया तथा बहुत से किसानों ने भूमि से नाता ही तोड़ लिया एवं दूसरे प्रकार के कार्य करने लगे।

स्वतंत्रता के उपरांत देश की सरकार ने भूमि के प्रश्न को एक गंभीर विषय बना लिया तथा अंग्रेजों के समय आई विसंगतियों को दूर करने के लिए कई प्रकार के कदम उठाए। इसके अंतर्गत कई प्रकार के भू–सुधार नियम लागू किए गए तथा कई कार्यक्रम बनाए गए। आइए हम यहां इन्हीं की चर्चा करते हैं।

भूमि सुधार कार्यक्रम

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम स्वतंत्रता के तुरंत बाद शुरू किया गया। इसके मुख्य दो उद्देश्य थे–

1. किसानों के प्रति सामाजिक न्याय की स्थापना करना।

2. कृषि उत्पादकता एवं उत्पादन में वृद्धि करना।

ये दोनों उद्देश्य एक–दूसरे के पूरक हैं। भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करते समय दो बातों पर विशेष ध्यान दिया गया–

टिप्पणी

1. भूमि व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय और शोषण को समाप्त करना, काश्तकारों की स्थिति मजबूत बनाना तथा ग्रामीण जनसंख्या को समान अधिकार व समान अवसर प्रदान करना।
2. एक ऐसी नई भूमि व्यवस्था को जन्म देना, जिसमें भूमि पर कृषि करने वाला काश्तकार ही उसका वास्तविक स्वामी हो।

भूमि सुधार के अंतर्गत निम्नलिखित उपायों को शामिल किया गया–

1. मध्यस्थों का उन्मूलन या जमींदारी उन्मूलन
2. कृषि का पुनर्गठन
   - जोतों की सीमाबंदी
   - जोतों की चकबंदी
   - सहकारी कृषि एवं
3. काश्तकारी सुधार
   - लगान का नियमन
   - काश्त अधिकार की सुरक्षा
   - काश्तकारों को भूमि स्वामित्व।

इस कार्यक्रम से देश को काफी उम्मीदें थीं लेकिन जमींदारी उन्मूलन कार्यक्रम को छोड़कर शेष सभी सुधार कार्यक्रमों को आंशिक सफलता ही मिल सकी। भारत सरकार ने भूमि सुधारों के अंतर्गत उठाए कदमों के मूल्यांकन के लिए तत्कालीन योजना आयोग के सदस्य प्रो. बी. एस. मिन्हास की अध्यक्षता में समिति (टास्क फोर्स ऑन एगरेरियन रिलेशन) का गठन किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में उन कारणों का विस्तृत उल्लेख किया है जिनके परिणामस्वरूप भारत में भू–सुधार कार्यक्रमों को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो पाई। हालांकि भारत सरकार द्वारा भूमि–सुधारों के लिए उठाए गए ये कदम उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पाए, जितनी अपेक्षा थी। वास्तव में इसकी विफलता के कई कारण हैं।

विफलता के कारण

भारत में विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों की विफलता के कई कारण थे, जैसे–

1. कानूनों में कमियां,
2. राजनैतिक निष्ठा का अभाव, तथा
3. प्रशासनिक तंत्र की उदासीनता, आदि।

हरित क्रांति

1960–70 के दशक में देश में अनाज की पैदावार बढ़ाने के लिए कुछ नए उपाय अपनाए गए। इसे सामान्यतया 'हरित क्रांति' के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः हरित क्रांति

टिप्पणी

से अभिप्राय देश में 1966 के बाद कृषि उत्पादन में हुई उस भारी वृद्धि से है, जो अल्प अवधि में अधिक उपज वाले उन्नत किस्म के बीजों एवं रासायनिक उर्वरकों की नई कृषि तकनीक के फलस्वरूप हुई। देश के कृषि वैज्ञानिक एम.एस.स्वामीनाथन का इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान था।

भारत में नई कृषि युक्ति के अनुसार कृषि उत्पादकता बढ़ाने हेतु पहला संगठित प्रयास 1960–61 में गहन कृषि जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme – IADP) के लिए चयनित सात जिलों में एक मार्गदर्शी परियोजना (Pilot Project) के रूप में किया गया। ये सात जिले थे–अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), लुधियाना (पंजाब), तंजावुर (तमिलनाडु), पश्चिम गोदावरी (आंध्र प्रदेश), रायपुर (छत्तीसगढ़), शाहाबाद (बिहार) और पाली (राजस्थान)। इनमें से प्रथम दो जिले गेहूं, अगले चार जिले चावल तथा अंतिम जिला ज्वार–बाजरा के लिए चुना गया था। सरकार ने अक्टूबर 1965 में इसके संशोधित रूप को 'गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' नाम से देश के 114 चुने हुए जिलों में चलाया।

मैक्सिको में रॉकफैलर फाउंडेशन के विशेषज्ञों (प्रो. नॉर्मन बोरलाग एवं सहयोगी) ने गेहूं की नई उन्नत किस्मों को विकसित किया, जिसके प्रयोग से मैक्सिको में 1965 में गेहूं का उत्पादन 5 से 6 हजार प्रति हेक्टेयर हो गया।

हरित क्रांति का सबसे बड़ा लाभ यह रहा है कि इसकी सहायता से भारतीय किसान को परंपरागत कृषि व्यवहारों के स्थान पर आधुनिक कृषि तकनीक अपनाने के प्रति प्रोत्साहन मिला है। हरित क्रांति से गेहूं एवं धान को लाभ हुआ तथा दलहन एवं तिलहन को हानि हुई।

कृषि ऋण सहकारी समितियां

सहकारी समितियां ग्रामीण ऋण का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इसमें ऋण पर ब्याज की दर सबसे कम है तथा किसान को शोषण का भय भी नहीं है। सहकारिता के क्षेत्र में प्राथमिक कृषि साख समितियां अल्पावधि एवं मध्यावधि ऋण प्रदान करती हैं, जबकि भूमि विकास बैंक (पूर्व के भूमि बंधक बैंक) दीर्घावधि ऋण उपलब्ध कराते हैं। भूमि विकास बैंकों को अब कृषि और ग्रामीण विकास बैंक कहा जाता है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक : 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना की गई। प्रारंभ में ऐसे मात्र 5 बैंक स्थापित किए गए थे, जिनकी संख्या बाद में बढ़कर लगभग 196 हो गई। पहला क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक 2 अक्टूबर, 1975 को **'प्रथमा बैंक'** के नाम से उत्तर प्रदेश में खोला गया था। इन बैंकों का मुख्य उद्देश्य लघु एवं सीमांत किसानों, कृषि श्रमिकों, कारीगरों तथा ग्रामीण लघु उद्यमियों को प्रत्यक्ष ऋण तथा अल्प सुविधाएं प्रदान करना है ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि व्यापार, शिल्प, उद्योग तथा अन्य उत्पादक कार्यकलापों का विकास हो सके। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा दिए गए कुल प्रत्यक्ष ऋणों में कमजोर वर्गों का हिस्सा लगभग 90% है।

नाबार्ड : 'राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक' (नाबार्ड) की स्थापना 12 जुलाई, 1982 को हुई थी। 1963 में स्थापित 'कृषि पुनर्वित निगम' (परिवर्तित नाम कृषि पुनर्वित तथा विकास निगम) को पुनर्गठित करके 1982 में नाबार्ड की स्थापना की गई थी। नाबार्ड के गठन के लिए भारतीय रिजर्व बैंक के कृषि ऋण विभाग, ग्रामीण ऋण एवं योजना

टिप्पणी

प्रकोष्ठ और कृषि पुनर्वित्त तथा विकास निगम का विलयन किया गया। नाबार्ड की स्थापना का मूल उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, लघु व कुटीर उद्योगों, दस्तकारियों और अन्य आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देने हेतु ऋण उपलब्ध कराना है ताकि समेकित ग्रामीण विकास करके ग्रामीण क्षेत्रों को खुशहाल बनाया जा सके।

किसान क्रेडिट कार्ड योजना : 1998–99 में प्रारंभ की गई। यह योजना किसानों को अल्पावधि ऋण सुविधाजनक बनाने की अभिनव परिवर्तन लाने वाली कार्य निधि है।

राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना : 1985 में शुरू की गई। इस योजना को प्रतिस्थापित करके 22 जून, 1999 को फसल बीमा की नवीनतम 'राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना' शुरू की गई और इसे 1999 की रबी फसल से लागू किया गया। राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना का मुख्य उद्देश्य सूखे, बाढ़, ओलावृष्टि, चक्रवात, आग जैसी प्राकृतिक आपदाओं तथा कीट एवं बीमारियों के कारण फसल को हुई क्षति से किसानों का संरक्षण करना है। इस योजना के कार्यान्वयन के लिए एक विशिष्ट संगठन 'भारतीय कृषि बीमा निगम' की स्थापना की गई है।

भारतीय कृषि बीमा निगम : कृषि बीमा निगम की स्थापना पर विचार हेतु गठित कार्यबल के निर्णय पर इस नई कंपनी का नाम ''भारतीय कृषि बीमा कंपनी लि.'' रखा गया है तथा इसे भारतीय साधारण बीमा निगम (GIC) चार सार्वजनिक क्षेत्र की साधारण बीमा कंपनियों–(1) नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लि., (2) न्यू इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लि., (3) ओरियंटल इंश्योरेंस कंपनी लि. तथा (4) यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लि. तथा नाबार्ड से पूंजी भागीदारी के साथ कंपनी अधिनियम, 1956 के अधीन 20 दिसम्बर, 2002 को निगमित किया गया।

बीज फसल बीमा योजना : मौजूदा बीज प्रजनकों/उत्पादकों में विश्वास सुदृढ़ करने और बीज प्रजनकों/उत्पादकों को बीज फसल की पैदावार नहीं होने की दशा में वित्तीय सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से रबी 1999–2000 के मौसम से एक 'बीज फसल बीमा योजना' शुरू की गई है। यह योजना आंध्र प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश राज्यों में अभिज्ञात फसलों यथा– धान, गेहूं, मक्का, ज्वार, बाजरा, चना, मूंगफली, सोयाबीन, सूरजमुखी और कपास के लिए शुरू की गई है।

सहकारिता आंदोलन

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को आयोजित आर्थिक और सामाजिक विकास का आधार माना गया। भारत में सहकारिता आंदोलन का उदय 1904 में भारत सरकार द्वारा 'सहकारी ऋण समिति अधिनियम' के पास होने के बाद हुआ। यह अधिनियम 1901 में ऐडवर्ड ला की अध्यक्षता में सहकारी समितियों के संगठन की संभावना और सफलता पर सुझाव देने के लिए गठित एक समिति की सिफरिशों पर आधारित था। सहकारिता आंदोलन की प्रगति की समीक्षा एवं इसके भावी विकास की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए 1914 में मेक्लेगन समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति की सिफारिशों पर सहकारी समितियों का पुनर्गठन करके गैर–सरकारी व्यक्तियों व संस्थाओं का इस आंदोलन में भाग बढ़ाने के लिए प्रबंध किया गया। 1919 में सहकारिता को केंद्रीय सूची से हटाकर प्रांतीय सूची में रख दिया गया तथा राज्य सरकारों को इसकी जिम्मेदारी सौंपी गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में सहकारिता आंदोलन का अधिक तेजी से विस्तार हुआ।

टिप्पणी

भारत सरकार सहकारिता आंदोलन के पुनर्गठन और विकास के लिए सहकारी आयोजन समिति (1946), अखिल भारतीय ग्राम ऋण समिति (1954), बैकुण्ठलाल मेहता समिति (1960), आदि की सिफारिशों के अनुसार समय–समय पर अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाती रही है।

नैफेड (NAFED) : देश की 3,370 सहकारी विपणन समितियों का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसका प्रमुख कार्य विभिन्न राज्यों के बीच खाद्य उत्पादन के व्यापार को तथा खाद्य उत्पादन के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देना है।

5.5.1 भूमि अधिग्रहण

भूमि अधिग्रहण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरकार (राज्य या संघ) बुनियादी ढांचे के विकास, शहरीकरण या औद्योगिकीकरण के उद्देश्य से निजी भूमि का अधिग्रहण कर सकती है। बदले में, सरकार भूमि के मालिक को बाजार मूल्य के अनुसार उचित मुआवजा देगी और जवाब देगी। प्रभावित भूमि मालिकों के पुनर्वास और पुनर्स्थापन के लिए उपर्युक्त है।

भूमि अधिग्रहण को सरकार की एक ऐसी गतिविधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा यह भूमि के स्वामियों से भूमि का अधिग्रहण करती है, ताकि किसी सार्वजनिक प्रयोजन या किसी कंपनी के लिए इसका उपयोग किया जा सके। यह अधिग्रहण स्वामियों को मुआवजे के भुगतान या भूमि में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के भुगतान के अधीन होता है। आमतौर पर सरकार द्वारा भूमि का अधिग्रहण अनिवार्य प्रकार का नहीं होता है, न ही भूमि के बंटवारे के अनिच्छुक स्वामी पर ध्यान दिए बिना ऐसा किया जाता है।

संपत्ति की मांग और अधिग्रहण समवर्ती सूची में आता है, जिसका अर्थ है केन्द्र और राज्य सरकारें इस मामले में कानून बना सकती हैं। ऐसे अनेक स्थानीय और विशिष्ट कानून हैं जो अपने अधीन भूमि को अधिग्रहण प्रदान करते हैं किन्तु भूमि के अधिग्रहण से संबंधित मुख्य कानून भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 है।

भूमि अधिग्रहण अधिनियम क्या है?

भूमि अधिग्रहण अधिनियम, जिसे भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और पुनर्वास अधिनियम, 2013 में उचित मुआवजे और पारदर्शिता के अधिकार के रूप में भी जाना जाता है, भूमि अधिग्रहण की पूरी प्रक्रिया को नियंत्रित और नियंत्रित करता है। यह अधिनियम भूमि मालिकों को उचित पारिश्रमिक प्रदान करने, व्यवस्था में पारदर्शिता लाने और कसरकार को अप्रत्यक्ष रूप से उन लोगों को पुनर्वासित करना है जो सबसे अधिक प्रभावित हैं, क्योंकि उनकी भूमि छीन ली गई है।

5.5.2 औद्योगिक नीति

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। इससे व्यापार जगत तो प्रभावित हुआ ही, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य क्षेत्र भी इससे प्रभावित हुए। अंग्रेजों को जब भारत का शासन मिल गया तो उन्होंने देश के लगभग सभी क्षेत्रों में अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन किए। उनका कहना था कि उनके शासन से भारत को लाभ हो रहा है लेकिन इस समय कई राष्ट्रवादियों ने यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजी शासन ने भारत के हर क्षेत्र में शोषण का कार्य किया है। इसी प्रकार की

टिप्पणी

एक अवधारणा है, जिसे 'आर्थिक निकास' भी कहा जाता है। इस अवधारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने किया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में सर्वप्रथम आर्थिक निकास का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि भारतीय उत्पाद का वह हिस्सा, जो जनता के उपभोग के लिए उपलब्ध नहीं था तथा राजनीतिक कारणों से, जिसका प्रवाह इंग्लैंड की ओर हो रहा था, उसके बदले में भारत को कुछ प्राप्त नहीं होता था। उसे ही दादाभाई नौरोजी ने आर्थिक निकास या आर्थिक निष्कासन की संज्ञा दी।

आर्थिक निकास के प्रमुख तत्व थे– अंग्रेज प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारियों के वेतन एवं भत्ते, भारत द्वारा विदेशों से लिए गए ऋणों के ब्याज, नागरिक एवं सैन्य विभाग के लिए ब्रिटेन के भंडार से खरीदी गई वस्तुएं, नौवहन कंपनियों को की गई अदायगी, विदेशी बैंकों तथा बीमा कंपनियों को दिया गया धन, गृह व्यय एवं ईस्ट इंडिया कंपनी के भागीदारों को लाभांश।

भारतीय धन के इंग्लैंड को निकास से देश में पूंजी का निर्माण एवं संग्रहण नहीं हो सका, जबकि इसी धन से इंग्लैंड में औद्योगिक विकास के साधन तथा गति बहुत बढ़ गई। ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को इस धन से जो लाभांश प्राप्त होता था, उसे पुनः पूंजी के रूप में भारत में लगा दिया जाता था और इस प्रकार भारत का शोषण निरंतर जारी रहा।

इस धन के निकास से भारत में रोजगार तथा आय की संभावनाओं पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस संबंध में दादा भाई नौरोजी ने कहा कि, ''यह आर्थिक नियमों का निर्दयतापूर्ण अभियान नहीं है अपितु यह ब्रिटिश नीतियों की विवेकरहित एवं निर्दयतापूर्ण कार्रवाई है। यह भारतीय संसाधनों का भारत में ही निर्दयतापूर्ण भक्षण है तथा और आगे यह भारतीय धन का इंग्लैंड को निर्दयतापूर्ण निकास है। यह भारतीयों की निर्दयतापूर्ण हत्या है तथा यह भारत के सर्वनाश की तैयारी है।'' प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आर. सी. दत्त ने इस संबंध में स्पष्ट किया कि, ''भारत से इंग्लैंड को धन का निकास एक भारतीय कवि की उपमा के समान था, जिसमें एक राजा का अपनी प्रजा से अधिक धन ग्रहण करना, सूरज द्वारा पृथ्वी से उस पानी को प्राप्त करने के समान होता है, जो वह वर्षा के रूप में उसे पुनः भूमि को दे देता है। परंतु यहां तो सूरज, पानी भारत से ग्रहण करता है और वर्षा इंग्लैंड में करता है।''

भारत में औद्योगिक विकास की प्रक्रिया

किसी देश के आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए औद्योगीकरण आवश्यक है। एक सीमा के बाद कृषि उत्पादकता उद्योगों के विकास पर ही निर्भर करती है। औद्योगीकरण देश की सुदृढ़ एवं संतुलित अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य है। ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के अधीन भारत का औद्योगिक विकास काफी प्रतिबंधित तथा विकृत रहा था। उद्योगों के नाम पर कुछ बड़े कारखाने स्थापित किए गए थे, किन्तु इनकी समस्त शक्ति द्वितीय विश्व युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति में नष्ट हो गई थी। देश के विभाजन ने दो बड़े उद्योगों सूती कपड़ा और पटसन को बुरी तरह प्रभावित किया था। भारत सरकार ने 1948 में औद्योगिक नीति प्रस्ताव को पास किया तथा 1949 में विदेशी पूंजी के संबंध में अपनी नीति स्पष्ट की।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास की गति इस प्रकार रही:

टिप्पणी

पहली पंचवर्षीय योजना (1951–56): इस योजना के आरम्भ में भारत का औद्योगिक ढांचा मुख्य रूप से उपभोक्ता वस्तु उद्योगों तक सीमित था तथा पूंजीगत वस्तु उद्योग की अभी आधारशिला रखी जा रही थी। औद्योगिक विकास की दृष्टि से प्रथम योजना में कोई महत्वपूर्ण प्रयास नहीं किया गया। पहली योजना में कई उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए, जिनमें महत्वपूर्ण इकाइयां थीं–सिंदरी उर्वरक कारखाना (अमोनियम सल्फेट), चितरंजन रेल इंजन कारखाना, एकीकृत कोच फैक्ट्री, हिंदुस्तान शिपयार्ड, हिंदुस्तान मशीन टूल्स, हिंदुस्तान ऐंटीबायोटिक्स, हिंदुस्तान इंसैक्टिसाइड्स, यू.पी. गवर्नमेंट फैक्ट्री, नेपा मिल्स (न्यूज प्रिंट) तथा भारतीय टेलीफोन उद्योग।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956–61): इस योजना में औद्योगीकरण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के आधार पर औद्योगीकरण का कार्यक्रम तैयार किया गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66): इस योजना में मूलभूत व पूंजीगत उद्योगों के और विकास पर बल दिया गया। इसमें पूंजीगत तथा उत्पादक वस्तुओं का विशेष रूप में विकास करते हुए मशीन निर्माण और तकनीकी एवं प्रबंधकीय कौशल पर विशेष बल दिया गया। तीसरी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में तीन इस्पात कारखानों के विस्तार के साथ–साथ रूस के सहयोग से झारखंड में बोकारो इस्पात कारखाना तथा आंध्र प्रदेश में विशाखापट्टनम इस्पात कारखाना स्थापित किया गया। इस योजना में भारी इंजीनियरिंग तथा मशीन, लोहा व इस्पात, फेरो एलॉय टूल्स, उर्वरक तथा पेट्रोलियम एवं उनसे संबधित वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को प्राथमिकता की दृष्टि से दूसरा स्थान दिया गया।

वार्षिक योजनाओं (1966–69): इस योजना में औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–74): इस योजना में औद्योगिक ढांचे के असंतुलनों को दूर करने और सृजित क्षमता के अधिकतम उपयोग को सुनिश्चित करने पर विशेष ध्यान दिया गया। इस अवधि में लगभग सभी वस्तुओं के औद्योगिक उत्पादन में कमी आई।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974–79): इस योजना के औद्योगिक कार्यक्रम, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय के साथ विकास के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार किए गए। इस योजना में कई चीजों पर बल दिया गया, जैसे–ऐसे उद्योगों का विकास करना, जिसमें तीव्र विविधीकरण और निर्यात में वृद्धि की संभावनाएं हों।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980–85): इस योजना में औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गई तथा औद्योगिक नीति में व्यापक परिवर्तनों की घोषणा की गई थी। औद्योगिक नियंत्रणों में काफी ढील दी गई तथा औद्योगिक नीति एवं आयात नीति को उदार कर दिया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90): इस योजना में औद्योगिक क्षेत्र के लिए उद्देश्य इस प्रकार थे–स्वीकार्य किस्म की मजदूरी वस्तुओं और आम उपभोग की वस्तुओं की उचित मूल्य पर पर्याप्त आपूर्ति सुनिश्चित करना, व्यापक घरेलू बाजार तथा निर्यात संभाव्यता वाले उद्योगों के विकास पर बल देना आदि।

टिप्पणी

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992–97): इस योजना में मात्रात्मक लक्ष्यों पर कम बल दिया गया और आयोजन अधिक सांकेतिक रूप धारण करने लगा। विभिन्न क्षेत्रों में वांछित संवृद्धि प्राप्त करने के लिए आठवीं योजना में औद्योगिक, राजकोषीय तथा व्यापारिक नीतियों में संशोधन तथा करों व शुल्कों में परिवर्तनों का सहयोग लेने का प्रावधान किया गया न कि आयातों/निर्यातों पर मात्रात्मक अथवा लाइसेंसिंग प्रणाली का सहारा लेकर।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997–2002): इस योजना के प्रधान लक्ष्य 'वृद्धि के साथ सामाजिक न्याय और समानता' को ध्यान में रखते हुए औद्योगिक विकास के लिए इस योजना में कई प्रावधानों को अपनाने की बात की गई।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07): इस योजना में उद्योग और खनिज क्षेत्र की योजना तैयार की गई, ताकि संसाधनों के इस्तेमाल की दक्षता के सम्बंध में जो चिंताएं व्यक्त की जा रही थीं, उसे दूर करते हुए लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इस योजना में भारतीय उद्योग में प्रतिस्पर्द्धा लाने के लिए कुछ वैधानिक और प्रक्रियागत बदलाव की प्रक्रिया शुरू की गई।

भारत में उद्योग

लोहा एवं इस्पात उद्योग : भारत में यह उद्योग 1907 ई. में प्रारंभ हुआ, जब जमशेदपुर में टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी लिमिटेड (TISCO) की स्थापना हुई। भारत के महत्वपूर्ण लोहा एवं इस्पात संयंत्रों का वर्णन निम्नानुसार है–

1. **टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी, जमशेदपुर** : यह सुवर्णरेखा एवं खारकेई नदियों के संगम पर कोलकाता से लगभग 240 किमी. दूर झारखंड के सिंहभूम जिले में स्थित है। यह निजी क्षेत्र का भारत का सबसे पुराना कारखाना है।
2. **इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी, बर्नपुर** : इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी की स्थापना 1918 में की गई थी तथा स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल की स्थापना 1927 में हुई। 1952 में इन दोनों कंपनियों का विलय हो गया तथा इन्हें पुराने नाम से जाना गया। इस्को के तीन पृथक्–पृथक् संयंत्र हैं, जो हैं–बर्नपुर : आसनसोल से 5 किमी. दक्षिण–पश्चिम में, हीरापुर : आसनसोल से 6 किमी. दक्षिण में तथा कुल्टी : आसनसोल से 16 किमी. दूर।
3. **भद्रावती आयरन एंड स्टील संयंत्र** : भद्रावती में विश्वेश्वरैया आयरन एंड स्टील कंपनी है, जिसे पहले मैसूर आयरन एंड स्टील लिमिटेड (1923) के नाम से जाना जाता था। 1962 में केंद्र सरकार ने इस कारखाने का अधिग्रहण कर लिया। यह देश में मिश्र धातु एवं विशेष प्रकार के स्टील बनाने का एक प्रमुख कारखाना है।
4. **भिलाई आयरन एंड स्टील संयंत्र** : भिलाई आयरन एंड स्टील प्लांट की स्थापना रूस (तत्कालीन सोवियत संघ) के सहयोग से 1959 में की गई थी। यह कारखाना लौह अयस्क दल्ली–राजहरा एवं कोयला कोरबा से प्राप्त करता है।
5. **राउरकेला आयरन एंड स्टील संयंत्र** : राउरकेला आयरन एंड स्टील संयंत्र, उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिले में कोलकाता–नागपुर रेलवे लाइन पर अवस्थित है। इस कारखाने की स्थापना 1959 में जर्मनी की कंपनियों कारूप्स एवं डेमांग के सहयोग से की गई थी।

टिप्पणी

6. **दुर्गापुर आयरन एंड स्टील संयंत्र** : इस कारखाने की स्थापना 1962 में ब्रिटिश सरकार के सहयोग से की गई थी।

7. **बोकारो स्टील लिमिटेड, बोकारो** : सोवियत संघ के सहयोग से स्थापित इस कारखाने की स्थापना 1964 में की गई थी। यह एक समतल उत्पाद कारखाना है तथा ऊष्ण एवं शीत रोलिंग मिल्स इसके मुख्य उत्पाद हैं। इसके वर्ज्य पदार्थ का उपयोग सिंदरी उर्वरक कारखाने में किया जाता है।

8. **सालेम स्टील संयंत्र** : तमिलनाडु में स्थित यह लौह कारखाना 1982 में प्रारंभ हुआ।

9. **विजयनगर स्टील संयंत्र** : यह कर्नाटक के बेल्लारी जिले में स्थित है। इस कारखाने में नॉन–कोकिंग कोयले का उपयोग करके कोरेक्स प्रक्रिया से लोहे का उत्पादन किया जाता है।

10. **देतरी स्टील संयंत्र** : यह कारखाना उड़ीसा में पाराद्वीप के निकट देतरी में स्थित है। प्रारंभ में इसकी स्थापना ब्रिटिश एवं दक्षिण कोरियाई कंपनियों के सहयोग से की गई थी। वैसे अब इसका संचालन दायित्व टाटा समूह को दे दिया गया है।

12. **डोल्वी स्टील संयंत्र** : महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में डोल्वी में इस्पात उद्योग लिमिटेड द्वारा एक नए इस्पात संयंत्र की स्थापना की गई है।

वाहन उद्योग

भारत में इस उद्योग की शुरुआत 1930 में फोर्ड कंपनी द्वारा मुंबई में की गई। 1936 में एडिसन कंपनी लिमिटेड ने चेन्नई में वाहनों का निर्माण शुरू किया। यातायात वाहनों के निर्माण के प्रमुख केंद्र इस प्रकार हैं–

केंद्र	वाहन का प्रकार
1. हिंदुस्तान मोटर्स लिमिटेड, उत्तरपारा कलकत्ता	एम्बेसडर कार और ट्रक
2. प्रीमियर ऑटोमोबाइल लिमिटेड, मुंबई	कार, ट्रक, बस
3. महिंद्रा एण्ड महिंद्रा लिमिटेड, मुंबई	जीप एवं ट्रैक्टर
4. स्टैण्डर्ड मोटर प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया लिमिटेड, चेन्नई	ट्रक एवं बस
5. अशोक लेलैण्ड लिमिटेड, चेन्नई	ट्रक एवं बस
6. टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कंपनी लिमिटेड, मुंबई	ट्रक एवं बस
7. टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव्स कंपनी लिमिटेड, जमशेदपुर	ट्रक, इंजन, ट्रांसमिशन गियर बॉक्स एवं एक्सल
8. मारूति उद्योग लिमिटेड, गुड़गांव	कार, आदि
9. एस्कोर्ट, फरीदाबाद	दुपहिया वाहन, ट्रैक्टर
10. बजाज ऑटो, पुणे	दुपहिया वाहन

इंजीनियरिंग

हिंदुस्तान मशीन टूल्स (एच. एम. टी.): इसकी पांच इकाइयां हैं–1. बंगलौर (सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत मशीनी उपकरणों का निर्माण करने वाली देश की सबसे

बड़ी कंपनी, स्विट्जरलैण्ड के सहयोग से 1953 ई. में स्थापित, 1956 ई. में उत्पादन शुरू), 2. पिंजौर (हरियाणा), 3. कलामसेरी (केरल), 4. अजमेर (राजस्थान) एवं 5. हैदराबाद (आंध्रप्रदेश)।

टिप्पणी

मशीन टूल्स कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया (MTCI): 1967 ई. में चेक गणराज्य के सहयोग से अजमेर (राजस्थान) में स्थापित।

इंस्ट्रूमेंटेशन लिमिटेड : कोटा तथा पालघाट (केरल–पूर्व सोवियत सरकार के सहयोग से स्थापित)।

हैवी मशीन टूल्स प्लांट : रांची (झारखण्ड में चेक सरकार के सहयोग से स्थापित)।

भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड (भेल): 1964 में स्थापना, इसकी इकाइयां– भोपाल, तिरुचिरापल्ली, जम्मू, चंद्रपुरम् (हैदराबाद), बंगलुरू, हरिद्वार आदि में हैं।

रेलवे उपकरण : 1. विद्युत इंजन–चितरंजन, 2. डीजल इंजन–वाराणसी, 3. रेल कोच–कपूरथला, 4. यात्री डिब्बे–पेरंबूर।

विमान उद्योग : 1. इंजन–कोरापुट, 2. विमानों के ढांचे, हेलिकाप्टर एवं मिग विमान–नासिक, बंगलौर एवं हैदराबाद।

जहाजरानी उद्योग

भारत में समुद्र में चलने वाले जहाजों का निर्माण 1946 ई. में विशाखापट्टनम् शिपयार्ड में शुरू हुआ। 1972 ई. में कोचीन शिपयार्ड जापान की सहायता से प्रारंभ हुआ। गार्डन रीच शिप बिल्डर्स एण्ड इंजीनियर्स, कोलकाता जहाज निर्माण एवं उसकी मरम्मत के कार्यों की इकाई है। मझगांव संयंत्र में नौसैनिक जहाजों (फ्रिगेट) का निर्माण होता है।

एल्युमीनियम उद्योग

1938 ई. में भारत में पहली बार इंडियन एल्युमीनियम कंपनी द्वारा एल्युमीनियम का उत्पादन हुआ। 1944 ई. में यह सार्वजनिक कंपनी बनी। देश के प्रमुख एल्युमिनियम संयंत्रों का विवरण इस प्रकार है–

1. **द इंडियन एल्युमिनियम कंपनी लिमिटेड, हीराकुंड (इंडाल):** इस कंपनी ने 1938 में एक निजी कंपनी के रूप में उत्पादन प्रारंभ किया तथा 1944 में यह सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनी में परिवर्तित हो गई। यह एक एकीकृत संयंत्र है, जिसकी तीन इकाइयां हैं, जो बाक्साइट से एल्युमिना का निष्कर्षण करती हैं। यह कंपनी मुरी (झारखंड) में स्थित है। इसकी तीन प्रगालक इकाइयां अलुपुरम (केरल में अल्वाय), हीराकुंड (ओडिशा) एवं बेलगाम (कर्नाटक) में स्थित हैं।
2. **द एल्युमिनियम कार्पोरेशन ऑफ इंडिया, जेके नगर :** इस संयंत्र से 1942 में उत्पादन प्रारंभ हुआ।
3. **द हिंदुस्तान एल्युमिनियम कार्पोरेशन लिमिटेड (हिंडाल्को), रेनूकूट :** इस संयंत्र की स्थापना 1958 में मिर्जापुर से 160 किमी. दक्षिण में रेनुकूट में की गई है। यहां मुख्यतया एल्युमिनियम की चादरें एवं तार बनाए जाते हैं।
4. **द मद्रास एल्युमिनियम कंपनी लिमिटेड (माल्को), मेटूर (तमिलनाडु):** इस संयंत्र की स्थापना 1965 में सालेम के समीप मेटूर में की गई थी। इसकी उत्पादन क्षमता 25,000 टन एल्युमिनियम इंगोट्स वार्षिक है।

टिप्पणी

5. **द भारत एल्युमिनियम कंपनी लिमिटेड (बाल्को), कोरबा, छत्तीसगढ़** : इस संयंत्र की स्थापना 1965 में की गई थी। 2 मार्च, 2001 को भारत सरकार ने इस कंपनी की 51 प्रतिशत इक्विटी मेसर्स स्टेरलाइट कंपनी को बेच दी है।

6. **द नेशनल एल्युमिनियम कंपनी लिमिटेड (नाल्को), कोरापुट** : कोरापुट में स्थित यह संयंत्र, देश का सबसे बड़ा एल्युमिनियम संयंत्र है। इस कंपनी की स्थापना 1981 में हुई थी। केंद्र सरकार ने नाल्को के 45 प्रतिशत शेयरों का विनिवेश कर दिया है।

वस्त्र उद्योग

भारत में वस्त्र निर्माण उद्योग व्यक्तिगत रूप से सबसे बड़ा उद्योग है, जो कुल औद्योगिक उत्पादों का 20 प्रतिशत देता है और लगभग 150 लाख लोगों को रोजगार प्रदान करता है। देश के कुल निर्यात में इसकी भागीदारी 25 प्रतिशत है।

सूती वस्त्र : भारत में आधुनिक सूती वस्त्र उद्योग की शुरुआत 1818 ई. में हुई। फोर्ट ग्लॉस्टर (कोलकाता) में पहली सूती वस्त्र मिल स्थापित की गई। 1851 ई. में बंबई में सूती मिल की स्थापना हुई। महाराष्ट्र सूती वस्त्र के उत्पादन में पहले एवं गुजरात दूसरे नंबर पर है। आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में स्थापित वस्त्र मिलों की कताई क्षमता अत्यध्कि है।

ऊनी वस्त्र : भारत में ऊनी वस्त्र का उत्पादन 1876 ई. से आरंभ हुआ, जब कानपुर में ऊनी वस्त्र उद्योग की स्थापना की गई। इसके बाद धारीवाल में 1883 ई. में ऊनी वस्त्र उद्योग की स्थापना की गई। कर्नाटक, गुजरात, पश्चिम बंगाल और जम्मू एवं कश्मीर अन्य प्रमुख ऊन उत्पादक राज्य हैं। महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर प्रदेश में अधिकांश ऊनी वस्त्रोद्योग केंद्रित हैं। ये कुल ऊन का लगभग 70 प्रतिशत पैदा करते हैं।

जूट उद्योग : भारत में जूट उद्योग की स्थापना हुगली तट पर रिशरा में वर्ष 1854 में जॉर्ज ऑकलैण्ड द्वारा की गई। भारत में आज भी अधिकांश जूट उद्योग इसी क्षेत्र में हैं। वर्तमान में देश में जूट के लगभग 114 कारखाने हैं, जिनमें 101 कारखाने हुगली तट पर हैं। सीरामपुर, वल्ली, सिरसा, बजबज, सल्किया तथा बिरला आदि पटसन के अन्य केंद्र हैं। पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, त्रिपुरा तथा असम में जूट मिलें हैं।

रेशमी वस्त्र उद्योग : चीन प्रथम एवं भारत विश्व में दूसरा सबसे बड़ा रेशम उत्पादक देश है। प्राकृतिक रेशम की सभी चार किस्में भारत में उत्पादित होती हैं। टसर, एरी, शहतूती और मूंगा का उत्पादन होता है। भारत में रेशमी वस्त्र उद्योग का पहला कारखाना 1832 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी ने हावड़ा में लगाया। इसके बाद 1845 ई. में कर्नाटक में और 1892 में कश्मीर में इसके कारखाने लगाये गए। वर्तमान में कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, असम, आंध्रप्रदेश और केंद्रशसित प्रदेश जम्मू–कश्मीर रेशम के प्रमुख उत्पादक राज्य हैं।

इलेक्ट्रॉनिक उद्योग

भारत, विश्व में सॉफ्टवेयर का एक प्रमुख निर्यातक देश है। इस उद्योग में भारत में प्रमुख रूप से निजी कंपनियां कार्यरत हैं। विप्रो, टाटा यूनिसिस, टाटा कंसलटेंसी सर्विसेज, इंफोसिस आदि देश की प्रमुख सॉफ्टवेयर कंपनियां हैं।

टिप्पणी

तांबा उद्योग

1857 में सिंहभूम कॉपर कंपनी की स्थापना हुई। 1924 में बिहार में घाटशिला में इंडियन कॉपर कॉरपोरेशन की स्थापना हुई। 1967 ई. में खेत्री कॉपर कॉम्प्लेक्स की स्थापना की गई। 1972 में इंडियन कॉपर कॉरपोरेशन के स्थान पर हिंदुस्तान कॉपर लिमिटेड (HCL) की स्थापना हुई। मध्य प्रदेश की मलंजखण्ड तांबा परियोजना देश की पहली खुली खान परियोजना है। राखा ताम्र परियोजना, सिंहभूम, दरिबा ताम्र परियोजना, अलवर एवं चंदमारी ताम्र परियोजना, झुंझुनू प्रमुख तांबा उत्पादक परियोजनाएं हैं।

कागज उद्योग

प. बंगाल देश का सबसे प्रमुख कागज उत्पादक राज्य है। 1870 ई. में बालीगंज (प. बंगाल) में एक कारखाना लगाया गया। टीटागढ़ (प. बंगाल) देश का सबसे बड़ा कागज उत्पादक केंद्र है। सिरपुर (आंध्रप्रदेश), नेपानगर एवं अमलाई (मध्यप्रदेश), कर्नाटक, केरल, बिहार, ओडिशा और महाराष्ट्र आदि अन्य प्रमुख कागज उत्पादक राज्य हैं। अखबारी कागज के निर्माण के लिए देश का पहला कारखाना मध्यप्रदेश के नेपानगर में लगाया गया, जो 1955 में शुरू हुआ था। अखबारी कागज के तीन अन्य कारखाने–मैसूर पेपर मिल (कर्नाटक), केरल का हिंदुस्तान न्यूज प्रिंट लिमिटेड (केरल) तथा तमिलनाडु न्यूजप्रिंट (तमिलनाडु) हैं।

रासायनिक उद्योग

उर्वरक के सार्वजनिक क्षेत्र के संयंत्र : नंगल (पंजाब), सिन्दरी (झारखण्ड), चेन्नई, ट्रॉम्बे, राउरकेला एवं पारादीप।

उर्वरक के निजी क्षेत्र के संयंत्रः तूतीकोरिन, एन्नोर (तमिलनाडु), वाराणसी, कानपुर, बड़ौदा, कोटा, गोवा और मंगलौर।

गैस आधारित संयंत्रः विजयपुर (म. प्र.), आंवला (उ.प्र.) एवं जगदीशपुर (उ.प्र.)।

एंटीबॉयोटिक संयंत्रः पिम्परी (पुणे), ऋषिकेश (उत्तराखंड)।

इंडियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेडः हैदराबाद, अन्य इकाइयां–चेन्नई, मुंबई, बड़ौदा, दिल्ली, कलकत्ता एवं कानपुर में हैं।

रबड़ एवं चर्म उद्योग

भारत, विश्व का 10वां सबसे बड़ा रबड़ उत्पादक देश है। केरल, महाराष्ट्र, पंजाब एवं गुजरात प्रमुख रबड़ उत्पादक राज्य हैं।

सीमेंट उद्योग

भारत में प्रथम सीमेंट कारखाने की स्थापना 1904 ई. में चेन्नई में की गई। 1912–13 ई. में गुजरात के पोरबंदर, मध्यप्रदेश के कटनी और राजस्थान के लखेड़ी में भी सीमेंट का उत्पादन शुरू हुआ। 1912–13 ई. में इंडियन सीमेंट कंपनी लिमिटेड की स्थापना हुई। तमिलनाडु, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात, आंध्रप्रदेश एवं राजस्थान देश के प्रमुख सीमेंट उत्पादक राज्य हैं। एसोसिएटेड सीमेंट कंपनी (ए. सी. सी.) प्रमुख सीमेंट उत्पादक कंपनी है।

कांच उद्योग

भारत में प्रथम कांच कारखाने की स्थापना झेलम में 1870 ई. में की गई। प्रथम संगठित कांच कारखाने की स्थापना 1941 ई. में की गई। देश में कांच उद्योग के प्रमुख कारखाने

फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) एवं बेलगांव (कर्नाटक) में हैं। इसके अलावा महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, पंजाब और बिहार में कई कारखाने हैं।

मृद्भाण्ड उद्योग

टिप्पणी

भारत में प्रथम सिरैमिक उद्योग की स्थापना पाथरघाट (बिहार) में 1860 ई. में की गई थी।

चीनी उद्योग

देश में चीनी उत्पादन की दृष्टि से महाराष्ट्र का प्रथम और उत्तर प्रदेश का द्वितीय स्थान है, जबकि क्षेत्रफल की दृष्टि से उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा गन्ना उत्पादक राज्य है। बिहार, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और कर्नाटक अन्य प्रमुख चीनी उत्पादक राज्य हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) की स्थापना कब की गई थी?

(क) 8 मार्च, 1981 (ख) 12 जुलाई, 1982

(ग) 10 मई, 1983 (घ) 12 अगस्त, 1984

8. टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी कहां पर स्थापित की गई थी?

(क) जमशेदपुर (ख) हीरापुर

(ग) नागपुर (घ) कानपुर

5.6 शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

स्वतंत्र भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है–

5.6.1 शिक्षा

शिक्षा को सीख, ज्ञान और प्रशिक्षण के रूप में अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। साधारण बोलचाल और संकुचित अर्थ में शिक्षा से आशय औपचारिक अक्षर ज्ञान संबंधी शिक्षा से है जिसे कि स्कूलों और कालेजों के माध्यम से बताया और सिखाया जाता है। यह शिक्षा व्यावहारिक महत्व की दृष्टि से केवल सचेत रूप में विकास और सीमित उद्देश्यों की पूर्ति से संबंधित होती है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए रेमण्ड ने लिखा कि 'संकुचित अर्थ में शिक्षा का प्रयोग, बोलचाल की भाषा और कानून में अधिक किया जाता है, जिसमें कि शिक्षा व्यक्तियों के आत्मविश्वास और वातावरण के सामान्य प्रभावों को अपने में कोई स्थान नहीं देती।'

शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का अपना ही विकास नहीं होता बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया के उन्नयन का भी अवसर मिलता है। शिक्षा के इसी व्यापक अर्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मैकेन्जी ने लिखा है कि 'व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आजीवन चलती रहती है और जीवन के प्रायः प्रत्येक अनुभव से उसके भण्डार में वृद्धि होती है।'

टिप्पणी

मैकेन्जी ने माना कि 'संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय हमारी शक्तियों के विकास और उन्नति के लिए चेतनापूर्वक किए गए किसी भी प्रयास से हो सकता है।' लेकिन व्यापक अर्थ में शिक्षा का आशय व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से संबंधित सीख और प्रशिक्षण की आजीवन चलने वाली एक प्रक्रिया है। यह समाजीकरण का एक साधन भी है तथा सामाजिक दायित्व बोध भी।

डनविल के अनुसार, शिक्षा के व्यापक अर्थ में वे सभी प्रभाव आते हैं जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते हैं। रेकांट ने इसे और व्यापक अर्थ में स्पष्ट किया कि 'शिक्षा विकास का वह क्रम है, जिसमें व्यक्ति अपने को धीरे–धीरे विभिन्न प्रकार से अपनी भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातारण के अनुकूल बना लेता है।' जीवन ही वास्तव में शिक्षित करता है। व्यक्ति अपने व्यवसाय, पारिवारिक जीवन, विवाह, पितृत्व, मनोरंजन, यात्रा आदि के द्वारा शिक्षित किया जाता है।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा की दिशा में किए गए प्रयास

स्वतंत्रता के समय हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था अत्यंत कमजोर थी तथा उसमें कई प्रकार के सुधारों की आवश्यकता थी। स्वतंत्र भारत की सरकार ने प्रारंभ से ही शिक्षा के प्रचार–प्रसार हेतु गंभीरता से प्रयास किया। इसके लिए कई कार्यक्रम एवं नीतियां लागू की गईं। आज हमारे देश में शिक्षा के लिए विकास के लिए कई कार्य किए जा रहे हैं। यहां हम इन्हीं सब की चर्चा करेंगे।

शिक्षा का सार्वभौमीकरण

वर्ष 1986 में देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई) को लागू किया गया। इसमें तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा सहित सभी क्षेत्रों में शिक्षा में सुधार और उसके विस्तार, शैक्षिक सुविधाओं की सुलभता से जुड़ी विषमताओं के उन्मूलन और प्राथमिक से लेकर उच्चतर शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता और प्रासंगिकता में सुधार लाने की परिकल्पना की गई। साथ ही इसमें इस बात पर भी बल दिया गया है कि शिक्षा को सामाजिक और क्षेत्रीय असंतुलनों को सही करने, महिलाओं को न्यायोचित स्थान दिलाने में एक उपयोगी तथा हस्तक्षेपणीय भूमिका अवश्य निभानी होगी।

राष्ट्र सभी के लिए शिक्षा प्रदान करने के निमित्त पूरी तरह प्रतिबद्ध है और प्राथमिकता के क्षेत्र इस प्रकार हैं– निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा जिसमें विशेष आवश्यकताओं वाले बच्चों का समावेशन, निरक्षरता का उन्मूलन, व्यावसायोन्मुखीकरण, महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा और अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर विशेष बल देना शामिल है।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड, शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीय और राज्य सरकारों को सलाह देने के लिए सर्वोच्च सलाहकार निकाय है जिसकी स्थापना सर्वप्रथम 1920 में की गई थी और जिसे किफायत के एक उपाय के रूप में 1923 में विघटित कर दिया गया था। 1935 में इसकी पुनः शुरुआत की गई तथा पिछली बार गठित केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का कार्यकाल मार्च 1994 में समाप्त हो गया था। इस तथ्य के बावजूद कि पूर्व में कैब की सलाह पर महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए थे और उसने शैक्षिक तथा सांस्कृतिक उन्नति से जुड़े मुद्दों पर व्यापक परामर्श और जांच के लिए एक मंच प्रदान किया था, तो दुर्भाग्यवश मार्च 1994 में इसके विस्तारित कार्यकाल के समाप्त होने के बावजूद इसका पुनर्गठन नहीं किया गया। इस बात को ध्यान रखते हुए कि देश में हो

टिप्पणी

रहे महत्वपूर्ण समाजार्थिक और सामाजिक–सांस्कृतिक घटनाक्रम के मौजूदा समय में कैब को एक विशेष महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है, और यह कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और शिक्षाविदों तथा सभी हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों को अपने वैचारिक आदान–प्रदान में वृद्धि करनी चाहिए और शिक्षा में निर्णय लेने की एक सहभागितापूर्ण प्रक्रिया का निर्माण करना चाहिए। जुलाई 2004 में सरकार द्वारा कैब् का पुनर्गठन कर दिया गया।

शिक्षा क्षेत्र में संबंधित परियोजनाओं एवं कार्यक्रमों को कार्यरूप देने के लिए भारत और विदेश से आने वाले दान, जिनमें छोटी–छोटी राशियां भी शामिल हैं, को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकार ने 'भारत शिक्षा कोष' का गठन किया था जिससे कि व्यक्तियों और निगमों, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, अनिवासी भारतीयों तथा भारतीय मूल के व्यक्तियों से शिक्षा के सभी क्षेत्रों में विभिन्न क्रियाकलापों के लिए/दान/योगदान/स्थायी निधि स्वीकार की जा सके।

11 नवम्बर, 2004 को एक अध्यादेश जारी किया गया ताकि इन प्रयोजनों के लिए अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थानों के लिए राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जा सके। इस अध्यादेश में निम्न बातें सम्मिलित थीं–

1. अल्पसंख्यकों की शिक्षा से संबंधित किसी भी सवाल पर केन्द्रीय सरकार अथवा किसी भी राज्य सरकार का सलाह देना,
2. अल्पसंख्यकों के अधिकारों के उल्लंघन संबंधी शिकायतों की जांच करना,
3. उनकी पसंद के शैक्षिक संस्थान स्थापित और संचालित करना और
4. एक अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थान को अनुसूचित केन्द्रीय विश्वविद्यालय के साथ सीधे सम्बद्ध करने की अनुमति देना।

एक अध्यक्ष और दो सदस्यों के साथ इस आयोग ने काम करना शुरू कर दिया है। आशा है कि यह आयोग अल्पसंख्यक शिक्षा के मुद्दे पर अधिक ध्यान देगा। और इस संबंध में संवैधनिक प्रावधानों के कार्यान्वयन को और अधिक प्रभावी बनाएगा। यह आयोग, विश्वविद्यालय और अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थानों के बीच सम्बद्धन को लेकर उत्पन्न होने वाले विवादों को भी निपटाएगा। अध्यादेश को प्रतिस्थापित करने वाला अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थानों के लिए राष्ट्रीय आयोग अधिनियम पहले ही बनाया जा चुका है।

राष्ट्रीय शैक्षिक आयोजन और प्रबंध संस्थान (नीपा) माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग के अधीन एक स्वायत्त निकाय है जोकि शैक्षिक आयोजन और प्रशासन में अनुसन्धान करता है, उन्हें बढ़ावा देता है और समन्वय करता है जिससे कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षण और परामर्शी सेवाएं उपलब्ध कराई जा सकें।

विभिन्न केन्द्रीय और केन्द्र प्रायोजित योजनाओं की नियमित और प्रभावी समीक्षा, अनुश्रवण और समन्वय के लिए एक तंत्र के रूप में 1999 में विभाग में एक क्षेत्रीय कार्यालय योजना शुरू की गई थी। अपने मौजूदा रूप में निदेशक तथा इससे उच्चतर स्तर के एक अधिकारी को विशेष राज्य/संघ शासित क्षेत्र की जिम्मेदारी सौंप दी जाती है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय वार्षिक शैक्षिक आंकड़े राज्य शिक्षा विभागों के सहयोग से पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्चतर स्तर के दस लाख

से अधिक संस्थानों से डाक से भेजी गई प्रश्नावलियों के जरिए इकठ्ठा किए जाते हैं। राज्य/क्षेत्रीय स्तरों पर शैक्षिक आंकड़ों के लिए तंत्र को सुदृढ़ किए जाने की एक योजना भी है।

टिप्पणी

सरकार की नीति के अनुसरण में, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग अपनी विभिन्न योजनाओं और पूर्वोत्तर क्षेत्र में स्थित अपने संस्थानों के माध्यम से पिछले पांच वित्तीय वर्षों के दौरान पूर्वोत्तर क्षेत्र के लिए व्यय का निर्धारित स्तर अर्थात अपने बजट का 10 प्रतिशत खर्च करने स्थिति में हो सका है। प्रारम्भिक शिक्षा और साक्षरता विभाग भी पूर्वोत्तर क्षेत्र में अपने खर्च में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा है।

पूर्वोत्तर राज्यों में शिक्षा और महिला तथा बाल विकास से संबंधित विशिष्ट मुद्दों पर विचार करने के लिए केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री की अध्यक्षता में पूर्वोत्तर राज्यों के मुख्यमंत्रियों और शिक्षामंत्रियों सहित 2004 में एक उच्च स्तरीय समूह का गठन किया गया। विभाग के मुख्य कार्यक्रम, जैसे कि डीपीईपी, एसएसए और लोक जुम्बिश, शिक्षा कर्मी, शिक्षा, गारंटी योजना तथा वैकल्पिक और नवाचारी शिक्षा तथा वैकल्पिक और नवाचारी शिक्षा (ईजीइस एंड एआईई) तथा प्राथमिक शिक्षा में पोषणिक सहायता का राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपीएनएसपीई) अनूसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की बहुलता वाले क्षेत्रों को प्राथमिकता देते हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा बालिका शिक्षा के लिए कुछ और योजनाएं भी कार्यान्वित की जा रही हैं।

भारत यूनेस्को का, जोकि संयुक्त राष्ट्र का एक घटक निकाय है और जो 1946 में अस्तित्व में आया था, एक संस्थापक सदस्य है। यूनेस्को का मुख्य लक्ष्य 'लोगों के दिमाग में शान्ति की रक्षा' की अवधारणा का सृजन करना है और इस लक्ष्य की प्राप्ति मुख्य रूप से शिक्षा के माध्यम से हो सकती है। यूनेस्को के आदर्शों और लक्ष्यों को बढ़ावा देने में भारत एक सक्रिय भूमिका निभाता रहा है।

श्री अरविन्द की एक शिष्या द्वारा 1968 में स्थापित आरोविल्ले एक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक नगर है जो कि मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं से मेल खाते हुए एकीकृत जीवन मानकों सहित विभिन्न संस्कृतियों के मूल्यों के एक साथ लाने के उद्देश्य से तैयार किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सेल को विभिन्न देशों के साथ शैक्षिक विनिमय कार्यक्रम (ईईपी) तैयार करने का काम सौंपा गया है। जबकि चीन, इजरायल, गुयाना, मंगोलिया, आरमेनिया, हंगरी, म्यांमार, तन्जानिया, सीरिया और आस्ट्रेलिया के साथ ईईपी पर हस्ताक्षर हो चुके हैं। विभिन्न अन्य देशों के साथ ईईपी पर हस्ताक्षर की प्रक्रिया चल रही है।

प्रारम्भिक शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, जिसे 1992 में संशोधित किया गया था, के अन्तर्गत प्रारम्भिक शिक्षा की दृष्टि से तीन पहलुओं पर बल दिया गया है, अर्थातः

1. सर्वसुलभ पहुंच और प्रवेश,
2. 14 वर्ष की आयु तक बच्चों का व्यापक प्रतिधरण, और
3. शिक्षा की कोटि में पर्याप्त रूप से सुधार ताकि सभी बच्चे अध्ययन का अनिवार्य स्तर प्राप्त कर सकें।

टिप्पणी

नीति के अन्तर्गत इस बात पर भी बल दिया गया है कि शिक्षा को समाजार्थिक और क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने, महिलाओं को सशक्त बनाने तथा असुविधाप्राप्त व्यक्तियों और अल्पंसख्यकों को उनका सही स्थान प्राप्त करने में एक सकारात्मक व हस्तक्षेपणीय भूमिका भी निभानी चाहिए।

राष्ट्र सभी के लिए शिक्षा प्रदान करने के प्रति वचनबद्ध है जिसमें प्राथमिकतापूर्ण क्षेत्र हैं: निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, विशेष जरूरतों वाले बच्चों को शामिल करना, निरक्षरता उन्मूलन, महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा और अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर विशेष बल।

प्रारम्भिक शिक्षा की प्रगति

सकल दाखिला अनुपात (जीईआर) में, जिससे 6–14 वर्ष के आयु समूह में बच्चों की आबादी के अनुपात में प्रारम्भिक स्कूलों में वास्तविक रूप से दाखिल बच्चों की संख्या का पता चलता है, 1950–51 से धीरे–धीरे वृद्धि हुई है जो उक्त वर्ष में 32.1 प्रतिशत से बढ़कर 2002–03 में 82.5 प्रतिशत हो गया। लड़कियों के जीईआर की दर में लड़कों के मुकाबले में अधिक वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप दाखिले में स्त्री–पुरूष संबंधी अन्तर घट रहा है ।

प्राथमिक स्तर पर कक्षा (1–5) बीच में पढ़ाई छोड़ देने वालों की दर, जो 2001–02 में 39 प्रतिशत थी, घटकर 2002–03 में 34.9 प्रतिशत रह गई, अर्थात 4.1 प्रतिशतांक बिन्दु तक।

प्रमुख योजनाएं

सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए कई कार्यक्रम प्रारंभ किए हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. सर्वशिक्षा अभियान,
2. मध्याह्न भोजन योजना,
3. शिक्षक शिक्षा,
4. कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय (केजीबीवी),
5. महिला समाख्या,
6. जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम,
7. नवोदय एवं जवाहर विद्यालय, तथा
8. एकलव्य विद्यालय।

प्रारम्भिक स्तर पर लड़कियों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम (इनपीईजीईएल) एसएसए का एक महत्वपूर्ण घटक है, जिसके अन्तर्गत अल्प–सुविधा प्राप्त या सुविधाविहीन लड़कियों की प्रारंम्भिक शिक्षा के लिए बालिका–अनुकूल स्कूल, लेखन सामग्री, वर्दियों आदि के जरिए शैक्षिक रूप से पिछड़े ब्लाकों में लड़कियों की शिक्षा के लिए अतिरिक्त सहायता प्रदान की जाती है।

एसएसए का अन्य महत्वपूर्ण घटक शिक्षा गारण्टी योजना तथा वैकल्पिक और नवाचारी शिक्षा (ईजीएस और एआईई) हैं, जो विशेष रूप से स्कूलरहित बस्तियों और स्कूल से बाहर रहने वाले बच्चों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा सुलभ कराने के उद्देश्य से तैयार की गई है। योजना के तहत, सेतु पाठ्यक्रमों, रिहायशी शिविरों, ड्राप–इन केन्द्रों,

ग्रीष्म शिविरों, उपचारात्मक प्रशिक्षण आदि के जरिए स्कूल के बाहर रहने वाले बच्चों के लिए शिथिलनीय नीतियों हेतु सहायता प्रदान की जाती है।

टिप्पणी

सरकार ने काफी पहले जनवरी 2001 में, एसएस के लिए राष्ट्रीय मिशन स्थापित करने का निर्णय अधिसूचित किया था, किन्तु चार वर्ष तक मिशन स्थापित नहीं किया जा सका। अब क्रमशः प्रधानमंत्री और मानव संसाधन विकास मंत्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय मिशन की शासी परिषद और कार्यकारी परिषद का गठन कर दिया गया है, जिसकी अधिसूचना 3.12.2004 और 19.1.2005 को जारी की गई थी।

जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी)

डीपीईपी की शुरुआत, सात राज्यों के 42 जिलों में वर्ष 1994 में एक केन्द्र प्रायोजित योजना के रूप में की गई थी जिसका उद्देश्य सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा सुलभ करना, प्राथमिक स्तर पर ड्राप–आउट दर को 10 प्रतिशत से भी कम करना, प्राथमिक स्कूल छात्रों की अध्ययन उपलब्धियां कम से कम 25 प्रतिशत तक बढ़ाना और स्त्री–पुरूष तथा सामाजिक अंतरों को 5 प्रतिशत से भी कम करना था। अपने शिखर के समय यह कार्यक्रम 18 राज्यों के 272 जिलों में कार्यान्वित किया गया तथा अब यह 9 राज्यों के 129 जिलों में चल रहा है। इसका वित्तपोषण विश्व बैंक, यूरोपीय आयोग, यूके अन्तर्राष्ट्रीय विकास विभाग, नीदरलैण्ड्स सरकार और यूनिसेफ द्वारा संयुक्त रूप से किया गया है। डीपीईपी के लिए प्रतिबद्ध कुल विदेशी सहायता की राशि लगभग 6938 करोड़ रुपए है।

मध्याह्न भोजन

प्राथमिक शिक्षा के लिए पोषाहार सहायता का राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपी–एनएसपीई) जिसे सामान्य तौर पर मध्याह्न भोजन (एमडीएम) योजना के नाम से जाना जाता है, 15 अगस्त 1995 से शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य सरकारी, स्थानीय निकाय और सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों की प्राथमिक कक्षाओं में छात्रों की पोषाहार स्थिति सुधार कर प्राथमिक शिक्षा के व्यापीकरण को बढ़ावा देना है। अक्तूबर 2002 से इस कार्यक्रम को ईजीएस तथा अन्य वैकल्पिक अध्ययन केन्द्रों में अध्ययन करने वाले बच्चों तक बढ़ा दिया गया। भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से, जहां पका भोजन उपलब्ध कराया जाता है, वहां 100 ग्राम प्रति बच्चे प्रति स्कूल दिन की दर से और जहां खाद्यान्न वितरण किया जाता है, वहां 3 किलोग्राम प्रति छात्र प्रति मास की दर से, निःशुल्क खाद्यान की आपूर्ति द्वारा केन्द्रीय सहायता प्रदान की जाती है।

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय (केजीबीवी)

केजीबीवी योजना की शुरुआत अगस्त 2004 में, शैक्षिक रूप से पिछड़े उन ब्लाकों में, जहां महिला साक्षरता राष्ट्रीय औसत से कम है तथा साक्षरता में स्त्री–पुरुष अन्तर राष्ट्रीय औसत से अधिक है, प्रमुख रूप से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों से संबंधित लड़कियों के लिए प्रारम्भिक स्तर पर 750 रिहायशी स्कूल स्थापित करने के लिए की गई थी।

निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के संबंध में विधान

13.12.2003 को अधिसूचित संविधान (86वां संशोधन) अधिनियम 2002 का उद्देश्य, अन्य बातों के साथ–साथ संविधान के भाग III (मूलभूत अधिकार) जोड़ना है। अनुच्छेद 2–1ए में कहा गया है कि 'राज्य, छः वर्ष से चौदह वर्ष तक के सभी बच्चों को इस

टिप्पणी

प्रकार से निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा, जैसा वह विधि द्वारा तय करे।' उपरोक्त के अनुसरण में 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा विधेयक 2004' नामक एक विधेयक का मसौदा तैयार किया गया था तथा जनवरी 2004 में राज्य सरकारों से उनके विचार मांगे गए थे।

विधेयक के मसौदे पर, अगस्त 2004 में आयोजित पुनर्गठित केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (सीएबीई) की पहली बैठक में, भी चर्चा की गई थी।

शिक्षा उप–कर

वित्त (संख्या 2) विधेयक 2004 के माध्यम से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष केन्द्रीय करों पर 2 प्रतिशत की दर से एक शिक्षा उप–कर आरोपित किया गया है, ताकि सर्वसुलभ उत्तम बुनियादी शिक्षा प्रदान कर उसे वित्तपोषित करने की सरकार की वचनबद्धता पूरी हो सके। उम्मीद है कि उप–कर से लगभग 4000–5000 करोड़ रूपए प्रतिवर्ष उपलब्ध होंगे। उप–कर से प्राप्त राशि का उपयोग सर्वसुलभ प्रारम्भिक शिक्षा, जैसे कि सर्वशिक्षा अभियान और मध्याह्न भोजन से सम्बद्ध कार्यक्रमों पर अमल करने के लिए किया जाएगा।

महिला समाख्या

महिला समाख्या कार्यक्रम, अध्ययन के लिए एक परिवेश कायम करके सीमान्तक ग्रामीण महिलाओं को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित तथा संगठित करने के लिए तैयार किया गया था। कार्यक्रम को 100 प्रतिशत डच सहायता प्राप्त परियोजना के रूप में शुरू किया गया था और बाद में इसे जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत कुछ राज्यों तक बढ़ा दिया गया। वर्ष 2003–04 से महिला समाख्या का वित्तपोषण भारत सरकार द्वारा किया जा रहा है और फिलहाल 14000 से अधिक गांव इसके अन्तर्गत शामिल हैं जो नौ राज्यों–आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, झारखण्ड, कर्नाटक, केरल, उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल में 60 से अधिक जिलों में फैले हैं।

प्रौढ़ शिक्षा

सामाजिक रूप से सजग और शिक्षित समाज में प्रजातन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। निरक्षरता का उन्मूलन आजादी के बाद से ही भारत सरकार की एक प्रमुख चिन्ता रही है। एक शिक्षित समाज की जरूरत को राष्ट्र निर्माण का एक महत्वपूर्ण इनपुट माना गया है। प्रौढ़ों के बीच निरक्षरता के उन्मूलन के लिए आजादी के बाद से संचालित किए गए अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों की वजह से, पहली बार 2001 जनगणना में शिक्षितों की निरपेक्ष संख्या अशिक्षितों की संख्या से पार कर गई। किन्तु साक्षरता में स्त्री–पुरुष असमानता तथा क्षेत्रीय असमानता अभी बनी हुई है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

साक्षरता की तात्कालिकता को गम्भीरता और निश्चित लक्ष्यों के साथ बल और स्पष्ट समय–सीमा और आयु विशिष्ट लक्ष्य समूह को एक नई दिशा प्रदान करने के लिए पिछले कार्यक्रमों की कमजोरियों और खूबियों के एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के आधार पर मई 1988 में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एनएलएम) की स्थापना की गई थी। न केवल अध्ययनकर्ताओं के दाखिले पर बल्कि कतिपय पूर्व–निर्धारित मानदण्डों और साक्षरता के प्रांचलों, अंक पद्धति, कार्यात्मकता और बड़े पैमाने पर साक्षरता पश्चात और सतत शिक्षा की संस्थात्मकता पर बल दिया गया।

टिप्पणी

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का उद्देश्य, 15–35 वर्ष के आयु–वर्ग में निरक्षरों को कार्यात्मक साक्षरता प्रदान करके 2007 तक 75 प्रतिशत का संधरणीय स्तर प्राप्त करना है। यह आयु–वर्ग उत्पादक और प्रजनन आयु–वर्ग में होता है और कार्य बल का एक प्रमुख घटक है। इस आयु–वर्ग के अतिरिक्त, इस आयु सीमा को बाहर के व्यक्तियों को कार्यक्रम से वंचित नहीं रखा जाता है, विशेष रूप से 9–14 वर्ष के आयु–वर्ग के बच्चों को, जो बीच में पढ़ाई भी छोड़ देते हैं। पठन, लेखन और समझ के साथ अंक पद्धति के पूर्व–निश्चित स्तरों के अलावा, कार्यात्मक साक्षरता में, राष्ट्रीय एकीकरण, पर्यावरण के संरक्षण, महिलाओं के संरक्षण, महिलाओं की समानता, छोटा परिवार मानदण्ड अपनाने आदि के अन्तर्निहित मूल्य सम्मिलित हैं। एनएलएम में यथावर्णित साक्षरता अपने आप में अन्त नहीं है बल्कि यह परिवर्तन का एक सक्रिय और सशक्त साधन होना चाहिए जिससे कि इन सामाजिक उद्देश्यों और एक शिक्षित समाज की स्थापना सुनिश्चित हो सके। कार्यात्मक साक्षरता की वृद्धि से सशक्तता और जीवन की कोटि में निश्चित रूप से सुधार होता है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के अन्तर्गत योजनाओं के संशोधित प्रांचलों और वित्तीय सहायता के संवर्धित मानदण्डों को कार्यान्वयन हेतु दसवीं योजना में भी अपनाया गया है। संशोधित योजनाओं की मुख्य–मुख्य बातों में साक्षरता और साक्षरता–पश्चात चरणों की सभी विशेषताओं को शामिल करते हुए साक्षरता के संबंध में एक एकीकृत दृष्टिकोण सम्मिलित है।

माध्यमिक शिक्षा

सरकार द्वारा माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न योजनाओं को कार्यन्वित किया गया और इसके अतिरिक्त, एनसीईआरटी, एनआईओएस, सीबीएसई जैसे प्रमुख संस्थानों को सहायता दी जाती है।

केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के शैक्षिक क्रियाकलापों की गुणवत्ता और उनके आयामों में काफी वृद्धि हुई। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने विद्यालयों की पाठ्यचर्या में आपदा प्रबंधन का पाठ्यक्रम शामिल किया है। छठी और सातवीं कक्षाओं में जीवन कौशल शिक्षा का एक नया पाठ्यक्रम प्रारंभ किया गया था।

सर्वशिक्षा अभियान, व्यावसायिक शिक्षा, सुविधा वंचित समूहों की शिक्षा को सहायता देना, पाठ्यपुस्तकों का विकास और परीक्षा सुधार एनसीईआरटी के प्राथमिकता क्षेत्र थे। केन्द्रीय विद्यालयों का उद्देश्य केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों/रक्षा कर्मचारियों के, जिनका बार–बार स्थानांतरण हो सकता है, बच्चों के लिए व्यवधान रहित शिक्षा की व्यवस्था करना है।

जवाहर नवोदय विद्यालयों का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के प्रतिभाशाली बच्चों को, चाहे उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति कुछ भी हो, उच्च गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करना है, जिसमें सांस्कृतिक मूल्य, पर्यावरण के बारे में जागरूकता और शारीरिक शिक्षा भी शामिल है। इस समय विभिन्न राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों में 509 नवोदय स्कूल हैं।

विकलांग बच्चों के लिए एकीकृत शिक्षा योजना (आईईडीसी) 1974 में शुरू की गई थी। यह राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्रों और गैर–सरकारी संगठनों को 100 प्रतिशत वित्तपोषण करती है। कम्प्यूटर साक्षरता और स्कूलों में अध्ययन और शैक्षिक प्रौद्योगिकी की दो योजनाओं का आपस में विलय कर दिया गया है ताकि क्रियाकलापों की प्रभावकारिता को बढ़ाया जाए।

टिप्पणी

विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) की स्थापना देश के भीतर उच्च शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए क्रियाकलापों का समन्वय करने के उद्देश्य से की गई थी। निर्धारित किए गए अधिकांश लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में यूजीसी प्रयासशील है। योजनाओं में ये शामिल हैं: विश्वविद्यालयों और कालेजों का प्रत्यायन, उत्कृष्टता वाले विश्वविद्यालयों को बढ़ावा, क्षेत्र अध्ययन केन्द्रों को बढ़ावा, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए विशेष प्रकोष्ठों की स्थापना, विज्ञान और प्रौद्योगिकी में आधारिक तंत्र को सुदृढ़ीकरण के लिए सहायता, अन्तःविश्वविद्यालय केन्द्र स्थापित करना, देश के भीतर और बाहर आयोजित संगोष्ठियां तथा सम्मेलनों में भाग लेना तथा विश्वविद्यालयों में कम्प्यूटर केन्द्र स्थापित करना। यूजीसी ने 17 केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को अनुरक्षण और विकास अनुदान भी मंजूर किया है।

1985 के संसद के एक अधिनियम के अधीन स्थापित इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) ने देश में मुक्त विश्वविद्यालय और दूरस्थ शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा दिया। जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को अवसर प्रदान करके इसने उच्च शिक्षा की सुलभता का विस्तार कर दिया। इग्नू ने मल्टीमीडिया शिक्षण कार्यनीति अपनाई है। ज्ञानदर्शन नामक टीवी चैनल और ज्ञानवाणी नामक एफएम रेडियो के प्रयोग से इग्नू ने अपनी पहुंच में काफी वृद्धि कर ली है। इग्नू ने एक महिला शिक्षा यूनिट स्थापित की है जिससे कि सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक और रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम तैयार और आयोजित किए जा सकें।

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएसएसआर) भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान परिषद (आईसीएचआर), भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (आईआईएस), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद (आईसीपीआर) तथा राष्ट्रीय ग्रामीण संस्थान परिषद (एनसीआरआई) जैसी अनुसंधान परिषदों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन अनुसंधान परिषदों ने, जो कि विश्वविद्यालय प्रणाली के बाहर काम करती हैं, विज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र तथा अन्तःविषय क्षेत्रीय क्षेत्रों जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसंधान और सृजनात्मकता को बढ़ावा दिया है।

भारत में शैक्षणिक संस्थान विदेशी संस्थानों के सहयोग से विभिन्न क्रियाकलाप करते हैं। विदेशी विश्वविद्यालयों के साथ सहमति ज्ञापनों पर हस्ताक्षर करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा जिन मार्गदर्शी सिद्धान्तों/अनुदेशों अथवा क्रियाविधियों का पालन किया जाना चाहिए, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने उन्हें युक्तियुक्त बना दिया है। इन मार्गदर्शी सिद्धान्तों के अधीन केन्द्रीय विश्वविद्यालय से मानव संसाधन विकास मंत्रालय की अनुमति, सम–विश्वविद्यालयों से यूजीसी की अनुमति और राज्य विश्वविद्यालयों से राज्य सरकार की अनुमति लेने की अपेक्षा की जाती थी। इन सबको उच्च शिक्षा के संस्थानों की स्वायत्तता के लिए अनावश्यक हस्तक्षेप समझा जाता था।

तकनीकी शिक्षा

देश में तकनीकी शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत इंजीनियरी, प्रौद्योगिकी, प्रबंधन, वास्तुकला, नगर आयोजना, फार्मेसी, प्रयुक्त कलाओं और शिल्पकलाओं में पाठ्यक्रम और कार्यक्रम सम्मिलित हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय अवर स्नातक, स्नातकोत्तर और अनुसंधान स्तरों पर कार्यक्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

सर्व शिक्षा अभियान

टिप्पणी

सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) की योजना प्रारम्भिक शिक्षा के सर्वसुलभीकरण के निमित्त पद्धति अपनाए जाने के सम्बन्ध में अक्तूबर 1998 में आयोजित राज्य शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन की सिफारिशों का परिणाम है। सर्व शिक्षा अभियान की योजना का आरम्भ भारत सरकार ने 2001 में किया था। सर्व शिक्षा अभियान कार्यक्रम के अंतर्गत सहायता नौवीं योजना के दौरान केन्द्र और राज्य सरकार के बीच 85.15 की भागीदारी के आधार पर थी, दसवीं योजना के दौरान 75.25 और इसके बाद 50.5 के आधार पर है।

कार्यक्रम में समूचा देश शामिल किया गया है सिवाय गोवा राज्य के। इस कार्यक्रम में ऐसी बस्तियों में नए स्कूल स्थापित करना, जहां कोई स्कूली सुविधाएं मौजूद नहीं हैं तथा अतिरिक्त क्लासरूमों, शौचालयों, पेयजल, अनुरक्षण अनुदान तथा स्कूल सुधार अनुदान के प्रावधान के माध्यम से स्कूल के मौजूदा आधारिक तंत्र को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया जाएगा। कार्यक्रम के तहत अपर्याप्त शिक्षक वाले विद्यमान स्कूलों में अतिरिक्त शिक्षक उपलब्ध कराएं जाएंगे।

मौजूदा अध्यापकों की क्षमता गहन प्रशिक्षण, अध्यापन–अधिगम सामग्री और शैक्षणिक अनुसमर्थन तंत्र विकसित करके निर्मित की जाएगी। एसएसए का दुर्बल वर्गों की लड़कियों और बच्चों पर विशेष ध्यान है। कार्यक्रम के अधीन निःशुल्क पाठ्यपुस्तकों सहित अनेक प्रोत्साहन इन बच्चों के प्रति लक्षित हैं। एसएसए ग्रामीण क्षेत्रों में भी कम्प्यूटर–आधारित शिक्षा प्रदान करना चाहता है।

इस अभियान में समुदाय को सहभागी बनाने का दृष्टिकोण है और पंचायती राज्य संस्थानों के परामार्श से तैयार की गई ग्राम शिक्षा योजनाएं, जिला प्रारम्भिक शिक्षा योजनाओं का आधार बनेंगी। एसएसए में लड़कियों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, कठिन परिस्थितियों में रह रहे अन्य बच्चों की शैक्षिक आवश्यकताओं पर विशेष बल देते हुए सारा देश कवर किया गया है। इस मंत्रालय में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एनएलएम) की स्थापना की है।

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अल्पसंख्यकों की शिक्षा

संवैधानिक प्रावधान

संविधान के अनुच्छेद– 46 में यह कहा गया है कि राज्य दुर्बल वर्गों विशेष रूप से अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लोगों की शिक्षा और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने की ओर विशेष ध्यान देगा तथा सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के सामाजिक शोषण से उनकी रक्षा करेगा। अनुच्छेद– 330, 332, 335, 338 से 342 तथा संविधान की पूरी पांचवीं और छठी अनुसूचियां अनुच्छेद–46 में निर्दिष्ट लक्ष्यों के कार्यान्वयन के लिए विशेष प्रावधान से संबंधित हैं। हमारे समाज में इन दुर्बल वर्गों के लाभ के लिए इन प्रावधानों का पूरा प्रयोग किए जाने की जरूरत है।

विशेष प्रावधान

स्वतंत्रता के बाद से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक आधार के सुदृढ़ीकरण की दिशा में भारत सरकार ने अनेक उपाय किए हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 और कार्य योजना (पीओए), 1992 के अनुसरण में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए निम्न विशेष प्रावधान प्रारम्भिक शिक्षा और साक्षरता

टिप्पणी

विभाग तथा माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग की मौजूदा योजनाओं में शामिल कर दिए गए हैं–

1. प्राथमिक/मिडिल स्कूल खोलने के लिए शिथिल मानदण्ड।
2. 300 की जगह 200 की जनसंख्या बस्तियों में एक किलोमीटर की पैदल दूरी के भीतर एक प्राथमिक स्कूल।
3. सभी राज्यों में स्थिति सरकारी स्कूलों में उच्च प्राथमिक स्तर पर शिक्षण शुल्क की समाप्ति। वस्तुतः अधिकांश राज्यों ने अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के छात्रों के मामले में उच्च माध्यमिक स्तर तक शिक्षण शुल्क माफ कर दिया है।
4. छात्रों के लिए निःशुल्क पाठ्यपुस्तकों, वर्दियों, लेखन–सामग्री, स्कूल बैग आदि जैसे प्रोत्साहन।
5. 13 दिसम्बर, 2002 की अधिसूचित संवैधानिक (86 वां संशोधन) विधेयक में 6–14 आयु–वर्ग के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को एक मूल अधिकार बना दिया गया है।

सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए)

एसएसए एक समयबद्ध एकीकृत पद्धति के माध्यम से राज्यों की भागीदारी के साथ प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण (यूईई) के चिरवांछित लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम है। एसएसए, जो कि देश की प्रारंभिक शिक्षा क्षेत्र की छवि बदलने का वायदा करता है, ने 6–14 आयु–वर्ग के सभी बच्चों को उपयोगी और उत्तम प्रारम्भिक शिक्षा सुलभ कराने का लक्ष्य रखा है। कार्यक्रम की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. विशेष रूप से अनुसूचित/अनुसूचित जनजातियों और अल्पसंख्यक समूहों की बालिकाओं पर बल।
2. स्कूल न जा सकने वाली लड़कियों के लिए वापस स्कूल चलो शिविर।
3. लड़कियों के लिए निःशुल्क पाठ्यपुस्तकें।
4. लड़कियों के लिए विशेष शिक्षण/ उपचारात्मक कक्षाएं और अनुकूल अधिगम वातावरण।
5. समान अधिगम अवसर प्रोत्साहित करने के लिए अध्यापक संवेदीकरण कार्यक्रम।
6. लड़कियों की शिक्षा से संबंधित नवाचारी परियोजनाओं पर विशेष बल।
7. 50 प्रतिशत महिला अध्यापकों की भर्ती।

जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी)

इस योजना का बल लड़कियों, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों, कामकाजी बच्चों, शहरी सुविधाविहीन बच्चों, विकलांग बच्चों आदि जैसे सुविधाविहीन समूहों पर है। लड़कियों तथा अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष कार्यनीतियां हैं लेकिन भौतिक लक्ष्य इन समूहों को भी शामिल करके एकीकृत ढंग से तय किए जाते हैं। नीपा द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार, डीपीईपी जिलों में 74811 स्कूलों में 60 प्रतिशत से अधिक छात्र अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों से संबंधित हैं।

टिप्पणी

महिला समाख्या (एमएस)

एमएस, शैक्षिक सुलभता और उपलब्धि में परम्परागत लैंगिक असंतुलनों की ओर ध्यान देती है। इस कार्यक्रम के अधीन महिलाओं (विशेष रूप से सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से सुविधाविहीन और सीमान्त समूहों से संबद्ध) को अकेलेपन तथा आत्मविश्वास की कमी, सामाजिक रीति–रिवाजों तथा जिन्दा रहने के लिए संघर्ष से जुड़ी समस्याओं को, जो सब मिलकर उसकी अधिकारिता को अवरुद्ध करते हैं, की ओर ध्यान देने और उनसे निबटने के योग्य बनाता है।

प्रारम्भिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपीइजीईएल)

सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) की योजना के अधीन एनजीईजीईएल प्रारम्भिक स्तर पर अल्प–सुविधाप्राप्त एवं सुविधाविहीन लड़कियों की शिक्षा के लिए अतिरिक्त घटक मुहैया कराता है। यह कार्यक्रम शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े ब्लॉकों (ईबीबी) में, जहां ग्रामीण महिला साक्षरता का स्तर राष्ट्रीय औसत से बढ़कर है और साथ ही जिलों के ऐसे ब्लॉकों में कार्यान्वित किया जा रहा है, जिनमें कम से कम पांच प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की है और जहां अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति महिला साक्षरता दर 1991 के अनुसार दस प्रतिशत से कम है।

शिक्षाकर्मी परियोजना (एसकेपी)

एसकेपी का उद्देश्य राजस्थान में दूरस्थ, शुष्क और समाजार्थिक दृष्टि से पिछड़े गांवों में लड़कियों की ओर मुख्य ध्यान देते हुए प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण और उसमें गुणावत्तात्मक सुधार लाना है। उल्लेख्य है कि शिक्षाकर्मी स्कूलों में 74 प्रतिशत छात्र अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों से संबंधित होते हैं।

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय

कस्तूरबा गांधी बालिका योजना के अधीन दुर्गम क्षेत्रों में अधिकांशतः अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों से सम्बद्ध लड़कियों के लिए प्रारम्भिक स्तर पर छात्रावास सुविधाओं सहित 750 आवासीय स्कूल खोले जा रहे हैं। यह योजना केवल ऐसे अभिज्ञात शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े ब्लॉकों (ईबीबी) में लागू होगी जहां 2001 के जनगणना आंकड़ों के अनुसार ग्रामीण महिला साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से बढ़कर है। ऐसे ब्लॉकों में स्कूल आदिवासी लोगों की बहुलता वाले क्षेत्रों में खोले जा सकते हैं जहां महिला साक्षरता दर कम अथवा स्कूल न जा सकने वाली लड़कियों की संख्या बहुत विशाल है।

जन शिक्षण संस्थान (जेएसएस)

जेएसएस अथवा जन शिक्षण संस्थान की योजना एक ऐसे बहुव्यापी तथा बहुमुखी प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की है जिसका उद्देश्य लाभग्राहियों के व्यावसायिक कौशलों और जीवन स्तर में सुधार लाना है। योजना का लक्ष्य शहरी एवं ग्रामीण जनसंख्या के विशेष रूप से नवसाक्षरों, अर्ध–साक्षरों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों, महिलाओं और लड़कियों, झुग्गी–झोंपड़ी में रहने वालों, प्रव्रजक कामगारों आदि जैसे समाजार्थिक दृष्टि से पिछड़े और शैक्षिक दृष्टि से सुविधाविहीन समूहों का शैक्षिक, व्यावसायिक तथा जीवनवृत्ति विकास करना है।

साक्षरता अभियानों का अन्य सामाजिक क्षेत्रों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इन अभियानों ने समाज में समानता और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने और एक वैज्ञानिक स्वभाव

तथा भारत की महान मिली–जुली संस्कृति के साथ अपनत्व की भावना और विविधता में एकता की अनुभूति उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

टिप्पणी

केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान (सीआईआईएल)

केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान मैसूर में आदिवासी भाषाओं सहित आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुसंधान, जनशक्ति विकास और सामग्री निर्माण के माध्यम से भारतीय भाषाओं के विकास की एक योजना पर काम चल रहा है।

केन्द्रीय विद्यालय (केवी)

नए दाखिलों में 15 प्रतिशत और 7.5 प्रतिशत स्थान क्रमशः अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित रहते हैं। 12वीं कक्षा तक अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के छात्रों से कोई शिक्षण शुल्क नहीं लिया जाता।

नवोदय विद्यालय (एनवी)

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के पक्ष में संबंधित जिले की जनसंख्या में इन समुदायों के अनुपात के अनुसार सीटों का आरक्षण किया जाता है, किन्तु, शर्त यह है कि ऐसा कोई भी आरक्षण 22.5 प्रतिशत की राष्ट्रीय औसत (अनुसूचित जाति के 15 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति के लिए 7.5 प्रतिशत) से कम और दोनों समुदायों (अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां) के लिए मिलाकर 50 प्रतिशत की अधिकतम सीमा से अधिक नहीं होगा। इन आरक्षणों की खुली प्रतियोगिता से चुने गए छात्रों के बीच परस्पर अदला–बदली और कमीबेशी की जा सकती है।

राष्ट्रीय मुक्त स्कूल संस्थान (एनआईओएस)

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के छात्रों की दाखिला फीस में 200 रूपए तक, माध्यमिक पाठयक्रम के लिए 300 रुपए तक रियायत दी जाती है। माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में छात्राओं के लिए बोर्डिंग और छात्रावास सुविधाओं के सुदृढ़ीकरण की योजना के अधीन ग्रामीण क्षेत्रों और दुर्बल वर्गों में किशोर लड़कियों के नामांकन में सुधार लाने के लिए स्वैच्छिक संगठनों को शत–प्रतिशत आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। वरीयता शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े जिलों विशेष रूप से ऐसे जिलों को दी जाती है जिनमें अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े अल्पसंख्यकों की बहुलता हो।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी)

एनसीईआरटी इन बातों पर ध्यान केन्द्रित करती हैः पाठयपुस्तकों, कार्यपुस्तिकाओं, अध्यापक मार्गदर्शिकाओं, पूरक पाठन सामग्री का विकास, व्यावसायिक शिक्षा, शैक्षिक प्रोद्योगिकी, परीक्षा सुधार का मूल्यांकन, सर्वशिक्षा अभियान को सहायता, शैक्षिक दृष्टि से सुविधाविहीन वर्गों की शिक्षा।

एनसीईआरटी, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान में पाठयक्रमों में भाग लेने के लिए डाक्टोरल स्तर तक और चिकित्सा तथा इंजीनियरी में दूसरी डिग्री के स्तर तक कतिपय शर्तों की पूर्ति के अंतर्गत राष्ट्रीय प्रतिभा खोज योजना चलाती है। कुल 1000 में से 150 छात्रवृतियां अनुसूचित जाति के छात्रों एवं 75 छात्रवृतियां अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए आरक्षित हैं।

राष्ट्रीय शैक्षिक आयोजना और प्रशासन संस्थान (नीपा)

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का शैक्षिक विकास नीपा की चिन्ता का एक प्रमुख क्षेत्र है। यह संस्थान अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों और योजनाओं को लेकर अनेक अध्ययन करता है। साथ ही यह संस्थान, शैक्षिक संस्थानों और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के छात्रों के विकास के संबंध में सामग्री भी तैयार करता है।

टिप्पणी

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी)

यूजीसी अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण नीति का प्रभावी कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के प्रयोजन से विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति प्रकोष्ठ स्थापित करने के लिए विश्वविद्यालयों/सम–विश्वविद्यालयों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। यूजीसी आरक्षण नीति का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए केन्द्रीय विश्वविद्यालयों सहित 113 विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों सम्बन्धी स्थायी समिति विश्वविद्यालयों/कालेजों द्वारा किए जाने वाले कार्य का मानीटरिंग तथा समीक्षा करती है।

5.6.2 स्वास्थ्य

1952 में भारत, विश्व का पहला ऐसा देश था, जिसने स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण का राष्ट्रीय कार्यक्रम शुरू किया। इसका मुख्य उद्देश्य जनसंख्या के स्तर को स्थिर रखने के लिए जन्मदर में कमी लाना था। दसवीं पंचवर्षीय योजना में प्रधानमंत्री स्वास्थ्य सुरक्षा योजना (पी.एम.एस.एस.वाई.) शुरू की गई। इस योजना के अंतर्गत देश में छह पिछड़े राज्यों में नई दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) जैसे संस्थान स्थापित किए जाएंगे। अन्य छह राज्यों में मौजूद छह संस्थानों का दर्जा बढ़ाकर उन्हें 'एम्स' के स्तर का बनाया जाएगा।

1955 में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय में भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं होमियोपैथी विभाग की स्थापना की गई। नवंबर 2003 में इसका नाम बदलकर 'आयुर्वेद, योग, प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध, होमियोपैथी (आयुष)' रखा गया। 2002 में पहली बार भारतीय चिकित्सा पद्धति और होमियोपैथी के बारे में एक अलग राष्ट्रीय नीति बनाई गई। इस नीति का मुख्य उद्देश्य बेहतर स्वास्थ्य को प्रोत्साहन देना, स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार करना तथा सभी को स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया कराना है।

2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य परिचर्या मिशन प्रारंभ किया गया है। इस मिशन का मुख्य उद्देश्य देश के लोगों को सस्ती, सुलभ, उत्तरदायी, प्रभावी तथा विश्वसनीय प्रारंभिक स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराना है। इसमें समाज के कमजोर तबके पर मुख्य ध्यान केंद्रित किया जाएगा।

महत्वपूर्ण स्वास्थ्य योजनाएं तथा अधिनियम

- औषधि एवं सौंदर्य प्रसाधन अधिनियम–1940
- राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम–1953
- खाद्य अपमिश्रण रोकथाम अधिनियम–1954
- राष्ट्रीय फाइलेरिया नियंत्रण अधिनियम–1955

टिप्पणी

- राष्ट्रीय कुष्ठरोग नियंत्रण अधिनियम–1955
- भारतीय चिकित्सा परिषद् अधिनियम–1956
- केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो–1956
- राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम–1956
- राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम–1962
- राष्ट्रीय विकृति नियंत्रण कार्यक्रम–1962
- राष्ट्रीय कैंसर नियंत्रण कार्यक्रम–1975
- दृष्टिहीनता नियंत्रण का राष्ट्रीय कार्यक्रम–1976
- राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम–1982
- राष्ट्रीय कुष्ठ रोग उन्मूलन कार्यक्रम–1983
- गिनी कृषि उन्मूलन कार्यक्रम–1983–84
- प्रसव पूर्व जांच अधिनियम–1985
- सार्वत्रिक टीकाकरण कार्यक्रम–1985
- कालाजार नियंत्रण कार्यक्रम–1990–91
- पल्स पोलियो अभियान–1995
- जिला मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम–1996
- परिवार कल्याण कार्यक्रम–1996
- प्रजनन तथा बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम–1997
- संचारी रोगों के लिए राष्ट्रीय निगरानी कार्यक्रम–1997–98
- राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम–1999
- राष्ट्रीय जनसंख्या नीति–2000
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति–2002

प्रमुख राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान

नाम	स्थापना वर्ष	कार्य / उदेश्य
• राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान	1860	प्राकृतिक चिकित्सा को चिकित्सा की एक पद्धति के रूप में विकसित करने तथा प्राकृतिक चिकित्सा के सभी पहलुओं के अनुसंधान को प्रोत्साहित करना।
• राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान	1976	इसकी स्थापना जयपुर में की गई थी। इसका उद्देश्य चिकित्सा–प्रणाली के सभी पहलुओं पर शिक्षण–प्रशिक्षण तथा अनुसंधान के उच्च मानकों का विकास करना है।
• राष्ट्रीय यूनानी चिकित्सा संस्थान	1987	इसकी स्थापना बंगलौर में की गई थी। यह यूनानी चिकित्सा को बढ़ावा देने का कार्य करता है।

• राष्ट्रीय होम्योपैथी चिकित्सा संस्थान	1975	इसकी स्थापना कोलकाता में की गई थी। यह होम्योपैथी को बढ़ावा देने का कार्य करता है।

टिप्पणी

प्रमुख राष्ट्रीय औषधि नियंत्रण संस्थान/प्रयोगशालाएं

- **केंद्रीय औषधि मानक नियंत्रण संगठन** : औषधियों के निर्माण तथा विक्रय को नियंत्रित करने के क्षेत्रीय कार्यालय कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई और गाजियाबाद में तथा उपक्षेत्रीय कार्यालय पटना एवं लखनऊ में हैं। ये सभी कार्यालय केंद्रीय औषधि मानक नियंत्रण संगठन और राज्य संगठनों के बीच संतुलित समन्वय स्थापित करते हैं।
- **भारतीय भेषज संग्रहालय, गाजियाबाद** : यह संस्थान भेजष संग्रहालय का कार्य करता है।
- **केंद्रीय औषधि प्रयोगशाला, कोलकाता** : औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम के अधीन अदालतों द्वारा भेजे गए नमूनों के लिए अपीली प्रयोगशाला के रूप में यह संगठन कार्य करता है।
- **केंद्रीय औषधि जांच प्रयोगशाला, मुंबई** : औषध्यिों की जांच करना इसका मुख्य कार्य है।

5.6.3 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

पृथ्वी पर मनुष्य के अभ्युदय के साथ ही वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का भी विकास प्रारंभ हुआ। खनन प्रौद्योगिकी का विकास, पत्थरों के हथियारों को गढ़ना, मानव द्वारा प्रौद्योगिकी को अपने जीवन में अपनाने का प्रथम सफल प्रयास था। अग्नि प्रज्वलन क्षमता का विकास, काटने वाले औजारों का विकास, कृषि कार्य की तकनीकों का विकास और धीरे– धीरे अपनी जरूरत के अनुसार तन ढकने का विकास मानव के वैज्ञानिक विकास की शुरुआती यात्रा है।

भारत में प्रौद्योगिकी का विकास

भारत में प्राचीन काल से ही विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक महान परम्परा रही है क्योंकि भारत पुरातन सभ्यताओं में से एक रहा है। सिंधु सभ्यता के लोग हल तथा पहिये का प्रयोग करना जानते थे, धातुओं को गलाने तथा ढालने में सिद्धहस्त थे। दिल्ली के मेहरौली में स्थित 24'3'' ऊंचा लौह–स्तम्भ तत्कालीन लौहकारों की क्षमता को प्रमाणित करता है, 99 प्रतिशत लोहे की मात्रा के बाद भी आज तक इसमें जंग का असर नहीं पड़ा है क्योंकि Mno_2 (मैंगनीज डाई ऑक्साइड) के एक पतले आवरण में मढ़कर इस लौह–स्तम्भ को सुरक्षित रखा गया है।

वैदिक काल 1500–600 BC तक माना जाता है। इस समय के एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'शुल्व–सूत्र' में यज्ञशालाओं तथा हवनकुण्डों की ज्यामितीय आकृतियों का सचित्र वर्णन मिलता है। वैदिक–काल में ही शून्य का प्रचलन भारतीय विद्वानों ने प्रारम्भ किया। आधुनिक मानक अंक 1,2,3,4,5,6,7,8,9 भी भारतीय विद्वानों द्वारा विकसित किए गए, इस मानक अंक को भारतीयों से अरबों ने सीखा और पुनः पाश्चात्य देशों द्वारा प्रयोग किया जाने लगा।

टिप्पणी

महान गणितज्ञ आर्यभट्ट–I (ईसा के बाद पांचवीं शताब्दी) ने p का मान 3.1416 ज्ञात किया, जिसका आज भी उपयोग किया जाता है। भास्कर–I, ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी), आर्यभट्ट–II, श्रीहरि तथा श्रीपति (दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी ईसा पश्चात्) प्रमुख गणितज्ञ थे। भास्कर–II ने ही गणित के महान ग्रंथ 'सिद्धांत–शिरोमणि' की रचना की थी। विश्व में आर्यभट्ट ने पहली बार बताया कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करने के साथ–साथ अपने अक्ष पर भी घूमती है। 'पंचसिद्धांत' तथा 'सूर्यसिद्धांत' इत्यादि प्राचीन रचनाओं ने अपने परवर्ती वैज्ञानिक तथा गणितज्ञों का निरन्तर मार्गदर्शन किया। राजा सवाई जयसिंह–II ने 18वीं शताब्दी में उज्जैन, वाराणसी, मथुरा, जयपुर तथा दिल्ली में पांच वेधशालाओं का निर्माण करवाया।

चिकित्सा के क्षेत्र में 'अथर्ववेद' निश्चित ही प्राचीन–भारतीय मौलिक ज्ञान भण्डार का प्रमुख स्रोत है, जो विश्व चिकित्सा क्षेत्र में सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ भी है। इसी के कारण भारत को चिकित्सा क्षेत्र में सर्वप्रथम अन्वेषणकर्त्ता होने का श्रेय प्राप्त है। औषधि चिकित्सा तथा शल्य–चिकित्सा दोनों ही पद्धतियों का जन्मदाता भारत ही है। लगभग 2500 वर्ष पूर्व सुश्रुत ने 'सुश्रुत–संहिता' तथा चरक ने 'चरक–संहिता' जैसे महान ग्रंथों की रचना की। सुश्रुत–संहिता में पथरी, मोतियाबिन्द जैसे कई रोगों के उपचार के विषय में बताया गया है तथा 150 से भी अधिक शल्य–क्रिया से संबंधित उपकरणों का वर्णन भी किया गया है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीयों को चिकित्सा–संबंधी सूक्ष्मतम औजारों के निर्माण में भी दक्षता प्राप्त थी तथा अंग प्रत्यारोपण जैसी आधुनिक दुष्कर शल्य चिकित्साशास्त्र के साथ–साथ रसायन–शास्त्र का भी विकास हुआ जिससे रंगरेजी, कागज उत्पादन, का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

स्थापत्य कला एवं पाषाण–शिल्प में भी प्राचीनकाल से ही भारतीय उपलब्धि सर्वोत्कृष्ट रही है। मौर्यकाल में जिस प्रकार पाषाणों को काटकर एकश्मीय विशाल–स्तम्भ बनाकर उस पर पालिशिंग की गई है, वह आश्चर्यचकित करने वाला है। पर्वतों में प्रस्तर–कर्तन के द्वारा जिस प्रकार के मंदिरों तथा गुफाओं का निर्माण किया गया है, वे निश्चित ही आधुनिक अभियन्ताओं के लिए ईर्ष्या के विषय हैं। मध्यकालीन स्मारक निर्माण कला का उत्कृष्ट नमूना 'ताजमहल' है, जो आज भी विश्व के महान आश्चर्यों में शामिल है; कवियों, शायरों का प्रेरणास्रोत होने के समय–साथ महान भारतीय वास्तुशिल्पीय परम्परा का जीवन्त उदाहरण है।

भारत के इस विज्ञान–विकास क्रम में एक समय ऐसा भी आया, जब विज्ञान की प्रगति से तथाकथित संकीर्णतायुक्त धर्म को खतरा महसूस होने लगा। ध्यातव्य है कि चिर–काल से ही भारत में विज्ञान तथा धर्म परस्पर पूरक रहे हैं, पृथक नहीं। सभी विज्ञानों का एक धार्मिक आधार था तथा धर्म में विज्ञान इस प्रकार से समाविष्ट था कि नीर–क्षीर अंतर करना सर्वथा असम्भव था।

मध्य काल में विदेशी आक्रांताओं और फिर अंग्रेजों के शासनकाल में भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की गतिविधियों में ह्रास हुआ। जब दुनिया में औद्योगिक क्रांति हो रही थी, तब हम गुलामी की बेड़ी को काटने के लिए संघर्षरत थे। विदेशी शक्ति के हाथों 200 वर्षों की जकड़न ने 18वीं और 19वीं तथा 20वीं सदी में हमारे वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को अवरुद्ध रखा। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्त होते ही हम चेते, हमारे योग्य विज्ञानियों, प्रबुद्ध राजनेताओं ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय विकास की अलख जगाई। हमारे प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भारत के आधुनिक विज्ञान एवं

तकनीकी विकास के कुशल शिल्पी, स्वप्नद्रष्टा, सर्जक एवं जनक थे। उनके सद्प्रयासों का ही प्रतिफल है कि आज हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में दुनिया के अग्रणी देशों में समकक्ष खड़े हैं।

टिप्पणी

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारत का औपनिवेशिक शोषण प्रारम्भ हो गया। उनको युगों से सम्पन्न भारतीय जीवनशैली तथा सभ्यता ने ही आकर्षित किया। यह दुखद ही है कि सभ्यता के दृष्टिकोण से भारतीय समाज के परवर्ती पाश्चात्य देशों में जब औद्योगिक–क्रान्ति चरम पर थी तभी न केवल भारत का शोषण भी चरम पर था अपितु पाश्चात्य औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक मशीनरी को त्वरित करने का महत्वपूर्ण हथियार भी था। अपने औपनिवेशिक काल के दौरान ब्रितानियों ने विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा प्रतिरक्षा में जो प्रगति की उसमें यह लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि वह भारतीयों के कल्याण के लिए था। लेकिन यह भी सत्य है कि ये सारे उपाय अपने उपनिवेश से अधिकतम लाभ–प्राप्ति के साधन थे। भारतीयों ने ब्रितानी शासन के दौरान जनजागरण द्वारा अपने संक्रमणकालीन धार्मिक दुर्गुणों को दूर कर पुनः उसे वैज्ञानिक तथा दोषमुक्त बनाने का प्रयास किया। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के उपरांत इस 'विपन्न' भारत को अपने वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय ज्ञान द्वारा पुनः सशक्त बनाने का संकल्प, भारतीयों द्वारा लिया गया जो वर्तमान तक निरन्तर कार्यान्वित किया जा रहा है।

1784 में एक अंग्रेज अधिकारी विलियम जोंस ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में जागृति लाने के लिए एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। यह संस्था भौतिक, रसायन, भू–विज्ञान, पुरातत्वीय विज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित शोध परक पत्रिकायें इत्यादि निकालती थी। ज्ञातव्य है कि विलियम जोंस ने कालिदास–रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का आंग्ल अनुवाद भी किया था। इसके बाद 1907 में कोलकाता में इंडियन मैथमेटिकल सोसाइटी (IMS) की स्थापना की गई तथा 1917 में कोलकाता में ही 'बोस इंस्टिट्यूट' की स्थापना की गई। सन् 1942 में दिल्ली में 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषदों की स्थापना की गई।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रमुख नीतियां एवं कार्यक्रम

यह तो पं. नेहरू की विकसित दृष्टि थी कि उनके ही प्रयत्नों से 4 मार्च, 1958 को स्वतंत्र भारत के योजनाबद्ध विकास के लिए संसद में भारत सरकार की विज्ञान नीति पारित की गई। इस विज्ञान नीति में लोगों को विज्ञान का लाभ उपलब्ध कराने तथा अनुसंधान के व्यावहारिक उपयोग की दिशा में सरकार के उत्तरदायित्व पर जोर दिया गया था। इस नीति में ये निर्धारित किया गया था कि विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत कर्मियों को प्रशिक्षित करने से संबंधित कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, ताकि विज्ञान, शिक्षा, कृषि, उद्योग एवं रक्षा के क्षेत्र में राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। इस नीति में आर्थिक एवं बहुआयामी सामाजिक–सांस्कृतिक विकास के माध्यम से आत्मनिर्भरता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अन्तर्गत अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया एवं इसे पुनः संगठित किया गया। राष्ट्रीय महत्व वाले तथा नए उभरते हुए क्षेत्रों के लिए वैज्ञानिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्यावरण, सागर–विकास, गैर–परम्परागत ऊर्जा स्रोतों तथा जैव–प्रौद्योगिकी के लिए विभागों की स्थापना की गई। वर्ष 1958 में संसद में पारित विज्ञान नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

विज्ञान नीति : 1958

राष्ट्रीय विकास हेतु वैज्ञानिक अनुसंधानों के संगठन एवं निर्देशन हेतु वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित मंत्रालय की स्थापना (1951) करने वाला भारत प्रथम राष्ट्र था। जिस उत्साह के साथ मंत्रालय ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के समर्थन का कार्य अपने हाथ में लिया, उसके बाद हुए अनुसंधान एवं विकास के लिए स्थापित प्रयोगशालाओं एवं विज्ञान–प्रौद्योगिकी तथा उद्योगों सम्बन्धी विभिन्न परामर्श समितियों में वैज्ञानिकों एवं प्रौद्योगिकीविदों की भागीदारी एवं प्रतिनिधित्व का हाथ है। इसके अतिरिक्त देश के आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका की चर्चा हर पंचवर्षीय योजना के घोषणापत्र में बड़ी प्रमुखता से की जाती रही है। इस दिशा में भारतीय संसद द्वारा 1958 में विज्ञान नीति को अपनाया गया, जिसका विवरण इस प्रकार है–

1. राष्ट्रीय समृद्धि की कुंजी, लोगों के उत्साह के अतिरिक्त, आधुनिक युग में तीन कारकों–प्रौद्योगिकी, कच्चे माल और पूंजी के प्रभावी संयोग में निहित है, जिनमें पहला कारक सबसे महत्वपूर्ण है, नई वैज्ञानिक तकनीकी के सृजन और उनके अपनाए जाने से वास्तव में, प्राकृतिक संसाधनों की कमी पूरी की जा सकती है और पूंजी की मांग घटायी जा सकती है। लेकिन विज्ञान के अध्ययन और इसके अनुप्रयोग से ही प्रौद्योगिकी विकसित होगी।
2. व्यापक पैमाने पर विज्ञान का तीव्र संवर्द्धन और देश की जरूरतों को पूरा करने के लिए इसका उपयोग समकालीन विश्व का प्रभावी रूप है। यह मनुष्य जाति के इतिहास में पहली बार सम्भव हुआ है कि विज्ञान के मामलों में, समस्त राष्ट्रों में आम आदमी के रहन–सहन के स्तर, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं को महत्व दिया गया, जबकि कभी जनसंख्या के अत्यन्त छोटे से हिस्से के लोगों तक ही ऐसी प्राथमिकताएं सीमित थीं। विज्ञान ने संस्कृति को उस सीमा तक बढ़ाया और विस्तारित किया है, जितना आज से पहले कभी संभव नहीं था।
3. समुदाय के हर व्यक्ति को उचित वस्तुओं, सांस्कृतिक आवश्यकताओं और सेवाओं की आपूर्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विधियों तथा वैज्ञानिक ज्ञान के उपयोग के ही द्वारा की जा सकती है और यह इस विचार की प्रतिश्रुति है कि एक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना पनप चुकी है। आधुनिक विश्व का सामान्य लक्षण है कि औद्योगीकरण की मात्र, वैज्ञानिक कामकाजों में किए गए प्रयासों और प्रयुक्त किए गए संसाधनों के संदर्भ में, एक कल्याणकारी राज्य के व्यावहारिक अनुभवों की दिशा में हुई प्रगति देश–देश में काफी भिन्न है।
4. राष्ट्र का वैभव और समृद्धि औद्योगीकरण के द्वारा अपने लोगों और आर्थिक संसाधनों के प्रभावी उपयोग पर निर्भर है। औद्योगीकरण के लिए मानव शक्ति का उपयोग विज्ञान की शिक्षा, तकनीकी कौशलों में प्रशिक्षण की मांग करता है।
5. प्रतिस्थानों के लिए, यह सही अर्थों में, कौशल के द्वारा विज्ञान और प्रौद्योगिकी कच्चे मालों का अभाव दूर कर सकती है। उसी राष्ट्र का औद्योगीकरण करते समय, संयंत्र और मशीनरी तथा उच्च वेतनमान वाले कार्मिक एवं तकनीकी परामर्शदाताओं के रूप में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के आयात में काफी ऊंची कीमतें चुकानी पड़ती हैं।

टिप्पणी

6. इस सदी के आरम्भ से ही सदैव वर्धनशील गति से विज्ञान ने तरक्की की है, अतः उन्नत और पिछड़े राष्ट्रों के बीच की खाई अधिक से अधिक होती गई है। विज्ञान के विकास की राह में अधिक शक्तिशाली साधनों को अपनाकर तथा अपने हर सम्भव प्रयास को सामने लाकर ही इस खाई को कम किया जा सकता है।
7. तदनुसार, भारत सरकार ने निश्चय किया है कि उसकी विज्ञान नीति के निम्न उद्देश्य होंगे–
   - विज्ञान के संवर्धन और इसके सभी पहलुओं–सैद्धांतिक, व्यावहारिक और शैक्षिक, में अनुसंधान को समुचित तरीके से तीव्र करना, विकसित करना और उन्हें स्थायित्व प्रदान करना।
   - देश के अंदर उच्चतम गुणवत्ता वाले अनुसंधान वैज्ञानिकों की उपलब्धता को सुनिश्चित करना और राष्ट्र की शक्ति के महत्वपूर्ण घटक के रूप में उनके कार्यों को मान्यता देना।
   - वैज्ञानिक एवं तकनीकी कार्मिकों के प्रशिक्षण के कार्यक्रमों को हर संभव गतिशीलता के साथ उस समुचित स्तर पर प्रारंभ करना और प्रोत्साहित करना जिससे कि विज्ञान और शिक्षा, कृषि और उद्योग तथा प्रतिरक्षा के मामलों में वे देश की जरूरतों को पूरा कर सकें।
   - इस बात को सुनिश्चित करना कि पुरूषों और महिलाओं की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और वैज्ञानिक गतिविधियों में उसे पूर्ण विस्तार मिल रहा है।
   - शैक्षणिक स्वातंत्र्य के वातावरण में, नए ज्ञान की खोज के लिए, ज्ञान के अर्जन एवं उसके प्रसार की व्यक्तिगत पहल को प्रोत्साहित करना।
   - सामान्यतः वैज्ञानिक ज्ञान के अर्जन एवं उसके सम्प्रयोग से जो सभी लाभ हो सकते हैं, उन्हें देश के लोगों के लिए संरक्षित करना।

भारत सरकार ने यह निश्चित किया है कि वैज्ञानिकों को बेहतर सेवाएं मुहैया कराकर और उसी अनुरूप उन्हें सम्मानजनक स्थान देकर नीतियों के निर्धारण में वैज्ञानिकों को सम्मिलित करके और समय–समय यथा आवश्यक ऐसे अन्य उपायों को अपनाकर इन उद्देश्यों को पूरा किया जाएगा।

वर्ष 1958 की यह विज्ञान नीति वर्ष 1982 तक चलती रही। यह विज्ञान नीति काफी हद तक सफल रही। पं. नेहरू की तरह ही दूरदर्शी, योग्य एवं कर्मठ प्रशासक श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने पिता के सपनों को आगे बढ़ाने के लिए वर्ष 1983 में नई प्रौद्योगिकी नीति तैयार कराई। इस नई प्रौद्योगिकी नीति के मुख्य तथ्य इस प्रकार हैं–

प्रौद्योगिकी नीति, 1983

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के तिरुपति अधिवेशन में स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने 3 जनवरी, 1983 को भारत सरकार की प्रौद्योगिकी नीति की घोषणा की, जिसके उद्देश्य इस प्रकार हैं–

- प्रौद्योगिक दक्षता और आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, विशेष रूप से सुरक्षा की दृष्टि से तथा अन्य महत्वपूर्ण और संवेदनशील क्षेत्र में सुभेद्यता को कम करना, स्वदेशी संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना।

टिप्पणी

- समाज के सब स्तरों के लोगों को अधिकतम मात्रा में लाभदायक एवं संतोषप्रद रोजगार उपलब्ध कराना, स्त्रियों एवं समाज के कमजोर वर्गों को रोजगार दिलाने पर जोर देना।
- परम्परागत दस्तकारियों और हस्तकौशल का उपयोग करना, जिससे वे व्यावसायिक रूप से लाभदायी बन सकें।
- बड़े पैमाने पर उत्पादन हेतु प्रौद्योगिकियों और जनता की उत्पादन तकनीकी का समुचित समन्वयन।
- न्यूनतम पूंजी से अधिकतम विकास कार्य।
- प्रयुक्त की जा रही बेकार तकनीकों का पता लगाना और उपकरण तथा प्रौद्योगिकी दोनों के आधुनिकीकरण की व्यवस्था करना।
- ऐसी प्रौद्योगिकियां विकसित करना, जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लाभदायक हों, विशेष रूप से वे प्रौद्योगिकियां जिनमें निर्यात संभावनाएं हों।
- बेहतर दक्षता से तथा वर्तमान क्षमताओं का और अधिक उपयोग करके तेजी से उत्पादन बढ़ाना, साथ ही निष्पादन और उत्पादन की गुणवत्ता व विश्वसनीयता बढ़ाना।
- ऊर्जा, विशेष रूप से परम्परागत ऊर्जा की मांग को कम करना।
- पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना, पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखना और प्राकृतिक विकास स्थलों की गुणवत्ता में सुधार करना।
- व्यर्थ पदार्थों को पुनः चक्रण में लाना (Recycle) तथा उपोत्पादों (by product) का पूर्ण उपयोग करना ।

वर्ष 1991 में भारत सरकार ने अपनी नई प्रौद्योगिकी नीति को लागू करते हुए ढांचागत सुधार विकसित किए, जिनका विज्ञान एवं तकनीक से संबंधित विकास कार्यक्रमों पर विशेष प्रभाव पड़ा। स्वदेशी तकनीकों के विकास पर ध्यान केन्द्रित करने, प्रौद्योगिकी क्षेत्र में भारत को आत्मनिर्भर बनाने, भारत की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने तथा विश्व के अन्य देशों के साथ भारत को प्रतियोगी बनाने के लिए 1993 में एक नई राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी नीति का प्रारूप तैयार किया गया, जिसका मूल उद्देश्य ''राष्ट्र को अपने लक्ष्य की पूर्ति विश्वास एवं तत्परता के साथ करने हेतु आवश्यक सहायता उपलब्ध कराना था।'' इस प्रौद्योगिकी नीति में देशी प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा इसके विकास पर विशेष बल प्रदान किया गया है। इसके पीछे देश प्रौद्योगिकी को विश्व बाजार की प्रतियोगिता में शामिल करने का उद्देश्य निहित है। वर्ष 1993 की नई प्रौद्योगिकी नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नवत् हैं–

प्रौद्योगिकी नीति, 1993

- प्रौद्योगिकी विकास को अधिकाधिक उपयोग में लाना,
- सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक यंत्रों की सुविधा प्रदान करना, ताकि ग्रामीणों का जीवन–स्तर सुधारा जा सके,
- प्रदूषण के स्तर को कम करने के लिए निवारक उपायों को ध्यान में रखना,
- स्वच्छ एवं कार्यशील प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन देना तथा उनका उचित उपयोग करना,

टिप्पणी

- प्रौद्योगिकी अधिग्रहण के लिए प्रासंगिक प्रयोगशाला निकायों का संयोजन किया जाना,
- प्रौद्योगिकी की क्षमता तथा उत्पादकता को बढ़ाने हेतु मापन की संस्था स्थापित करना ताकि अच्छी क्षमताओं तथा प्रतियोगिताओं को सुनिश्चित किया जा सके।
- देश के प्रमुख निर्यातक क्षेत्रों को प्रौद्योगिकीय सहायता एवं सेवा प्रदान करना,
- उन नए क्षेत्रों के निर्यात को सहायता प्रदान करना, जो विश्व के बदलते हुए प्रौद्योगिकीय परिवेश में उभर सकते हैं,
- स्वच्छ एवं मानक देशी प्रौद्योगिकी का विकास करना ताकि प्राकृतिक वातावरण को सुरक्षित रखते हुए स्वास्थ्य एवं सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके,
- उद्योगों द्वारा अनुसंधान, विकास एवं अभियांत्रिकों में निवेश को बढ़ाना ताकि वर्ष 2020 तक इस पर किया जाने वाला कुल खर्च राष्ट्रीय उत्पादन का दो प्रतिशत हो जाए,
- विदेशों से आयातित सक्रिय प्रौद्योगिकी देश में उपलब्ध कराना,
- ऊर्जा से संबंधित तकनीकों पर जोर देना,
- प्राकृतिक संसाधनों की विस्तृत एवं गहन खोज तथा उसका मानचित्रण,
- प्राकृतिक आपदाओं से बचाव की नई–नई प्रौद्योगिकियां विकसित करना,
- कृषि तथा कृषि आधारित उद्योगों पर ध्यान दिया जाना,
- स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था तथा अनुरक्षण,
- आधारभूत संरचना, जैसी–बिजली, परिवहन, संचार तथा आवास के विकास के संबंधित तकनीकी पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना,
- अत्याधुनिक क्षेत्रों, जैसे–जैव प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रानिक्स, संचार आदि पर विशेष ध्यान दिया जाना,
- कम्प्यूटर एवं सूचना प्रौद्योगिकी का अधिकाधिक विकास करना,
- देश की जनसंख्या की तुलना में तकनीकी तथा वैज्ञानिक कर्मचारियों की संख्या को बढ़ाने का प्रयास करना, आदि।

पं. नेहरू, श्रीमती गांधी, राजीव गांधी की वैज्ञानिक अभिरुचि से विकसित भारतीय वैज्ञानिकी एवं तकनीकी तंत्र को विकास की राह पर और तेजी से बढ़ाने का संकल्प पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने उठाया।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी नीति, 2003

3 जनवरी, 2003 को बैंगलौर में 90वीं विज्ञान कांग्रेस में विज्ञान नीति की घोषणा की गई। नई राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी नीति की घोषणा 45 वर्षों अन्तराल के बाद विज्ञान प्रौद्योगिकी में नई राष्ट्रीय नीति घोषित की गई, जो निम्न प्रकार है–

- स्वदेश विकसित प्रौद्योगिकी के वाणिज्यिक इस्तेमाल व बौद्धिक संपदा अधिकारों के संरक्षण पर बल।
- उद्योगों में वैज्ञानिक अनुसंधानों को बढ़ावा ताकि इन्हें अंतर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिस्पर्द्धा बनाया जा सके।

टिप्पणी

- मध्य एवं माध्यमिक विद्यालयों की प्रयोगशालाओं को सुसज्जित करना।
- उच्च शैक्षणिक संस्थानों के विज्ञान, चिकित्सा एवं इंजीनियरिंग विभागों के आधारभूत ढांचों का सुदृढ़ीकरण।
- आधारभूत अनुसंधान प्रेरित करने के लिए वित्तीयन की नई व्यवस्थाएं।
- वैज्ञानिक व तकनीकी संस्थानों में नौकरशाही की समाप्ति एवं ऐसे संस्थानों को अधिकाधिक स्वायत्तता तथा इसके प्रमुखों के रूप में वैज्ञानिकों की नियुक्ति।
- शोध केन्द्रों, प्रयोगशालाओं व उद्योगों के बीच वैज्ञानिकों की गतिशीलता को प्रोत्साहन।
- विदेशों मे जा बसे भारतीय वैज्ञानिकों की स्वदेश वापसी को प्रोत्साहन।
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर परिव्यय सकल घरेलू उत्पाद के मौजूदा एक प्रतिशत से भी कम स्तर से बढ़ाकर 2 प्रतिशत से अधिक करना।

प्रमुख संस्थान एवं उनके कार्यक्रम

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विभाग की स्थापना, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी अनुसंधान के क्षेत्र में बढ़ावा देने के लिए 1971 में भारत सरकार द्वारा की गई। यह विभाग विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी नीति के लिए वक्तव्य, रुपरेखा तथा मानदण्ड विकसित करता है। यह अनेक संस्थाओं का समन्वयन तथा उनके अनुदान भी तय करता है। इस विभाग की विज्ञान एवम् अभियांत्रिकी शोध परिषद नामक परामर्शदात्री संस्था में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों, विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं तथा औद्योगिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठित विद्वान हैं। स्वतंत्रता के स्वर्णजयंती के अवसर पर भारत सरकार ने 30–40 वर्ष की आयु के युवा वैज्ञानिकों के लिए स्वर्णजयंती फेलोशिप का प्रावधान किया है, जिससे युवा–वैज्ञानिक अपने क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की दक्षता प्राप्त कर सकें।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद (CSIR) की स्थापना 1942 में एक स्वायत्तशासी संस्था के रूप में की गई। इसका प्रमुख कार्य देश के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान का प्रोत्साहन, मार्गनिर्देशन तथा समन्वयन स्थापित करना है। इसके अलावा यह विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विकास की शीर्षस्थ संस्था है, जो विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं का संपादन एवं प्रकाशन करती है। यह न केवल उद्योगों के लिए, अपितु अर्थव्यवस्था के अन्य प्रमुख क्षेत्रों कृषि, सिंचाई, स्वास्थ्य, विद्युत, उत्खनन, परिवहन इत्यादि के क्षेत्रों में अनुसंधान करती है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति को लागू कब किया गया था?

   (क) 1972 (ख) 1982

   (ग) 1986 (घ) 1998

10. 3 जनवरी, 1983 को भारत सरकार की प्रौद्योगिकी नीति की घोषणा किसने की थी?

    (क) पं. जवाहरलाल नेहरू (ख) श्रीमति इंदिरा गांधी

    (ग) लाल बहादुर शास्त्री (घ) राजीव गांधी

5.7 विदेश नीति : गुटनिरपेक्षता

टिप्पणी

1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। इस समय समस्त विश्व दो गुटों में बंटा हुआ था। कई क्षेत्रीय गुट भी बने हुए थे। ऐसे में भारत ने एक स्वतंत्र विदेश नीति को अपनाया। गुटनिरपेक्षता का सूत्रपात कर स्वयं को किसी भी गुट से पृथक रखा। भारत की विदेश नीति के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने कहा है – 'भारत की विदेश नीति भारतीय परिस्थितियों की उपज है, इसकी आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।'

5.7.1 विदेश नीति

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश नीति के निम्न उद्देश्य बताए हैं –

- शांति का अनुसरण करना।
- किसी भी बड़े गुट से असंलग्न रहकर उनके विवादास्पद मामलों में स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाना।
- अधीन जातियों को स्वतंत्र रखना।
- राष्ट्रीय एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बनाए रखना।
- प्रजातीय भेद–भाव को समाप्त करना।
- निर्धनता एवं निरक्षरता को दूर करना जो संसार के अधिकांश भाग को प्रभावित करते हैं।

भारत के संविधान की धारा 51 में भारतीय विदेश नीति की कुछ आधारभूत बातों को समाविष्ट किया गया है, जो निम्नवत हैं–

- अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा हेतु हरसंभव प्रयत्न करना।
- राष्ट्रों के मध्य न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण संबंध बनाए रखना।
- अंतर्राष्ट्रीय कानूनों एवं विभिन्न राष्ट्रों की पारस्परिक संधियों का सम्मान करना।
- अंतर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाने की नीति को प्रोत्साहित करना।

निष्कर्षतः भारत की विदेश नीति का मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, प्रजाति भेद–भाव को दूर करना था।

विदेश नीति निर्धारित करने वाले तत्व

भारतीय विदेश नीति को निर्धारित करने वाले मुख्य तत्व निम्नवत हैं –

1. **भौगोलिक कारक**– सीमा सुरक्षा का ध्यान रखना किसी भी देश की विदेश नीति का मूल आधार होता है। भारत की समुद्री सीमा 6100 कि.मी. एवं थल सीमा 15200 कि.मी. है। विदेश नीति निर्धारित करने में भौगोलिक परिस्थिति के महत्व की ओर इंगित करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने 17 मार्च 1950 को कहा था–

   'हम एशिया के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग हिंद महासागर के मध्य हैं। अतीत एवं वर्तमान कालों से हमारे संबंध पश्चिमी एशिया, दक्षिण–पूर्वी एशिया एवं सुदूरपूर्वी एशिया के साथ रहे हैं। हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।'

टिप्पणी

भारत तीन ओर से समुद्र से घिरा है उत्तर में यह हिमालय पर्वत से रक्षित है। स्थलीय सीमा पर चीन, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, रूस, नेपाल, बर्मा, बंगलादेश एवं तिब्बत स्थित हैं। इनमें से कुछ भागों से रक्षा की खातिर भारत को सीमा पर सुरक्षा सेना रखनी होती है।

भारत पर उत्तर–पश्चिमी सीमा से प्राचीन काल से ही आक्रमण होते रहे हैं। भारत की विदेश नीति के निर्धारण में भौगोलिक कारकों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए 1947 ई. में गायविन्ट (Gaywint) ने लिखा है कि – 'ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भारतीय विदेश नीति में कोई मौलिक अंतर नहीं आएगा।'

2. **आर्थिक तत्व**– खाद्य समस्या के समाधान हेतु भारत को पश्चिमी देशों से आर्थिक सहायता लेना पड़ी। चूंकि भारत समाजवाद समर्थक देश था अतः पंचवर्षीय योजनाओं से प्रेरित होकर भारत ने आर्थिक नियोजन की नीति अपनाई।

3. **सैनिक तत्व**– टॉमस एवं मैक्रिडिज के अनुसार, 'विदेश नीति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व सैनिक व्यवस्था है।' 1962 का भारत–चीन युद्ध एवं 1965 व 1971 के भारत–पाक युद्ध ने भारतीय सेना की श्रेष्ठता प्रमाणित की। यद्यपि भारत शांति चाहने वाला देश है मगर अन्य देशों से सुरक्षा की खातिर सैन्य शक्ति में आवश्यक वृद्धि उसकी विदेश नीति का नियामक तत्व है।

4. **राष्ट्र हित**– विद्वानों का विचार है कि 'विदेश नीति का निर्माण सूक्ष्म सिद्धांतों के आधार पर नहीं होता किंतु राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होता है।' 1947 में जवाहर लाल नेहरू ने भी भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख आधार राष्ट्रीयता माना है।

5. **ऐतिहासिक परंपराएं**– विदेश नीति के निर्धारण में भारत ने ऐतिहासिक परंपराओं को ध्यान रखने पर भी जोर दिया है।

6. **वैचारिक तत्व**– भारत शांति के अग्रदूत महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, कबीर, नानक, विवेकानंद एवं महात्मा गांधी का देश है। अतः इनके शांति, अहिंसा के विचारों को भी भारत की विदेश नीति के निर्धारण में ध्यान रखा गया है।

7. **अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य**– किसी भी देश की विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की जाती है। स्वतंत्रता के समय विश्व दो गुटों में विभाजित था। भारत ने किसी भी गुट का साथ देने की अपेक्षा गुटनिरपेक्षता को अपनी विदेश नीति का प्रमुख आधार बनाया।

भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धांत

1946 में अंतरिम सरकार की स्थापना के पश्चात पं. जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर 1946 में एक प्रेस सम्मेलन में भारत की भावी विदेश नीति के सिद्धांत पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि विश्व शांति का अनुसरण, किसी भी बड़ी शक्ति अथवा गुट के साथ संलग्न न होना, विवादपूर्ण मामलों में स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाना, अधीन जातियों को स्वतंत्र कराना, व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बनाए रखना, प्रजातीय भेद–भाव को दूर करना, भुखमरी निरक्षरता आदि से निपटना भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धांत हैं।

टिप्पणी

भारत की श्रेष्ठता पर बात करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने यह भी कहा था कि 'भारत स्वयं इतना बड़ा देश है कि वह किसी भी देश का पिछलग्गू बनकर क्यों रहेगा। दूसरे राष्ट्र भले ही कितने बड़े हों, भारत देश भी एक ऐसा देश बनने जा रहा है, जिसे कि विश्व मामलों में गिना जाएगा।'

भारतीय विदेश नीति के आधारभूत सिद्धांत निम्न हैं–

अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा – अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा भारतीय विदेश नीति का प्रमुख सिद्धांत है। भारत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कटुता, घृणा, युद्ध एवं हिंसा को समाप्त कर परस्पर सहयोग की नीति का पक्षधर रहा है।

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध– साम्राज्यवादी ब्रिटेन द्वारा भारत में औपनिवेशक शासन स्थापित किया गया था। औपनिवेशक शासन की पीड़ा भला भारत से बेहतर कौन जान सकता था। यही कारण है कि भारत ने साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध अपनी विदेश नीति का मूल सिद्धांत बनाया। पराधीन देशों की स्वतंत्रता पर भारत ने विशेष बल दिया। इंडोनेशिया, लीबिया, ट्यूनिशिया और अल्जीरिया की स्वतंत्रता हेतु भारत ने महत्वपूर्ण प्रयास किया। मिस्र के राष्ट्रपति ने कहा था कि – 'फिलिस्तीन, लीबिया, ट्यूनिशिया, मोरक्को एवं अन्य छोटे देशों की स्वतंत्रता हेतु भारत ने अपना जो बहुमूल्य समर्थन दिया वह भारत की उपनिवेश विरोधी नीति का साक्षात प्रमाण है।'

प्रजातिवाद का विरोध– पं. जवाहर लाल नेहरू ने प्रजातिवाद अथवा रंगभेद की नीति का घोर विरोध करते हुए कहा था कि –

'हम प्रजातिवाद संबंधी नाजी सिद्धांत को पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं चाहे यह किसी भी रूप में अमल में लाए जाएं। हम दूसरों पर कोई आधिपत्य नहीं चाहते और दूसरे राष्ट्रों पर कोई विशेषाधिकार की स्थिति का दावा नहीं करते, परंतु हम अपने देशवासियों के लिए बराबर तथा सम्मानजनक व्यवहार अवश्य चाहते हैं। वे जहां भी जाएं उनके विरुद्ध किसी भी भेद–भाव को स्वीकार नहीं कर सकते।'

भारत विदेश नीति के मामलें में प्रजातिवाद विरोधी देशों का अगुआ रहा है।

अफ्रो एशियायी देशों की सहायता– 1947 में दिल्ली में एशियायी देशों का सम्मेलन हुआ, जिससे एशियायी देशों के मध्य एकता कायम करने का महान प्रयास हुआ। 1948 में जब हॉलैंड ने इंडोनेशिया को पुनः अपना उपनिवेश बनाने का प्रयास किया तो एशियायी देशों में क्रोध की ज्वाला धधक उठी। बर्मा के आग्रह पर जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी 1949 में दिल्ली में सम्मेलन आयोजित किया। 18 अप्रैल 1955 को इंडोनेशिया के बांडुंग नगर में अफ्रोएशियायी सम्मेलन आयोजित हुआ।

इस सम्मेलन को संबोधित करते हुए पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि – 'हमने यह दृढ़ इरादा किया है कि हम किसी अन्य देश अथवा महाद्वीप से शासित नहीं होंगे। हम इस बात के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं कि हम अपने लोगों तक समृद्धि तथा प्रसन्नता लाएं और युगों पुरानी उन बेड़ियों को तोड़ दें जिन्हें हमने आर्थिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि से बांध रखा है – वे बेड़ियां उपनिवेशवाद की तथा हमारे द्वारा बनाए हुए अनेक बंधनों की हैं।'

इस तरह हम देखते हैं कि अफ्रो एशियायी देशों की सहायता भी भारत की विदेश नीति का प्रमुख सिद्धांत है।

टिप्पणी

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का समर्थन– अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा हेतु कार्यरत विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का हर संभव सहयोग भी भारत की विदेश नीति का सिद्धांत रहा है। अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सहयोग हेतु स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ का भारत ने सदैव समर्थन किया है। इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) संयुक्त राष्ट्र आर्थिक वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) के कार्यों में भी भारत की विशेष रूचि रही है।

भारत प्रथम बार 1950–51 में सुरक्षा परिषद का सदस्य चुना गया। व्यापार एवं विकास हेतु संयुक्त राष्ट्र सम्मेलनों में भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत के श्री बी.एन. राव अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीश पद एवं डॉ. राधाकृष्णन यूनेस्को के सर्वोच्च पद को सुशोभित कर चुके हैं।

पंचशील– महात्मा बुद्ध ने लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व पंचशील का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इसने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया। भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने एवं इंडोनेशिया के राष्ट्रपति डॉ. सुकार्णो ने भी अपने–अपने देशों में पंचशील के सिद्धांत पृथकता के साथ प्रतिपादित किए।

पंचशील के तहत पं. जवाहरलाल नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सर्वप्रभुत्व संपन्न देशों के आचरण से संबंधित नियमों की संहिता बनाई जो कि पंचशील के सिद्धांत कहलाती हैं, ये इस प्रकार हैं –

1. एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता तथा प्रभुता का सम्मान किया जाए।
2. एक देश, दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करेगा।
3. कोई भी देश किसी भी देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।
4. समानता एवं पारस्परिक लाभ की भावना पर बल दिया जाएगा।
5. शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना पर बल होगा।

9 अप्रैल 1954 को तिब्बत विवाद को लेकर भारत और चीन के मध्य समझौते के दौरान पंचशील के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। 28 जून 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ–एन–लाई दिल्ली आए उस समय भारत एवं चीन के प्रधानमंत्रियों ने एक संयुक्त वक्तव्य में पंचशील के सिद्धांतों के प्रति विश्वास जताया।

23 सितंबर 1954 को एक राजकीय भोज के दौरान पं. जवाहरलाल नेहरू ने उक्त पांच सिद्धांतों को पंचशील नाम दिया। उन्होंने अन्य देशों से आह्वान किया कि वे इन सिद्धांतों को स्वीकार करें।

10 अप्रैल 1955 को नई दिल्ली में एशिया और अफ्रीका के 14 राज्यों से आए हुए लगभग 200 प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में पंचशील के सिद्धांतों को विस्तार देने की बात की गई। ये पंचशील के सिद्धांत दशशील के सिद्धांतों के रूप में उभरे जो निम्न थे –

1. मौलिक मानवीय अधिकार एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सन्निहित सिद्धांतों के प्रति सम्मान की भावना।

टिप्पणी

2. सभी छोटे–बड़े राष्ट्रों एवं नस्लों में समानता।
3. अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांति पूर्ण समाधान।
4. दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करना।
5. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य पत्र के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार।
6. अनाक्रमण।
7. न्याय एवं अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान।
8. पारस्परिक हितों में वृद्धि।
9. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य पत्र में लिखित सभी सिद्धांतों के प्रति सम्मान की भावना।
10. महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य को पूरा करने के निमित्त बनायी गई व्यवस्थाओं से पृथक रहना एवं अन्य देशों को पृथक रहने हेतु प्रेरित करना।

14 दिसम्बर 1959 को 82 देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भारत द्वारा दिए गए पंचशील के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस तरह भारत द्वारा प्रदत्त पंचशील का सिद्धांत विश्व स्तर पर अधिकांश राष्ट्रों ने मान लिया।

निःशस्त्रीकरण– हिरोशिमा एवं नागाशाकी पर 1945 में गिराए गए बमों से हुई तबाही के मंजर को ध्यान में रखते हुए भारत ने निःशस्त्रीकरण की अवधारणा को प्रमुखता दी एवं संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण हेतु की गई संधि पर हस्ताक्षर किए। निःशस्त्रीकरण भारत की विदेश नीति का प्रमुख आधार है।

सहयोग एवं सद्भावना को बढ़ावा देना– भारत ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना पर सदैव बल दिया है। जब–जब किन्हीं दो देशों के मध्य विवाद की स्थिति बनी भारत ने बीच बचाव करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। साइप्रस, कांगो, लाओस, हिंद–चीन, कोरिया एवं मध्यपूर्व के तनावों को दूर करने के लिए कहीं मध्यस्थता की तो कहीं भारत ने शांति सेनाएं भी भेजीं।

गुटनिरपेक्षता या असंलग्नता– द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया। पूंजीवादी गुट का नेता अमेरिका था। साम्यवादी गुट को रूस ने नेतृत्व प्रदान किया। दोनों गुटों के मध्य के तनाव ने शीत युद्ध को जन्म दिया। भारत दोनों गुटों से पृथक रहकर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व बनाने हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ था। भारत ने इसी लिए गुटनिरपेक्षता एवं असंलग्नता की नीति अपनाई।

5.7.2 गुटनिरपेक्षता

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व दो गुटों में बंट गया। एक गुट पूंजीवादी देशों का था जिसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहा था। दूसरा गुट साम्यवादी देशों का था जिसका मुखिया रूस था। समस्त विश्व अब दो गुटों में विभाजित था। भारत के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह थी कि भारत किस गुट में सम्मिलित हों।

चीन के माओत्से तुंग ने कहा था कि – 'संसार में दो ही सड़कें हैं – एक मास्को जाती है तथा दूसरी वाशिंगटन की ओर जाती है। तीसरी कोई सड़क है ही नहीं।'

टिप्पणी

भारत के जवाहरलाल नेहरू ने तीसरी सड़क खोज ही ली। वे किसी भी गुट में सम्मिलित न होकर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व बनाए रखने हेतु प्रतिबद्ध थे। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में 1955 के वांडुग सम्मेलन का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें इसका व्यावाहारिक ढांचा प्रस्तुत किया गया था। भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो एवं मिस्र के राष्ट्रपति नासिर से मिलकर दोनों गुटों से पृथक रहकर जिस नीति का क्रियान्वयन किया वह गुटनिरपेक्षता की नीति कहलाई।

गुटनिरपेक्षता की परिभाषा एवं अर्थ

डॉ. कृष्णा कुदेशिया ने अपनी पुस्तक 'विश्व राजनीति में भारत' में गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''गुटनिरपेक्षता का अर्थ तटस्थता नहीं है, क्योंकि भारत ने अपने आपको संकुचित सीमाओं में बांधकर नहीं रखा है और न ही न्यायपूर्ण परिस्थिति में किसी गुट विशेष का समर्थन करने से वह बचता है। उसकी यह गुटनिरपेक्षता की नीति उपदेशात्मक, नकारात्मक, तटस्थता एवं अप्रगतिशील नीति नहीं है। इसका अर्थ है कि जो सकारात्मक है अर्थात सही और न्यायसंगत है उसकी सहायता और समर्थन करना तथा जो न्यायसंगत नहीं है उसकी आलोचना और निंदा करना।''

इस संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी नीति इन शब्दों में स्पष्ट की – 'यदि स्वतंत्रता का हनन होगा तथा न्याय की हत्या होगी या आक्रमण होगा वहां हम न तो तटस्थ हैं और न रहेंगे।'

निष्कर्षतः गुटनिरपेक्ष वे देश माने जा सकते हैं जो सैनिक गुटों के मध्यस्थ न बने, युद्ध का समर्थन न करने वाले, स्वाधीनता के समर्थक, स्वतंत्र विदेश नीति आदि का पालन करते हों।

भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का औचित्य

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू एक सकारात्मक सोच के व्यक्ति थे। वे एक साहित्यकार व इतिहासकार ही नहीं बल्कि एक रचनात्मक प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। विश्व मामलों की उन्हें समझ थी। मार्शल टीटो एवं नासिर के साथ मिलकर जवाहरलाल नेहरू ने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर विश्व के समक्ष अपनी कुशल राजनीति का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनके द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का औचित्य निम्न बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है।

1. **विश्वशांति की आकांक्षा**– भारत दोनों गुटों के मध्य मित्रता का वातावरण निर्मित करना चाहता था। नेहरू जी ने कहा था कि – 'शांति के बिना हमारे सभी स्वप्न मिट्टी में मिल जाते हैं।'
2. **राष्ट्रों के हित की इच्छा**– भारत गुट निरपेक्षता को सभी राष्ट्रों के हितों के लिए आवश्यक मानता था।
3. **घटनाओं का निष्पक्ष एवं स्वतंत्र मूल्यांकन**– भारत किसी भी गुट का पिछलग्गू बन कर नहीं रहना चाहता था। वह गुट निरपेक्षता की नीति अपनाकर किसी भी घटना का निष्पक्ष एवं स्वतंत्र मूल्यांकन करना चाहता था।

गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहित करने वाले कारक

टिप्पणी

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित थे।

1. **सैनिक गुटों से पृथक रहना**– द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व दो गुटों में विभक्त हो गया। कुछ सैनिक गुट भी अस्तित्व में आये। इनसे पृथक रहने हेतु भारत गुटनिरपेक्षता की नीति हेतु प्रोत्साहित हुआ।
2. **शीत युद्ध**– शीत युद्ध ने विश्व के दो गुटों के मध्य कटुता का वातावरण बना दिया। शीत युद्ध से अपने आपको पृथक रखने के लिए भी भारत गुटनिरपेक्षता की नीति की ओर अग्रसर हुआ।
3. **स्वतंत्र विदेश नीति का संचालन**– विश्व के दोनों गुटों से अलग रहकर स्वतंत्र विदेश नीति का संचालन तभी संभव था जबकि गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई जाए।
4. **मनोवैज्ञानिक विवशता**– चीन के माओत्से तुंग ने कहा था कि विश्व में अब दो ही सड़कें हैं एक मास्को तक जाती है तो दूसरी वांशिगटन तक। तीसरी कोई सड़क है ही नहीं। अर्थात विश्व के देशों पर किसी न किसी गुट में शामिल होने का मनोवैज्ञानिक दबाव था। इस मनोवैज्ञानिक विवशता से बचने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति हेतु भारत प्रेरित हुआ।
5. **आर्थिक कारक**– भारत की स्वतंत्रता के समय विश्व के अन्य देश भी स्वतंत्र हुए। इनके पास विकास हेतु पर्याप्त पूंजी तथा तकनीकी कौशल की कमी थी। यदि वे किसी गुट में मिलते तो पूंजी तो प्राप्त हो सकती थी मगर साथ ही स्वतंत्रता छिन जाने का डर भी था। इसीलिए भारत सहित अन्य देशों ने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करना ही श्रेयस्कर समझा।

गुटनिरपेक्षता की सदस्यता शर्तें एवं उपलब्धियां

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रथम शिखर सम्मेलन बेलग्रेड में 1961 ई. में हुआ था। इस सम्मेलन में 25 राष्ट्रों ने भाग लिया। धीरे–धीरे हर बार होने वाले सम्मेलनों में सदस्य राष्ट्रों की संख्या बढ़ने लगी। 1998 के शिखर सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों की संख्या 115 हो गई।

उपलब्धियां

1. **शीत युद्ध को शस्त्र युद्ध में बदलने से रोकना**– गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सर्वप्रमुख उपलबिध यह थी कि इसने अमेरिका एवं रूस के मध्य चल रहे शीत युद्ध को तृतीय विश्व युद्ध में बदलने से रोका। दोनों देशों के बीच मतभेदों को दूर करने में अहम भूमिका निभाई।
2. **राष्ट्रीय प्रकृति के अनुरूप विकास**– विश्व के दोनों महागुटों द्वारा गुटनिरपेक्ष देशों पर थोपे जाने वाले आदर्शों का विरोध किया गया। प्रत्येक राष्ट्र को उसकी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुरूप विकास करने हेतु प्रेरित किया गया।
3. **संयुक्त राष्ट्र के स्वरूप को रूपांतरित करना**– गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के महत्व को बढ़ा दिया जिसमें सभी सदस्यों का बराबर

प्रतिनिधित्व रहता था। सुरक्षा परिषद का महत्व कम कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी छोटे राष्ट्रों के मध्य शांति स्थापित करने के लिए ऐसे संगठन बनाने में सहायता की जिससे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों पर नियंत्रण रख सके।

टिप्पणी

4. **दोनों गुटों द्वारा गुटनिरपेक्षता को मान्यता**– प्रारंभ में अमेरिका एवं रूस गुटनिरपेक्षता के समर्थक नहीं थे। समय के साथ उनके विचारों में परिवर्तन आया। 1956 मे सोवियत संघ में कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में पहली बार गुटनिरपेक्षता को मान्यता दी गई। पश्चिमी गुट (अमेरिका) ने भी गुटनिरपेक्षता को मान्यता दे दी।
5. **उनमुक्त वातावरण का निर्माण**– गुटनिरपेक्षता ने दोनों गुटों के चंगुल में फंसकर दमघोंटू वातावरण से देशों को स्वतंत्रता प्रदान की। वे ताजी हवा में उन्मुक्त वातावरण में स्वतंत्र रूप से अपनी नीति बनाकर विकास करने के लिए स्वतंत्र थे।
6. **निःशस्त्रीकरण**– गुटनिरपेक्षता ने विश्व में अस्त्र शस्त्रें की दौड़ को नियंत्रित करने में अहम भूमिका निभाई।
7. **विश्व राजनीति के संघर्षों को टालना**– गुटनिरपेक्ष देशों ने अनेक बार विश्व के विभिन्न देशों के मध्य तनाव एवं संघर्ष को टालने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
8. **आर्थिक सहयोग**– गुटनिरपेक्षता की एक अन्य उपलब्धि विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की बुनियाद रखना थी। 20 अगस्त 1976 को गुटनिरपेक्ष देशों का कोलम्बो शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें आर्थिक घोषणा पत्र स्वीकार किया गया। इसमें सदस्य राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग को स्वीकृत किया गया।

इस प्रकार गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने विश्व शांति, आर्थिक सहयोग, शीत युद्ध काल में शांति के निर्माण एवं निःशस्त्रीकरण इत्यादि में महत्वपूर्ण उपलब्धि एवं सफलता प्राप्त की।

सदस्यता की शर्तें

जून 1961 में कहिरा में 21 राष्ट्रों की बैठक में गुटनिरपेक्षता की सदस्यता हेतु पांच मानदंड (शर्तें) निर्धारित किए गए। ये निम्नानुसार थे–

1. गुटनिरपेक्ष देशों को स्वतंत्र विदेश नीति अपनाना बाध्यकारी नहीं है। वह जितना कर सकें वह पर्याप्त है।
2. निरंतर राष्ट्रीय स्वाधीनता हेतु आंदोलनों को समर्थन प्रदान करना चाहिए। किस हद तक एवं किस रूप में यह निश्चित नहीं है।
3. गुटनिरपेक्ष देशों में शामिल होने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त देश सैनिक गुटों का सदस्य नहीं होना चाहिए।
4. यदि कोई द्विपक्षीय संधि समझौता होता है तो यह ध्यान रखना होगा कि वह जानबुझ कर बड़ी शक्ति के संदर्भ में नहीं होने चाहिए।
5. सदस्य देश की भूमि पर सैनिक अड्डे नहीं होना चाहिए।

सारस्वरूप हम कह सकते हैं कि गुटनिरपेक्ष देशों में वे ही सदस्य शामिल हो सकते थे जो अमेरिका एवं रूस के गुट में शामिल न हों।

प्रमुख गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन

टिप्पणी

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रथम शिखर सम्मेलन 1961 ई. में यूगोस्लाविया की राजधानी ब्रेलग्रेड में आयोजित किया गया। इसमें देशों को आमंत्रित करने की पांच उक्त वर्णित शर्तें रखी गईं। इस सम्मेलन में 25 देशों को आमंत्रित किया गया था। यह सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर तक चला। इसके बाद से प्रत्येक तीन वर्ष में गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन आयोजित किए गए।

क्र.	स्थान	वर्ष	सदस्य देशों की संख्या
1.	बेलग्रेड (यूगोस्लाविया)	1 से 6 सितम्बर 1961	25 देश
2.	काहिरा (मिस्र)	अक्टूबर 1964	47 देश
3.	लुसाका (जाम्बिया)	अक्टूबर 1970	54 देश
4.	अल्जीयर्स (अल्जीरिया)	सितम्बर 1973	75 देश
5.	कोलंबो (श्रीलंका)	अगस्त 1976	88 देश
6.	हवाना (क्यूबा)	अगस्त 1979	94 देश
7.	नई दिल्ली (भारत)	6–12 मार्च 1983	101 देश
8.	हरारे (जिम्बाम्बे)	सितंबर 1986	101 देश
9.	बेलग्रेड (यूगोस्लाविया)	सितंबर 1989	102 देश
10.	जाकार्ता (इण्डोनेशिया)	सितंबर 1992	108 देश
11.	कार्टाग्ना (कोलम्बिया)	1995	113 देश
12.	डरबन (दक्षिण अफ्रीका)	1998	114 देश

सातवां शिखर सम्मेलन (दिल्ली 6–12 मार्च 1983 ई.)

सातवां शिखर सम्मेलन ईराक में आयोजित होना था। ईरान–ईराक युद्ध के कारण यह सम्मेलन 6–12 मार्च 1983 को नई दिल्ली में आयोजित किया गया। सम्मेलन में 101 देशों में से 93 देश शामिल हुए। क्यूबा के डॉ. फिदेल कास्त्रो ने श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथ अध्यक्ष पद की कमान सौंपी। नटवर सिंह को महासचिव चुना गया। इस सम्मेलन में 5 सूत्रीय कार्यक्रम पेश हुआ।

1. विश्वशक्तियों से परमाणु हथियार उपयोग न करने की अपील की गईं।
2. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं वित्तीय प्रणाली के पुनर्गठन की आवश्यकता पर बल दिया गया।
3. दक्षिण अफ्रीका के अश्वेतों के साथ भेदभाव को रोकने की बात की गई।
4. आर्थिक घोषणापत्र में विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों पर लगाए गए व्यापारिक प्रतिबंध हटाने की बात की गई।
5. सम्मेलन में खाद्य समस्या, ऊर्जा के बेहतर उपयोग की बात की गई।

इस तरह सातवें शिखर सम्मेलन ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को एक नवीन शक्ति एवं दिशा दी।

टिप्पणी

गुटनिरपेक्षता के समक्ष चुनौतियां

गुटनिरपेक्ष देशों की सदस्य संख्या में निरंतर वृद्धि उसकी सफलता का परिचायक है। राष्ट्र संघ के दो तिहाई देश इसके सदस्य हैं एवं यह विश्व के चार महाद्वीपों का प्रतिनिधित्व करता है। इसके बावजूद भी इसके सम्मुख निम्न चुनौतियां भी हैं–

1. **सैनिक दबाव**– विश्व शक्तियां गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को सैनिक गुटों के माध्यम से घेरने का प्रयास करती हैं।
2. **आर्थिक पिछड़ापन**– आर्थिक रूप से निर्बल होने के कारण गुटनिरपेक्ष देश महाशक्तियों पर निर्भर होते है और वे उनका शोषण करते हैं।
3. **गुटनिरपेक्ष देशों में अस्थिरता**– विश्व की महाशक्तियां अपनी गुप्तचर संस्थाओं द्वारा गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में अस्थिरता लाने का प्रयास करती है। अमेरिका ने CIA के माध्यम से क्यूबा की फिदेल कास्त्रो सरकार को गिराने का बार–बार प्रयास किया। चिली के राष्ट्रपति एलैंड की हत्या में भी CIA का हाथ था।
4. **पारस्परिक वैमनस्य**– विभिन्न गुटनिरपेक्ष देशों के मध्य कुछ मामलों को लेकर पारस्परिक वैमनस्य भी एक चुनौती है। भारत–बंगलादेश के मध्य गंगाजल के बंटवारे को लेकर तनाव इसका उदाहरण है।
5. **नैतिकता**– यह एक नैतिक आंदोलन है न कि शक्ति द्वारा शांति स्थापित करने का आंदोलन। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नैतिक आंदोलन को सफल होने के लिए कड़ी अग्निपरीक्षा से गुजरना होता है।
6. **गुटनिरपेक्ष विरोधी राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि**– सबसे बड़ी चुनौती यह है कि एक तरफ तो कुछ देश गुटनिरपेक्ष बने हुए हैं और दूसरी ओर वे सैनिक गुट बनाने में जुटे हैं। कुछ देश किसी न किसी महाशक्ति का समर्थन भी करते हैं इस तरह गुटनिरपेक्ष विरोधी तत्वों की बढ़ोत्तरी भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन के समक्ष एक बड़ी चुनौती है।

वर्तमान में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता

वर्तमान में दो तिहाई देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन से जुड़ चुके हैं इस संगठन ने संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व शांति, उपनिवेशवाद एवं परमाणु शस्त्रों पर रोक, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में सुधार एवं निशस्त्रीकरण में सफलता प्राप्त की।

शीत युद्ध के समय यह प्रांसगिक था। आज अमेरिका एकमात्र महाशक्ति है। अतः वर्तमान में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रांसगिकता को लेकर प्रश्न उठाया जा रहा है। परंतु गुटनिरपेक्ष आंदोलन अपनी नैतिकता एवं सिद्धांतों के कारण आज भी प्रासंगिक है। निम्न बिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में आज भी यह प्रासंगिक प्रतीत होता है–

1. नव उपनिवेशवाद एवं नवसाम्राज्यवाद का विरोध।
2. दक्षिण–दक्षिण सहयोग को प्रोत्साहन देना।
3. एक ध्रुवीय व्यवस्था में अमेरिकी सर्वोच्चता का विरोध करना।
4. नवीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मांग करना।
5. उत्तर–दक्षिण संवाद के सार्थक वार्तालाप पर दबाव डालना।
6. निःशस्त्रीकरण का विरोध।

7. संयुक्त राष्ट्र संघ में वीटो परिषद की सदस्यता में पर्याप्त बढ़ोत्तरी के लिए प्रयासरत रहना।

उक्त बिंदुओं के संदर्भ में देखें तो आज भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रांसगिकता बनी हुई है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. पंचशील का सिद्धांत किसके द्वारा प्रतिपादित किया गया था?

(क) महात्मा बुद्ध (ख) महावीर स्वामी

(ग) महात्मा गांधी (घ) आर्यभट्ट

12. "संसार में दो ही सड़कें हैं– एक मास्को जाती है तथा दूसरी वाशिंगटन की ओर जाती है। तीसरी कोई सड़क है ही नहीं।" यह किसका कथन है?

(क) मार्शल टीटो (ख) नासिर हुसैन

(ग) माओत्से तुंग (घ) जवाहरलाल नेहरू

5.8 महिलाएं : हिंदू कोड बिल

हिंदू कोड बिल या विधेयक एक प्रकार का कानून था, जिसका उद्देश्य भारत में महिलाओं को समाज में बराबरी का हक दिलाना था, उनके विरुद्ध हो रहे भेदभाव एवं अत्याचार को रोकना था। उस समय संविधान सभा में तथा जनता के वर्ग ने इस बिल का तीव्र विरोध किया। वैसे हिंदुओं के लिए एक समान संहिता तैयार करने की शुरुआत अंग्रेजों ने के पूर्व ही प्रारंभ कर दी थी। इसके लिए सन 1941 में सर बी. एन. राव के नेतृत्व में एक समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने पूरे का देश का दौरा किया एवं हिंदू समाज के विभिन्न वर्गों से व्यापक विचार–विमर्श करके इसमें संशोधन का एक प्रस्ताव तैयार किया।

1946 तक इस समिति ने इस कानून का एक मसौदा तैयार कर लिया था। देश को स्वतंत्रता मिलने के उपरांत जब संविधान सभा का निर्माण हुआ, तब सन 1948 में संविधान सभा ने हिंदू संहिता के मसौदे की समीक्षा के लिए एक समिति का गठन किया, जिसके अध्यक्ष तत्कालीन विधि मंत्री बी.आर. अंबेडकर थे। बी. आर. अंबेडकर ने इस कानून का बारीकी से अध्ययन करके इसे चयन समिति को सौंप दिया।

हिंदू संहिता कानून सिर्फ हिंदुओं में नहीं बल्कि सिखों, जैनियों और हिन्दू पंथों पर भी लागू होना था। इस कानून के माध्यम से हिंदू समाज में एक बड़ा परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया था। लेकिन सदन के कुछ सदस्यों एवं रूढ़िवादी हिंदू नेताओं के तीव्र विरोध की वजह से यह बिल पारित नहीं हो सका तथा 26 सितम्बर, 1951 को नेहरू ने घोषणा की कि ये बिल इस सदन से वापस लिया जाता है। इस बिल के पास न होने पर डॉ. अंबेडकर ने 27 सितंबर, 1951 को मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दिया।

हिन्दू कोड बिल

जब भारत को स्वतंत्रता मिली, उस समय हिंदू समाज में पुरुष और महिलाओं को तलाक का अधिकार नहीं था। पुरूषों को एक से ज्यादा विवाह करने की स्वतंत्रता थी

लेकिन विधवाएं दोबारा विवाह नहीं कर सकती थीं। विधवाओं को संपत्ति से भी वंचित रखा गया था।

टिप्पणी

स्वतंत्रता के उपरांत भारत का संविधान निर्माण करने वाली संविधान सभा के समक्ष 11 अप्रैल, 1947 को डॉ. भीमराव अंबेडकर ने हिंदू कोड बिल प्रस्तुत किया था। इस बिल में बिना वसीयत किए मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाले हिंदू पुरुषों और महिलाओं की संपत्ति के बंटवारे के संबंध में कानूनों को संहिताबद्ध किए जाने का प्रस्ताव था। यह विधेयक मृतक की विधवा, पुत्री और पुत्र को उसकी संपत्ति में बराबर का अधिकार देता था। इसके अलावा, पुत्रियों को उनके पिता की संपत्ति में अपने भाइयों से आधा हिस्सा प्राप्त होता।

इस विधेयक में विवाह संबंधी प्रावधानों में परिवर्तन किया गया था। यह दो प्रकार के विवाहों को मान्यता देता था–सांस्कारिक व दीवानी। इसमें हिंदू पुरुषों द्वारा एक से अधिक महिलाओं से विवाह करने पर प्रतिबंध और अलगाव संबंधी प्रावधान भी थे। यह कहा जा सकता है कि हिंदू महिलाओं को तलाक का अधिकार दिया जा रहा था।

विवाह विच्छेद के लिए सात आधारों का प्रावधान था। परित्याग, धर्मांतरण, रखैल रखना या रखैल बनना, असाध्य मानसिक रोग, असाध्य व संक्रामक कुष्ठ रोग, संक्रामक यौन रोग व क्रूरता जैसे आधार पर कोई भी व्यक्ति तलाक ले सकता था।

यह बिल ऐसी तमाम कुरीतियों को हिंदू धर्म से दूर कर रहा था जिन्हें परंपरा के नाम पर कुछ कट्टरपंथी जिंदा रखना चाहते थे। इसका तीव्र विरोध हुआ। अंबेडकर के तमाम तर्क और नेहरू का समर्थन भी काम नहीं आ सका। 9 अप्रैल, 1948 को चयन समिति को प्रेषित कर दिया गया। बाद में 1951 को अंबेडकर ने हिंदू कोड बिल को संसद में प्रस्तुत किया। इसे लेकर संसद के अंदर और बाहर विद्रोह मच गया। सनातनी धर्मावलंबियों से लेकर आर्य समाजियों ने इस बिल या विधेयक का तीव्र विरोध किया। पुरूष प्रधान मानसिकता से ग्रसित ये लोग महिलाओं की समाज में स्थिति दोयम दर्जे की बनाए रखना चाहते थे तथा संपत्ति में उन्हें किसी प्रकार की भागीदारी पसंद नहीं थी।

उस समय भारत का संविधान भी बनकर तैयार था। लेकिन संसद के सदस्यों को जनता ने नहीं चुना था। इन सदस्यों को बहुसंख्यक हिंदू समाज में बदलाव और पुराने रीति–रिवाजों को बदलने का निर्णय करना था। इस विधेयक पर संसद में तीन दिन तक बहस चलती रही।

इस विधेयक का विरोध करने वालों का मत था कि संसद के सदस्य जनता के चुने हुए नहीं हैं इसलिए उनके पास इतने बड़े विधेयक को पास करने का नैतिक अधिकार नहीं है। एक और विरोध इस बात का था कि सिर्फ हिंदुओं के लिए कानून क्यों लाया जा रहा है, बहुविवाह की परंपरा तो दूसरे धर्मों में भी है। इस कानून को सभी पर लागू किया जाना चाहिए, अर्थात इसे समान नागरिक आचार संहिता का रूप दिया जाना चाहिए, जो हर भारतीय पर लागू होती हो। संसद में जहां जनसंघ समेत कांग्रेस का हिंदूवादी वर्ग इसका तीव्र विरोध कर रहा था तो वहीं संसद के बाहर हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री महाराज) के नेतृत्व में इसके विरुद्ध एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन चलाया जा रहा था। अखिल भारतीय राम राज्य परिषद की स्थापना करने वाले करपात्री का कहना था कि यह बिल हिंदू धर्म में हस्तक्षेप है। यह बिल हिंदू रीति–रिवाजों, परंपराओं और धर्मशास्त्रों के विरुद्ध है। उन्होंने इस बिल पर प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को वाद–विवाद करने की खुली चुनौती दी। करपात्री महाराज के

टिप्पणी

साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिंदू महासभा और दूसरे हिंदूवादी संगठन हिंदू कोड बिल का विरोध कर रहे थे। इसलिए जब इस बिल को संसद में चर्चा के लिए लाया गया, तब हिंदूवादी संगठनों ने इसके खिलाफ देश भर में प्रदर्शन शुरू कर दिए. आरएसएस ने अकेले दिल्ली में दर्जनों विरोध–रैलियां आयोजित कीं। हालांकि प्रधानमंत्री नेहरू इस बिल को पारित करवाना चाह रहे थे, लेकिन तमाम विरोध और पहले आम चुनाव नजदीक होने के चलते वह इसे टाल गए।

देश के पहले लोकसभा चुनाव के बाद नेहरू ने हिंदू कोड बिल को कई हिस्सों में तोड़ दिया। जिसके बाद 1955 में हिंदू मैरिज एक्ट बनाया गया। जिसके तहत तलाक को कानूनी दर्जा, अलग–अलग जातियों के स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे से विवाह का अधिकार और एक बार में एक से ज्यादा शादी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके अलावा 1956 में ही हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, हिंदू दत्तक ग्रहण और पोषण अधिनियम और हिंदू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम लागू हुए। ये सभी कानून महिलाओं को समाज में बराबरी का दर्जा देने के लिए लाए गए थे। इसके अंतर्गत पहली बार महिलाओं को संपत्ति में अधिकार दिया गया। लड़कियों को गोद लेने पर जोर दिया गया।

इस बिल के प्रावधान कुछ इस प्रकार थे–

1. किसी मृत पुरुष की संपत्ति में उसकी माता और बेटी को उसके बेटों के बराबर हिस्सा दिया जाना (जो पहले सिर्फ पुरुष वारिस कोई मिलता था)।
2. पति के किसी संक्रामक बीमारी से ग्रस्त हो जाने की स्थिति में उसकी पत्नी उससे अलग रहती है, तो उसे गुजारा भत्ता दिया जाना या अगर पति ने किसी दूसरी महिला को रख लिया है तो ऐसी स्थिति में भी गुजारा भत्ता दिए जाने का प्रावधान था।
3. हिंदुओं के बीच किसी भी प्रकार के विवाह में बिना किसी भेदभाव के धार्मिक और कानूनी मान्यता प्रदान किया जाना। भले ही लड़का है या लड़की किसी भी जाति के हों। अंतरजाति विवाह को कानूनी मानता दी गई।
4. अमानवीय व्यवहार, विवाहेत्तर संबंध, न ठीक होने वाली बीमारी की हालत में पति–पत्नी दोनों को तलाक मिलने का अधिकार।
5. विवाह संबंधों में किसी भी प्रकार के जातीय भेदभाव को समाप्त करना।
6. किसी अन्य जाति के बच्चे को गोद लेने का अधिकार।
7. सिर्फ एक विवाह करने की छूट।

डॉ. अंबेडकर के त्यागपत्र के उपरांत इसके प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा बिल के पक्ष में पूरे देश में अभियान चलाया गया। अंत में सरकार को विवश होकर इसे पास करना पड़ा तथा 1955 में निम्न अधिनियमों के साथ इसे पारित कर दिया गया–

1. हिंदू विवाह अधिनियम,
2. हिंदू तलाक अधिनियम,
3. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, एवं
4. हिंदू दत्तक तथा भरण पोषण अधिनियम।

टिप्पणी

1. हिंदू विवाह अधिनियम 1955

यह हिंदुओं के विवाह से संबंधित विधि को संहिताबद्ध करने के उद्देश्य से संसद द्वारा वर्ष 1955 में अधिनियमित किया गया। यह अधिनियम हिंदुओं के विवाह से संबंधित संपूर्ण विधि उपलब्ध करता है।

प्राचीन काल से वर्तमान समय तक स्त्री और पुरुष के संबंधों में विवाह को सर्वाधिक योग्य एवं उपयोगी प्रथा माना गया है। आज भी विवाह से अधिक सार्थक प्रथा मनुष्यों के पास स्त्री और पुरुषों के संबंध को लेकर उपलब्ध नहीं है। प्राचीन हिंदू विधि में विवाह एक संस्कार माना गया है। विवाह को हिंदुओं के सोलह संस्कारों में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्कार माना है। धर्म अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक है, जिसके लिए विवाह का होना अनिवार्य है।

हिंदू विवाह के अधीन बहुपत्नी : वर्तमान हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 हिंदुओं को बहुपत्नी को वैध नहीं मानता, परंतु शास्त्रीय विधि के अधीन हिंदू विधि में पुरुष के लिए एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति थी। कितनी ही पत्नियां एक साथ हो सकती थीं। बहुपत्नी प्रथा हिंदुओं में प्रचलित थी। इस प्रथा का पूर्ण रूप से समापन हिंदू विवाह अधिनियम के लागू होने पर हो गया है। हिंदू विवाह एक अटूट और आमोद बंधन माना जाता था। इस प्रकार विवाह विच्छेद जैसी कल्पना भी हिंदू विवाह के अधीन नहीं थी।

विधवा पुनर्विवाह : वर्तमान हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन हिंदू विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने की मान्यता प्राप्त है। परंतु शास्त्रीय विधि के अनुसार विधवा को पुनर्विवाह की मनाही थी। हिंदू विवाह पुनर्विवाह अधिनियम 1955 द्वारा विधवा विवाह को विधिमान्य कर दिया गया है। विधवा पुनर्विवाह आजकल अनुज्ञात है किंतु जैनी के प्राधिकारी आज भी इसकी अवहेलना करना ठीक समझते हैं। इनका कहना है कि जंगमों में यह प्रतिषिद्ध है और लिंगायत में यह रूढ़ि का विकास है। इसका यह भी कहना है लिंगायतों में विधवा पुनर्विवाह का आम प्रचलन है और विवाह विच्छेद अनुज्ञेय है। विवाह की प्रकृति चाहे कोई भी हो चाहे उसे संस्कार माना जाए या अनुबंध, यह पति–पत्नी के मध्य एक प्रस्थिति को जन्म देता है, विवाह के पक्षकार पति पत्नी की स्थिति प्राप्त करते हैं। विवाह की संतान धर्मज की संस्थिति प्राप्त करती है। लगभग सभी विधि व्यवस्थाओं में वैध विवाह के लिए दो शर्तों का होना अनिवार्य है। विवाह करने का सामर्थ्य और वैवाहिक अनुष्ठानों का संपन्न होना। हिंदुओं ने विवाह की संस्था का आदर्शीकरण किया है और उसे शालीनता एवं भव्यता प्रदान की है।

2. हिंदू तलाक अधिनियम

1955 में लागू होने वाले 'हिंदू विवाह कानून' से पहले हिंदू समाज में धार्मिक संस्कार से संपन्न होने वाले विवाह का विच्छेद नहीं हो था। इसी कानून की धारा 10 के अनुसार, कानूनी अलगाव इन आधारों पर किए जा सकते हैं–

1. पति या पत्नी द्वारा दो वर्ष तक एक–दूसरे का त्याग।
2. असाध्य रोग हो जाने पर, कुष्ठ रोग हो जाने की स्थिति में।
3. शारीरिक और मानसिक निर्दयता का व्यवहार।
4. परपुरुष या पर स्त्रीगमन की स्थिति में।
5. पागलपन की अवधि यदि 2 वर्ष या अधिक हो।

6. सात वर्ष तक अगर पति–पत्नी का अता–पता न हो।
7. संन्यास।

3. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956

टिप्पणी

भारत में प्राचीन काल से ही पुरुष प्रधान समाज का बोलबाला रहा है तथा महिलाओं का स्थान हमेशा से ही पुरुषों के बाद माना जाता था। शायद यही सोच उन सदस्यों के दिमाग में रही होगी जब उन्होंने सन 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम पारित किया था। इसके पीछे मंशा तो यही रही होगी कि विवाह के बाद बेटियां तो पराई हो जाती हैं इसलिए पैतृक संपत्ति में उनके हक की कोई जरूरत नहीं समझी गई। इस प्रकार, इस अधिनियम में बेटियों को पिता की संपत्ति पर अधिकार नहीं दिया गया था। लेकिन वर्ष 2005 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया। अब यह प्रावधान कर दिया गया है कि पिता की संपत्ति पर बेटियों का भी बराबर अधिकार होगा। इन संशोधनों के बाद निम्न प्रावधान किए गए हैं–

1. इससे पहले के प्रावधान में पैतृक संपत्ति में बेटियों का अधिकार नहीं था लेकिन इसमें संशोधन कर दिया गया है।
2. पैतृक संपत्ति में बेटी को बेटों के समान अधिकार प्रदान किया गया है।
3. यदि एक हिन्दू व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो संपत्ति का बंटवारा बेटों तथा बेटियों में समान रूप से होगा।
4. कोई भी बेटी अपनी पैत्रिक संपत्ति का बंटवारा करने की मांग कर सकती है।
5. कोई भी बेटी अपनी इच्छा से पैतृक संपत्ति में अपना हिस्सा समाप्त करने की भी हकदार है।
6. यदि किसी महिला की मृत्यु बंटवारे से पहले हो जाती है तो उस संपत्ति के बंटवारे में बेटियां भी उसी प्रकार से हकदार होंगीं, जैसे बेटे होंगे।

4. हिंदू दत्तक तथा भरण पोषण अधिनियम 1956

हिन्दू दत्तक तथा भरण पोषण अधिनियम 21 दिसंबर, 1956 को भारतीय संसद द्वारा पारित किया गया व अधिनियम दिनांक 21–12–1956 से प्रभावशील हुआ। दत्तक ग्रहण तथा भरण पोषण अधिनियम 1956 की धारा 9 उपधारा 2 के अंतर्गत यदि माता–पिता जीवित है तो पुत्र या पुत्री को दत्तक (गोद) देने के लिए दोनों का समान अधिकार होगा। लेकिन पुत्र या पुत्री को दत्तक देने के लिए ऐसे अधिकार का उपयोग दोनों की सहमति से ही किया जाएगा अन्यथा नहीं।

अपनी प्रगति जांचिए

13. संविधान सभा में डॉ. अंबेडकर द्वारा हिंदू कोड बिल कब पेश किया गया था?

(क) 11 अप्रैल, 1947 (ख) 5 फरवरी, 1950

(ग) 10 मार्च, 1952 (घ) 5 अप्रैल, 1954

14. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम कब पारित किया गया?

(क) 1948 (ख) 1950

(ग) 1956 (घ) 1960

टिप्पणी

5.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (ख)
5. (ख)
6. (ग)
7. (ख)
8. (क)
9. (ग)
10. (ख)
11. (क)
12. (ग)
13. (क)
14. (ग)

5.10 सारांश

नए भारत को जिस गाड़ी पर सवार होकर लंबा सफर तय करना था वह गाड़ी थी भारत का संविधान। पूरे 2 वर्ष 11 माह 18 दिन के अथक परिश्रम के उपरांत भारत का संविधान निर्मित हुआ। भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. भीमराव अंबेडकर एवं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अहम भूमिका थी। विश्व के विभिन्न संविधानों की अच्छाइयों को लेकर भारत का संविधान बना।

भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सभी में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए, दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं, यह संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू कर दिया गया।

रियासतों का भारत में विलय का श्रेय मुख्यतः सरदार बल्लभ भाई पटेल को जाता है, उन्होंने रियासतों की समस्या को सफलतापूर्वक हल किया। रियासतों की समस्या के समाधान हेतु रियासत विभाग की स्थापना की गई। नवगठित रियासत विभाग का अतिरिक्त कार्यभार 27 जून, 1947 ई. को सरदार पटेल ने संभाला एवं वी. पी. मेनन इसके सचिव बने। पटेल रियासतों की स्वतंत्रता के खतरे से पूर्णतः वाकिफ थे, इस तारतम्य में वी. पी. मेनन से उन्होंने कहा था कि रजवाड़े स्वतंत्रता चाहते हैं मगर ''इस परिस्थिति में खतरनाक सम्भावनाएं भी छुपी हुई हैं और यदि इन्हें शीघ्र ही

टिप्पणी

प्रभावी तरीके से संभाला नहीं गया तो हमारे द्वारा इतनी मुश्किल से अर्जित आजादी इन रजवाड़ों के दरवाजों से निकलकर गायब हो सकती है।'' अतः वे रजवाड़ों को नियन्त्रित करने के कार्य में जुट गए। सर्वप्रथम उन्होंने भारत के तहत आने वाले रजवाड़ों से अपील की कि उन्हें समस्त देश के हित से जुड़े हुए तीन मामले–प्रतिरक्षा, विदेशी संबंध एवं संचार साधन भारतीय संघ को सौंपने होंगे एवं अन्य मामलों पर उनको स्वायत्तता प्राप्त होगी। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे रियासतों के भीतरी मामले में कोई दखल नहीं देना चाहते।

योजना निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है तथा प्रत्येक योजना के नेपथ्य में एक वृहत् तंत्र का योगदान होता है। योजना–निर्माण स्वीकृति से लेकर क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में विभिन्न निकायों एवं सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

भूमि अधिग्रहण अधिनियम, जिसे भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और पुनर्वास अधिनियम, 2013 में उचित मुआवजे और पारदर्शिता के अधिकार के रूप में भी जाना जाता है, भूमि अधिग्रहण की पूरी प्रक्रिया को नियंत्रित और नियंत्रित करता है। यह अधिनियम भूमि मालिकों को उचित पारिश्रमिक प्रदान करने, व्यवस्था में पारदर्शिता लाने और कसरकार को अप्रत्यक्ष रूप से उन लोगों को पुनर्वासित करना है जो सबसे अधिक प्रभावित हैं, क्योंकि उनकी भूमि छीन ली गई है।

1952 में भारत, विश्व का पहला ऐसा देश था, जिसने स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण का राष्ट्रीय कार्यक्रम शुरू किया। इसका मुख्य उद्देश्य जनसंख्या के स्तर को स्थिर रखने के लिए जन्मदर में कमी लाना था। दसवीं पंचवर्षीय योजना में प्रधानमंत्री स्वास्थ्य सुरक्षा योजना (पी.एम.एस.एस.वाई.) शुरू की गई। इस योजना के अंतर्गत देश में छह पिछड़े राज्यों में नई दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) जैसे संस्थान स्थापित किए जाएंगे। अन्य छह राज्यों में मौजूद छह संस्थानों का दर्जा बढ़ाकर उन्हें 'एम्स' के स्तर का बनाया जाएगा।

1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। इस समय समस्त विश्व दो गुटों में बंटा हुआ था। कई क्षेत्रीय गुट भी बने हुए थे। ऐसे में भारत ने एक स्वतंत्र विदेश नीति को अपनाया। गुटनिरपेक्षता का सूत्रपात कर स्वयं को किसी भी गुट से पृथक रखा। भारत की विदेश नीति के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने कहा है – 'भारत की विदेश नीति भारतीय परिस्थितियों की उपज है, इसकी आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।'

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व दो गुटों में बंट गया। एक गुट पूंजीवादी देशों का था जिसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहा था। दूसरा गुट साम्यवादी देशों का था जिसका मुखिया रूस था। समस्त विश्व अब दो गुटों में विभाजित था। भारत के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह थी कि भारत किस गुट में सम्मिलित हों।

जब भारत को स्वतंत्रता मिली, उस समय हिंदू समाज में पुरुष और महिलाओं को तलाक का अधिकार नहीं था। पुरूषों को एक से ज्यादा विवाह करने की स्वतंत्रता थी लेकिन विधवाएं दोबारा विवाह नहीं कर सकती थीं। विधवाओं को संपत्ति से भी वंचित रखा गया था।

5.11 मुख्य शब्दावली

- **अंगीकृत** : स्वीकार करना।
- **दृष्टिकोण** : देखने का नजरिया, सिद्धांत।

टिप्पणी

- **पाटना** : भरना, पूर्ति करना।
- **समृद्ध** : खुशहाल, धनी।
- **आधिपत्य** : अधिकार।
- **दलील** : तर्क।
- **विलय** : मिलाना।
- **काश्तकार** : किसान।
- **क्षति** : नुकसान।

5.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. रियासतों के एकीकरण से क्या तात्पर्य है?
2. नियोजित अर्थव्यवस्था का प्रारंभ कब से हुआ था?
3. भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य बताइए।
4. गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
5. हिंदू कोड बिल को कितने भागों में पारित किया गया?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा संबंधी दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिए।
2. रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया पर टिप्पणी कीजिए।
3. शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी नीति की समीक्षा कीजिए।
4. स्वतंत्र भारत की विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।
5. गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
6. हिंदू कोड बिल की विवेचना कीजिए।

5.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
3. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
4. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
6. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
6. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.